मीमांसा न्याय प्रकाश

80/0

संस्कृत-विद्यापीठ-ग्रन्थमालायाश्चतुश्चत्वारिंशत्तमं पुष्पम्

श्रीः

श्रीआपदेवकृतः

मीमांसा-न्याय-प्रकाशः

[राष्ट्रभाषामयी-'वालतोषिणी'व्याख्या-विभूषितः]

प्रस्तावनालेखकः

पं० कमलापति त्रिपाठी

हिन्दीव्याख्याकारः

विद्यासागरः आचार्यः पं० पट्टाभिरामशास्त्री

'पद्मभूषणम्'

वेद मीमांसाशोधसंस्थानाध्यक्षः, वाराणसी

प्रधानसम्पादकः

डॉ० मण्डनमिश्रः, प्राचार्यः

प्रकाशनस्थलम्

श्रीलालवहादुरशास्त्रि-केन्द्रियसंस्कृत-विद्यापीठम्

शहीदजीतसिंहमार्गः, कटवारिया सराय

नूतनदिल्ली—११००१६

प्रकाशकः

डॉ० मण्डनमिश्रः, प्राचार्यः

श्रीलालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

शहीदजीतसिंहमार्गः, कटवारिया सराय, नूतनदिल्ली—११००१६

दूरभाषाङ्कः—६५०८३१

प्रकाशनाब्दः—१९८३ ई०

प्रथमं संस्करणम्

१००० पुस्तकानि

मूल्यम्— [illegible]

© श्रीलालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रियसंस्कृतविद्यापीठीय'या-
नुसन्धान-प्रकाशन-विभाग'स्य
तत्त्वावधाने प्रकाशितः ।

मुद्रकः—
प्राणलाल आचार्य
आचार्य मुद्रणालय
A १/१२गायघाट, वाराणसी

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी
२४, अकबररोड, नईदिल्ली–११००११

कमलापति त्रिपाठी
संसद-सदस्य
कार्यकारी अध्यक्ष

दिनांक–जून १७, १९८३

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में मीमांसा-दर्शन का एक विशिष्ट स्थान है। मीमांसा-दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म का प्रतिपादन है। इस दर्शन ने वेदों की प्रामाणिकता को सर्वोच्च स्थान दिया और वेदों की नित्यता की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इस एक मौलिक देन से सारा भारतीय वाङ्मय प्रभावित हुआ और प्रायः सभी आस्तिक चिन्तकों ने अन्तिम प्रमाण के रूप में वेद को स्वीकार किया। इस दृष्टि से हमारा सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय इस दर्शन का ऋणी है।

जैमिनीय सूत्रों और शावरभाष्य के अतिरिक्त 'मीमांसान्यायप्रकाश' इस दर्शन की सर्वोत्तम आधारशिला है। यह ग्रन्थ मीमांसा-शास्त्र में प्रवेशार्थियों के लिए जितना उपादेय है, गम्भीर होने के कारण उतना ही कठिन भी है। इसके कुछ स्थल तो इतने दुरूह हैं कि उनके तात्पर्य तक पहुँच पाना सम्भव नहीं हो पाता। इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर अब तक हिन्दी भाषा में तो कोई प्रामाणिक व्याख्या प्रकाशित हुई ही नहीं। संस्कृत में भी इस पर बहुत कम टीकायें हुई हैं। संस्कृत भाषा में इस पर सबसे प्राचीन टीका ग्रन्थकार के ही पुत्र भट्ट लङ्कार श्री अनन्तदेव-कृत है एवं दूसरी टीका महामहोपाध्याय न्यायपञ्चानन पं० श्री कृष्णनाथ-कृत है—जिसका प्रकाशन सत्तर वर्ष (७० वर्ष) पूर्व हुआ था। इस ग्रन्थ पर एक महत्त्वपूर्ण टीका सन् १९२६ ई० में प्रकाशित हुई थी। इस टीका के लेखक ब्रह्मर्षि महामहोपाध्याय श्री पं० चिन्नस्वामी शास्त्री थे। ये सभी टीकायें संस्कृत में लिखी होने के कारण मीमांसाशास्त्र के उन अध्येताओं की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पातीं, जिनका संस्कृतभाषा पर पूर्ण अधिकार नहीं है।

आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्रीकृत प्रस्तुत रचना, जिसे मैं हिन्दी अनुवाद के स्थान पर हिन्दी व्याख्यान कहना उचित समझता हूँ, इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के माध्यम से मीमांसाशास्त्र के सरोवर में अवगाहन करने के इच्छुक विद्यार्थियों, विद्वानों तथा शोधार्थियों के लिए उत्तम सोपान है। संस्कृतभाषा अथवा अन्य भाषाओं में लिखी हुई अन्य व्याख्याओं अथवा अनुवादों की तुलना में एवं दर्शन-शास्त्र के अध्येताओं की आवश्यकता को देखते हुए यह कहना अनुचित नहीं होगा

कि यह हिन्दी व्याख्या अब तक लिखी गई सभी संस्कृत अथवा हिन्दी व्याख्याओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं उपादेय है।

पं० श्री पट्टाभिराम शास्त्री मीमांसा, न्याय, योग और दर्शन जैसे गम्भीर विषयों के अतिरिक्त संस्कृतसाहित्य के प्रकाण्ड पण्डित हैं। मीमांसाशास्त्र के तो वे वर्तमान में सर्वश्रेष्ठ विद्वान् हैं हीं। हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी एवं महाराजा संस्कृत कालेज जयपुर, कलकत्ता विश्वविद्यालय एवं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी जैसी श्रेष्ठतम संस्थाओं ने भिन्न-भिन्न शास्त्रों के आचार्य और विभागाध्यक्ष के पदों पर आपको नियुक्त और आमन्त्रित कर स्वयं को गौरवशाली बनाया है। अध्वरमीमांसा-कुतूहलवृत्ति तथा शास्त्रदीपिका जैसे ५० से अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन तथा व्याख्यान आपने किया है—जो आपको संस्कृत-वाङ्मय के विद्वानों में अग्रगण्य घोषित करते हैं।

तमिलनाडु में जन्म लेकर भी आपने उत्तर भारत को अपना कार्यक्षेत्र बनाया है। फलस्वरूप मूलतः तमिलभाषी होते हुए भी राष्ट्रभाषा हिन्दी पर आपका पूर्ण अधिकार है, जिसके परिणामस्वरूप मीमांसान्यायप्रकाश की इस बालतोषिणी व्याख्या में अत्यन्त सुस्पष्ट शैली में मीमांसाशास्त्र के गम्भीर रहस्यों का उद्घाटन हो सका है।

मेरे लिए यह सौभाग्य का विषय है कि काशी में रहने के कारण आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी से गत १०-१५ वर्षों से मेरा बहुत निकट का सम्बन्ध है और संस्कृत एवं भारतीय संस्कृति तथा अन्य राष्ट्रीय कार्यक्रमों के प्रचार-प्रसार में उनका सदा सहयोग मुझे प्राप्त होता रहा है। गत वर्ष मेरी अध्यक्षता में गठित एक अभिनन्दन-समिति के तत्त्वावधान में प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी जी ने श्री शास्त्री जी को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया था और भारत सरकार ने उन्हें पद्मभूषण की उपाधि से भी सम्मानित किया है। काशी के विद्वानों की गौरवमयी परम्परा के ये प्रतीक हैं और इस दृष्टि से ये हमारी श्रद्धा और आदर के पात्र हैं।

मैंने सदा इस बात का प्रतिपादन किया है कि संस्कृत के उत्कृष्ट वाङ्मय का हिन्दी भाषा में अनुवाद हो। इससे एक ओर हमारे हिन्दीसाहित्य की श्रीवृद्धि होगी, दूसरी ओर सामान्य जनता को शास्त्रों के रहस्य से परिचित होने का अवसर मिलेगा। यह महत्त्वपूर्ण कार्य दक्षिण भारत के विद्वान् के द्वारा सम्पन्न हो, यह हमारे लिए विशेष गौरव का विषय है। मैं इस प्रयास के लिए आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री का अभिनन्दन करता हूँ और इसके सम्पादन तथा प्रकाशन के लिए श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठ, नई दिल्ली के प्राचार्य डॉ० मण्डन मिश्र को आशीर्वाद देता हूँ।

कमलापति त्रिपाठी

———

श्रीः

श्रीगुरुभ्यो नमः

भूमिका

मीमांसादर्शन के प्रकरणग्रन्थ न्यायप्रकाश को हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित होकर पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत होते हुए जानकर आनन्द का अनुभव करता हूँ। यह ग्रन्थ मीमांसादर्शन में महत्त्व रखता है। मीमांसाशास्त्र को न्यायशास्त्र, धर्मशास्त्र, अध्वरमीमांसा आदि शब्दों से कहा जाता है क्योंकि इस शास्त्र के प्रवर्तक महर्षि जैमिनि ने अपने सूत्रग्रन्थ में लगभग हजार न्यायों का संग्रह किया है और धर्मसंस्कृतिसम्बन्धी, कर्मकाण्डसंबन्धी विषयों की चर्चा किया है। यद्यपि ये न्याय कर्मकाण्डसंबन्धी हैं किन्तु लोकोपयोगी भी हैं। अत एव सूत्रकार 'यथा लोके' 'लोके' 'लोकवत्' कहते हुए लौकिक दृष्टान्त देकर कर्मकाण्डसंबन्धी विषयों का समन्वय करते हैं। भाष्यकार श्रीशबर स्वामी लौकिक दृष्टान्तों को कर्मकाण्ड में यथावत् समन्वित कर न्यायों को मानवजीवनोपयोगी प्रदर्शित करते हैं ! इसीलिये विज्ञानेश्वर, लक्ष्मीधर आदि मनीषियों ने अपने निबन्धग्रन्थों में देश और काल के भेद से प्रवर्तित स्मृतियों के विरोधपरिहार के लिये मीमांसान्याय का आश्रयण किया। क्योंकि सभी स्मृतियाँ सामाजिक, आर्थिक एवं नैतिक तत्त्वों को प्रतिपादित करने के लिये प्रवृत्त हैं। उनमें सामञ्जस्य सिद्ध करने के लिये न्यायों की आवश्यकता पड़ती है। समाज को अनुशासित रहने पर ही देश का गौरव है। अनुशासन यद्यपि शासक या शासकवर्ग करता है और अनुशासन के द्वारा प्रजा को अनुशासित रखता है, तथापि कहीं व्युतिक्रम या पक्षपात आदि के दृष्टिगोचर होने पर उसके निराकरण के लिए न्यायपालिका की आवश्यकता होती है। न्यायाधीश के निर्णयों को शासक, शासकवर्ग बदल नहीं सकते। न्यायों के सामने सभी को नतमस्तक होना ही पड़ता है। स्मृतिकार या उनका वर्ग शासक है, हम प्रजा शास्य हैं। स्मृतिकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों के समाज के अनुकूल शासन बनाये हैं, उनमें विरोध या व्यतिक्रम स्वाभाविक है। उनके परिहार-हेतु निबन्धकार, न्यायपालिका के निर्णयानुसार अपने निबन्धग्रन्थों में व्यवस्था करते हैं। न्यायपालिका के स्थान में जैमिनि ने मीमांसाशास्त्र का प्रणयन किया है। जैसे न्यायपालिका अनेक न्यायालयों को स्थापित कर उनके द्वारा सामाजिक व्यवस्था करती है, उसी प्रकार जैमिनि महर्षि लगभग हजार अधिकरण (न्यायालय) बनाकर समाज की व्यवस्था करते हैं। हर एक अधिकरण को न्यायालय मान सकते हैं। न्यायालय में जैसे विवादविषय, संदेह, वादी एवं प्रतिवादी के वक्तव्य और निर्णय होते हैं उसी प्रकार अधिकरणों में भी होते हैं।

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
प्रयोजनञ्च पञ्चैते शास्त्रेऽधिकरणं विदुः।।

महर्षि जैमिनि एक निष्पक्ष चिन्तक और विचारक हैं 'तस्य निमित्तपरीष्टिः'

(जै. सू. १.१.३) सूत्र से अपने को अभिव्यक्त करते हैं। तर्क-वितर्कों के द्वारा परीक्षा किये बिना किसी विषय का निर्णय नहीं लेते हैं। इसका एक ज्वलन्त दृष्टान्त है— विभिन्न महर्षियोंद्वारा प्रणीत स्मृतियों का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए 'अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात्' (जै. सू. ˙.३˙˙˙) सूत्र में 'कर्तृसामान्यात्' हेतु कहकर 'मन्वादिस्मृतयः प्रमाणम्, कर्तृसामान्यात्' इस अनुमान प्रमाण को प्रस्तुत करते हैं। जिन स्मृतियों का प्रत्यक्ष वेदवाक्य उपलब्ध है तद्द्वारा उनका प्रामाण्य सिद्ध होनेपर भी जिनका मूल वेदवाक्य उपलब्ध नहीं है उनका प्रामाण्य 'कर्तृसामान्यात्' हेतु से सिद्ध करते हैं। अर्थात् वेद के द्वारा उपदिष्ट कर्मों का आचरण जिन कर्त्ताओं द्वारा हुआ है, वे ही स्मृतियों के भी कर्ता हैं। अतः 'कर्तृ-सामान्य' होने से उन स्मृतियों का प्रामाण्य मानना होगा। इस प्रकार सिद्ध करते हुए भी कल्पसूत्राधिकरण (पू. मी. १.३.˙˙˙˙) में कर्तृसामान्य हेतु के रहते हुए मीमांसान्याय के विरुद्ध होने से निस्संकोच आपस्तंब-कात्यायन आदिविरचित कतिपय स्मृतियों को प्रमाण नहीं मानते हैं। आपस्तंब-कात्यायन आदि वैदिक मार्ग में चलनेवाले धुरंधर मनीषी हैं किन्तु मीमांसान्याय के विरुद्ध हो जानेपर परीक्षा के समय उन्हें स्वपक्षावलंबी होते हुए भी अनुत्तीर्ण सिद्ध कर देते हैं। जैमिनि के सामने सपक्ष या विपक्ष से ऊपर उठे हुए वेदवाक्य एवं न्याय ही आदर्शभूत रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सपक्षी हों चाहे विपक्षी, दोनों के लिए राष्ट्र का हित ही एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए। इसका विस्तृत विवरण अध्वर-मीमांसा कुतूहलवृत्ति के चतुर्थ भाग की भूमिका पृ० ५. में देखिये। महर्षि जैमिनि के सामने मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद ही सर्वोपरि रहा है। उसी का एकमात्र लोगों के उत्तम शिक्षक, समाज के व्यवस्थापक एवं लोक के अनुशासक के रूप में निर्णय लेते हुए महर्षि जैमिनि चलते हैं। इसी कारण से समाज के व्यवस्थापक स्मृतिकार एवं निबन्धप्रवर्तक व्यवस्थितसमाज बनाने में जैमिनिन्यायों का आश्रयण किये हैं। न केवल स्मृति-निबन्धकार ही किन्तु व्याकरण आदि शास्त्र तथा न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन को अधूरा समझकर उन्हें यत्र-तत्र प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थों का प्रणयन किये हैं। अन्ततः यह भी दृढ़ता से कह सकते हैं कि पुराण-इतिहास, काव्य-नाटक एवं अलंकारशास्त्र के प्रवर्तकों ने भी मीमांसान्यायों को अपनाया है। अत एव भट्टपाद का उद्गार है कि—

'मीमांसाख्या तु विद्येयं बहुविद्यान्तराश्रिता' (श्लो० वा०)

जैमिनि एवं शबरस्वामी को मन में रखकर तन्त्रवार्तिक में गर्व के साथ किन्तु गौरवपूर्वक कहते हैं कि 'नहि कश्चित्प्रथममेतावन्तं युक्तिकलापमुपसंहर्तुं क्षमः' (तं. वा. पृ. १६७ आनन्दाश्रम संस्करण)। इस वाक्य में 'प्रथमम्' 'युक्तिकलापम्' ये दो पद ध्यान देने योग्य हैं। 'प्रथम' शब्द जैमिनि के पूर्वकाल का निर्देश करता है एवं 'युक्तिकलाप' शब्द तर्कसंगत न्यायसमूह का निर्देशक है। तात्कालिक समाज में ही नहीं किन्तु दार्शनिकों में भी जैमिनि तथा उनके न्यायों का बहुत ही आदर था। क्योंकि वेदों का लोक तथा समाज के साथ अत्यन्त घनिष्ठ संबन्ध और दोनों के

समन्वय में योगदान रहा है। वेदों के बिना लोक का एवं लोक के बिना वेदों का स्वरूप-लाभ ही नहीं बनता है। इसको प्रदर्शित करने में जैमिनि लग गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जगत् नित्य है एवं जगत् के लोगों में साक्षात् और परम्परा से वेद-संबन्ध नियत है, यह सिद्ध कर जैमिनि अपने अधिकरणों से सिद्ध-न्यायों को प्रवर्तित किये।

इन न्यायों को उपबृंहित कर श्रीशबर-भट्टपाद आदि ने प्रचार किया। परवर्ती पार्थसारथि मिश्र, भवदेव, खण्डदेव आदि ने भाष्यवार्तिकों के अवलम्बन से अपनी प्रतिभा का उपयोग कर चिन्तनाशक्ति को बढ़ावा देकर दर्शन का विस्तृत स्वरूप दिखलाया है। सूत्रों के अध्ययन से विदित होता है कि जैमिनि के पूर्व भी मीमांसा-सम्प्रदाय मनीषियों की गोष्ठियों में विचार का रूप धारण किये हुये था। जैमिनि ने उन्हीं विचारों को अपने सूत्रों में पिरोकर संक्षिप्त रूप प्रस्तुत किया। विशाल वटवृक्ष वीज की अवस्था में अदृश्य रहता है, उसी प्रकार जैमिनिसूत्रों में वेदत्रयी अन्तर्भूत है। जैसे वीज बोकर कृषक खाद-दोहद आदि देकर अंकुर, पल्लव, पुष्प-फल आदि को बढ़ाते हैं, उसी प्रकार शबरस्वामीप्रभृति ने मीमांसादर्शन का विस्तृत कलेवर बनाया। विस्तृत इस दर्शन का अध्ययन-अध्यापन अनेक शताब्दियों तक चलता रहा। अध्येतृवर्ग की स्मृति और धारणा शक्ति में कमी का अनुभव कर तात्कालिक श्रीमाधव-कमलाकरभट्ट-शङ्करभट्टआपदेव आदि ने इसको संक्षिप्त करने का प्रयास किया और तदनुरूप सफलता भी प्राप्त किया।

आपदेव-विरचित 'मीमांसान्यायप्रकाश' मीमांसादर्शन के संक्षिप्त ग्रन्थों की परम्परा में अन्य की अपेक्षा अपना विलक्षण स्थान रखता है। आपदेव ने यद्यपि जैमिनि के पूरे न्यायों पर प्रकाश नहीं डाला है, तथापि इसके अध्ययन से छात्र शास्त्रदीपिका-भाट्टदीपिका आदि उच्चग्रन्थों के अध्ययन के अधिकारी बन जाते हैं। एक न्याय का निरूपण करते समय उदाहरण-प्रत्युदाहरणरूप से अनेक न्यायों को प्रदर्शित करना ग्रन्थकार की विशेषता है। इस ग्रन्थ में प्रायः पूर्वषट्क अर्थात् प्रथम छः अध्यायों के प्रतिपाद्य विषय आ गये हैं। उत्तर षट्क के कतिपय न्यायों पर विवेचना मिलती है। ग्रन्थ की भाषा सरल और प्राञ्जल है। यदि अध्यापक मनोयोग से अध्यापन करें एवं छात्र श्रद्धा से पढ़ें तो मीमांसा के अर्धाधिक भागों में परिनिष्ठित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। न्यायों के विषय को श्रौतकर्मकाण्ड से संबन्धित हो जाने से छात्र समझने में क्लेश का अनुभव करते हैं, क्योंकि श्रौत-कर्मकांड का अनुष्ठान प्रायः लुप्त हो गया है। प्रत्यक्ष रूप से क्रियाओं को देखने पर पढ़ने के समय विशदरूप से अर्थ समझ में आ जाता है अन्यथा शाब्दबोधमात्र हो पाता है, पदार्थ का विशद ज्ञान नहीं हो पाता।

बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार निर्विकल्पज्ञान मात्र नहीं होता है किन्तु शब्द के द्वारा विशदावभास भी होता है। यद्यपि बौद्ध शब्द को प्रमाण नहीं मानते हैं तथापि मीमांसक प्रत्यक्ष से भी अधिक शब्द का प्रामाण्य मानते हैं। 'यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्' ऐसा बार-बार कहकर शबरस्वामी मीमांसा-

भाष्यकार शब्द का अधिक महत्त्व देते हैं। जो षडङ्ग वेद का अध्ययन एवं श्रौतकर्मानुष्ठान का अवलोकन करता है वही मीमांसादर्शन के अध्ययन का अधिकारी होता है। किन्तु कराल काल के परिवर्तन से अध्ययन की रीति बदल गई, केवल वेदों का अध्ययन एवं केवल शास्त्रों का अध्ययन, यह रीति जब से चल पड़ी तब से मीमांसादर्शन को समझने और समझाने में शिथिलता आ गई। उदयनाचार्य के 'ह्रासदर्शनतो ह्रासः' वचन के अनुसार संस्कृत अध्ययन में जब ह्रास देखा गया तब से ही अंग्रेजी अनुवाद पढ़कर ज्ञानोपार्जन शुरू हुआ। धीरे-धीरे अंग्रेजी हटने लगी तो उसके स्थान को राष्ट्रभाषा हिन्दी ने पकड़ लिया। प्रायः काव्य-नाटक, अलंकार एवं दर्शन के अनेक ग्रन्थ हिन्दी में अनूदित होकर अभी प्रचार में विद्यमान हैं। मीमांसादर्शन के एक-आध ग्रन्थ ही राष्ट्रभाषा में अनूदित मिलते हैं। इस दर्शन के प्रचार की दृष्टि से मैंने सोचा कि न्यायप्रकाश के अनुवाद मात्र से ज्ञान की वृद्धि नहीं होगी, किन्तु व्याख्या का रूप होना चाहिए। कर्मकाण्ड के विषयवाक्य एवं ग्रन्थकार के विवरण के अनुवादमात्र से तृप्त न होकर 'बालतोषिणी' व्याख्या में प्रवृत्त हुआ। मातृभाषा हिन्दी के न होनेपर भी हिन्दी से व्याख्या कर मैंने दुस्साहस ही किया है इसीलिये संस्कृत-संवलित हिन्दी यत्र-तत्र प्रयोग में देखने को मिलेगी। हिन्दीजगत् के लिये यह प्रयास लाभप्रद होगा या नहीं, मुझे मालूम नहीं। गुण और दोष की दृष्टि से विमर्श करनेवाले विद्वद्गण से मेरा निवेदन है कि 'शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति' इस शंकर की नीति का उल्लंघन कर 'परं' को ही ग्रहण करें जिससे भविष्य में और परिष्कार हो सके। संस्कृत के उत्थान के कार्यों की व्यस्तता में भी अन्तेवासी डॉ० मण्डन मिश्र ने इस ग्रन्थ का सम्पादन कर अपने विद्यापीठ से प्रकाशित करवाया है। एतदर्थ उनकी उत्तरोत्तर उन्नति की कामना करता हूँ।

पूज्य माननीय पं० श्रीकमलापति त्रिपाठी जी ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखकर महान् अनुग्रह किया है। मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। उनकी प्रस्तावना मेरे लिए बलप्रद है, क्योंकि मैं अन्य मीमांसाग्रन्थों की भी हिन्दी-व्याख्या में प्रवृत्त हूँ। प्रूफ संशोधन और सूची आदि तैयार करनेवाले अपने शिष्य साहित्याचार्य पं० विद्याधर द्विवेदी को मैं आशीः प्रदान करता हूँ, वह वैदुष्यसंपन्न होकर श्रेयोलाभ करे।

अन्ततः मैं पूज्यपाद गुरु म० म० चिन्नस्वामी शास्त्री जी को अनेकशः प्रणाम समर्पित करता हूँ, जिन्होंने मुझे बनाया है।

विनयावनत

पट्टाभिरामशास्त्री

निदेशक

वेदमीमांसानुसन्धानकेन्द्र

वाराणसी

गुरुपूर्णिमा

सं० २०४०

२४-७-८३

—०—

गुरुवन्दनम्

हैयङ्गवीनहृदयान् वात्सल्यरसविग्रहान् ।
चिन्नस्वामिगुरून् वन्दे श्रुतिस्मृतिविशारदान् ॥

न्यायप्रकाशविवृती राष्ट्रभाषामयी शुभा ।
पट्टाभिरामविदुषा रचिता प्रीयतां गुरुः ॥

गुरोर्वचोभिरेवैषा ग्रथिता बालतोषिणी ।
गुरुः प्रीतः प्रसन्नात्मा श्रेयसा संयुनक्तु माम् ॥

भाषाशैलीं परित्यज्य मीमांसाविषयान् बहून् ।
ज्ञात्वा मयि कृपां कुर्युः राष्ट्रभाषाविचक्षणाः ॥

विषयसूची

विषयाः	पृष्ठम्
मङ्गलाचरणम्	१
गुरुवन्दनम्	१
धर्मलक्षणम्	९
भावनाद्वैविध्यम्	१०
शाब्दीभावना	१०
वेदापौरुषेयत्वम्	१४
भावनांशत्रयनिरूपणम्	१५
वेदविभागः	२०
विधिनिरूपणम्	२०
गुणविधिनिरूपणम्	२१
विशिष्टविधिनिरूपणम्	२२
मत्वर्थलक्षणानिरूपणम्	२३
सोमस्य सामानाधिकरण्येनान्वयनिरूपणम्	२३
,, वैयधिकरण्येनान्वयनिरूपणम्	२५
,, सम्बन्धमात्रनिरूपणम्	२७
इतिकर्तव्यतात्वेनान्वयनिरूपणम्	२८
सोमेन यजेतेत्यत्र गुणविधिपूर्वपक्षः	३३
षष्ठाद्यन्यायः	३६
वाजपेयाधिकरणम्	३७
गुणकामाधिकरणम्	३८
ग्रहैकत्वाधिकरणम्	३९
रेवत्यधिकरणम्	४०
प्रतिपदाधिकरणम्	४७
भावार्थाधिकरणम्	४८
सोमेन यजेतेत्यत्र गुणविधित्वखण्डनम्	५०
लक्षणावाक्यभेदयोर्लाघवगौरवप्रदर्शनम्	५३
सोमेन यजेतेत्यस्योत्पत्तिविधित्वनिरूपणम्	५५

विषयाः	पृष्ठम्
अग्निहोत्रं जुहोतीत्यस्यैवोत्पत्तिविधित्वनिरूपणम्	५७
विधिभेदः	६१
उत्पत्तिविधिनिरूपणम्	६१
उत्पत्तिविधौ धात्वर्थान्वयविचारः	६१
विनियोगविधिनिरूपणम्	६४
अङ्गत्वबोधकप्रमाणानि	६५
श्रुतिलक्षणम्	६५
श्रुतिविभागः	६५
विनियोक्त्रीश्रुतिविभागः	६६
व्रीह्यादीनां पुरोडाशादिप्रकृतितयाङ्गत्वनिरूपणम्	६६
आख्यातार्थः कर्तेति पूर्वपक्षनिरूपणम्	७२
आख्यातार्थो भावनेति सिद्धान्तनिरूपणम्	७३
श्रुतेर्लिङ्गादितः प्राबल्यम्	८४
लिङ्गनिरूपणम्	८५
लिङ्गद्वैविध्यम्	८६
लिङ्गस्य वाक्यादिभ्यः प्राबल्यम्	९४
वाक्यनिरूपणम्	९५
अनारभ्याधीतानां प्रकृतिगामित्वम्	९६
प्रकृतिलक्षणम्	९७
साप्तदश्यस्य विकृतिगामित्वमेव	९८
उपसंहारलक्षणम्	१००
वाक्यस्य प्रकरणादितः प्राबल्यम्	१००
प्रकरणनिरूपणम्	१०२
विश्वजिदधिकरणम्	१०३
रात्रिसत्राधिकरणम्	१०४
प्रकरणस्य क्रियैकविषयत्वम्	१०७
प्रकरणद्वैविध्यम्	१११
विकृतिलक्षणम्	१११
विकृतिषु प्रकरणाभावः	११२

विषयाः	पृष्ठम्
तदपवादः	११५
वाक्यद्वैविध्यम्	११९
प्राप्तबाधस्य त्रैविध्यम्	११९
पृषदाज्येनेत्यत्र न्यायसुधाकृन्मतम्	१२२
तत्र स्वमतम्	१२४
अवान्तरप्रकरणनिरूपणम्	१३१
सन्दंशलक्षणम्	१३२
अवान्तरप्रकरणस्य महाप्रकरणाद्-बलीयस्त्वम्,	१३५
प्रकरणप्राबल्यम्	१३५
स्थाननिरूपणम्, तद्द्वैविध्यञ्च	१४२
यथासंख्यपाठस्योदाहरणम्	१४३
सन्निधिपाठनिरूपणम्	१४३
पाठसादेश्यनिरूपणम्	१४४
स्थानप्राबल्यम्	१४६
समाख्यानिरूपणम्	१५०
सन्निपत्योपकारकलक्षणम्	१५१
उपयुक्तसंस्कारापेक्षयोपयोक्ष्यमाणस्य प्राबल्यम्	१५२
आराදुपकारकात्सन्निपत्योपकारकस्य प्राबल्यम्	१५४
आरादुपकारकलक्षणम्	१५६
प्रयोगविधिनिरूपणम्	१६०
क्रमलक्षणम्	१६२
श्रुतिलक्षणम्	१६३
श्रुतिप्राबल्यम्	१६४
अर्थक्रमनिरूपणम्	१६५
अर्थक्रमप्राबल्यम्	१६५
पाठक्रमनिरूपणम्	१६५
ब्राह्मणपाठान्मन्त्रपाठस्य प्राबल्यम	१६६
ब्राह्मणपाठक्रमः	१६७
स्थानक्रमः	१७१
मुख्यक्रमः	१७३
पाठक्रमस्य मुख्यक्रमात्प्राबल्यम्	१७५
मुख्यक्रमप्राबल्यम्	१७६

विषयाः	पृष्ठम्
प्रवृत्तिक्रमः	१७८
अधिकारविधिनिरूपणम्	१८१
शूद्रस्यानधिकारः	१८४
स्वातन्त्र्येण स्त्रिया अप्यनधिकारः	१८७
मन्त्रनिरूपणम्	१९३
अपूर्वविधिनिरूपणम्	१९५
नियमविधिनिरूपणम्	१९६
परिसंख्याविधिनिरूपणम्	१९६
परिसंख्याभेदौ	१९८
परिसंख्यायाः त्रिदोषत्वम्	२००
नामधेयनिरूपणम्	२०१
मत्वर्थलक्षणाभयात् कर्मनाम-धेयत्वम्	२०५
वाक्यभेदभयान्नामधेयत्वम्	२१२
तत्प्रख्यशास्त्रान्नामधेयत्वम्	२१९
अग्निहोत्रे न्यायसुधाकरमतेन तत्प्रख्यशास्त्रता	२२१
पार्थसारथिमतेन तत्प्रख्यशास्त्रता	२२५
न्यायसुधाकरमतखण्डनम्	२२५
तद्व्यपदेशान्नामधेयत्वम्	२४०
न्यायसुधाकरमतेन वैश्वदेवशब्दस्य नामधेयत्वम्	२४१
तत्र पार्थसारथिमिश्रमतम्	२४६
न्यायसुधाकरमतखण्डनम्	२४७
निषेधनिरूपणम्	२५३
विधिनिषेधयोर्भिन्नार्थत्वम्	२५४
पर्युदासप्रतिषेधयोर्लक्षणम्	२५९
पर्युदासोदाहरणम्	२६०
पर्युदासोपसंहारयोर्वैलक्षण्यम्	२७५
प्रतिषेधोदाहरणम्	२७८
अर्थवादनिरूपणम्	२८३
शाब्दीभावना	२८५
लिङर्थविचारः	२९५
आर्थीभावना	२९६
धर्मस्य मोक्षहेतुत्वम्	३०२

श्रीगणेशाय नमः ।

आपदेवकृतः

मीमांसान्यायप्रकाशः

विद्यासागर पट्टाभिरामशास्त्रिकृतया हिन्दी व्याख्यया सहितः

यत्कृपालेशमात्रेण पुरुषार्थचतुष्टयम् ।
प्राप्यते तमहं वन्दे गोविन्दं भक्तवत्सलम् ॥ १ ॥
अनन्तगुणसम्पन्नमनन्तभजनप्रियम् ।
अनन्तरूपिणं वन्दे गुरुमानन्दरूपिणम् ॥ २ ॥

श्रीमद्गुरुभ्यो नमः

बालतोषिणी

न्यायप्रकाशभावार्थदीपिकां बालतोषिणीम् ।
राष्ट्रभाषामयीं कुर्वे छात्रप्रेरणया मुदा ॥

मीमांसाशास्त्र में प्रवेश पाने के लिए 'मीमांसा न्याय प्रकाश' नामक प्रकरण ग्रन्थ को आरम्भ करते हुए श्री आपदेव परंपराप्राप्त शिष्टाचार के अनुसार वन्दनात्मक मङ्गलाचरण करते हैं—यत्कृपादि । जिसकी कृपा के लव मात्र से धर्म-अर्थ-काम और मोक्षरूपी चार पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं, उस भक्तवत्सल भगवान् गोविन्द को मैं नमस्कार करता हूँ ।

देवता वन्दन के अनन्तर गुरु वन्दन के बिना ग्रन्थ की न्यूनता समझ कर ग्रन्थकार गुरु वन्दन करते हैं—अनन्त इत्यादि । अपरिमित शम-दम आदि गुणों से सम्पन्न, अनन्त भगवान् के भजन में प्रीति रखने वाले एवं आनन्दरूप वाले अनन्त नामक गुरुजी को प्रणाम करता हूँ । 'रूप्यतेऽनेन' व्युत्पत्ति से रूप शब्द नाम परक है, अनन्त नाम जिसका वह अनन्तरूपी है । अर्थात् अनन्तभट्ट नामक अपने गुरुजी तथा पिताजी को मैं नमस्कार करता हूँ । गुरु अपने जनक और विद्याप्रदाता को सच्चिदानन्द ब्रह्म समझ कर ग्रन्थकार प्रणाम करते हैं ।

वस्तुतः सच्चिदानन्द परमात्मा तो निर्गुण निष्क्रिय और निरुपाधिक हैं, तथापि व्यवहार काल में सगुण एवं साकार समझ कर नमस्कार करना अनुचित नहीं है । मीमांसाशास्त्र के अनुसार नित्य नैमित्तिक आदि वेद विहित कर्मों को प्रधान और उन कर्मों में द्रव्य और देवता आदि को अङ्ग माना जाता है । द्रव्य

इह खलु परमकारुणिकेन भगवता [1]जैमिन्यृषिणा "अथातो धर्म-

और देवता में भी द्रव्य का प्राधान्य एवं देवता का उपसर्जनत्व स्वीकार किया जाता है[2]। अतएव नवमाध्याय प्रथम पाद के पाँचवे देवताधिकरण में देवता के विग्रहादि[3] पञ्चक को स्वीकार न करते हुए कर्म का ही प्राधान्य व्यवस्थापित किया गया है। भाष्यकार शबर स्वामी तक मीमांसकों की यह स्थिति रही है। अर्वाचीन मीमांसक खण्डदेव तथा वासुदेव दीक्षित आदि ने इस प्राचीन पक्ष को नहीं माना है। यद्यपि शबर स्वामी तक के मीमांसकों ने उन देवताओं के विग्रहादि पञ्चक को नहीं माना जो दर्शपूर्णमास आदि कर्मों से सम्बन्ध रखती हैं किन्तु यज्ञों से अतिरिक्त स्थलों में जहाँ देवताओं का सम्बन्ध है उनके विग्रहादि पञ्चक को निषेध नहीं किया है। अतः ग्रन्थकार का यह मङ्गलाचरण देवताधिकरण से विरोध नहीं रखता है।

मङ्गलाचरण के अनन्तर अपना ग्रन्थ 'मीमांसा[4] न्याय प्रकाश' का आरम्भ करते हुए श्री आपदेव मीमांसा के मूल पुरुष महर्षि जैमिनि का स्मरण तथा इस मीमांसा शास्त्र की रचना का उद्देश्य एवं विषय का निर्देश करते हैं। इस शास्त्र का विषय धर्म है। इसमें धर्मस्वरूप विवेचना के लिए बारह अध्याय हैं। इन अध्यायों में तीसरे, छठें और दशवें अध्यायों में आठ-आठ पाद हैं और अवशिष्ट अध्यायों में चार-चार पाद हैं, कुल पाद ६० हैं, प्रत्येक पाद में कई अधिकरण (न्याय) हैं। कुल अधिकरण=९०७ हैं। प्रत्येक अधिकरण में अनेक सूत्र हैं। (कुल सूत्र २६४४) हैं। इतने विस्तृत शास्त्र का विषय एकमात्र धर्म है। इस शास्त्र का पहला सूत्र 'अथातो धर्मजिज्ञासा' और अन्तिम सूत्र 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' हैं। जैमिनि के काल में तभी धर्म के स्वरूप और लक्षण दोनों विवाद ग्रस्त रहे हैं। इस विवाद को समाप्त करने की इच्छा से और विवादग्रस्त लोगों पर करुणा करके महर्षि जैमिनि ने इन बारह अध्यायों में धर्म के लक्षण और स्वरूप पर विचार किया है।

---

१ जैमिनिमुनिना।

२ अष्टमाध्याय ८.१.७।

३ विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यञ्च प्रसन्नता।
फलदातृत्वमित्येते पञ्चकं विग्रहादिकम्॥

४ 'मीमांसा' शब्द पूजार्थक 'मान' अथवा मानार्थक 'माङ्' धातु से 'मान्बधदाशान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य' सूत्र के द्वारा ङानुबन्ध माङ् धातु का नान्तत्व का निपातन करके अनिच्छार्थक सन् प्रत्यय अभ्यास और दीर्घ होने पर निष्पन्न होता है। इस शब्द का अर्थ 'पूजित विचार' है। इस सन्दर्भ का पूरा विवरण 'कुतूहलवृत्ति' चतुर्थ भाग की भूमिका से जान सकते हैं। इस पूजित विचार शास्त्र में महर्षि जैमिनि सहस्रों न्यायों को बारह अध्यायों में विचार किये हैं।

धर्म जैसे साधारण विषय के विचार के लिए लोगों में शंका हो सकती है कि इतने बड़े शास्त्र की क्या आवश्यकता है ? समाधान में कहा जाता है कि धर्म के विषय में जैमिनि की चिन्तन शक्ति एवं विचार सरणि विलक्षण है। इन बारह अध्यायों में विचार विषय धर्म एक होने पर भी विचार के प्रकार भेद से इतना विस्तृत शास्त्र आवश्यक हो गया है। इन विचारों के प्रकारों के भेद ये हैं—

१ धर्म का लक्षण और प्रमाण, २ धर्म के भेद, ३ धर्मों में परस्पर अङ्गाङ्गिभाव, ४ धर्मों में प्रयोज्य प्रयोजक भाव, ५ धर्मों के अनुष्ठान में क्रम, ६ धर्मानुष्ठान में अधिकार, ७ धर्मों में प्रकृति विकृति विचार करते हुए उनमें अंगों का सामान्यातिदेश, ८ उनका विशेषातिदेश, ९ प्रकृति से विकृति में अतिदिष्ट अंगों का ऊह, १० उनका विकृति में बाध, ११ उनके अनुष्ठान में तंत्रता विचार, १२ उनमें प्रसंग और समुच्चय का निरूपण। जैमिनि ने इन 'प्रकार' भेदों से धर्मतत्त्व का विवेचन इस बड़े शास्त्र में किया है। इन विचारों के संक्षिप्त उदाहरण दिये जाते हैं—

१ 'मानाधीना मेय सिद्धिः मान-सिद्धिश्च लक्षणात्' इस न्याय से किसी पदार्थ की सिद्धि प्रमाणों से होती है। और प्रमाणों की सिद्धि लक्षण से होती है। अतः जैमिनि ने दूसरा सूत्र धर्म लक्षण परक बनाया 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः'। इस लक्षण से वेद धर्म का प्रमाण है यह सिद्ध होता है। इसका विवेचन आगे होगा। जबकि वेद प्रतिपाद्य धर्म है तो धर्म में प्रमाण वेद है यह सिद्ध हो जाता है। वेद में अर्थवाद आदि अनेक विभाग हैं। वे सब धर्म के प्रमाण हैं। वेद मूलक मनु याज्ञवल्क्य आदि महापुरुषों के द्वारा विरचित स्मृति ग्रन्थ और उनके द्वारा स्वीकृत आचार भी धर्म के प्रमाण हैं। एवञ्च प्रथम अध्याय में विधि, अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, आचार, नामधेय, सामर्थ्य और वाक्यशेष इन ८ प्रमाणों का विवेचन है। इन प्रमाणों से धर्म का स्वरूप जाना जाता है।

२ इन प्रमाणों से धर्म स्वरूप अवगत होने पर उनमें भेद की चर्चा दूसरे अध्याय में की गयी है। यथावत् धर्मस्वरूप की अवगति में भेद परिज्ञान भी आवश्यक होता है। एक प्रकरण में विद्यमान याग, दान, होम रूपी नाना कर्मों को एक समझ कर, अथवा नाना वाक्यों से प्रतिपादित एक रूपी कर्मों को एक समझकर अनुष्ठान में वह धर्म नहीं समझा जा सकता है। अतः इनको समझने के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होने पर द्वितीय अध्याय में छः प्रमाण बतलाये गये हैं— १ शब्दान्तर, २ अभ्यास, ३ संख्या, ४ संज्ञा, ५ गुण और ६ प्रकरणन्तर। न्याय प्रकाश में गन्यकर्ता ने इन प्रमाणों का विचार नहीं किया हैं। अतः अध्येतृ वर्ग के ज्ञान के निमित्त विशद रूप से इनका स्वरूप दिखाया जाता है।

शब्दान्तर

'सोमेन यजेत' 'दाक्षिणानि जुहोति' 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति' 'प्रउगं शंसति' 'आज्यैः स्तुवते' ये सभी वाक्य ज्योतिष्टोम प्रकरण में (सोमयाग के प्रकरण में)

आम्नात हैं। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय से प्रधान याग के नाम से प्रकरण का व्यपदेश अर्थात् व्यहार होता है। जिस याग के फल के साथ संवन्ध बतलाया हो वह प्रधान है और अवशिष्ट उस के अंग होते हैं। अंगों से सहित प्रधान का प्रकरण बनता है। प्रकृत में सोमयाग प्रधान है क्योंकि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' वाक्य से सोम याग का स्वर्गफल वतलाया गया है। इस सोमयाग का नाम है 'ज्योतिष्टोम'। 'ज्योतिष्टोम' कहने पर अंग सहित प्रधान का बोध होता है। पूर्वोक्त पाँचों वाक्य ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित हैं। उनमें 'सोमेन यजेत' यह वाक्य, याग के अनुष्टान में पुरुष की प्रवृत्ति कराता हुआ 'जुहोति 'ददाति' 'शंसति' 'स्तुवते' से प्रतिपादित होम-दान-शंसन और स्तवन रूपी कर्मों का भी प्रवर्तक बन जाता है। अतः यहाँ एक ही प्रवर्तना जैसी प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार की अवगति होती है। मीमांसको के सिद्धान्त में 'यजेत' पद के प्रत्यय 'त' का अर्थ 'प्रवर्तना' 'भावना' है। इसका विवरण ग्रन्थकार ही स्वयं आगे करेगा। 'सोमेन यजेत' में विद्यमान 'त' प्रत्यय के द्वारा ज्योतिष्टोम प्रकरण गत 'जुहोति' 'ददाति' आदि के प्रत्ययवाच्य सभी भावनाएँ प्रतिपादित हैं तो याग दान दोनों का भेद सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि भावना के भेद से ही धात्वर्थ का भेद सिद्ध होता है। अतः प्रकृत में भावना का भेदक शव्दान्तर है। शब्दान्तर को धातुभेदार्थक कहते हैं जैसे—यजते ददाति जुहोति आदि। इस प्रकार [1]शब्दान्तर श्रूयमाण होने पर कर्मभेद अर्थात् भावना भेद प्रतीत होता है। अतः एक प्रकरण में विद्यमान विभिन्न धात्वर्थों से अनुबद्ध प्रत्यय विभिन्न कर्म के बोधक हैं। प्रत्यय समान होते हुए भी उनके अनुवन्ध विशेषण भिन्न हैं। अतएव तदनुबद्ध अथवा तदवच्छिन्न प्रत्यय भी भिन्न भावना का प्रतिपादक बन जाते हैं।

अभ्यास २

द्वितीय प्रमाण है—अभ्यास। एक ही प्रकरण में अनुवन्ध और प्रत्यय एक रूप होने पर भी कर्म भेद माना जाता है। जैसा दर्शपूर्णमास प्रकरण में 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' 'इडो यजति' 'वर्हिर्यजति' 'स्वाहाकारं यजति' यहाँ पर पाँच बार 'यजति' का अभ्यास है। अभ्यास का अर्थ है—'अनन्यपर विधि पुनः श्रवण' अर्थात् विधिप्रत्यय का पुनः पुनः श्रवण अर्थात् बार बार पढना तथा अन्य परक न होना अर्थात् धात्वर्थ के विधान को छोड़कर अन्य गुण विधान आदि न होना। पाँचों वाक्य भिन्न भिन्न यागों के विधायक हैं। अतः इनको एक याग न समझ कर 'अभ्यास' प्रमाण से कर्म भेद समझना चाहिए।

संख्या ३

कर्मभेद में तीसरा प्रमाण है—संख्या। सांग्रहणेष्टि में 'तिस्र आहुतीर्जुहोति'

---

१ जैमिनि सूत्र देखो 'शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्' २.२.१. सूत्रगत 'कर्म' पद भावनार्थक है। भावनारूप व्यापार, उसके विशेषण धात्वर्थ के भेद से भिन्न होता हैं। इसी को कर्म भेद कहते हैं।

वाक्य है। त्रित्वसंख्या आहुति का विशेषण है। प्रकृत वाक्य में विधायक प्रत्यय एक होते हुए भी भिन्न कर्मों का युगपद् विधान है। इस लिये मानना पड़ता है कि त्रित्व संख्या एकत्व का विरोधी है। एक में त्रित्व संख्या नहीं रह सकती। अतः संख्या से तीन आहुतियाँ भिन्न भिन्न समझनी चाहिए। जैसे धात्वर्थगत संख्या से कर्म भेद समझा जाता है उसी प्रकार द्रव्यगत संख्या भी कर्म भेदक होती है। वाजपेय में 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभेत' श्रुत है। यहाँ सप्तदश संख्या पशुओं का विशेषण है। 'प्राजापत्यान्' शब्द प्रजापति देवताविशिष्ट पशुद्रव्य का वाचक है। 'प्रजापतिर्देवता अस्य प्राजापत्यः' इस व्युत्पत्ति में 'इदं' शब्द प्रकृत द्रव्य पशु का परामर्शक होकर सप्तदश संख्या के बल से सत्रह द्रव्यदेवतासंवन्ध का बोधक बन जाता है। द्रव्यदेवता संवन्ध ही तो याग है। अतः द्रव्यगत भी संख्या कर्म भेदक है।

संज्ञा ४

कर्म का भेदक संज्ञा भी है। 'अथैष ज्योतिः' 'अथैष विश्वजोतिः' 'अथैष सर्व ज्योतिः' इन वाक्यों में ज्योतिः शब्द समान होते हुए भी एक कर्म नहीं है। किन्तु ज्योतिः विश्वज्योतिः सर्वज्योतिः इन संज्ञाओं से संज्ञी का भेद सिद्ध हो जाता है।

गुण ५

गुण भी कर्म भेदक होता है। मीमांसा शास्त्र में उपसर्जन अर्थ में 'गुण' शब्द का प्रयोग प्रचलित है। जैसे दध्यादि द्रव्य, आरुण्यादि गुण, याग दान आदि क्रियाएँ, खादिरत्व पलाशत्व आदि जातियाँ, एकत्व द्वित्व आदि संख्यायें और कालदेश आदि के लिए गुण शब्द का प्रयोग होता है। चातुर्मास्य कर्म के वैश्वदेव पर्व में 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' 'वाजिभ्यो वाजिनम्' दो वाक्य आम्नात हैं। विश्वेदेव देवताक आमिक्षा द्रव्यक याग का विधान प्रथमवाक्य से एवं वाजिदेवताक वाजिन द्रव्यक याग का विधान द्वितीय वाक्य से किया जाता है। छेनाको आमिक्षा कहते हैं और छेना बनाते समय जो जल रह जाता है उसे वाजिन कहते हैं। यहाँ शंका होती है कि आमिक्षा याग ही में वाजिन द्रव्य का विधान मान लेने पर द्रव्यदेवताविशिष्ट याग का क्यों विधान किया जाता है? समाधान में कहा जाता है कि 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' वाक्य में याग का द्रव्य 'आमिक्षा' है ही, उसके रहते हुए 'वाजिन' द्रव्य का वहाँ विधान संभव नहीं, क्योंकि उत्पत्ति वाक्य से विहित द्रव्य प्रबल होकर वाक्यान्तर से विधीयमान द्रव्य (वाजिन) को नहीं आने देगा। अतः 'वाजिन' गुण कर्मभेदक है। आगे ग्रन्थकार इस विषय की चर्चा स्वयं करता है।

प्रकरणान्तर ६

'अनुपादेयगुणसहकृतानुपस्थिति' अथवा 'उपादेयगुणसामान्याभावसहकृतानुपस्थिति' को 'प्रकरणान्तर' शब्द से कहा जाता है। मीमांसकों ने कहा है—

'देशः कालो निमित्तञ्च फलं संस्कार्यमेव च।
इति मीमांसकाः प्राहुरनुपादेयपञ्चकम्' ॥

पाँच गुणों का 'अनुपादेय' शब्द से व्यवहार किया है। उपादय का अर्थ है— विधि विषय। देशकाल आदि विधिविषय नहीं हैं। अतएव ये अनुपादेय हैं। दधि पय व्रीहि यव आरुण्य पालाशत्व और याग आदि क्रियाएँ विधि विषय हैं। अत ये उपादेय कहलाते हैं। इस स्थिति में यह विचार होता है कि एक वर्ष का अनुष्ठेय 'कुण्डपायिनामयनं' नामक सत्रयाग में 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' 'मासं दर्शपूर्णमासाभ्याम्' 'मासं वैश्वदेवेन' 'मासं वरुणप्रघासैः' आदि वाक्यों से प्रतिमास करने योग्य कर्मो का विधान है। प्रत्येक मास में करने योग्य अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि क्या नित्याग्निहोत्र दर्शपूर्णमास के परिचायक हैं अथवा ये अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि कर्म उनसे भिन्न है? संशय होने पर 'प्रकरणान्तर' प्रमाण से इन अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि को भिन्न माना जाता है। अन्यत् प्रकरणं प्रकरणान्तरम् व्युत्पत्ति से अग्निहोत्र प्रकरण से सत्रप्रकरण भिन्न है और दर्शपूर्णमास प्रकरण से सत्रप्रकरण दूसरा है। अतः उन प्रसिद्ध अग्निहोत्र आदियों का यहाँ सत्रयाग में उपस्थिति नहीं हो सकती है। यह अनुपस्थिति 'मास' रूपी अनुपादेय गुण सहकृत है। कथमपि उपस्थित प्रसिद्ध अग्निहोत्र को उद्देश्य कर 'मास' काल का विधान नहीं किया जा सकता। क्योंकि काल अनुपादेय है अर्थात् अविधेय है। उपस्थित नित्याग्निहोत्र प्राप्त हो जाने से विधेय नहीं हुआ और मास रूपी काल अनुपादेय होने से विधेय नहीं हुआ। अन्ततः इन वाक्यों में विधेय क्या होगा ? सभी अनर्थक ही होंगे। अतः काल विशिष्ट अन्य अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास के विधायक ये वाक्य हैं ऐसा मानने पर सभी संगत हो जाते हैं। अत एव उपादेय गुण सामान्याभावसहकृतानुपस्थिति रूप प्रकरणान्तर भी कहा जा सकता है। 'जुहोति' 'यजेत' आदि से उपादेय होम आदि प्रतीत हैं, तो भी प्रसिद्ध उन कर्मों की उपस्थिति न होने पर वे विधेय नहीं होंगे। विधि का विषय वही होता है जो अप्राप्त हैं। प्रसिद्ध अग्निहोत्र आदि कर्म तत्तद् वाक्यों से प्राप्त हैं। अतः उनका 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' आदि सत्रगत वाक्यों से विधान नहीं बनपाता। अतः इन वाक्यों में विधेय कोई नहीं रह जाता। इसलिए उपादेय गुण सामान्याभाव सहकृतानुपस्थितिरूप प्रकरणान्तर प्रमाण से काल विशिष्ट कर्म का विधान स्वीकार किया जाता है। अतः प्रकरणान्तर कर्म भेदक प्रमाण है।

इस प्रकार विचार का प्रयोजन यह है कि प्रसिद्ध अग्निहोत्र और मासाग्निहोत्र को एक समझ कर अनुष्ठान करने से 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' और 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' वाक्यों से बोधित अग्निहोत्र का 'यावज्जीव' एवं 'मास' काल का विकल्प सिद्ध हो जायगा और मासाग्निहोत्र पक्ष वाला यावज्जीव काल का ग्रहण नहीं करेगा, तो उसे इस पक्ष में अधर्म सिद्ध होगा। इसी प्रकार जो व्यक्ति कुण्डपायिनामयन में अग्निहोत्र किये विना भी रह सकेगा तो अधर्म हो जायगा। अतः धर्माधर्म परिज्ञान के लिए कर्मभेद विचार भी उपयुक्त है।

तीसरे अध्याय का विषय—भिन्न कर्मों में अङ्गाङ्गिभाव। अङ्ग और अङ्गी के ज्ञान के लिए श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान और समाख्या छः प्रमाण स्वीकृत हैं। अङ्ग को अङ्गी समझ कर या अङ्गी को अङ्ग समझ कर अनुष्ठान करना अधर्म होता है। अतः अङ्गाङ्गिभाव का ज्ञान धर्मोपयोगी है।

चतुर्थाध्याय का विषय—प्रयोज्य प्रयोजक भाव है। अनुष्ठाप्य को प्रयोज्य और अनुष्ठापक को प्रयोजक कहते हैं। यह अङ्गों के अनुष्ठान में उपयोगी है। जो अनुष्ठापक होगा वह अङ्गी ही होगा, और अनुष्ठाप्य अङ्ग ही होगा। अनुष्ठाप्य अङ्गों के अनुष्ठान में अनुष्ठापक की आवश्यकता होती है। जिस अङ्ग के अनुष्ठान में दो अनुष्ठापक अङ्गी हो जाते हों उनमें विचार कर एक ही को अनुष्ठापक सिद्ध करते हैं, दूसरे को नहीं। जैसा 'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति' वाक्य से पुरोडाश सिद्ध करने के लिए 'कपाल' शब्द से विशेष लोष्ठ लिये जाते हैं। अर्थात् कपालों को तप्त कर उनमें पुरोडाश को रख कर पकाया जाता है—'कपालेषु श्रपयति'[1] से इसका विधान है। पुरोडाश श्रपण का कपाल अङ्ग हैं। वही कपाल तुषोपवाप अर्थात् तण्डुलों में लगे हुए तुषों का हटाना कार्य के प्रति भी अङ्ग है। यहाँ सन्देह होता है कि क्या कपाल अङ्ग का प्रयोजक पुरोडाश मात्र है? अथवा तुषोपवाप भी? पुरोडाश मात्र प्रयोजक है, तुषोपवाप नहीं यह सिद्धान्त है। तुषोपवाप को भी प्रयोजक मान कर कपाल का ग्रहण हो तो वह अधर्म हो जायेगा। अतः धर्मतत्त्व ज्ञान के लिए प्रयोज्य प्रयोजक भाव विचार आवश्यक समझ कर महर्षि जैमिनि ने चतुर्थाध्याय में उसका निरूपण किया।

पञ्चम अध्याय में प्रयोग विधि विचार, अर्थात् अनुष्ठेय पदार्थों का क्रम विचार है। दर्शपूर्णमास आदि कर्मों के आरम्भ के समय बहुत से अङ्ग 'खले कपोत न्याय' से इकट्ठे आ जाते हैं। उस समय अनुष्ठान के लिए क्रम की आवश्यकता होती है। उसके लिए श्रुति-अर्थ-पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवृत्ति रूप छः प्रमाण स्वीकृत हैं। जिनका विवरण ग्रन्थकार स्वयं ही करते हैं। इन प्रमाणों से सिद्ध क्रम को छोड़ कर यथेच्छ अनुष्ठान करने से वह अधर्म होगा। अतः क्रम विचार भी धर्मोपयोगी है।

छठे अध्याय का विषय अधिकार है। किस कर्म में कौन अधिकारी है? अधिकार क्या है? अधिकारी का विशेषण क्या है? स्त्रियाँ और अङ्गविकल-शूद्र आदि का श्रौत कर्मों में अधिकार है या नहीं आदि विषय इस अध्याय में

---

१ धान यव को कूट कर पछोर कर, संलग्न तुषों को हटा कर पीसते हैं। पीसे हुए आटे को भर्जन कर गरम जल छोड़ते हैं। थोड़ा पक जाने पर उतार कर आटे को गोखुर या अश्वखुर के परिमाण कूर्माकार बनाते हैं। यही पुरोडाश है। इस पुरोडाश को तपे कपालों को आहवनीय या गार्हपत्य कुण्ड के बगल में बिछा कर पुरोडाश को पकाते हैं। ऐसा पकाने पर पुरोडाश फूलता है।

चर्चित है। यहाँ ग्रन्थकार ने इस विषय का विशद रूप से विचार किया है। यह विषय भी धर्मोपयोगी है।

इन छः अध्यायों में चार प्रकार की विधियाँ उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, प्रयोग विधि और अधिकार विधि निरूपित हैं।

सातवें एवं आठवें अध्यायों में सामान्य एवं विशेष रूप से अतिदेश का विचार है। क्रतुओं में प्रकृति कौन और विकृति कौन ? इसका विचार करते हुए प्रकृति से विकृति में अंगों को ले जाना रूपी अतिदेश का विचार सातवें में सामान्य रूप से और आठवें में विशेष रूप से किया गया है। ग्रन्थकार ने अपने इस न्याय प्रकाश में विचार किया है।

नवम अध्याय का विषय 'ऊह' है। प्रकृति से विकृति में आये हुए अंगों के अन्यथा नयन को 'ऊह' कहते है। 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र प्रकृति याग आग्नेय से विकृति सौर्य याग में प्राप्त होने पर (अतिदेश से) 'अग्नये' के स्थान में 'सूर्याय' रूप अन्यथा नयन कर 'सूर्याय जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र पढ़ा जाता है। यह मन्त्रोह-सामोह और संस्कारोह के भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। यह विचार भी धर्मोपयोगी है।

दसवें अध्याय का विषय बाध है। प्रकृति से विकृति में आये हुए अंगों का निवारण बाध कहलता है। इस बाध में अर्थलोप, प्रतिषेध, और प्रत्याम्नाय तीन हेतु हैं। इन का भी विचार गन्थकार ने किया है। यह विचार भी धर्मो-पयोगी है।

ग्यारहवें अध्याय का विषय 'तन्त्र' है। अनेक प्रधानों के लिए अंगों का एकबार अनुष्ठान करना 'तन्त्र' कहलाता है। जैसा कि पूर्णमास के तीन प्रधान आग्नेय, उपांशुयाज और अग्नीषोमीय यागों के लिये प्रयाज-आज्यभाग-आघार अनूयाज-पत्नीसंयाज आदि अंगों का अनुष्ठान सकृद् होता है। यह तन्त्रानुष्ठान कहलाता है। यह विचार भी धर्म संबन्धी है।

बारहवें अध्याय का विषय 'प्रसंग' है। 'अन्यत उपकारलाभप्रयुक्ताङ्गान-नुष्ठानं प्रसङ्गः एक के लिए अनुष्ठित अंगों से ही दूसरे का भी जहाँ उपकार प्राप्त हो जाता हो वहाँ प्रसंग शब्द का व्यवहार किया जाता है। जैसे दर्शयाग की विकृति अग्निषोमीय पशुयाग है। अतः प्रयाज अनूयाज आदि जो दार्शपूर्णमासिक अंग है वे अतिदेशके द्वारा विकृति अग्निषोमीय पशु याग के भी अंग हुए, एवं अग्नीषोमीय पशुयाग के अंग 'पशुपुरोडाश' में पौर्णमास से वे ही प्रयाज अनूयाज आदि अतिदेश से प्राप्त हुए। किन्तु दोनों में प्राप्त अंगों का अनुष्ठान दोनों में नहीं किया जाता है। जब पशुयाग में अनुष्ठित अंगों का उपकार पशु के अंग भूत पशुपुरोडाश में लब्ध हो जाता हो तो पशुपुरोडाश में उन अंगों का अनुष्टान नहीं करते हैं। इस प्रकार प्रसंग की चर्चा भी धर्म के लिए उपयोगी है। अतः बारह अध्यायों में धर्म संबन्धी ही विचार करते हुए महर्षि जैमिनि ने मीमांसाशास्त्र का प्रणयन किया है।

जिज्ञासा" [1]इत्यादिना द्वादशस्वध्यायेषु धर्मो विचारितः। तत्र वेदेन प्रयोजनमुद्दिश्य विधीयमानोऽर्थो धर्मः। यथा यागादिः। स हि 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिवाक्येन स्वर्गमुद्दिश्य विधीयते। तथा हि—यजेते-

---

धर्मलक्षण

मीमांसा शास्त्र में विचारित धर्म का लक्षण ग्रन्थकार करते हैं—तत्र वेदेन आदि। किसी एक फल को उद्देश्य कर वेद विहित हो और 'अर्थ' श्रेयस का साधन हो वह धर्म है। स्वर्ग आदि फल वेद प्रतिपादित है और श्रेयस्साधन है तो वह भी धर्म हो जायेगा, अतः 'किसी प्रयोजन-फल को उद्देश्य कर' यह विशेषण दिया गया है। स्वर्ग आदि स्वयं फल हैं, इनका अन्य फल उद्देश्य नहीं हो सकता है। अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं होता। भोजन में अतिव्याप्ति दोष वारण के लिए 'वेद विहित' विशेषण है। भोजन का फल क्षुधा निवृत्ति है और वह अर्थ भी है अतः भोजन में भी धर्म का लक्षण संक्रान्त हो जाता। 'वेद विहित' विशेषण देने पर अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। किसी भी वेद वाक्य में भोजन का विधान नहीं है। भोजन राग प्राप्त है। प्राप्त का विधान नहीं होता है। श्येन आदि आभिचारिक कर्म में जो वेद विहित हैं और प्रयोजनवान् भी है इसमें अतिव्याप्ति होगी, अतः 'अर्थ' पद है। श्येन याग अर्थ-श्रेयस्साधन नहीं है। शत्रुवध द्वारा वह नरक जनक है। अतः यहाँ अतिव्याप्ति नहीं हुई। लक्षण का लक्ष्य निर्देश करते हैं—'यथा यागादिः। आदि पद से होम-दान-द्रव्य-गुण-जाति का ग्रहण किया जाना चाहिए। 'यजेत स्वर्गकामः' वाक्य स्वर्ग को उद्देश्य कर याग का विधान करता है। एवं होम-दान का भी विधायक वेदवाक्य हैं। अतः वे भी धर्म हैं। इसी प्रकार द्रव्य विधि 'व्रीहिभिर्यजेत', गुण विधि 'अरुणया क्रीणाति', तथा जातिविधि 'यस्य पर्णमयी जुहूः' आदि हैं।

याग आदि में विधेयता किस प्रकार की है? और विधि कौन है? वह विधि विधायक कैसे बनता है? आदि विषयों को विशद रूप से प्रतिपादन करता है—तथाहि इत्यादि ग्रन्थ से।

'यजेत' पद के दो भाग हैं—'यज्' धातु एवं 'त' प्रत्यय। दोनों अंश अलग अलग अपने अर्थ के प्रतिपादन में शक्त हैं। यज्धातु का याग अर्थ है, 'त' प्रत्यय विध्यर्थक है। 'यज-देवपूजा-सङ्गति करण-यजन-दानेषु' इस धातु पाठ में धातु का अर्थ 'यजन' भी निर्दिष्ट है। यजन ही याग है जो 'देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः' कहलाता है। 'त' प्रत्यय में भी दो अंश हैं—लिङ्त्व और आख्यातत्व। इन दोनों की वाचकता 'त' में विद्यमान है। अतएव ये दोनों वाचकतावच्छेदक होते हैं। आख्यातत्व धर्म आख्यातों में तिप् तस् झि आदि सभी में रहता है। लिङ्त्व धर्म

---

१ इत्यारभ्य

त्यत्राऽस्त्यंशद्वयम्, यजिधातुः प्रत्ययश्च। [1]तत्र प्रत्ययेऽप्यस्त्यंशद्वयम्, आख्यातत्वं लिङ्त्वञ्च। आख्यातत्वञ्च दशसु लकारेषु विद्यते। लिङ्त्वं पुनः केवलं लिङ्येव। तत्राऽऽख्यातत्वलिङ्त्वाभ्यां भावनैवोच्यते। भावना नाम—भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः। [2]सा च द्विविधा [3]शाब्दी भावना आर्थी भावना चेति।

तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलभावकव्यापारविशेषः शाब्दी भावना। सा

लिङ् मात्र में रहता है। आत्मने पद यज धातु से विध्यर्थक लिङ् के लकार-स्थानिक जितने प्रत्यय हैं—ईत ईयाताम् ईरन् आदि वे आख्यात कहे जाते हैं। यज+(लिङ्) ईत—का गुण सन्धि करने पर 'यजेत' सिद्ध हुआ। यहाँ स्थानी लिङ् में लिङ्त्व एवं लिङ्स्थानिक ईत प्रत्यय में आख्यातत्व धर्म रहते हैं। दोनों धर्मों से युक्त यह प्रत्यय भिन्न-भिन्न अर्थ का अभिधायक है।

भावना विचार

दोनों धर्मों से युक्त प्रत्यय भावना का वाचक है। वाच्यार्थ भावना है और वाचक प्रत्यय है जिसमें वाचकतावच्छेदक रूप से दो धर्म हैं। भावना को समझाते हैं—भवितुः आदि। सिद्ध किये जानेवाले पदार्थ का सिद्धि के अनुकूल भावक-प्रयोजक का व्यापार भावना है। भावयतीति भावना इस व्युत्पत्ति से यह अर्थ बोध होता है। 'देवदत्तः ओदनं पचति' में ओदन की सिद्धि के लिए अनुकूल व्यापार पाक है, पाक सिद्धि के लिए चेतन का व्यापार आवश्यक है। चेतन व्यापार के विना पाक सिद्ध न होगा, पाक के विना ओदन सिद्ध नहीं होगा। अतः देवदत्त ओदन सिद्धि के लिए तदनुकूल पाक व्यापार में प्रवृत्त है—यह बोध 'देवदत्तः ओदनं पचति' वाक्य से होता है। 'पचति' यहाँ पर पच् धातु का विक्लत्ति तदनुकूल व्यापार अर्थ है और 'ति' प्रत्यय का देवदत्त की प्रवृत्ति अर्थ है। देवदत्त की प्रवृत्ति से पाक बनता है, पाक से ओदन बनता है। अतः 'ति' आख्यातत्त्व धर्म से युक्त होकर देवदत्त प्रवृत्ति का अभिधायक हुआ। वह ही 'प्रवृत्ति' भावक व्यापार भावना है। इसी प्रकार 'गामानय' में गवानयन में प्रवृत्ति सिद्ध करने के लिये अनुकूल भावक-आचार्य आदि के व्यापार को लोट्त्व धर्म से युक्त प्रत्यय कहता है। भावक-आचार्य आदि का व्यापार ही भावना है। यह भावना शाब्द एवं आर्थी दो प्रकार की है।

शाब्दी भावना

प्रयोजक के जिस व्यापार से तत्तत्कार्यों में पुरुष की प्रवृत्ति होती है वह व्यापार शाब्दी भावना है। यह व्यापार लिङ् स्थानिक प्रत्यय का वाच्य है,

---

१ तत्र इति नास्ति। २ सा द्विविधा। ३ शाब्दी आर्थीचेति।

च लिङ्त्वांशेनोच्यते। लिङ् श्रवणे 'अयं मां प्रवर्तयति' 'मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयम्', इति[1] नियमेन प्रतीयमानत्वात्। यच्च यस्मात्प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्, यथा गोशब्दस्य गोत्वम्। स[2] च प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारविशेषो लोके पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः, वेदे तु [3]पुरुषाभावाल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव। नहि वेदः पुरुषनिर्मितः।

अर्थात् लिङ्त्वरूप शक्ततावच्छेदक धर्म से युक्त 'त' प्रत्यय का अर्थ है। लिङ्त्व धर्म लेट्त्व-लोट्त्व-तव्यत्व धर्मों का उपलक्षक है। 'यजेत' 'यजाते' 'यजताम्' 'यष्टव्यम्' इन स्थलों में लिङ्त्वादि तत्तद्धर्म से युक्त प्रत्यय शाब्दी भावना का अभिधायक है। शाब्दी भावना ही प्रवर्तना हैं। प्रवर्तना का अर्थ प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार है। जो इस प्रकार पद-पदार्थ संगति को जानते हैं वे लिङादिघटित वाक्यों को सुनकर 'मुझे यह प्रेरित कर रहा है' 'मेरी प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापारवाला यह है' समझते हैं। 'आनयति' 'आनिनाय' इत्यादि विना विधि के वाक्यों को सुनकर प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार को नहीं समझते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि लिङ् लोट्, लेट् तव्य प्रत्यय ही प्रवर्तना अर्थात् प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार का अभिधायक हैं। जो जिस शब्द से प्रतीत होता है वह उस शब्द का अर्थ है। जैसा कि गोशब्द को सुनने से गोत्व प्रतीत होता है तो गोशब्द का अर्थ गोत्व है। इस कथन से ग्रन्थकार आकृत्यधिकरण (१.३.८) न्याय को बतलाते हैं। आकृत्यधिकरण में मीमांसकों ने 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशिष्टमुपसंक्रामति' 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' न्याय से विशेषण में शब्दों की शक्ति माना है। इस विषय को ग्रन्थकार ने 'यथा गोशब्दस्य गोत्वम्' कहकर सूचित किया। विध्यर्थ के विषय को लेकर मीमांसकों ने अनेक मत प्रदर्शित किया है जिनका निरूपण प्रसंग आने पर आगे किया जायगा। अब तक यह सिद्ध हुआ है कि लिङ् आदियों के श्रवण से प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार अर्थात् प्रवर्तना प्रतीत होती है, लट् आदियों के श्रवण से वह प्रतीत नहीं होती है इस अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा लिङ् आदियों की शक्ति प्रवर्तनाव्यापार में है। यह व्यापार लोक में पुरुषगत अभिप्राय विशेष माना जाता है। लोक में प्रयोजक-प्रेरक पुरुष यह समझकर कि 'भृत्य की प्रवृत्ति गो के आनयन में हो' 'गामानय' प्रयोग करता है। यहाँ लोट्लकार उसी अर्थ का प्रतिपादक है। यदि प्रेरक का यह अभिप्राय नहीं होता तो वह लोट् का प्रयोग क्यों करता? अतएव भृत्य भी समझता है कि गोके आनयन में मेरी प्रवृत्ति हो इस अभिप्राय से मालिक ने लोट् का प्रयोग किया। अतः लिङ् लोट् लेट् तव्य प्रत्ययों का प्रवर्तना रूप अर्थ लोक में प्रेरक पुरुष के अभिप्राय रूप है।

वेद में पुरुष का संबन्ध न होने से वह अभिप्राय लिङ् आदि शब्द का ही

---

१ इति हि नियमेन प्रतीयते। २ सच व्यापारविशेषः। ३ लिङादिनिष्ठ एव।

माना जाता है। इस संदर्भ में शंका होती है कि लोक में वह अभिप्राय पुरुष गत है, और वेद में वह लिङ् आदि शब्द गत है इस प्रकार लोक और वेद के शब्दों का अलग अलग संगति ग्रह कैसे हो सकता है ? जब कि 'लोक वेदाधिकरण' (१.३.७.) में लौकिक शब्द-तदर्थों और वैदिक शब्द-तदर्थों का अनन्यत्व अर्थात् भेदाभाव या अभेद सिद्ध किया गया है। अतः वैदिक लिङादि शब्दों का शब्द निष्ठ अभिप्राय विशेष में अलग शक्तिग्रहोपाय न होने पर लिङ् आदि शब्द-गतत्वेन उस अभिप्राय को कैसा माना जाय ?

इसका यह समाधान है कि शाब्दी भावना या प्रवर्तना का अर्थ है—प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार-अर्थात् चैत्र आदि प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति के प्रति अनुकूल-प्रयोजक व्यापार। 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' इस न्याय से शब्द का अर्थ वही माना जाता है जो प्रकारान्तर से लब्ध न होता हो। प्रकृत स्थल में लिङ्स्थानिक 'त' प्रत्यय में कहा जा चुका है कि लिङ्त्व और आख्यातत्त्व धर्म हैं। इनमें आख्यात धात्वर्थ से अतिरिक्त व्यापारवाची है यह भावार्थाधिकरण में मिमांसकों ने सिद्ध किया है। यही व्यापार प्रयोज्य की प्रवृत्ति कहलाता है। अतः प्रवृत्तिरूप अर्थ आख्यातलभ्य होने से अन्य लभ्य हुआ। प्रवृत्ति के प्रति प्रयोजक-अनुकूल कोटि में 'इष्टसाधनत्व' आदि ज्ञान होते हैं। उनकी प्राप्ति अनुमान विधया या संसर्गमर्यादया हो जाती हैं तो अनुकूल भी अन्यलभ्य हुआ। बचा है व्यापार। वह व्यापारत्वेन लोक वेद साधारण है। भाव यह है कि 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलव्यापारः' इसमें 'प्रवृत्त्यनुकूलत्व' शक्य पदार्थ व्यापार का अवच्छेक नहीं है, क्योंकि ये अन्यलभ्य है। अतः व्यापारत्व केवल शक्य का अवच्छेदक है। भट्टोजी दीक्षित ने 'विधिनिमन्त्रण' आदि सूत्र में 'प्रवर्तनायां लिङित्येव सुवचम्' कहकर इस विषय को सूचित किया। एवं तत्त्वबोधिनीकार ने प्रवर्तनात्वस्य विध्यादिषु चतुर्ष्वनुस्यूतत्वात्' कह कर इस विषय को पुष्ट किया है। वैयाकरणों से मीमांसकों का अन्तर यह है कि वैयाकरण 'प्रवृत्ति' और 'प्रवर्तना' व्यापार को धात्वर्थ ही मानते हैं, मीमांसक उन दोनों को प्रत्ययार्थ मानते हैं विधि निमन्त्रण आदि में जो विशेषता है वह प्रकारान्तर अर्थात् लक्षणा आदि से अवगत होती है।

वेदापौरुषेत्व विचार

वैदिक लिङ् आदि स्थल में प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार लिङ् आदि शब्द निष्ठ इस लिए माना गया है कि 'वेदे पुरुषाभावात्' वेद में पुरुष नहीं है ? जब कि सारा वाङ्मय पुरुष कर्तृक उपलभ्यमान हैं तो वैदिक वङ्मय भी उसी प्रकार होना चाहिए। अतः 'वेदः पौरुपेयः वाक्यत्वात् भारतादिवाक्यवत्' अनुमान से वेद का पौरुषेयत्व ही मानना चाहिए। वेद में गिरि-नदी-नगर-मनु प्रभृति मानवों का नाम मिलते हैं तो उसका पौरुषेयत्व क्यों नहीं माना जाता है ? प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार देते हैं—'न हि वेदः पुरुषनिर्मितः। वेद में पुरुष का संबन्ध चार प्रकारों से संभव है—१ शब्द और अर्थ के संबन्ध करने से २ शब्द को करने से ३ वाक्य-

वाक्यार्थ को बनाने से। इनमें प्रथम पक्ष का निराकरण स्वयं सूत्रकार ने पञ्चम औत्पत्तिक सूत्र से (१.१.५) एवं द्वितीय पक्ष का निराकरण शब्द नित्यत्वाधिकरण (१.१.६) से, इसी प्रकार तृतीय पक्ष का निराकरण वाक्याधिकरण से (१.१.७) किया गया है। चौथा प्रकार समग्र ग्रन्थ का निर्माण द्वारा जिस का निराकरण वेदापौरुयेयत्वाधिकरण (१.१.८) से किया जाता है।

अब 'वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात् भारतादिवत्' इस अनुमान का परीक्षण करना है। यद्यपि वाक्यत्व हेतु भारतादि ग्रन्थों में विद्यमान है और वहाँ पौरुषेयत्व विद्यमान है तथापि यह देखना है कि साध्य-पौरुषेयत्व का स्वरूप क्या है? यदि कहा जाय कि पुरुष के द्वारा उच्चारण मात्र से पौरुषेत्व सिद्ध होता है तो रामायण महाभारत आदि को हम उच्चारण करते हैं, अतः अस्मत्कर्तृकत्व भी सिद्ध हो जायगा। अतः जो पुरुष जिस ग्रन्थ का आद्योच्चारण करता है उस ग्रन्थ का वही कर्ता है। अपने उच्चारण के सजातीय उच्चारण की अपेक्षा न करते हुए उच्चारण होता हो वहाँ आद्योच्चारण का व्यवहार होता है। फलतः पौरुषेयत्व का स्वरूप यह सिद्ध होता है कि जो अपने उच्चारण के सजातीय उच्चारण की अपेक्षा किये बिना उच्चारण विषय है वह पौरुषेय है। 'स राज्यं गुरुणा दत्तम्' इस पद्य का आद्योच्चारण कालिदास का है, क्योंकि कालिदास ने अपने उच्चारण के सजातीय उच्चारण की अतेक्षा नहीं की है। अतएव उस पद्य का कालिदास कर्तृत्व सिद्ध होता है। पौरुषेयत्व रूप साध्य के परिचय के लिए अनन्तर 'वाक्यत्व' रूप हेतु का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। आकांक्षा योग्यता और संनिधियों से युक्त पद समुह को वाक्य मानते हैं। अथवा जैमिनि मत के अनुसार जो पद-समूह एक अर्थ का प्रतिपादन करते हुए पद का विभाग (अलग) होने पर साकांक्ष होता हो वह एक वाक्य है। साध्य और हेतु का सुदृढ व्याप्ति संबन्ध रहने पर ही अनुमान दोष मुक्त होता है। वही सदनुमान होगा जो हेत्वाभासों से रहित और साध्य हेतुओं का सुदृढ व्याप्ति सम्बन्ध रखता हो। यह नैयायिकों की सरणि है। मीमांसक साध्य हेतुओं का उस संबन्ध को व्याप्ति पदार्थ मानते हैं जहाँ हेतु की सत्ता, साध्यसत्ता प्रयुक्त होता हो। 'पर्वतो वन्हिमान् धूमात्' इस अनुमान में इस प्रकार कोई शंका करें कि हेतु-धूम पर्वत में रहे वन्हि न रहे तो इस शंका का निवर्तक तर्क दिखलाता है—यदि धूम वन्हि व्यभिचारी (वन्हि को छोड़कर रहना) हो तो वह्नि जन्य न होगा। इससे धूमास्तित्व के प्रति वन्हि का अस्तित्व कारण सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'गोमयं पायसं गव्यत्वात् क्षीरवत्' (गोबर पायस है, क्योंकि गव्य होने से, जैसा दुग्ध) इस अनुमान में गोबर में गव्यत्व रहे, पायसत्व न रहे ऐसी शंका करने पर शंका का निवारक अनुकूल तर्क नहीं है—गव्यत्व पायसव्यभिचारी हो तो गव्य पायस जन्य न होगा यह तर्क नहीं बन सकता। अतः गव्यत्वरूप हेतु साध्य पायस के साथ सुदृढ व्याप्तिसंबन्ध नहीं रखता है एवं साध्यसत्ता प्रयुक्तत्व हेतुसत्ता में नहीं है; इसी प्रकार वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात् भारतादिवत्' अनुमान में भी व्यभिचार शंका होने पर उसका निवारक अनुकूलतर्क नहीं मिलता है क्योंकि साध्य का स्वरूप यह

१"वेदस्याऽध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा ॥"

इत्यादिना वेदापौरुषेयत्वस्य २साधितत्वात् । 'यः कल्पः स कल्पपूर्वः' इति न्यायेन संसारस्याऽनादित्वादीश्वरस्य च सर्वज्ञत्वादीश्वरो

निश्चित हुआ कि 'स्वोच्चारणसजातीयोच्चारणनिरपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वम्' अपने उच्चारण के सजातीयोच्चारण की अपेक्षा किये विना उच्चारण का विषय पौरुषेय है। हेतु का स्वरूप आकांक्षादि से युक्त पद समूह। यद्यपि किसी उच्चारयिता पुरुष के विना इस हेतु का अस्तित्व संभव नहीं है, किन्तु इस हेतु के अस्तित्व के लिये स्वजातीयोच्चारण निरपेक्षोच्चारण ही कारण नहीं है क्योंकि सापेक्षोच्चारण से भी हेतु का अस्तित्व सिद्ध हो जाती है। अतः पौरुषेयत्वानुमान में हेतु का अस्तित्व साध्यास्तित्वप्रयुक्त नहीं कह सकते हैं। अतः व्याप्ति सुदृढ न होने से यह अनुमानाभास ही है।

किञ्च ग्रन्थकार इस अनुमान का सत्प्रतिपक्ष अनुमान प्रदर्शित करता है—'वेदस्याध्ययनं सर्वम्' आदि। आज कल के वेदाध्ययन में हम गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण रूप अध्ययनपूर्वकत्व ही का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार वेदाध्यनमात्र में तत्पूर्वकत्व ही सिद्ध होता है। इससे अनुमान सुलभ है कि वेदोऽपौरुषेयः, स्मर्तव्यत्वे सत्यस्मरणात्। आद्योच्चारण कर्त्ता स्मरणयोग्य होते हुए भी उसका स्मरण नहीं होता है ऐसी अवस्था में पौषेयत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण अर्थात् स्वसजातीयोच्चारणसापेक्षोच्चारण के द्वारा ही वेद प्राप्त होता है। इसलिए वेद अपौरुषेय है।

'वेदाध्ययनं सर्वम्' इस अनुमान में 'सर्व' पद निखिल काल परक नहीं है, किन्तु निखिल-शाखासम्बन्ध परक है। अतः अतीतकाल का निखिलशाखाध्ययन पक्ष, उसमें गुर्वध्ययनपूर्वकत्व अर्थात् गुरु के उच्चारण के सजातीय उच्चारण पूर्वकत्व साध्य, वेदाध्ययनत्व हेतु और आजकल का वेदाध्ययन दृष्टान्त है। इस प्रकार वेद का अपौरुषेयत्व वर्तिककार ने सिद्ध किया। गिरि-नदी-नगर आदि वर्णन का निराकरण 'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्' सूत्र से सूत्रकार ने किया है। इसका विवेचन भूमिका में किया गया है।

हम लोगों में किसी एक का वेदकर्तृत्व सिद्ध न होने पर भी ईश्वरकर्तृकत्व मानकर वेद पौरुषेय क्यों न होगा ? इस शंका के उत्तर में कहा गया है 'यः कल्पः स कल्पपूर्वः' आदि। ईश्वर के उच्चारण में भी स्वोच्चारणसजातीयोच्चारण सापेक्षता ही है। वे भी निरपेक्षोच्चारण नहीं कर सकते हैं। अभी हमारा श्वेतवराह कल्प' प्रचलित है, वह भी २८ वें कलियुग में। इस कल्प के आदि में

---

१ श्लो. वा. वाक्याधिकरणे १. १. ६. पृ० ६४५। २ समर्थितत्वात्।

गतकल्पीयं वेदमस्मिन् कल्पे स्मृत्वा उपदिशतीत्येतावतैवोपपत्तौ प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य रचितत्वकल्पनानुपपत्तेश्च। ततश्च पुरुषाभावाच्छब्दनिष्ठैव सा। अत एव शाब्दीभावनेति व्यपदिशन्ति।

[1]सा च शाब्दीभावनांशत्रयमपेक्षते, साध्यं साधनमितिकर्तव्यताञ्चेति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेतार्थीभावना साध्यत्वेन

अतीतकल्प के वेदों का स्मरण करते हुए ईश्वर ने कतिपय व्यक्तियों को पढ़ाया, वे अपनी परंपरा को कायम रखते हुए आ रहे हैं। ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण अतीत समय के वेदों का स्मरण करना असंगत नहीं है। इस प्रकार स्मरण पूर्वक उपदेश करना, ईश्वर स्वरूप का पोषक होगा। यदि हम लोगों के समान ईश्वर अर्थं बुध्वा शब्दरचना' वाली रीति का आश्रयण करते हैं तो उनमें ईश्वरत्व क्या होगा ? वेदों को ईश्वर ने लिखा है मानने पर संदेह होता है कि क्या ईश्वर किसी कल्प में वेदों का प्रणयन किया ? अथवा क्या प्रत्येक कल्प में प्रणयन करता है ? पहला पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि जिस कल्प में वेद नहीं है उस कल्प में वेदों से ही प्रतीयमान धर्म तथा अधर्म के ज्ञान न होने से धर्म तथा अधर्म का अनुष्ठान नहीं होगा, अनुष्ठान न होने से उसके उत्तर कल्प में जन्में हुए प्राणियों को सुख व दुःख की उत्पत्ति नहीं होगी और उसका अनुभव भी नहीं होगा। यह भी निश्चित नहीं हो सकेगा कि अनादि इस प्रपंच में किस कल्प में वेद बनाया गया और किस कल्प में उपदेश किया गया। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं, ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण एक कल्प में प्रचलित वेदों को कल्पान्तर में स्मरण कर उपदेश करते हैं' इसी में लाघव है, हर एक कल्प में वेदों को ईश्वर बनाते हैं इसमें गौरव है और ईश्वरगत सर्वज्ञत्व का परिरक्षण नहीं होगा। अतः ईश्वर ने वेदों को रचाया यह कहना उचित नहीं है। इतने संदर्भ से यह सिद्ध हुआ है कि वेद में पुरुष संबन्ध न होने से प्रवर्तना-शाब्दी भावना शब्दनिष्ठ ही है। शब्दनिष्ठ होने के निमित्त से ही वह 'शाब्दी भावना' कही जाती है।

शाब्दीभावना का अंशत्रय

भावना के शब्दनिष्ठता के प्रसङ्ग से वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध कर शाब्दीभावना का अंशत्रय समझाया जा रहा है—'सा च' इत्यादि। अंशशब्द आकांक्षापरक है अर्थात् तीन आकांक्षाएँ होती हैं—साध्य साधन एवं इतिकर्तव्यता। किसी व्यापार का निर्देश होने पर इस व्यापार का प्रयोजन क्या है ? इस व्यापार से साध्य क्या है ? पहली आकांक्षा होती है। प्रकृत प्रवृत्त्यनुकूलव्यापार की साध्याकांक्षा होने पर प्रवृत्ति के जनक व्यापार की प्रवृत्ति को छोड़कर दूसरा साध्य क्या हो सकता है ? अतः साध्य के रूप से प्रवृत्ति का ही अन्वय है। वह प्रवृत्ति ही 'अर्थीभावना' कही जाती है। जैसे शाब्दी भावना का आकांक्षात्रय है उसी प्रकार आर्थी

---

१ सा चांशत्रयम्।

सम्बध्यते, एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः। यद्यपि सङ्ख्यादीनामप्येकप्रत्ययगम्यत्वं समानं तथाऽप्ययोग्यत्वान्न तेषां भाव्यत्वेनाऽन्वयः।

करणाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेन सम्बध्यते। तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन सन्निकर्षस्येव रूपादिज्ञाने, सन्निकर्षात्प्राक् रूप-

---

भावना का भी है। अतः आकांक्षात्रय से युक्त आर्थी भावना (प्रवृत्ति) शाब्दी भावना का साध्य हुआ। आर्थी भावना के इस प्रकार अन्वय करने में प्रमाण दिखलाता है—'एकप्रत्ययगम्यत्वेन' आदि। एक ही 'त' प्रत्यय के द्वारा लिङंश से शाब्दी और आख्यातांश से आर्थी भावनाओं का बोध होने पर 'समानाभिधानश्रुति' प्रमाण बनता है। विनियोगविधि के प्रसंग में श्रुति प्रमाण के 'समानाभिधानश्रुति' 'एकपदश्रुति' 'विभक्तिश्रुति' नाम का तीन विभाग दिखाये जायेंगे। उनमें यह 'समानाभिधानश्रुति' एक प्रमाण है। अभिधीयतेऽर्थोऽनेनेति अभिधानं शब्दः, समानञ्च तदभिधानञ्च समानाभिधानम् तद्रूपा श्रुतिः समानाभिधानश्रुतिः इस विग्रह से दो या तीन अर्थों के अभिधायक शब्द को समानाभिधानश्रुति कहा जाता है। 'त' शब्द अंश के भेद से शाब्दी एवं आर्थी भावनाओं का वाचक है। अत एव इस प्रमाण से आर्थी भावना का साध्यत्वेन अन्वय शाब्दी भावना में होता है। इस संदर्भ में एक शंका होती है कि जैसे 'त' प्रत्यय से दोनों भावनायें गम्य होती हैं उसी प्रकार 'त' प्रत्यय से एकत्व संख्या का भी बोध होता है तो साध्य के रूप से संख्या का अन्वय क्यों न माना जाय ? उत्तर देता है—'अयोग्यत्वात्'। साध्य अर्थात् किसी साधन से संपद्यमान। अन्यान्य साधनों में 'कृति' भी एक साधन है जो चेतन से संबन्ध रखता है। दार्शनिकों का क्रम है कि 'जानाति' 'इच्छति' 'यतते' 'करोति'। तीसरी कोटि में विद्यमान यत्न ही कृति है। कुलाल कृति से घट तन्तुवाय कृति से पट साध्य होता है। उसी प्रकार संख्या कहीं पर कृतिसाध्य नहीं होती है। संख्याओं में एकत्व संख्या केवलान्वयी मानी जाती है और द्वित्व आदि संख्यायें अपेक्षाबुद्धि जन्य मानी जाती हैं। अतः 'त' प्रत्यय से गम्य होने पर भी संख्या कृतिसाध्य न होने के कारण साध्य के रूप से अन्वय होने की योग्यता नहीं रखती है। एवञ्च किं भावयेत् आकांक्षा होने पर प्रवृत्तिं भावयेत् ऐसा बोध होता है।

दूसरी करणाकांक्षा—साधनकांक्षा होती है। अर्थात् प्रवृत्तिं केन भावयेत्—प्रवृत्ति को किससे सम्पादन करना चाहिए ? इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए लिङादि ज्ञान का अन्वय किया जाता है। लिङ् लोट् लेट् तव्य प्रत्ययों का प्रवर्तना अर्थ कहा जा चुका है। लिङ् आदि घटित वाक्यों को सुनने वाला पुरुष लिङ् आदि की प्रवर्तना में शक्ति समझ कर प्रवृत्त होता है। अतः प्रवृत्ति सिद्धि के लिए लिङ् आदि के शक्ति ज्ञान की आवश्यकता है। जिसको यह शक्ति ज्ञान नहीं है वह

ज्ञानस्यैव लिङादिज्ञानात्प्राक् शब्दधर्मभावनाया अभावप्रसङ्गात्, किन्तु भावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेनैव। लिङादिज्ञानं हि शब्दभावनाभाव्यार्थीभावनां निर्वर्तयति, कुठार इव च्छेदनम्। अतो लिङादिज्ञानस्य करणत्वेनान्वयः।

इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्राशस्त्यज्ञानमितिकर्तव्यतात्वेन सम्बध्यते।

उसको सुनने पर भी प्रवृत्तिमान् नहीं होता। अतः अन्वय और व्यतिरेक से लिङादि शक्ति ज्ञान को करणत्वेन अन्वय माना जाता है। इस प्रसङ्ग में प्रश्न होता है कि शाब्दी भावना प्रवर्तना है, उसकी करणाकांक्षा है 'केन भावयेत्' इस आकांक्षा के शमन के लिए लिङादिज्ञान का अन्वय करने पर यदि लिङादि ज्ञान प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार शाब्दी भावना का जनक बन सकता हो तो औचित्य होगा। किन्तु लिङादि शक्ति ज्ञान प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार प्रवर्तना का जनक नहीं है। ऐसी अवस्था में उसका करणत्वेन अन्वय कैसे संगत होगा ? इसके समाधान के लिए ग्रन्थकार कहता है—तस्य च करणत्वम् आदि। अन्यत्र 'करण' जनक रूप हो किन्तु प्रकृत में करण का अर्थ पारिभाषिक माना गया है। इस स्थल में लिङादि ज्ञान भावना का उत्पादक रूप करण नहीं है, जैसा कि चक्षुःसन्निकर्ष रूप ज्ञान का उत्पादक है, सन्निकर्ष न होने पर रूप ज्ञान नहीं होता है और चक्षुःसन्निकर्ष के हो जाने पर रूप ज्ञान होता है। इस प्रकार शाब्दी भावना के साथ लिङ् ज्ञान का जन्य जनक भाव संबन्ध नहीं है। यदि जन्य जनक भाव हो तो लिङ् ज्ञान न होने से उसका अभाव मानना पड़ेगा। यह संभव नहीं है। क्योंकि वह नित्य है। इसलिए करणत्व पारिभाषिक है—स्वभाव्यनिर्वर्तकत्व रूप है। स्व पद शाब्दी भावना परक है, उसका भाव्य आर्थी भावना, (प्रवृत्ति) तन्निर्वर्तकता—संपादकता लिङ्ज्ञान में है। लिङ्ज्ञान रहने से ही प्रवृत्ति होती है। अतः भावनाकरणत्व पूर्वोक्त पारिभाषिक माना जाता है। इस सन्दर्भ में दृष्टान्त दिया—'कुठार इव छेदनम्'। कुठार काष्ठ छेदन का करण है ही, किन्तु वह पुरुष के प्रति भी करण बनता है। पुरुष के द्वारा किये जाने वाले उद्यमन निपतन आदि व्यापार को सम्पादन करता हुआ पुरुष का भी करण बनता है। उसी प्रकार शाब्दी भावना का भाव्य आर्थी भावना को संपादन करता हुआ लिङ्ज्ञान शाब्दी भावना के प्रति करण होता है।

तीसरी इतिकर्तव्यताकांक्षा—'कथं भावयेत्' पुरुष प्रवृत्ति को लिङादि ज्ञान से कैसा संपादन किया जाय ? 'इति' शब्द का प्रकार अर्थ है। सामान्य रूप से प्राप्त पदार्थ का विशेष रूप देना प्रकार है। 'कर्तव्य' शब्द सामान्य क्रिया का अभिधायक है। उसी का विशेष रूप बनाना 'इति-कर्तव्यता' शब्द का अर्थ है। 'यजेत' में 'त' प्रत्यय प्रवर्तना बोधक होकर पुरुष को अपने इष्ट साधन में प्रवर्तित करता है। लिङादि ज्ञान संपन्न भी पुरुष 'यजेत' को सुनकर तटस्थ रहता हो तो

तच्च प्राशस्त्यज्ञानं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्याद्यर्थवादैर्जन्यते। ते ह्यर्थवादाः स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनम् [1]अलभमाना लक्षणया क्रतोः प्राशस्त्यं प्रतिपादयन्ति। स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्यप्रसङ्गात्। न

विधि सोचती है कि मैं इस पुरुष को इस कार्य में कैसे प्रवर्तित कराऊं? विधि की प्रवर्तकत्व शक्ति स्वयं रहती हुई भी तटस्थ पुरुष को प्रवर्तित कराने में आकांक्षा रखती ही है। इसी को इतिकर्तव्याकांक्षा कहते हैं। इस आकांक्षा के शमन में प्राशस्त्य ज्ञान अन्वित होता है। वह प्राशस्त्य ज्ञान अर्थवाद वाक्यों से होता है। जैसा 'इमां गां क्रीणीष्व' इस गाय को खरीदो कहने पर प्रयोज्य पुरुष को तटस्थ पाकर प्रयोजक यह सीधी गाय, अधिक दूध देनेवाली, मूल्य बहुत ही कम, यह बछड़ी वाली इत्यादि प्राशस्य ज्ञान करा कर प्रयोज्य को खरीदने में प्रवर्तित करता है उसी भाँति 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' विधि वाक्य वायुदेवताक श्वेत-गुणकद्रव्यक भूति (संपत्ति) फलक याग में पुरुष को प्रवर्तित कराता है। किन्तु आलस्य आदि से विमुख उस पुरुष को 'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों द्वारा वायु में विद्यमान गुणातिशय को प्रतिपादन करते हुए शीघ्रगामी देवता के इस याग को करने से शीघ्र ही संपत्तिरूप फल प्राप्त होगा, अतः यह प्रशस्त है, इस प्रकार का प्राशस्त्य ज्ञान प्राप्त कर अप्रवृत्त उदासीन भी पुरुष उस याग के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है। अतः अर्थवादों से प्राप्त प्रशस्त्य ज्ञान विधिगत प्रवर्तकत्व शक्ति का सहायक होकर इतिकर्तव्यता के रूप से प्रवर्तना में अन्वित होता है।

यहाँ शंका होती है कि—'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' आदि अर्थवाद वाक्यों से 'वायु शीघ्र चलने वाला देवता है, यजमान अपने द्रव्य से वायु का आराधन करता हो तो वायु शीघ्र ही यजमान को संपत्ति प्राप्त करा देगा' यही अर्थ प्रतीत होता है, और यहाँ यागगत प्राशस्त्य की प्रतीति नहीं होती। ऐसी स्थिति में अप्रतीत प्राशस्त्य का इतिकर्तव्यता रूप से कैसे अन्वय होगा? इसके समाधान में ग्रन्थ प्रवृत्त हुआ "ते ह्यर्थवादा" इत्यादि। अर्थवाद अपने शक्यार्थ का प्रतिपादन करता हुआ किसी प्रयोजन को सिद्ध नहीं करता, तब इस प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ के प्रतिपादन से क्या लाभ है। अज्ञात अर्थ के प्रतिपादन से ही प्रामाण्य सिद्ध होता है। अतः उनको लक्षणा वृत्ति से प्राशस्त्य पतिपादक मानना होगा। अन्यथा अर्थवाद निष्प्रयोजन होने से आनर्थक्य—निरर्थक होंगे और उनमें अप्रामाण्य होगा। यदि कहें कि अप्रामाण्य होने से क्या बिगड़ता है तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह विधि, समग्र वेद के अध्ययन में कर्त्तव्यता का बोध कराती हुई सभी वेदभाग प्रयोजनवान हैं और अर्थ के प्रतिपादक हैं यह प्रतिपादन करती है। यदि अर्थवाद शक्यार्थमात्र को बोध कराते हुए निष्प्रयोजन होते तो अध्ययन विधि अर्थवाद के अध्ययन में क्यों प्रवृत्त

---

१ अनुपलभमाना।

चेष्टापत्तिः, अध्ययनविध्युपात्तत्वेनाऽऽनर्थक्यानुपपत्तेः। तथा हि—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यध्ययनविधिः सकलस्य वेदस्याध्ययनकर्तव्यतां बोधयन् सर्वो वेदः प्रयोजनवदर्थपर्यवसायीति सूचयति, निरर्थकस्याऽध्ययनानुपपत्तेः।

करायेगी ? अतः विधि-सार्थकता के लिए अर्थवादों को प्राशस्त्य में लक्षणा स्वीकार कर विधि के साथ एकवाक्यता के द्वारा अर्थवादों का प्रामाण्य माना गया है।

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इसमें 'स्व' शब्द अपनी कुल-परम्परा का बोधक है। 'अधीयत इत्यध्यायः' व्युत्पत्ति से अध्याय शब्द का 'वेदशाखा' अर्थ है। अधिपूर्वक इङ् धातु अध्ययन का प्रतिपादक है। अध्ययन माने "गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण' गुरु मुख से उच्चरित वेद वाक्य का अनूच्चारण करना ही अध्ययन है। केवल पुस्तक पठन मात्र अध्ययन नहीं है। इङ् धातु से कर्मणि विहित तव्य प्रत्यय प्रवर्तना का वाचक है। यहाँ आख्यात न रहने पर भी तव्यवाच्य प्रवर्तना-प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार, विना प्रवृत्ति से अनुपपन्न होकर प्रवृत्ति-आर्थी भावना का आक्षेपक होता है। आक्षिप्त आर्थी भावना प्रवर्तना का साध्य, तव्य प्रत्ययज्ञान करण, एवं घृतकुल्याद्यर्थवादलक्षित प्राशस्त्यज्ञान इतिकर्तव्यता के रूप से अन्वित होते हैं। आक्षिप्त आर्थी भावना का साध्याकांक्षा-पूरक स्वाध्याय-स्वकुलपरम्परागत शाखा, करणाकांक्षापूरक धात्वर्थ अध्ययन गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण, इतिकर्तव्यताकांक्षा-शामक ब्रह्मचर्य अध्यायानध्याय पालन यम नियम आदि अन्वित होते हैं। निष्कर्ष हुआ कि ब्रह्मचर्य आदि नियमों से उपकृत-गुरुमुखोच्चारण अनूच्चारण से अपनी कुलपरम्परागत शाखा को प्राप्त करना चाहिए। स्वाध्याय अक्षरराश्यात्मक है, उसकी प्राप्ति से दृष्ट फल कोई नहीं मिलता है, अतः अर्थज्ञान पर्यन्त अनुधावन किया जाता है—अर्थात् पूर्वोक्त अध्ययन से अर्थज्ञान का सम्पादन करना चाहिए।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वेदों का अध्ययन सम्भव नहीं है, 'अनन्ता वै वेदाः' किन्तु शाखा ही का अध्ययन सम्भव है, वह भी अपनी परम्परा की होनी चाहिए। इसी अभिप्राय से 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' में 'स्व' पद का ग्रहण है। अग्निहोत्र दर्शपूर्णमास आदि कर्मों के अनुष्ठान करते हुए स्वशाखागत मन्त्रों का ही विनियोग होता है। अतः अपने वेद ऋग्-यजु-साम की जो शाखा अपनी पूर्वजों की परंपरा से प्राप्त है उसी का अध्ययन-गुरुमुखोच्चारण अनूच्चारण से प्राप्त करना चाहिए। अपनी शाखा का अध्ययन कर वेदान्तर की एक शाखा जो अपने सूत्रकार निर्देश करते हैं उसका अध्ययन करना चाहिए। यह अध्ययन, संस्कार-कर्म कहलाता है। उत्पत्ति-आप्ति-विकृति-संस्कृति भेद से संस्कार कर्म चार प्रकार के होते हैं। इनमें अध्ययन आप्तिसंस्कार-कर्म। 'भूतभाव्युपयोगि हि द्रव्यं संस्कारमर्हति' जो द्रव्य भूतकाल में उपयुक्त है अथवा भाविकाल में उपयोक्ष्यमाण है वह संस्कार का अर्ह है न्याय से प्रश्न होता है कि अध्ययन संस्कार से संस्कृत स्वाध्याय का क्या भूत में

स च वेदो विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादात्मकः। तत्र विधिः प्रयोजनवदर्थविधानेनाऽर्थवान्। स चाऽप्राप्तमर्थं विधत्ते। यथा 'अग्नि-

---

उपयोग है या भाव्युपयोग है? भूतोपयोग असंभव होने से भावि अग्निहोत्र आदि कर्मों में उपयोग माना जाता है। इस प्रकार उपयोग होने पर भी आकांक्षा बनी रहती है—कर्मों में उपयुक्त स्वाध्याय का प्रयोजन क्या है? अन्ततः स्वीकार करना होगा कि—दूसरे प्रमाणों से अनधिगत प्रयोजनवान् जो अर्थ है उसका ज्ञान ही प्रयोजन है। ऐसी दशा में अर्थवाद अपने शक्यार्थ मात्र का प्रतिपादन करता हुआ प्रयोजनवान नहीं बनेगा, इसलिए लक्षणा से प्राशस्त्य बोध द्वारा विधि वाक्य से एकवाक्यता को प्राप्त कर प्रयोजनवदर्थपर्यवसायी बनता है।

इस प्रकार सामान्यतः समग्र वेद का प्रयोजनवत्ता का प्रतिपादन कर विशेप-रूप से प्रयोजन को बतलाने के उद्देश्य से वेद का विभाग बतलाता है—स च वेदः आदि से। वेदों में पाँच भेद (प्रकार) उपलब्ध हैं—विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेध और अर्थवाद। प्रत्येक इनका स्वरूप परिचय देना ही इस ग्रन्थ का विषय है। इन पाँचों के स्वरूप निरूपण कर अंत में ग्रन्थकार शाब्दी और आर्थी भावनाओं के विशेष विवेचन के साथ ग्रन्थ समाप्त करेंगे।

विधि स्वरूप उसकी प्रयोजनवत्ता

इन पाँच विभागों में विधि का स्वरूप और उसकी प्रयोजनवत्ता का प्रतिपादक ग्रन्थ है—तत्र इत्यादि। प्रयोजन फल है जिसका, ऐसा जो अर्थ है उस का विधान करता हुआ विधि प्रयोजनवान् होता हैं। अर्थात् फल वाले अर्थ का विधान करना ही विधि का (लक्षण) स्वरूप है। इस लक्षण में 'अप्राप्त' भी विशेषण देना चाहिए। एवञ्च अप्राप्त-प्रमाणान्तर से अज्ञात और प्रयोजनवान् अर्थ का विधान करना विधि का लक्षण हुआ। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह विधिवाक्य 'अग्निहोत्र' नामक होम का, विधि प्रत्यय द्वारा विधान करता है। 'स्वर्गकामः' पद से 'स्वर्ग' फल बतलाया गया है। यह अग्निहोत्र होम स्वर्ग फल देने वाला है। और स्वर्गफल प्रापक यह होम दूसरे प्रमाण से हमें ज्ञात नहीं हुआ। इसी वाक्य से हम जानते हैं कि अग्निहोत्र होम के अनुष्ठान से स्वर्ग मिलता है। अतः अग्निहोत्र होम रूपी अर्थ, स्वर्गफल जनक है और दूसरे प्रमाण से अज्ञात भी है इस विषय को बोधन करता हुआ यह वाक्य स्वयं प्रयोजनवान् बनता है। इस प्रकार के अर्थ का बोधक इस वाक्य का शाब्द-बोध दिखाता है—अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेत् इति।

इस संदर्भ में ज्ञातव्य यह है कि—अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस वाक्य में 'जुहुयात्' पद के आख्यात ने आर्थीभावना (भावयेत्) का प्रतिपादन किया। उसकी साध्य साधन इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर 'स्वर्ग' साध्य के

होत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इति विधिरप्राप्तं प्रयोजनवद्धोमं विधत्ते-अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेदिति।

यत्र तु कर्म प्रकारान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्र[1]विधानम्। यथा 'दध्ना जुहुयात्' इत्यत्र होमस्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यनेन प्राप्तत्वाद्धोमोद्देशेन दधिमात्रविधानम्—दध्ना होमं भावयेदिति।

रूप अन्वित हुआ—'स्वर्गं भवयेत्' बना। मीमांसकों का नियम है कि अप्राप्त (अज्ञात) अर्थ के विधान स्थल में तत्तत् धात्वर्थ का ही करणत्वेन अन्वय होता है 'होमेन स्वर्गं भावयेत्' हुआ। अग्निहोत्र-पद कर्म (होम) का नाम है। नाम और नामी का अभेदान्वय शास्त्र संमत है। अतः अग्निहोत्र नामक होम से स्वर्ग का संपादन करें इस प्रकार बोध होता है।

एक और विषय ज्ञातव्य है कि 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह वाक्य अग्निहोत्र होम का उत्पत्ति वाक्य नहीं है। उत्पत्ति वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहोति' है। यह ही वाक्य अज्ञात और प्रयोजनवान् अर्थ-होम का विधान करता हुआ उत्पत्ति वाक्य कहलाता है, किन्तु इस वाक्य में प्रयोजन-फल आम्नात नहीं है। विधि का विषय अप्राप्त (अज्ञात) होता हुआ फलवान् भी होना चाहिए। किसी को शंका हो सकती है कि अज्ञात तो यह है किन्तु फलवान् नहीं है। इस शंका का 'विश्वजिन्न्याय' से फल की कल्पना करते हुए समाधान करने का प्रयास उठाना पड़ेगा। अतः ग्रन्थकार ने अधिकार वाक्य जो फल संबन्ध बोधक है 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' का उत्पत्ति वाक्य के रूप से निर्देश किया है। अधिकार वाक्य में भी फल संबद्ध धात्वर्थ का ही विधान माना जाता है क्योंकि 'फल' स्वर्ग आदि विधेय नहीं होता है इसलिए कि वह रागतः प्राप्त है।

गुणविधि

उत्पत्ति विधि का स्वरूप समझाकर संप्रति 'गुणविधि' का स्वरूप बतलाते हैं—**यत्र तु** इत्यादि से। जहाँ कर्म-धात्वर्थ की प्राप्ति प्रमाणान्तर-वाक्यान्तर से हो जाती हो वहाँ उस कर्म को उद्देश्य कर[2] गुण मात्र का विधान होता है। इस विधि को गुण विधि कहते हैं। उदाहरण है—यथा 'दध्ना जुहोति'। अग्निहोत्र प्रकारण में यह वाक्य है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' से अज्ञात कर्म होम की प्राप्ति हो चुकी है। पुनः 'दध्ना जुहोति' वाक्य उस होम का विधान नहीं कर सकता है, होम के अंश में

---

१ त्रं विधत्ते।

२ गुण शब्द से उपसर्जन का ग्रहण करना चाहिए। उपसर्जन—द्रव्य आरुण्य आदि गुण-क्रिया-जाति-संख्या-लिङ्ग आदि होते हैं। इन सब का 'गुण' पद से शास्त्र में व्यवहार है।

विशिष्टविधिनिरूपणम्

यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते। तदुक्तम्— [1]'न चेदन्येन शिष्टाः' इति। शिष्टा उपदिष्टा इत्यर्थः। यथा 'सोमेन यजेत' इत्यत्र सोमयागयोरप्राप्तत्वात्सोमविष्टयागविधानम् 'सोमवता यागनेष्टं भावयेत्' इति। न चोभयविधाने वाक्यभेदः, विशिष्टस्यैकत्वात्।

अज्ञातता नहीं है। अतः होम का अनुवाद कर उसके उद्देश्य से अपेक्षित दधि गुण का यह वाक्य विधान करता है। इसलिए यह गुण विधि है। इस स्थल में शाब्द बोध प्रदर्शित करते है— दध्ना होमं भावयेत् 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य में 'जुहोति' को लोट्लकार समझना चाहिए। यहाँ भी आख्यात ने भावना का प्रतिपादन किया है—'भावयेत्'। साध्याकांक्षा होने पर धात्वर्थ होमं अन्वित होता है, क्योंकि वह प्राप्त है—होमं भावयेत् हुआ। करणाकांक्षा होने पर 'दध्ना' तृतीया से करणत्व अवगत हो जाने से दधि उस आकांक्षा का पूरक है—'दध्ना होमं भावयेत्'।

इस स्थल में यह ज्ञातव्य है कि 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य होम विधायक नहीं है अग्निहोत्र वाक्य से होम प्राप्त है। दधि द्रव्य का भी यह वाक्य नहीं विधान कर सकेगा, क्योंकि कर्म की द्रव्याकांक्षा होने पर लोकतः कोई न कोई द्रव्य प्राप्त होगा ही तो द्रव्य दधि की भी अप्राप्त विषयता नहीं है। तब यह वाक्य किस अप्राप्त विषय का विधायक होगा। इस प्रश्न के समाधान में यह कहा जाता है कि 'सर्वे द्रव्यविधयो नियमविधयः' न्याय से अप्राप्त द्रव्य का विधान न होने पर भी पाक्षिक अप्राप्त अंश का पूरक होता हुआ नियम विधि होता है। आगे इस का विवेचन ग्रन्थकार स्वयं करेगा।

विशिष्टविधि

विधि का तीसरा भी एक प्रकार है, उसका निरूपण करते हैं—यत्र तूभयं इत्यादि से। जिस स्थल में द्रव्य और कर्म के प्रापक अलग-अलग प्रमाण नहीं है वहाँ द्रव्य विशिष्ट कर्मका विधान होता है यह विशिष्ट विधि कहलाती है। विशिष्ट विधान में प्रमाण है—न चेदन्येन शिष्टाः यह जैमिनि सूत्र का भाग है। समग्र सूत्र है—'तद्गुणास्तु विधीयेरन् अविभागाद्विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टाः'। सूत्र का अर्थ है—जहाँ अलग-अलग प्रमाणों द्वारा गुण और कर्म उपदिष्ट न हों वहाँ पर तद्गुणाः सच गुणाश्च तद्गुणाः कर्म और गुण को विशिष्ट विधान किया जाता हैं, क्योंकि विधि विषय के अर्थ-गुण और कर्म में विभाग अलग अलग प्राप्त नहीं है। इस सूत्र का विचार प्रथमाध्याय चतुर्थ पद के आग्नेयाधिकरण में किया गया है। उदाहरण है—'सोमेन यजेत'। सोम शब्द लतावाचक है, यज धातु का अर्थ याग

---

१ जै. सू. १. ४. ६।

मत्वर्थलक्षणनिरूपणम्

विशिष्टविधौ च मत्वर्थलक्षणा। सोमपदेन मत्वर्थो लक्ष्यते—सोमवतेति। न हि मत्वर्थलक्षणां विना सोमस्याऽन्वयः सम्भवति। यदि तावत्सोमयागयोरैकरूप्येण भावनायां करणत्वेनैवाऽन्वयः—'सोमेन

है, 'त' विधायक प्रत्यय है। यहाँ लता और कर्म का प्रापक 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'दध्ना जुहोति' के समान अलग-अलग वाक्य नहीं है। द्रव्य और कर्म दोनों अप्राप्त हैं। अतः विशिष्ट विधान स्वीकार करते हैं। कौन किससे विशिष्ट होगा क्या याग से विशिष्ट सोम होगा ? अथवा सोम से विशिष्ट याग होगा ? क्या सोम विशेष्य और याग विशेषण ? अथवा याग विशेष्य और सोम विशेषण ? सोम यागार्थ-याग के लिए होता है, याग का वह साधन है, अतः सोम ही विशेषण है तद्विशिष्ट याग है, इस अर्थ को शाब्द बोध के रूप में प्रदर्शित करते हैं—सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्। सोमविशिष्ट याग के द्वारा इष्ट फल का संपादन करना चाहिए सोम और याग दोनों का विधि विषय होने पर वाक्य भेद अर्थात् भिन्न वाक्य की शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि विशिष्टविधि में विशेषण का विधान आर्थिक है। अतः वाक्य भेद दोष प्राप्त नहीं होगा।

विशिष्ट विधि में मत्वर्थलक्षणा

किन्तु विशिष्ट विधि स्थल में वैशिष्ट्य बोधन के निमित्त मतुबर्थ में लक्षणा होती है। इसलिए मत्वर्थ में लक्षणा माननी पड़ती है कि सोम और धात्वर्थ याग दोनों कारक हैं। कारकों का क्रिया के साथ ही अन्वय होता है, कारकों का 'गुणानाञ्च परार्थत्वात्' न्याय से अन्वय आपस में नहीं होता है। जैसा धात्वर्थ याग रूपी कारक भावनारूपी क्रिया के साथ अन्वित होता है वैसा सोम भी कारक उसी के साथ अन्वित होगा। दोनों कारक पृथक् पृथक् अन्वित होने पर विधि की आवृत्ति होकर वाक्य भेद प्राप्त होगा। अतः सोम पद की सोमवान् पदार्थ में लक्षणा कर याग के साथ अभेद मान कर भावना में अन्वय होता है—सोमवान् याग से फल संपादन करें यह बोध होता है। मत्वर्थलक्षणा के विना सोम का अन्वय संभव नहीं।

सामानाधिकरण्य से अन्वय सम्भव नहीं

मत्वर्थ लक्षणा के विना अन्वय दो प्रकार से सम्भव है—सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य से। सामानाधिकरण्य माने भावना में धात्वर्थ याग का जिस रूप से अन्वय हो उसी रूप से सोम का भी अन्वय करना—'सोमेन यागेन इष्टं भावयेत्' इति। वैयधिकरण्य माने याग करण होने पर सोम साध्य होना, याग साध्य होने पर सोम साधन होना—'योगेन सोमं भावयेत्', 'सोमेन यागं भावयेत्' इति। इन दोनों पक्षों में प्रथम पक्ष की शंका करता है—यदि तावत् इत्यादि से। ऐकरूप्येण का अर्थ है सामानाधिकरण्य। एक ही साधनत्वरूप जिनका वे एकरूपे,

यागेनेष्टं भावयेत्' इति, तत उभयविधाने वाक्यभेदः, सोमस्य यागवत्फलभावनाकरणत्वेन प्राधान्यापातश्च, यागार्थत्वानुपपत्तिश्च, [१]यागे द्रव्यानुपपत्तिश्च, प्रत्ययवाच्यफलभावनायाः समानपदोपात्तेन यागेन करणाकाङ्क्षानिवृत्तत्वेन भिन्नपदोपात्तस्य सोमस्य करणत्वेनाऽन्वयानुपपत्तिश्च स्यात् ।

एकरूपयोर्भावः ऐकरूप्यम्, तेन। इसी को करणत्वेन से कहते हैं। अन्वय का आकार है—सोमेन यागेनेष्टं भावयेत्। समाधान है—तत उभय विधाने वाक्यभेदः। भावना में जिसको करणत्वेन अन्वय होता है वह अवश्य विधेय होगा। सोम और याग का करणत्वेन अन्वय होने से दोनों विधेय हुए। विधि-प्रत्यय एक है। एक से एक का ही विधान सम्भव है, दूसरे का विधान प्रत्यय की आवृत्ति से हो सकता है। 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि प्रत्ययः' न्याय से प्रकृति प्रत्यय दोनों की आवृत्ति होगी—'यजेत' 'यजेत'। एक यजति से याग का विधान, दूसरे से सोम का विधान, इस प्रकार वाक्यभेद दोष होगा।

यद्यपि अप्राप्त स्थल में धात्वर्थ एवं उपपदार्थ सोम आदि विशिष्ट भावना का विधान सम्भव है। अतः वाक्य भेद न होगा, तथापि दोषान्तर प्रदर्शित करते हैं—सोमस्य आदि से। दोनों को विधान मानने से याग जैसा प्रधान है वैसा सोम का भी प्राधान्य मानना पड़ेगा, अस्तु, माना जाय क्या दोष है? याग के लिए अर्थात् याग निष्पत्ति के लिए सोम होगा नहीं, अस्तु न हो कहने से याग का द्रव्य मिलेगा नहीं,- याग की विधि द्रव्य के विना अनुपपन्न होने से द्रव्य का आक्षेप कर लिया जा सकता है तो सामानाधिकरण्य से सोम और याग का भावना में अन्वय हो, इस पक्ष का अन्तिम दोष है—प्रत्ययवाच्य इत्यादि। फल स्वर्ग आदि भाव्य—साध्य है जिसका, ऐसी जो प्रत्ययवाच्या भावना, उसमें उसी का करणत्वेन अन्वय नियम है जो अपने समान पद (यजेत) से प्रतिपादित अर्थ है। 'यजेत' में 'त' का समान पद यजेत पद, उससे प्रतिपादित—अभिहित याग ही है। उसी का करणत्वेन फलभाव्यक भावना में अन्वय उचित है। फलभावना-आर्थीभावना की करण आकांक्षा यदि समान पद के द्वारा अभिहित धात्वर्थ-याग से ही शान्त हो जाती है तो भिन्न सोम पद से अभिहित सोम का करणत्वेन अन्वय उचित नहीं है। अतः सोमेन यागेन भावयेत् यह सामानाधिकरण पक्ष ठीक नहीं है।

दूसरा वैयाधिकरण्य पक्ष स्वीकार कर सोम का विना मत्वर्थलक्षणा से अन्वय कहने में दो प्रकार होते हैं—१ 'यागेन सोमं भावयेत्', २ 'सोमेन यागं भावयेत्'। याग करण होने पर सोम साध्य होगा, और सोमकरण होने पर याग साध्य होगा।

---

१ यागीयद्रव्यत्वानुपपत्तिश्च।

यदि च वैयधिकरण्येनान्वयः, तत्र न तावत् 'यागेन सोमम्' इत्यन्वयः, समानपदोपात्तत्वात्प्रत्ययवाच्यफलभावनायां[1] करणत्वेनान्वितस्य यागस्य सोमकर्मकभावनान्वयानुपपत्तेः, यागस्य सोमार्थत्वापाताच्च। न चेष्टापत्तिः, अदृष्टद्वयापत्तेः। न हि यागस्य सोमार्थत्वं दृष्टद्वारेण सम्भवति, व्रीहिष्ववघातेनेव यागेन सोमे कस्यचिद् दृष्टस्याजननात्। अतस्तेन तावत्सोमे किञ्चिददृष्टं जननीयम्, प्रोक्षणेनेव व्रीहिषु।

इनमें प्रथम पक्ष की आलोचना करता है—तत्र न तावद् यागेन सोमम्। 'यागेन सोमं भावयेत्' का अर्थ होता है कि—याग का अनुष्ठान कर तद्द्वारा सोमलता को प्राप्त करें। इस पक्ष में पहला दोष यह है कि—उत्पत्ति वाक्य स्थल में आख्यात 'त' से अभिहित भावना का करण धात्वर्थ ही होता है क्योंकि समानपद श्रुति से धात्वर्थ ही संनिहित है। वह भी करण उस भावना में जिसमें फल भाव्य-साध्य हो। इस नियम का उल्लंघन कर सोम भाव्य है जिस भावना में उसका करण धात्वर्थ याग को माना जाता है, यह दोष है। दूसरा दोष है—यागानुष्ठान, फल प्राप्ति के लिए न होकर सोम प्राप्ति के लिए होगा। यागानुष्ठान सोमलता प्राप्ति के लिए हो, क्या आपत्ति है? 'व्रीहीन् प्रोक्षति' में जैसा प्रोक्षण व्रीहि संपादन के लिए किया जाता वैसा सोम प्राप्ति के लिए यागानुष्ठान हो क्या नुकसान है? प्रत्युत 'सिद्धं साध्यायोपदिश्यते' न्याय से साध्य फल के लिए सिद्ध सोमद्रव्य ही उपयुक्त है। अतः फल भावना का करण सोम ही उचित है तो 'इतरत्तदर्थम्' न्याय से इतरत्—याग तदर्थ-सोमार्थ बनेगा इस शंका के उत्तर में कहते हैं—[2]अदृष्टद्वयापत्तेः। सोमप्राप्ति के निमित्त याग के अनुष्ठान से दो अदृष्ट-अपूर्व मानने पड़ेंगे, यह दोष है। यागानुष्ठान सोमप्राप्ति के निमित्त हो तो जैसा 'व्रीहीन् अवहन्ति' में अवहनन (कूटना) के अनुष्ठान से तुषविमोक भूसा अलग होना दृष्ट फल प्राप्त होता है उस प्रकार याग से सोमलता में दृष्ट फल नहीं है, किन्तु 'व्रीहीन् प्रोक्षति' में प्रोक्षण (जल छिड़कना) से व्रीहियों में अदृष्ट माना जाता है उसी प्रकार याग से सोम में एक अदृष्ट मानना पड़ेगा।

इसी प्रकार सोमप्राप्ति के निमित्त याग हो तो फलभावना का सोमकरण होगा। क्योंकि सोम के निमित्त अनुष्ठित याग उसका संस्कारक है। जैसा प्रोक्षण

---

१ प्रत्ययवाच्यभावनाकरणत्वेन।

२ मीमांसक अदृष्ट मानने में दोष नहीं समझते हैं। अदृष्ट माने विना इन का कार्य नहीं चलेगा, तथापि दृष्ट फल संभव होने पर अदृष्ट का स्वीकार नहीं करते हैं। जहाँ अदृष्ट स्वीकार अनिवार्य है वहाँ पर एक अदृष्ट से कार्य संपन्न होता हो तो अनेक अदृष्ट नहीं मानते हैं।

तथा यागस्य सोमार्थत्वे फलभावनायां सोमस्य करणत्वेनान्वयो वक्तव्यः। भावनाकरणत्वञ्च भावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेनेत्युक्तम्। न च सोमोऽदृष्टमन्तरेण फलं जनयितुं समर्थः, 'ग्रहैर्जुहोति' इति वाक्यविहितहोमेन तस्य भस्मीभावात्। अतोऽदृष्टद्वयापातान्न यागस्य सोमार्थत्वमिति न 'यागेन सोमं भावयेत्' इत्यन्वयस्सम्भवति। करणत्वेनोपस्थितस्य सोमस्य साध्यत्वेनान्वयानुपपत्तेश्च।

अथ 'सोमेन यागं भावयेत्' इत्यन्वयः; तत्र यद्यपि सोमस्य करणत्वेन यागार्थत्वाद्यागनिर्वृत्तिर्दृष्टमेव प्रयोजनं लभ्यत इति नाऽदृष्टद्वयापत्तिः; नापि करणत्वेनोपस्थितस्य सोमस्य साध्यत्वान्वयानुपपत्तिः; करणत्वेनैवान्वयात्,

---

व्रीहि का संस्कार माना जाता है वैसा याग सोम का संस्कारक है। संस्कृत सोम का उपयोग, फल सम्पादन में होगा तो भावना का वह करण बनेगा। यह कहा जा चुका है कि भावना का करण उत्पादक रूप नहीं किन्तु भावना के भाव्य-साध्य का निर्वर्तक रूप है। अर्थात् भावना का भाव्य स्वर्ग का सम्पादन करता हुआ सोम भावना का करण है। सोम स्वर्ग का सम्पादन दृष्ट विधया कर नहीं सकेगा, अदृष्ट विधया ही सोम स्वर्ग प्रापक होगा, क्योंकि याग के द्वारा सम्पादित सोम से स्वर्ग की प्राप्ति के लिए याग करना होगा। सोम से याग करने का तात्पर्य है कि विधान के अनुसार सोमलता का अभिषव (रस निकालना) कर उस रस का अग्नि में प्रक्षेप रूप होम का अनुष्ठान होगा। यह ही होम 'ग्रहैर्जुहोति'[1] से विहित है। इस होम से सोम भस्म हो जाने पर वह अदृष्ट के विना स्वर्ग सम्पादक कैसे बन सकता है। अतः दूसरा अदृष्ट को स्वीकार करना होगा। इस प्रकार दो अदृष्ट हो जाने का कारण सोम के लिये याग का अनुष्ठान उचित नहीं है। इसीलिए 'यागेन सोमं भावयेत्' यह पक्ष ठीक नहीं। किञ्च 'सोमेन यजेत' वाक्य में सोम शब्द तृतीयान्त है। तृतीया करणत्ववाचिनी है। उसको साध्य के रूप से 'सोमम्' अन्वय अनुचित है। इतने दोष 'यागेन सोमम्' पक्ष में होते हैं।

दूसरा पक्ष है 'सोमेन यागम्' सोम करण है और याग साध्य है। इस पक्ष में 'यागेन सोमम्' पक्ष के जितने दोष हैं वे लगेंगे नहीं, क्योंकि सोम का करणत्वेन अन्वय मानने पर वह दृष्ट विधया याग संपादक बनता है। अर्थात् सोम द्रव्य द्वारा याग की पूर्ति होती है। देवता का उद्देश्य कर द्रव्यत्याग ही तो याग है। द्रव्यत्याग प्रत्यक्ष ही है। अतः दो अदृष्ट की कल्पना नहीं होगी और तृतीयन्त 'सोमेन' पद को 'सोमं' द्वितीयान्त की कल्पना भी नहीं है, किन्तु इस पक्ष में एक दोष है, उसको

---

१ ऊखल के आकार वाले बित्ते भर परिमाण के काष्ठमय पात्र को ग्रह कहते हैं।

तथाऽप्यप्राप्तत्वाद्भावनाकरणत्वेनान्वितस्य यागस्य साध्यत्वेनान्वयानुपपत्तिस्तदवस्थैव ।

(भावनायां यागस्य सम्बन्धमात्रनिरूपणं, तत्खण्डञ्च)

ननु यजेतेत्यत्र यागस्य न करणत्वेन नापि साध्यत्वेनोपस्थितिः, तद्वाचकतृतीयाद्यभावात्, किन्तु भावनायां यागसम्बन्धमात्रं प्रतीयते । यागस्य च भावनासम्बन्धः करणत्वेन साध्यत्वेन च सम्भवति । तत्र करणत्वांशमादाय फलसम्बन्धः साध्यत्वांशमादाय गुणसम्बन्धश्च स्यात्, इति चेत्-मैवम् । यद्यपि [1]भावनायां यागस्य सम्बन्धमात्रं प्रतीयते तथाऽपि करणत्वेनोपस्थितिदशायां न साध्यत्वेनोपस्थितिः [2]सम्भवति, विरोधात् ([3]विरुद्धत्रिक-

---

प्रदर्शित करते हैं—तथाप्यप्राप्तत्वात् आदि से । पूर्व कहा जा चुका है कि प्रमाणान्तर से अप्राप्त पदार्थ के विधानस्थल में अर्थात् उत्पत्ति विधि में भावना का धात्वर्थ ही करण होता है । इस नियम का उल्लंघन कर धात्वर्थ को साध्य के रूप से अन्वय करना 'सोमेन यागम्' उचित नहीं । अतः वैयधिकरण्य पक्ष सर्वथा अनुचित है ।

प्रकारान्तर का अवलम्बन कर पूर्वपक्षी की शंका है—ननु यजेतेत्यत्र आदि से । 'सोमेन यजेत' वाक्य के 'यजेत' पद में याग और भावना का संवन्ध मात्र प्रतीत होता है । यज धातूत्तर तृतीया या द्वितीया का श्रवण नहीं है । यह तिङन्त पद है, तिङन्त पद में सुब विभक्तियाँ नहीं लगती हैं । अतः याग का करणत्व या साध्यत्व प्रतीत नहीं होता है । संवन्ध मात्र से अवगत होता है कि वह संवन्ध करणत्व भी हो सकता है या साध्यत्व भी । जब याग करण होगा 'यागेन' तब फल के साथ, जब याग साध्य होगा—'यागम्' तब सोम के साथ संवन्ध होगा—'यागेन फलं भावयेत्' 'सोमेन यागं भावयेत्' । इस प्रकार अन्वय होने से मत्वर्थ लक्षणा की आवश्यकता नहीं है । इस शंका का समाधान मैवम् आदि से किया जाता है । यद्यपि भावना और याग का 'एक पद श्रुति' से संवन्ध सामान्य अवगत है किन्तु जिस समय करण रूप से याग अवगत है उस समय साध्यरूप याग नहीं हो सकता है । क्योंकि करणत्व और साध्यत्व का परस्पर विरोध है । विरोध की संगति है—प्रयोजन होने से स्वर्ग आदि फल प्रधान है । प्रधान वह कहलाता है जो पुरुषकृति का उद्देश्य है । उद्देश्य का व्यवहार वहाँ होता है जहाँ प्राप्त का अनुवाद होता हो । एवञ्च फल में प्राधान्य उद्देश्यत्व अनुवाद्यत्व ये तीन धर्म रहेंगे । फल का याग साधन है, अतः परार्थ होने से याग गुण है । फलसाधन याग अप्राप्त होने

---

१ भावनाय । २ सम्बन्धद्वयविरोधात् ।

३ एतच्चिह्नान्तर्गतो भागः ग- पुस्तके नास्ति ।

द्वयापत्तेश्च ।) तदवश्यं 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' इति करणत्वेनान्वये सति पश्चात् 'सोमेन यागं भावयेत्' इति साध्यत्वेनान्वयो वक्तव्यः । ततश्च वाक्य-भेदः । न च प्रत्ययाभिहितभावनास्वरूपे यागस्वरूपमात्रमन्वेतीति वक्तुं युक्तम्, कारकाणामेव क्रियान्वयात् । तत्सिद्धं सोमस्य न सामानाधिकरण्येन वैयधिकरण्येन वान्वयः सम्भवतीति ।

(सोमस्येतिकर्तव्यतात्वेनाऽन्वयनिरूपणम्, तत्खण्डनञ्च)

ननु-यजेतेत्यत्र प्रत्ययाभिहितभावनायाः करणाकाङ्क्षायां यथा यागः करणत्वेनान्वेति तथेतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां सोमस्येतिकर्तव्यतात्वेन भावना-

---

से विधेय है । विधेय विध्यधीन है, अतः उपादेय है । इस प्रकार याग में गुणत्व विधेयत्व उपादेयत्व धर्म रहते हैं । प्राधान्य और गुणत्व, उद्देश्यत्व और विधेयत्व, अनुवाद्यत्व और उपादेयत्व इनका परस्पर विरोध है । इसी प्रकार 'सोमेन यजेत' में भावना और याग का संबन्ध मात्र से (यागेन फलं भावयेत्' 'सोमेन यागं भावयेत्') याग में प्राधान्य गुणत्व आदि विरोध होगा । और विरुद्धत्रिकद्वय की जो कहा जा चुका है आपत्ति भी होगी । एक ही अधिकरण याग में प्राधान्यगुणत्व आदि विरोध होगा । याग में प्राधान्य गुणत्व, उद्देश्यत्व-विधेयत्व, अनुवाद्यत्व-उपादेयत्व रूपी विरुद्ध त्रिकद्वय प्राप्त होगा । इस लिए विभिन्न समय में याग का साधनत्व रूप से अन्वय कहना होगा तो वाक्य भेद 'यागेन फलं भावयेत्' 'सोमेन यागं भावयेत्' दोष है । याग के साधनत्व या साध्यत्व का नाम लेने से ही यह विरोध है । उसके ग्रहण किये विना ही भावना में यागस्वरूप का अन्वय कहने पर क्या दोष ? इस शंका को अनुवाद करके खण्डन करते हैं न च इत्यादि से । कारकाणामेव क्रियान्वयात् यह समाधान है । भावना क्रिया है । क्रिया में जो भी अन्वित होता है वह साक्षात् या परम्परा से कारक बनकर ही अन्वित हो सकता है । याग का स्वरूपेण अन्वय मानने पर उसमें क्रिया—निर्वर्तकत्व रूप कारकत्व न रहने से अन्वय असंभव है । सामानाधिकरण्य और वैयधिकरण्य पक्ष को निरसन कर उपसंहार करते हैं—तत्सिद्धं आदि । अतः 'सोमेन यजेत' में मत्वर्थलक्षणा माने विना प्रकारान्तर से सोम का अन्वय असंभव है ।

सोम का इतिकर्तव्यतान्वयपक्ष और उसका खण्डन

'सोमेन यजेत' में सोम का भावना में साधनत्व या साध्यत्व से अन्वय न हो भावना के तीन आकांक्षाओं में तीसरी इतिकर्तव्यता का पूरक रूप से सोम का अन्वय पूर्वपक्ष का उत्थान करते हैं—ननु यजेतेत्यत्र आदि से । 'सोमेन यजेत' में आख्यात वाच्य भावना की दूसरी साधनाकांक्षा का पूरक याग है, साध्याकांक्षा का पूरक स्वर्ग आदि तीसरी इतिकर्तव्यताकांक्षा का पूरक होकर सोम भावना में अन्वित

यामेवान्वयोऽस्तु, [1]कृतं मत्वर्थलक्षणयेति चेत्-न, सोमेनेति तृतीयया करणत्ववाचिन्या सोमस्येतिकर्तव्यतात्वानभिधानात्। तत्र यदीतिकर्तव्यतात्वं लक्षणयोच्येत, ततो वरं सोमपद एव प्रकृतिभूते मत्वर्थलक्षणा। '[2]गुणे त्वन्याय्यकल्पने'ति न्यायात्।

हो, मत्वर्थ लक्षणा का प्रसंग होगा नहीं इस शंका का खंडन 'चेन्न' से किया जाता है। खंडन का हेतु है कि 'सोमेन' पद तृतीयान्त है। करणार्थ में तृतीया विहित है। इतिकर्तव्यता रूप अर्थ में तृतीया का विधान नहीं है तो इति कर्तव्यता के रूप से सोम का अन्वय नहीं किया जा सकता है। यदि तृतीया का इतिकर्तव्यता के अर्थ में लक्षणा मानकर अन्वय माना जाय तो तदपेक्षा से सोम प्रातिपदिक में मत्वर्थलक्षणा ही उचित होगा, क्योंकि 'गुणे त्वन्याय्य कल्पना' न्याय है। गुण-उपसर्जन में अन्याय्य-लक्षणा गौणी आदि जघन्य वृत्तियों से प्राप्त अर्थ की कल्पना। अर्थात् लक्षणा आदि वृत्तियों से अर्थ की कल्पना आवश्यक हो तो वह मुख्य में लागू न कर उपसर्जन में लागू करना चाहिए। यह न्याय नवमाध्याय तृतीय पाद के पाशाधिकरण से सिद्ध है। वहाँ का सन्दर्भ इस प्रकार का है—ज्योतिष्टोम याग के अंग-अग्नीषोमीय पशु याग में पशुपाश-गले में बंधी हुई रस्सी छुड़ाने का दो मंत्र पठित हैं—'अदितिः पाशं प्रमुमोक्तु' यह एकवचनान्त (पाशं) मन्त्र है, दूसरा 'अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु' बहुवचनान्त (पाशान्) मन्त्र है। अग्नीषोमीय पशु याग में एक पशु होने के निमित्त एकवचनान्त मन्त्र के विनियोग में कोई बाधा नहीं हैं। बहुवचनान्त मन्त्र पर विचार है—क्या बहुवचनान्त मन्त्र को बहुपशु वाले विकृति याग में लेजाना है? अथवा बहुवचन को लक्षणा से एक वचन मान कर प्रकृत याग ही में उसका भी निवेश मानना है? पूर्वपक्षी का मत है—जब कि एकवचनान्त मन्त्र का पाठ है, उसके रहते हुए बहुचन को एकत्व में लक्षणा मानकर इस याग में ही रखना उचित नहीं है। अतः बहु पशुबाले याग में इस मन्त्र का उत्कर्ष (ले जाना) ही उचित है। सिद्धान्ती का मत है—दुर्बल वचन के निमित्त प्रबल प्रातिपदिक का उत्कर्ष न्याय सङ्गत नहीं है किन्तु दुर्बल बहुवचन को ही एकत्व में लक्षणा मानकर प्रकृत याग ही में उस मन्त्र का विनियोग न्यायसंगत है। एकवचनान्त मन्त्र के रहते हुए बहुबचनान्त मन्त्र का यहाँ क्या उपयोग है? प्रश्न होने पर दोनों मन्त्रों का विकल्प मान कर समाधान किया जाता है। प्रातिपदिक का प्राधान्य एवं वचन का उपसर्जनत्व 'सत्त्वप्रधानानि नामानि' इस यास्क स्मृति से सिद्ध है। यह स्मृति प्रातिपदिक का प्राधान्य व्यवस्थापक है। इस पाशाधिकरण न्याय से 'सोमेन' में प्रधान तृतीया को इतिकर्तव्यता में लक्षणा अनुचित है क्योंकि तृतीया प्रधान है। उसकी अपेक्षा सोमप्रातिपदिक गुण-उपसर्जन है। अतः उपसर्जन में ही लक्षणा-अन्याय्य कल्पना संगत है।

---

१ किम्० २ ९-३-५

अथ १'वेदो वा प्रायदर्शनात्' इत्यधिकरणोक्तासञ्जातविरोधित्वन्याये-

---

प्रातिपादिक और प्रत्यय में प्रावल्य दौर्वल्य का 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन' यह महाभाष्य वचन प्रमाण है। इसका अर्थ है—प्रकृति और प्रत्यय मिलकर अर्थ के प्रतिपादक हैं उनमें प्रत्यय-प्रत्यायार्थ प्रधान है। अर्थात् यह स्मृति प्रत्ययार्थ का प्राधान्यावगमक है। अतः प्रत्ययार्थ करणत्व को इतिकर्तव्यता लक्षणा अनुचित है, प्रातिपदिक सोम ही में मत्वर्थ लक्षणा मानना चाहिए।

यहाँ एक शंका होती है कि यास्कस्मृति प्रातिपदिक का प्राधान्य बोधन करती है, व्याकरण स्मृति प्रत्यय का प्राधान्य बोधन करती है। विरुद्ध अर्थ के बोधक इन दोनों की संगति किस प्रकार होगी? शंका का समाधान है—यास्कवचन प्रत्ययार्थ लिंग और वचन की अपेक्षा प्रातिपदिक प्राधान्य का अवगमक है, एवं व्याकरण प्रातिपदिक लिङ्ग और वचन की अपेक्षा कारक प्रधान्य का अवगमक है। इस प्रकार दोनों स्मृतियों की संगति हो जाती है।

'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' न्याय को काटने के लिए दूसरे न्याय को उपस्थित करा कर पूर्वपक्षी प्रत्ययार्थ ही को इतिकर्तव्यता में लक्षणा मानना उचित सिद्ध करना चाहता है—अथ वेदो वा इत्यादि से। 'वेदो वा प्रायदर्शनात्' यह तीसरे अध्याय तीसरे पाद के प्रथमाधिकरण का सिद्धान्त सूत्र है। इस न्याय का संक्षेप स्वरूप यह है कि—'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति, स तपोऽतप्यत। तस्मात्तेपानात् त्रयो देवा अजायन्त–अग्निः वायुरादित्यः। ते तपोऽतप्यन्त। तेभ्यस्तेपानेभ्यः त्रयो वेदा अजायन्त अग्नेः ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात्सामवेदः। तस्माद्यत्किञ्चिदृचा क्रियते तदुच्चैः, यद्यजुषा तदुपांशु, यत्साम्ना तदुच्चैः' ब्रह्मा जी ने इच्छा की—मैं सृष्टि करूँ। इस निमित्त उन्होंने तपस्या की, तप के फलीभूत तीन देवताएं अग्नि, वायु, आदित्य उत्पन्न हुए। उनके तप करने पर अग्नि से ऋग्वेद वायु से यजुर्वेद, आदित्य से सामवेद प्रगट हुए। इसलिए क्रतुओं में ऋक् से जो कुछ किये जाते वे उच्चैस्स्वर से, जो यजु से किये जाते हैं वे उपांशु स्वर से, और जो साम से किये जाते हैं वे उच्चैस्स्वर से करना चाहिए। इस सन्दर्भ के उपक्रम (आरम्भ) में 'त्रयो वेदा अजायन्त' इस अंश में 'वेद' शब्द का उल्लेख है। उपसंहार (अन्त) में 'ऋचा' 'यजुषा' 'साम्ना' ऋग् आदि शब्द उल्लिखित हैं। संशय होता है कि क्या उपक्रम में विद्यमान 'वेद' शब्द के अनुसार उपसंहार में विद्यमान 'ऋक्' आदि शब्दों का ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद अर्थ माना जाना चाहिए? अथवा उपसंहार गत ऋक् आदि शब्दों के अनुसार उपक्रमगत 'वेद' शब्द का ऋगादि अर्थ माना जाना चाहिए? संशय का यह निष्कर्ष है कि उपक्रम सन्दर्भ अर्थवाद है, उपसंहार गत उच्चैः ऋचा क्रियते' 'उपांशु यजुषा क्रियते' 'उच्चैः साम्ना क्रियते' ये वाक्य विधायक हैं और ये 'उच्चैस्त्व' आदि गुणों को विधान करते हैं। ये गुण

---

१ ३. ३. १.

नाऽन्त्ये प्रत्यय एव लक्षणेति चेत्[1], तथाऽपि सोमस्येतिकर्तव्यतात्वेनाऽन्व-

क्या वेदों के धर्म हैं अथवा ऋक् आदि मन्त्रों के धर्म हैं? इस प्रकार सन्देह का परिणाम है कि यदि उच्चैस्त्व आदि [2]वेदों के धर्म हैं तो उस वेद के कर्मों में 'उच्चैस्त्व' 'उपांशुत्व' गुण समाविष्ट होंगे। यदि ऋग् आदि के धर्म होंगे तो किसी भी वेद के कर्म हों वहाँ ऋङ् मन्त्र का उच्चारण उच्चैः यजु का उपांशु साम का उच्चैः होगा। पूर्वपक्षी का कथन है—उपक्रम अर्थवाद रूप है, उपसंहार विधिरूप है। विधि की अपेक्षा अर्थवाद दुर्बल है। अतः दुर्बल अर्थवाद के वेद शब्द को लक्षणा से ऋगादि परक मानकर उच्चैस्त्वादि धर्म का विधान है। सिद्धान्ती का कथन है कि यद्यपि अर्थवाद विधि की अपेक्षा दुर्बल है किन्तु वह उपक्रम में है, अतएव वह असंजात विरोधी होता है—अर्थात् प्रथम पठित होने के कारण वह विरोधी से रहित है। उपसंहार गत ऋगादि विरोधी से सहित है। इस दृष्टि से विरोधी से सहित दुर्बल और उससे रहित प्रबल होता है। किञ्च 'उपक्रमानुसारेण उपसंहारः कर्तव्यः' उपक्रम के अनुसार उपसंहार करना चाहिए न्याय से दुर्बल होते हुए भी अर्थवाद प्रबल बन जाता है। इसलिए उपक्रमगत वेद शब्द के अनुसार उपसंहार गत ऋग् आदि शब्दों का 'वेद' में लक्षणा मानकर ऋग्वेद से जो किया जाता है वह उच्चैः इस प्रकार मानना ही उचित है। इस न्याय से 'सोमेन' में उपक्रम में 'सोम' प्रातिपदिक और उपसंहार में तृतीया विभक्ति है तो उपक्रम गत 'सोम' प्रातिपदिक प्रबल होने से वहाँ मत्वर्थलक्षणा उचित नहीं किन्तु तृतीया उपसंहार—अन्त में श्रुत है, अतः उसी की इतिकर्तव्यता में लक्षणा उचित है। अतः सिद्ध हुआ कि उपक्रमोपसंहार न्याय से 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' न्याय को खण्डन कर भावना में सोम को इतिकर्तव्यता के रूप से ही अन्वय उचित है।

इस प्रकार के पूर्वपक्ष का समाधान प्रदर्शित करते हैं—तथापि सोमस्य इत्यादि से। 'भक्षितेऽपि लशुने न रोगशान्तिः' न्याय से प्रतिपदिकार्थ से प्रत्ययार्थ प्रधान होते हुए भी उपसंहार में विद्यमान होने के कारण दुर्बल मानकर इतिकर्तव्यता में लक्षणा स्वीकार करने पर भी रोग की शान्ति नहीं होती है क्योंकि सिद्ध वस्तु सोम का इतिकर्तव्यता रूप बनना असम्भव है, सर्वत्र क्रिया ही इतिकर्तव्यता बन सकती है। 'इतिकर्तव्यता' शब्द का अर्थ पूर्व लिखा जा चुका है—कर्तव्यक्रियारूपी

१ चेत् न,

२ यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'वेद' शब्द व्यापक अर्थ का वाचक है, ऋक् यजु साम शब्द व्याप्य मन्त्रों के वाचक हैं ऋङ् मन्त्र यजु मन्त्र साम मन्त्र ऐसा व्यवहार है। 'वेद' शब्द मन्त्र और ब्राह्मण समुदाय का वाचक है। अतएव यह व्यापक अर्थ का वाचक और ऋक् आदि शब्द एकदेश मन्त्र का वाचक है। क्रतुओं के अनुष्ठान समय में मन्त्र ही बोले जाते हैं, ब्राह्मण भाग क्रतु के बाहर कर्तव्य पदार्थों को बोधित कर चरितार्थ हो जाते हैं।

यानुपपत्तेः । सिद्धस्य वस्तुन इतिकर्तव्यतात्वाभावात्, क्रियाया एवेतिकर्तव्यतात्वात्, द्रव्यस्य केवलमङ्गत्वात् । अत एवेतिकर्तव्यतात्वाभावात् द्रव्यस्य प्रकरणादग्रहणम्[1] । यथाऽऽहुः—

नाऽवान्तरक्रियायोगादृते वाक्योपकल्पितात् ।
गुणद्रव्ये कथंभावैर्गृह्णन्ति प्रकृताः क्रियाः ।। इति । 83/88

तदेतदग्रे वक्ष्यामः ।

किञ्च 'सोमेन यजेते'ति हि यागस्योत्पत्तिवाक्यं नाधिकारवाक्यम् । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यस्याधिकारवाक्यत्वात् । उत्पत्तिवाक्ये च नेतिकर्तव्यताकाङ्क्षा, इष्टविशेषाकाङ्क्षाकलुषितत्वेनेतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया विस्पष्टमनुत्थानात् । तत्सिद्धं सोमस्य नेतिकर्तव्यतात्वेन भावनायामन्वयः । तस्माद्विशिष्टविधावन्वयानुपपत्त्याऽवश्यं मत्वर्थलक्षणा वाच्येति ।

पदार्थ का प्रकार-विशेष कर्त्तव्य ही होगा, सिद्ध वस्तु सोम नहीं हो सकेगा। मानव का विशेष मानव ही होगा, जानवर नहीं होगा इस न्याय से 'याग से मैं फल का सम्पादन किस प्रकार करूँ' इति आकांक्षा का पूरक याग गत विशेष ही होगा। जो सोम याग के अंग हैं। अंगमात्र इतिकर्तव्यता के रूप में अन्वित नहीं होते हैं, किन्तु उनमें क्रिया रूपी अङ्ग ही उस प्रकार होने में सामर्थ्य रखते हैं। इसी लिए अङ्गाङ्गि भाव समझने के लिए माने गये प्रमाणों श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण आदियों में प्रकरण प्रमाण द्रव्य का ग्रहण नहीं करता है। क्रिया रूपी होने से ही वह प्रमाण अङ्गत्व का बोधक होता है। इस विषय में भट्टपाद वार्तिककार का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—नवान्तर इत्यादि वाक्य से। अवान्तर व्यापार की कल्पना किये विना प्रकृत क्रियायें—भावनाएँ गुण और द्रव्य को इतिकर्तव्यताकांक्षा पूरक रूप से ग्रहण नहीं करते हैं। यह आगे प्रकरण निरूपण समय में विशद किया जायगा।

भावना की इतिकर्तव्यताकांक्षा उत्पत्ति विधि में विशेष रूप से नहीं होती है। वह आकांक्षा याग के साथ फल संबन्ध करने पर किस प्रकार यह फल इस याग से प्राप्त करना चाहिए होती है। उत्पत्ति वाक्य में फल विशेष का संबन्ध न होने से इतिकर्तव्यताकांक्षा उत्थित नहीं होती है। 'सोमेन यजेत' यह तो उत्पत्ति वाक्य है, अधिकार वाक्य-फलसंबन्ध बोधक वाक्य 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' है। अतः उत्पत्ति वाक्य में विशेषाकांक्षा न होने से सोम का अन्वय तद्रूप से युक्त नहीं है। इसका निरूपण 'किञ्च' आदि ग्रन्थ से किया गया है। प्रकृत विषय का उपसंहार किया जाता है—तस्मात्। इतने विचार से सिद्ध हुआ है कि विशिष्ट विधि में मत्वर्थलक्षणा के बिना विधि का कार्य संपन्न नहीं होगा।

---

१ अग्रहः

नन्वेवमपि 'सोमेन यजेते'त्यत्र न विशिष्टविधानम् , गौरवात, मत्वर्थलक्षणा[1]पाताच्च; किं तु "दध्ना जुहोति" इतिवद् गुणमात्रविधानमस्तु, विधिशक्तेर्गुणे सङ्क्रमात् । यथाऽऽहुः—

सर्वत्राऽऽख्यातसम्बद्धे श्रूयमाणे पदान्तरे ।
विधिशक्त्युपसङ्क्रान्तेः स्याद्धातोरनुवादता ॥ इति ।

गुणविधिपूर्वपक्ष और समाधान

अब तक 'सोमेन यजेत' इस वाक्य को उत्पत्ति विधि मानकर पूर्वपक्ष हुआ और उसका समाधान किया गया। इस वाक्य को गुण विधि मानकर पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—नन्वेवमपि इत्यादि से। इस विधि को विशिष्ट विधि मानने से गौरव[2] एवं मत्वर्थलक्षणा दोष होते हैं। यदि गुणविधि माना जाय तो उन दोषों से मुक्ति मिल जाती है। जैसाकि 'दध्ना जुहोति' में गुण-दधिमात्र का विधान मानकर मत्वर्थलक्षणा से मुक्त होते हैं, वैसा 'सोमेन' वाक्य में सोम मात्र का विधान मानने से अन्वय की अनुपपत्ति न होकर 'सोमेन यागं भावयेत्' बोध हो जाता है, मत्वर्थलक्षणा की प्राप्ति न होगी। 'सोमेन यजेत' जैसा सोम श्रुत है वैसा याग भी श्रुत है तो विधि का व्यापार सोम मात्र में कैसा? इसके उत्तर में विधिशक्तेर्गुणे सङ्क्रमात् कहा गया है। इस विषय में प्रमाण देते हैं—यथाहुः।

वार्तिक का अर्थ है—यहाँ 'आख्यात' शब्द आख्यातान्त पद परक है। आख्यात अन्त में है जिसका वह आख्यान्त पद है। 'दध्ना जुहोति' में आख्यातान्त पद 'जुहोति' है। उससे संबद्ध पदान्तर 'दध्ना' पद है। ऐसा पदान्तर श्रूयमाण होने पर उसमें विधिशक्ति-विधान करने की शक्ति संक्रान्त होने से धातु अनुवादक हो जाता है। इस प्रमाण से 'सोमेन यजेत' में भी विधिशक्ति सोम में संक्रान्त होकर यज धातु अनुवादक हो जायेगा तो 'सोमेन यागं भावयेत्' बोध होगा इससे मत्वर्थलक्षणा का अवसर नहीं है। पूर्वपक्षी 'सोमेन' वाक्य को गुण विधि मानते हुए धातु के अनुवादकता में वार्तिक प्रणाण को प्रस्तुत कर मत्वर्थलक्षणा से मुक्ति दिखाये हैं।

इस सन्दर्भ में प्राप्त एक शंका का अनुवाद कर पूर्वपक्षी निराकरण करता है

---

१ लक्षणादोषाच्च

२ विधि का गौरव इस प्रकार प्राप्त होता है कि विशिष्ट विधि के पक्ष में सोम विशिष्ट पदार्थ में विधि का व्यापार मानना और विशेषण सोम का विधान आर्थिक मानना एवं सोम और याग का वैशिष्ट्य—विशेष्य विशेषणभाव अनुपपन्न होने से मत्वर्थलक्षणा मानना। गुण विधि पक्ष में विधि का व्यापार केवल दधिमात्र में होता है। यह विशिष्ट विधि की अपेक्षा लाघव है।

न च यागस्याप्राप्तत्वान्न तदुद्देशेन सोमविधानमिति वाच्यम्। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यनेन यागस्य प्राप्तत्वात्। न चास्याऽधिकारविधित्वेन नोत्पत्तिविधित्वमिति वाच्यम्। 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इतिवदेकस्यैवोभयविधित्वोपपत्तेः। एवं च 'सोमेन यजेते'त्यत्र न मत्वर्थलक्षणा। यदि ह्यत्र विशिष्टविधानं स्यात् तदाऽन्वयानुपपत्त्या मत्वर्थलक्षणा स्यात्। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र तु यागविधाने क्वचिन्न मत्वर्थलक्षणा। न तावदेतस्मिन् वाक्ये। ज्योतिष्टोमेन यागेन स्वर्गं

न च यागस्य आदि से। गुण विधि स्थल में निश्चय ही मत्वर्थलक्षणा नहीं होगी किन्तु प्रमाणान्तर से कर्म-याग आदियों की प्राप्ति होने पर उसको अनुवाद कर गुण-मात्र का विधान संभव है। यहाँ उस प्रकार कर्म का प्रापक कोई वक्य नहीं है तो इस का गुणविधित्व कैसे सिद्ध होगा ? 'इति वाच्यम्' इति न च वाच्यम्। याग प्रापक वाक्यान्तर का निर्देश करता हैं ज्योतिष्टोमेन इत्यादि। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' वाक्य कर्म की उत्पत्ति विधि है। इससे प्राप्त याग को उद्देश्य कर 'सोम' द्रव्य का विधान करता है। सिद्धान्ती की शंका है कि ज्योतिष्टोम वाक्य 'अधिकार' वाक्य है, याग के फल के संवन्ध बोधक वाक्य को अधिकार विधि कहते है। सिद्धान्ती का तात्पर्य है कि ज्योतिष्टोम वाक्य को उत्पत्ति विधि मानने से इस को अधिकार विधि भी मानना होगा तो एक वाक्य में दो विधियों को मानना गौरव होगा। पूर्वपक्षी उत्तर देता है कि—आपने कई वाक्यों में उत्पत्ति विधि और अधिकार विधि दोनों माना है जैसा कि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' आदि। उस प्रकार ज्योतिष्टोम वाक्य दोनों का बोधक हो। इस से यह लाभ है कि सोमवाक्य में विशिष्ट विधान और मत्वर्थलक्षणा नहीं माननी पड़ेगी क्योंकि ज्योतिष्टोम वाक्य कर्म की उत्पत्ति एवं स्वर्ग फल संवन्ध 'ज्योतिष्टोमेन यागेन स्वर्गं भावयेत्' बोधन करते हुए मत्वर्थलक्षणा के विना विधान कार्य सम्पन्न हो जाता है। यहाँ 'ज्योतिष्टोम' शब्द 'सोम' के समान द्रव्य वाचक नहीं है, किन्तु याग का नाम है। नाम और नामी का सामानाधिकरण्य-अर्थात् याग का जिस रूप से अन्वय है (करणत्वेन) उसी रूप से 'ज्योतिष्टोम' का भी अन्वय है। सोमवाक्य में भी मत्वर्थलक्षणा नहीं है—याग का अनुवाद होने से सोम करण के रूप अन्वित-'सोमेन यागम्' हो सकता है। अतः सिद्ध हुआ है कि ज्योतिष्टोम वाक्य उत्पत्ति विधि है और सोमवाक्य गुणविधि है। मत्वर्थलक्षणा का कहीं भी अवसर नहीं है।

सिद्धान्त पक्ष की ओर से शंका है कि 'सोमेन यजेत' को गुण विधि स्वीकार करने पर भी मत्वर्थलक्षणा दोष से मुक्ति नहीं है। 'रोग शमन के लिए अभक्ष्य लशुन का भक्षण किया और रोग से मुक्ति नहीं हुई है' न्याय से (भक्षितेऽपि लशुने न रोगशान्तिः) विशिष्ट विधि के भय से सोमवाक्य को गुण विधि माना है तो भी

भावयेदिति, सामानाधिकरण्येनैव [1]नामपदस्यान्वयात्। नापि 'सोमेन यजेते'त्यत्र, यागोद्देशेन सोमविधानात्–सोमेन यागं भावयेदिति।

ननु अनुवादेऽप्यस्ति मत्वर्थलक्षणा। अतएवोक्तम्—

विधाने वानुवादे वा यागः करणमिष्यते।
तत्समीपे तृतीयान्तस्तद्वाचित्वं न मुञ्चति॥ इति।

(गुणविधौ मत्वर्थलक्षणाभावनिरूपणम्)

अतश्च विशिष्टविधाविव गुणविधावप्यस्त्येव मत्वर्थलक्षणेति [2]चेन्मैवम्। गुणान्वयानुपपत्त्या हि मत्वर्थलक्षणाऽङ्गीक्रियते। यदा तु भावनायां धात्वर्थस्य करणत्वेनाऽन्वयः तदाऽन्वयानुपपत्त्या साङ्गीकर्तव्या। गुणविधौ च न धात्वर्थस्य करणत्वेनाऽन्वयः, मानाभावात्। न हि 'दध्ना जुहोती'-

---

मत्वर्थलक्षणा से मुक्ति नहीं। गुण विधि में भी मत्वर्थ लक्षणा क्यों होगी? क्या इस में प्रमाण है? प्रश्न करने पर वार्तिक कार का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—अतएवोक्तम्। 'विधाने वा वर्तिक' का अर्थ है—चाहे याग–धात्वर्थ का विधान–विधि विषय हो, चाहे उसका अनुवाद हो, याग-धात्वर्थ भावना का करण होगा। धात्वर्थ के समीप जो तृतीया विभक्ति युक्त पद है वह अपने करणवाचित्व को छोड़ेगा नहीं। प्रकृत सोमवाक्य में पूर्वपक्षी धात्वर्थ को अनुवाद मान कर सोम को करण मानता है। पूर्वोक्त वार्तिक के प्रमाण से अनुवाद होते हुए भी याग–धात्वर्थ भावना का करण होगा, उसके समीप में विद्यमान तृतीयान्त 'सोमेन' पद अपने करण वाचित्व को मुक्त नहीं करेगा। अर्थात् उसका भी करणत्वेन अन्वय करना है तो अन्वयानुपपत्ति से मत्वर्थलक्षणा होगी ही।

इस शंका का खण्डन पूर्वपक्षी करता है मैवम् आदि से। मत्वर्थलक्षणा होने में निमित्त भावना में अन्वय या तात्पर्य की अनुपपत्ति है। भावना में सोम गुण के अन्वय में अनुपपत्ति कोई हो तो लक्षणा होगी। जब कि भावना में धत्वर्थ का करण के रूप में अन्वय होता है तब गुण करण नहीं बन सकता है। अत एव लक्षणा कर के उसका अन्वय होता है। गुणविधि स्थल में धात्वर्थ प्रमाणान्तर से प्राप्त कर्म का अनुवादक है, अनुवाद होने से उसका करण के रूप से अन्वय करने में कोई प्रमाण नहीं है। 'दध्ना जुहोति' में धात्वर्थ अग्निहोत्र वाक्य से प्राप्त होम का अनुवादक है, क्योंकि 'जुहोति' में तृतीया नहीं है। यदि तृतीया होती तो उसका करणत्व बन सकता है। तिङन्त होने से सुब् बिभक्ति की गुंजाइश नहीं है। भावना में धात्वर्थ करण या कर्म बनता तो है, किन्तु कल्पना कर अन्वय करना पड़ता है। यदि 'दध्ना जुहोति में हु धात्वर्थ का करणत्व कल्पना करके अन्वय माना जाय तो उचित नहीं है।

---

१ ज्योतिष्टोमपदस्य २ चेद्, न,

त्यत्र होमस्य करणत्वं श्रूयते, तद्वाचकतृतीयाद्यभावात्। कल्प्यत इति चेन्न; गुणस्य[1] तत्र विधित्सितत्वेन साध्याकाङ्क्षायां साध्यत्वकल्पनाया एवोचितत्वात् दध्ना होमं भावयेदिति। न चाऽयमस्ति नियमो भावनायां धात्वर्थस्य करणत्वेनैवाऽन्वयो न प्रकारान्तरेणेति; षष्ठाद्यपूर्वपक्षानुत्थानापत्तेः। षष्ठाद्ये

कल्पना आकांक्षा से प्रेरित होती है। यदि धात्वर्थ विधेय हो तो करण की आकांक्षा होगी, उसकी पूर्ति के लिए करण की कल्पना करना उचित है। इस वाक्य में 'दधि' विधेय है। विधेय का करणत्वेन अन्वय नियत है। दधि करण हो जाने पर भावना साध्य-कर्म की ही आकांक्षा करती है। इस लिए होम की साध्यत्व कल्पना ही उचित है—'दध्ना होमं भावयेत्' ही बोध होगा, न कि 'दधिमता होमेन भावयेत्' यह जैमिनि का कहीं नियम नहीं है कि सब स्थलों में भावना का धात्वर्थ ही करण होगा। अर्थात् धात्वर्थ सर्वत्र भावना में करणत्वेन ही अन्वित होता है। यदि ऐसा नियम रहता तो षष्ठ अध्याय के प्रथम अधिकरण का[2] पूर्वपक्ष उत्थित होगा नहीं। इसका विवरण करते हैं—षष्ठाद्ये हि इत्यादि से। छठे अध्याय के प्रथम अधिकरण का विषय वाक्य 'यजेत स्वर्गकामः' है। इस वाक्य में संदेह है कि 'त' प्रत्यय से अभिहित आर्थी भावना (जिसका स्वरूप आगे विवेचन किया जायेगा) में भाव्य-साध्य की आकांक्षा होने पर क्या धात्वर्थ याग का अन्वय है? अथवा स्वर्ग का? पूर्वपक्षी धात्वर्थ ही को साध्य के रूप में अन्वय चाहता है क्योंकि धात्वर्थ ही 'यजेत' इस समान पद से उपस्थित है, स्वर्ग तो भिन्न पद से बोधित है। उसकी अपेक्षा सन्निहित धात्वर्थ पड़ता है। अतः धात्वर्थ ही साध्य है। स्वर्ग-सुखसाधन स्रक्चन्दन आदि द्रव्य का लक्षक है। इसलिए 'स्वर्गेण यागं भावयेत्' स्रक्चन्दन आदि द्रव्य से याग करना चाहिए बोध होता है। यहाँ का सिद्धान्ती कहता है कि 'याग' यद्यपि समान पद से बोधित होने से संनिहित है तथापि वह अपुरुषार्थ-पुरूष के द्वारा अभिलषणीय न होने से याग का साध्य के रूप से अन्वय उचित नहीं है, किन्तु पुरुषों से अभिलषित स्वर्ग का ही साध्यत्व और याग उसका साधन है।

इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि सभी विधिवाक्यों से विहित याग होम आदि यद्यपि पुरुषार्थ ही हैं। पुरुष जैसे फल की कामना करता है उसी प्रकार फल साधन की भी कामना करता है, फल साधन के अवलंबन के विना फल प्राप्ति असंभव है अतः साधन की कामना भी आवश्यक है। पुरुष के यत्न से साध्य है याग,

---

१ स्यात्र

२ मीमांसा शास्त्र में नियम है कि बारह अध्यायों में जिस किसी अधिकरण के सिद्धान्त को अन्य किसी अधिकरण के पूर्वपक्षी तथा सिद्धान्ती को मनना ही होगा। पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता है कि मै उस सिद्धान्त को मनूंगा नहीं।

हि "यजेत स्वर्गकाम" इत्यादौ[1] प्रत्ययवाच्यायां वक्ष्यमाणार्थभावनायां समानपदश्रुत्या यागस्य भाव्यत्वमाशङ्क्याऽपुरुषार्थत्वेन परिहृतम्। यदि च धात्वर्थस्य करणत्वेनैव भावनायामन्वयः तदा भाव्यत्वशङ्कैव नोदेतीति व्यर्थं षष्ठाद्यमधिकरणमापद्येत।

किं च[2] वाजपेयाधिकरणे तन्त्रसम्बन्ध आशङ्क्य परिहृतः। धात्वर्थस्य करणत्वेनैवाऽन्वये तन्त्रसम्बन्धशङ्कैव न स्यात्। तन्त्रसम्बन्धशङ्कापरिहारौ च तत्र व्याख्यातौ।

याग साधित हो जाने पर स्वर्ग सिद्ध हो जाता है, स्वर्ग सिद्धि के लिए अलग यत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती है, तथापि पुरुष के द्वारा समारब्ध यत्न का उद्देश्य याग नहीं; वह क्लेश साध्य हो जाने से पुरुषार्थ नहीं बनता है। याग के अनुकूल पुरुष का यत्न ही भावना, उसका भाव्य स्वर्ग ही है। वेतनभोगी पाचक पाकानुकूलयत्नवान होकर वेतन को ही उद्देश्य समझता है, उसी प्रकार स्वर्ग के उद्देश्य से प्रवृत्त पुरुष, साधन याग में यत्नवान होकर स्वर्ग को ही उद्देश्य मानता है।

यह निष्कर्ष हुआ है कि यदि धात्वर्थ का भावना में अन्वय करणत्व संवन्ध से ही नियत रहता तो स्वर्गकामाधिकरण का पूर्वपक्षी उसका साध्यत्व शंका ही नहीं करता। इसलिए यह नियम नहीं है कि धात्वर्थ सर्वत्र साधन ही है। ऐसा हो तो षष्ठ का आद्य अधिकरण व्यर्थ हो जायेगा षष्ठ के आद्य अधिकरण की व्यर्थता तब हो सकती है जब यह अधिकरण धात्वर्थ के करणत्व का निराकरण के निमित्त प्रवृत्त हो। यह अधिकरण स्वर्ग आदि फल का साध्यत्व सिद्ध करने के निमित्त प्रवृत्त है। इतने से ही यह अधिकरण चरितार्थ है. तो वैयर्थ्य की बात क्यों हो? इसलिए अधिकरणान्तर का विरोध प्रदर्शित करता है किञ्च आदि।

प्रथमाध्याय के चौथे पाद के आठवें वाजपेयाधिकरण में 'वाजपेयेन स्वाराज्य कामो यजेत' वाक्य में विचार प्रस्तुत किया है कि आख्यात से अभिहित भावना में धात्वर्थ याग का तन्त्र संवन्ध—'यागेन, यागम्' की शंका कर याग साधन होने पर स्वराज्य फल, साध्य होने पर वाजपेय गुण का अन्वय सिद्ध हो जाता है तो वाजपेय शब्द कर्मनाम नहीं होगा। इस पूर्वपक्ष का परिहार[3] विरुद्ध त्रिकद्वयापत्ति (जो पूर्व दिखाये जा चुके हैं) दोष के आपादन से किया गया है। यदि धात्वर्थ

---

1 प्रत्ययवाच्यवक्ष्यमाणार्थभावनायां। 2 १. ४. ६.

3 पूर्व निरूपित हो चुका है—विधेयत्व, उपादेयत्व, गुणत्व ये तीन याग के विधान पक्ष में होंगे और साध्यत्व उद्देश्यत्व प्राधान्य ये तीन याग के उद्देश्यत्व पक्ष में होंगे। एक ही याग करण बनने का समय साध्य बन नहीं सकेगा। काल भेद से करणत्व साध्यत्व बनने से वाक्यभेद होगा।

किंच धात्वर्थस्य न करणत्वेनैवाऽन्वयः [1]गुणकामाधिकरणे आश्रयत्वेन धात्वर्थान्वयस्योक्तत्वात् । तथाहि—'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादि'त्यत्र न तावद्धोमो विधीयते, तस्य वचनान्तरेण विहितत्वात् । नापि होमस्य फलसम्बन्धः, गुणपदानर्थक्यापत्तेः । नापि [2]गुणसम्बन्धः फलपदानर्थक्यापत्तेः । [3]नाऽप्युभयसम्बन्धं विधत्ते । प्राप्ते कर्मण्यनेकविधाने वाक्यभेदापत्तेः । यदाहुः—

प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः ।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः ।। इति ।४३

का करणत्व से ही अन्वय का नियम रहता तो वाजपेयाधिकरण में तन्त्रसंबन्ध की शंका उत्थित नहीं होती ।

इस प्रकार दो अधिकरणों का विरोध प्रदर्शित कर तीसरे अधिकरण का विरोध प्रदर्शित करते हैं—किञ्च धात्वर्थस्य इत्यादि । द्वितीयाध्याय दूसरे पाद का ग्यारहवाँ अधिकरण है गुणकामाधिकारण । इसको 'इन्द्रियकामाधिकरण' भी कहते हैं । इस अधिकरण में धात्वर्थ, भावना में 'आश्रयत्व' संबन्ध से अन्वित होता है, यह सिद्ध किया गया है । इसकी विवेचना तथाहि से की जाती है । अग्निहोत्र प्रकरण में 'अग्निहोत्रं जुहोति' होम का विधान कर 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' से विहित होम का स्वर्ग फल बताकर, 'दध्ना जुहोति' 'पयसा जुहोति' वाक्यों से विकल्पित द्रव्य का विधान किया । तदनन्तर वहाँ यह वाक्य भी 'दध्नेन्द्रिय कामस्य जुहुयात्' आम्नात है । यदि यजमान स्वर्ग से अतिरिक्त 'इन्द्रिय' (शारीरिक बल) की कामना करता हो तो वह दधि से अग्निहोत्र करें अर्थ है । इस वाक्य से होम का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि वह अग्निहोत्र वाक्य से विहित है । अग्निहोत्र वाक्य से प्राप्त होम का यह फलसंबन्ध-इन्द्रिय फल संबन्ध भी नहीं कर सकता; क्योंकि 'दध्ना' पद व्यर्थ होगा । होम के साथ गुण का (दधि) भी विधान नहीं कर सकता 'इन्द्रियकामस्य' पद का वैयर्थ्य हो जायेगा । होम के साथ गुण और फल दोनों का संबन्ध विधान नहीं कर सकता, क्योंकि एक विधि के द्वारा दो पदार्थों के विधान मानने से वाक्य भेद दोष है । इसमें वार्तिक का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—प्राप्ते कर्मणि । वार्तिक के अर्थ को जानने से पूर्व ज्ञातव्य है कि विधि वाक्यों से प्रधानतः भावना की[4] विधि मानी जाती है । वह सब से प्रधान है । उसी में सभी कारकों का अन्वय है । अप्राप्त होने पर अनेक कारक विशिष्ट भावना का

---

१ २. २. ११. २ गुणसम्बन्धं विधत्ते । ३ नाऽप्युभयसम्बन्धः,
४ भावमेव हि वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया ।
अनेकगुणजात्यादि कारकार्थानुरञ्जिता ॥ तन्त्रवार्तिक पृ० ४४५

अत्र च कर्मपदवत् गुणेत्युपलक्षणम्। एकोद्देशेनानेकविधाने वाक्यभेदात्। अतएव [1]ग्रहैकत्वाधिकरणे "ग्रहं संमार्ष्टी"त्यत्र ग्रहोद्देशेन [2]एकत्वसंमार्गयोर्विधाने वाक्यभेदात् ग्रहैकत्वमविवक्षितमित्युक्तम्।

विधान एक विधि द्वारा हो सकता है। अर्थात् एक ही विधिव्यापार से अनेक कारक विशिष्ट एक भावना के विधान से वाक्यभेद-विधि की आवृत्तिरूप नहीं होता है। विशिष्ट भावना के विधान से विशेषण जितने हैं द्रव्य-गुण-जाति-याग-होम-दान आदि वे अर्थाद् विहित हो जाते हैं। भावना मात्र की प्राप्ति होने पर अनेक कारकों का इस लिए विधान नहीं हैं कि आपस में वे विशिष्ट नहीं हो सकते, अतएव अलग अलग विधि व्यापार लगने पर वाक्य भेद होगा। वार्तिक का यह अर्थ हुआ कि 'कर्मणि प्राप्ते' भावना की प्राप्ति वाक्यान्तर से होने पर 'अनेको गुणः' द्रव्यगुण जात्यादि का 'न विधातुं शक्यते' विधान नहीं किया जा सकता। यदि वह अप्राप्त है तो 'एकयत्नतः' एक ही विधिव्यापार से अनेकों का भी विधान हो सकता है।

इस वार्तिक में विद्यमान विशेषता का निर्देश करता है अत्र च कर्मपदवत्ः इस कारिका में 'कर्म' पद जैसा प्राप्त मात्र का उपलक्षक है वैसा 'गुण' पद विधेय मात्र का उपलक्षक है। 'कर्म' पद का शक्यार्थ याग दान होम एवं भावना है। प्राप्त मात्र का उपलक्षक न मानने पर निर्दिष्ट याग दान आदि प्राप्त होने पर अनेक विधान से वाक्य भेद एवं तदातिरिक्त प्राप्त होने पर अनेकों के विधान से वाक्य भेद नहीं होगा यह अर्थ भासमान होगा। यह ठीक नहीं। निर्दिष्ट यागदान आदि से अतिरिक्त प्राप्त होने पर भी वाक्यभेद होता है इसी का दृष्टान्त दिया जाता है अत एव ग्रहैकत्वाधिकरणे आदि। तृतीयाध्याय प्रथम पाद का सातवाँ अधिकरण ग्रहैकत्वाधिकरण है। इस अधिकरण का विषय वाक्य 'ग्रहं संमार्ष्टि' है। बित्ते भर के ऊखल के आकार के काष्ठमय पात्र को ग्रह कहते हैं। 'ग्रहैर्जुहोति' वाक्य से होम का उद्देश्य कर ग्रहों का विधान है। उन ग्रहों का संमार्ग-वस्त्र के खंड से पोंछना विहित है। यहाँ ग्रहों की प्राप्ति 'ग्रहैर्जुहोति' से हो जाती है। प्राप्त ग्रहों को उद्देश्य कर ग्रहं समर्ष्टि वाक्य संमार्ग का विधान करता है। इस वाक्य में 'ग्रहं' से जैसा ग्रहपदार्थ भासमान है वैसे 'एकत्व' संख्या भी भासमान है। उद्देश्य कोटि में जैसा ग्रह है वैसी 'एकत्व' संख्या भी है। विधेय संमार्ग तो एक ही है। किन्तु ग्रह और एकत्व दोनों को उद्देश्य कर एक संमार्ग के विधान से भी वाक्यभेद होगा। उद्देश्य का अर्थ है विधेयान्वयी। अर्थात् विधेय का अन्वय जिसमें हो वह उद्देश्य है। 'प्रत्युद्देश्यं विधेयपरिसमाप्तिः' न्याय से एक विधि प्रत्यय, विधेय का उद्देश्य के साथ अलग-अलग संबन्ध करेगा तो आवृत्ति प्रयुक्त वाक्यभेद दुर्वार है। इसलिए 'ग्रह' में भासमान एकत्व की विवक्षा नहीं की जाती है। अर्थात् एकत्व संख्या को अविवक्षित कर ग्रहमात्र का उद्देश्य कर संमार्ग का

---

१ ३.१.७ २ एकत्वसम्मार्गविधी.

[१]रेवत्यधिकरणे च 'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत' इत्यत्र वारवन्तीयस्य रेवतीसम्बन्धे अग्निष्टोमसाम-

---

विधान है। इससे प्रकरण में विद्यमान सभी ग्रहों का संमार्ग सिद्ध हो जाता है। यदि हम 'कर्म' पद की उपलक्षकता नहीं मानते तो 'ग्रह' याग-दान-होम रूपी कर्म न होने से ग्रह और तद्गत एकत्व को उद्देश्य कर संमार्ग विधान से वाक्यभेद न होना चाहिए था। वाक्यभेद होता है, अत एव एकत्व की अविवक्षा मानी जाती है। इसलिए प्राप्त मात्र को उद्देश्य कर अनेक विधान से वाक्यभेद दोष होगा।

'कर्म' पद के समान 'गुण' पद की उपलक्षकता का उदाहरण है एतस्यैव रेवतीषु इत्यादि। दूसरे अध्याय के दूसरे पाद का बारहवाँ अधिकरण रेवत्यधिकरण है। यहाँ का विषय संदर्भ इस प्रकार है—ताण्ड्यमहाब्राह्मण के सतरहवें अध्याय में तीन वाक्य हैं 'त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोमः' 'तस्य वायव्यास्वेकविंशमग्निष्टोम साम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत' 'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत'। इन वाक्यों के अर्थावगति के लिए ज्योतिष्टोम याग के कुछ विषय का ज्ञान आवश्यक है। सर्व सोमयाग का प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम कहलाता है। प्रकृतियाग वह है जिसमें अपना अपेक्षित अङ्गकलाप पुष्कल आम्नात हो। सोमयाग संबन्धी सभी अंग ज्योतिष्टोम में आम्नात हैं। अतः यह प्रकृतियाग है। ज्योतिष्टोम की प्रधानतः चार संस्थाएँ होती हैं। 'संस्था' शब्द का अर्थ है स्तोत्र के द्वारा क्रतु की समाप्ति। अग्निष्टोम उक्थ्य षोडशी अतिरात्र ये संस्था के नाम हैं। अर्थात् 'अग्निष्टोम' स्तोत्र से समाप्त याग अग्निष्टोमसंस्थाक, एवं उक्थ्यस्तोत्र से समाप्त क्रतु उक्थ्यसंस्थाक, एवं षोडशी अतिरात्र संस्थाएँ हैं। इनमें अग्निष्टोम संस्था अन्य संस्थाओं की प्रकृति है। अग्निष्टोम संस्था में बारह स्तोत्र होते हैं। ऋचाओं में साम-गीति को लगाकर देवताओं के गुणों के कीर्तन स्तोत्र कहे जाते हैं। इन बारह स्तोत्रों की संख्या को 'स्तोम' कहा जाता हैं। ये 'स्तोम' अग्निष्टोमसंस्थाक ज्योतिष्टोम में चार हैं त्रिवृत् (९) पञ्चदशः (१५) सप्तदशः (१७) एकविंशः (२१)। ये विभिन्न स्तोत्रों में लगते हैं। इसका विशेष विवेचन आगे होगा।

प्रथम वाक्य 'त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोमः' का यह अर्थ है कि 'अग्निष्टुत्' कर्म का नाम है और यह कर्म अग्निष्टोम संस्थाक ज्योतिष्टोम की विकृति है। विकृति होने से प्रकृति से बारह स्तोत्र एवं चार प्रकार के स्तोम अतिदेश से प्राप्त हुएँ हैं। इस प्रकृत वाक्य से अन्य स्तोमों को बाधित कर 'त्रिवृत्' ९ स्तोम का विधान होता है। अर्थात् सभी स्तोत्रों ९ संख्या से संपादन करना चाहिए। यह याग अग्निष्टोम संस्थाक होगा। इस वाक्य में 'यजति' पद नहीं है फिर भी उसकी कल्पना करनी होगी क्योंकि 'अग्निष्टुत्' नाम है। समग्रवाक्य का अर्थ हुआ त्रिवृत्स्तोमयुक्त अग्निष्टोम

---

१ २. २. १२.

सम्बन्धे फलसम्बन्धे तु विधीयमाने वाक्यभेदाद्भावनोपसर्जनं भावनान्तरं विधीयत इत्युक्तम्। तस्मात्प्राप्ते होमे नोभयविधानं संभवति।

संस्थाक अग्निष्टुद् याग से कल्पित स्वर्ग फल को प्राप्त करना चाहिए—'त्रिवृत्स्तोमकेन अग्निष्टोमसंस्थाकेन अग्निष्टुन्नामकेन यागेन स्वर्गं भावयेत्'।

दूसरे वाक्य का अर्थ है—पूर्वोक्त अग्निष्टुत् याग को ही इस रूप से कि वायव्यासु वायुदेवता प्रकाशक ऋचाओं में 'उप त्वा जामयो गिरः' इत्यादि में 'एकविंशं' एकविंशस्तोम युक्त 'अग्निष्टोमसाम कृत्वा अग्निष्टोमसाम को पढ़कर अनुष्ठान करने पर पशुफल प्राप्त होगा। अर्थात् जो यजमान ब्रह्मवर्चस फल को इस अग्निष्टुद् याग से चाहता हो वह त्रिवृत् स्तोम को हटाकर एकविंश स्तोम एवं अन्य ऋचाओं को हटाकर वायव्य ऋचाओं में अग्निष्टोम साम गान करते हुए अग्निष्टुद् याग करें, यथा 'एकविंशस्तोमक वायव्यऋगधिकरणकाग्निष्टोमसामसाध्यकस्तोत्रयुक्ताग्निष्टुद्यागेन ब्रह्मवर्चसं भावयेत्'। अर्थात् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' का 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' जैसा गुण फलसंबन्ध विधि है उसी प्रकार अग्निष्टुद्याग का यह गुणफलसंबन्ध विधि है। निष्कर्ष हुआ कि अग्निष्टुद्याग का ही यह एक प्रयोग है। यह प्रयोग का ही भेद है कर्म का नहीं। गुण विशिष्टप्रयोग का यह विधान करता है।

तीसरे वाक्य का अर्थ है—रेवतीषु रेशब्दयुक्त 'रेवतीर्नः' ऋचाओं में वारवन्तीयं 'अश्वं नत्वा वारवन्तम्' ऋचा में गेय साम, अग्निष्टोमसाम कृत्वा अग्निष्टोम स्तोत्र कर पशुफल का संपादन करें—जैसे 'रेवती ऋगधिकरणक वारवन्तीय सामसाध्याग्निष्टोमस्तोत्र विशिष्ट यागान्तरेण पशून् भावयेत्'। इस वाक्य से अग्निष्टुद्याग का अनुवाद नहीं है। यदि उस याग का अनुवाद होगा तो उसका अनुवाद कर रेवती ऋचाओं से वारवन्तीय का संबन्ध, एवं अग्निष्टोमस्तोत्र संबन्ध, तथा पशुफल संबन्ध का विधान मानना होगा। ये तीनों अप्राप्त हैं, प्राप्तकर्म को उद्देश्य कर तीनों का विधान वाक्यभेद दोष का आपादक होगा। अतः यह कर्मान्तर ही का विधायक है। यदि 'प्राप्ते कर्मणि' इस वार्तिक में 'गुण' पद विधेय मात्र का उपलक्षक न माना जाय तो वाक्य भेद के बिना ही वाक्यार्थ संपन्न होगा और रेवत्यधिकरण का सिद्धान्त गलत हो जायगा। इसलिए वर्तिक गत 'गुण' पद को यथाश्रुत अर्थ न मानकर उपलक्षक माना गया। अतएव इस वाक्य में 'कृत्वा' पद के 'त्वा' प्रत्यय से बोधित भावना में वारवन्तीय का रेवतीसंबन्ध अग्निष्टोम संबन्ध का अन्वय कर इन दोनों संबन्ध से युक्त भावना का 'त' प्रत्यय से बोधित भावना में अन्वय करते हुए भावनोपसर्जनक भावनान्तर का फलोद्देश से विधान स्वीकृत किया है। यही कहा गया है—भावनोपसर्जनं भावनान्तरं विधीयते। निष्कर्ष यह है कि 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' में प्राप्त होम का उद्देश्यकर दधि और फल संबन्ध दो का विधान होने पर वाक्यभेद दोष अनिवार्य है।

नाऽपि होमान्तरं विधीयते, [1]गौरवात्, प्रकृतहानाप्रकृतकल्पनाप्रसङ्गात्, मत्वर्थलक्षणाप्रसङ्गाच्च। नाऽपि दध्येव केवलं करणत्वेन विधीयत इति युक्तम्। केवलस्य व्यापारानाविष्टस्य करणत्वानुपपत्तेः, कर्तृव्यापारव्याप्यत्वनियमात्करणत्वस्य। किं तर्हि विधीयत इति चेत्, दध्नेति तृतीययोपात्तं दधिक-

---

यदि दधि गुणविशिष्ट होम का फल को उद्देश्य कर विधान माना जाय तो दोष बतलाते हैं—नापि होमान्तरं विधीयते। प्रकृत अग्निहोत्र होम से यह होम भिन्न मानने पर विधि का गौरव होगा। विधि का लाघव वहाँ माना जाता है जहाँ धात्वर्थ मात्र का विधान होता हो। प्रकृत वाक्य में धात्वर्थ-होम का विधान करते हुए दधिवैशिष्ट्य और फल संबन्ध में भी विधि का व्यापार मानना होगा। अत एव गौरव है, और प्रकृत अग्निहोत्र होम को छोड़कर अप्रकृत होमान्तर की कल्पना, एवं विशिष्ट विधि के निमित्त मत्वर्थलक्षणा होगी। केवल दधि मात्र का करणत्वेन विधान इसलिए संभव नहीं है कि दधि सिद्ध वस्तु है। व्यापार संबन्ध के विना सिद्ध वस्तु करण नहीं हो सकती, जो वस्तु करण है वह कर्ता के व्यापार से अवश्य संबद्ध रहेगी—'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्'। अर्थात् उसी वस्तु को करण कह सकते हैं जो कर्ता के व्यापार से व्याप्य हो। अतः केवल दधि का विधान संभव नहीं। तब इस वाक्य से किसका विधान किया जाता है? प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—दध्नेति तृतीयोपात्तं इत्यादि। इस संदर्भ में ज्ञातव्य है कि उत्पत्ति विधि से प्राप्त याग होम आदि को उद्देश्य कर गुण विधि 'दध्ना जुहोति' आदि दधि प्रभृति गुणों का विधान करता है। अर्थात् याग आदि क्रियाओं को निष्पन्न कराता हुआ दध्यादि द्रव्य करण-साधन बनता है। 'दध्ना होमं भावयेत्' शाब्द बोध हो जाता है। गुणफल संबन्ध विधियों में ('दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' इत्यादियों में) फल को उद्देश्यकर गुण-दधि का विधान है। स्वरूपेण दधि फल का संपादक नहीं बन सकता है। दधि से कुछ करना होगा। अग्निहोत्र प्रकरण गत होने से होम ही प्राप्त है, तो होम के साधन बनते हुए दधि को फल का करण कहना होगा। तात्पर्य है कि दधि धात्वर्थ-होम को निष्पन्न कराता हुआ ही फल का जनक होगा। 'दध्ना' इस पद की तृतीया 'करणत्व' वाचिनी है। यह होम का प्रकार-विशेषण है—दधिकरणक (दधि करण है जिसका) होम कहलाता है 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' में 'दध्ना' तृतीया से उपात्त करणत्व का फलभावना में (फल भाव्य है जिस भावना में) करणत्वेन अन्वय किया जाता है। यह करणत्व संबन्ध मुद्रा से भासमान है। अर्थात् दधिनिष्ठ करणत्व का करणसम्बन्ध से भावना में अन्वय होता है। गुणविधि के समान दधि का ही करणत्वेन विधान नहीं मानकर दधि करणत्व का करणत्वेन अन्वय क्यों माना जाता है? इस प्रश्न

---

[1] गौरवप्रसङ्गात्,

रणत्वं फलभावनायां करणत्वेन विधीयते, प्रत्ययार्थत्वेन दध्नोऽपि तस्य प्राधान्यात्। एवं च दधिकरणत्वेनेन्द्रियं भावयेदिति वाक्यार्थः। करणत्वञ्च किंप्रतियोगिकमित्यपेक्षायां सन्निधिप्राप्तो होम आश्रयत्वेन सम्बध्यते। ततश्च सिद्धो धात्वर्थस्याऽऽश्रयत्वेनान्वयः।

प्रकृतमनुसरामः। तत्सिद्धं धात्वर्थस्य न करणत्वेनैवान्वय इति। किं तर्हि क्वचित्करणत्वेन क्वचित्साध्यत्वेन क्वचिदाश्रयत्वेनेति। गुणविधौ साध्यत्वेनैवान्वयः सम्भवतीति न मत्वर्थलक्षणायाः प्रयोजनम्।

के उत्तर में प्रत्ययार्थत्वेन दध्नोऽपि तस्य प्रधान्यात् कहा गया है। तात्पर्य है कि 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन' प्रमाण से प्रत्ययार्थ करणत्व प्रबल है, 'दधि' प्रातिपदिकार्थ दुर्बल है। अतः प्रबल करणत्व का ही भावना के साथ अन्वय उचित है। अन्वय का सम्बन्ध 'करणत्व' है। उस करणत्व की निरूपक आकांक्षा होने पर प्रकृत होम का अन्वय होगा। होम उस करणत्व का [1]आश्रय बनेगा। दधिगुण में विद्यमान करणत्व का आश्रय-निरूपक होम है। अर्थात् प्रकृत होम को आश्रित कर दधि इन्द्रियफल का संपादक है। इतने विचार से निष्कर्ष निकला है कि गुणफलसम्बन्ध स्थलों में धात्वर्थ का भावना में 'आश्रयत्वेन' अन्वय होता है।

फलतः यह निष्कर्ष निकला है कि भावना में धात्वर्थ का करणत्व से ही अन्वय नहीं होता है किन्तु उत्पत्ति विधि में करणत्व से, गुणविधि में साध्यत्व से और गुणफलसम्बन्धविधि में आश्रयत्व से धात्वर्थ का भावना में अन्वय होता है। 'सोमेन यजेत' को गुणविधि मानने पर धात्वर्थ साध्य है, सोम साधन है। यहाँ अन्वय की अनुपपत्ति न होने से मत्यर्थलक्षणा नहीं होगी।

इस प्रकार पूर्वपक्षी मत्वर्थ लक्षणा के विना ही 'सोमेन यजेत' में सोम का

---

१ आश्रय पद के अर्थ के विषय में मीमांसकों में मतभेद है। पार्थसारथि मिश्र का मत है कि—'फलाय विधीयमानो गुणः यत्र कारकतामापद्यते स आश्रयः' फल को उद्देश्य कर विहित गुण जिस क्रिया का निर्वर्तक बनेगा वह क्रिया आश्रय है। यह लक्षण 'दधि' में समन्वित हो जाता है किन्तु 'पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयात्' वाक्य ज्योतिष्टोम में उक्थ्य संस्था को पशुफलोद्देशेन विधान करता है, लेकिन उक्थ्य संस्था ज्योतिष्टोम का कारक नहीं। लक्षण समन्वय न होने से अव्याप्ति समझ कर शङ्कर भट्ट ने 'फलाय विधीयमानो गुणः यां क्रियामपेक्षते स आश्रयः' लक्षण माना। नवीन मीमांसक कहते हैं कि गुण विशेष का वैशिष्ट्य जिसमें हो वह आश्रय है। वैशिष्ट्य का सम्बन्ध 'अदृष्टाद्वारकत्व' हैं 'अदृष्टाद्वारकत्वसम्बन्धेन गुणविशेषविशिष्टत्वमाश्रयत्वम्' मानते हैं।

किंच गुणविधौ मत्वर्थलक्षणायां गुणस्य धात्वर्थाङ्गत्वे किं मानमिति वक्तव्यम्। न तावच्छ्रुतिः। मत्वर्थलक्षणायां तृतीयाश्रुतिर्मत्वर्थस्यैवाङ्गत्वे मानं स्यात् न तु गुणस्याऽङ्गत्वे। समभिव्याहारात्मकं वाक्यमिति चेत्, तत्किं स्वतन्त्रमेव मानम्? उत लिङ्गश्रुतो कल्पयित्वा? नाऽऽद्यः, [1]बलाबलाधिकरणविरोधात्। तत्र हि वाक्यं लिङ्गश्रुती कल्पयित्वाऽङ्गत्वे मानमित्युक्तम्। द्वितीये प्रत्यक्षां श्रुतिमुत्सृज्य श्रुत्यन्तरकल्पने तस्या एव

अन्वय सिद्ध कर गुणविधि स्थल में मत्वर्थलक्षणा का आपादन करने वाले से प्रश्न करता है—किञ्च गुणविधौ आदि से। प्रश्न का यह सार है—'दध्ना जुहोति' इस गुणविधि में मत्वर्थलक्षणा होने पर 'दधिमता होमेन भावयेत्' बोध होगा। यहाँ दधिगुण और धात्वर्थ-होम का अङ्गाङ्गिभाव है। अर्थात् होम का दधि अङ्ग है। किसी पदार्थ का अङ्ग होने में श्रुति लिङ्ग वाक्य आदि छः प्रमाण माने गये गये हैं। उनमें कौन ऐसा प्रमाण है जो दधि का होमाङ्गत्व बतलाता है? यदि कहा जाय 'दध्ना' की तृतीया विभक्ति श्रुति प्रमाण है तो यह ठीक नहीं। 'दधिमता' में विद्यमान तृतीया श्रुति 'दधिमत्' के ही अङ्गत्व का बोधन करती है। दधिमत् याग होगा, उसी का अङ्गत्व अवगत होता है दधि का नहीं। यदि समभिव्याहारात्मक[2]—अङ्ग और अङ्गी का सहोच्चारण रूप वाक्य ही दधि का होमाङ्गत्व में प्रमाण है, तो अवान्तर शंका होती है कि क्या यह वाक्य स्वतन्त्र ही होम का दधि अङ्ग है यह बतलाता है? अथवा वाक्य लिङ्ग और श्रुति अपने पूर्व प्रमाणों की कल्पना करते हुए होम का दधि अंग है यह बतलाता है? प्रथम कल्प उचित इसलिए नहीं है कि तृतीयाध्याय तृतीयपाद के सातवें बलाबलाधिकरण में उत्तर उत्तर प्रमाण पूर्व पूर्व प्रमाण को कल्पित करके ही अंगता का बोधक होता है, सिद्धान्त माना है। इस न्याय का विरोध होगा यदि वाक्य स्वतन्त्र ही प्रमाण है। वाक्य लिङ्ग और श्रुति की कल्पना करते हुए दधि को धात्वर्थाङ्गत्व बतलाता है इस द्वितीय पक्ष में, 'दध्ना' इस प्रत्यक्ष तृतीया श्रुति को छोड़कर अन्य श्रुति की कल्पना अथवा प्रत्यक्ष श्रुति की आवृत्ति करना यह व्यर्थ का प्रयास होगा। 'दध्ना जुहोति', यह गुण विधि है। गुण-दधि के विधान के लिए ही विधि है। तृतीया श्रुति का कार्य है कि धात्वर्थ का अंग दधि है यह समझाना। जब कि इतने से कार्य सम्पन्न

---

१. पू. मी. ३. ३. ७.

२. 'साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावे सति वस्तुतः शेषशेषिणोः सहोच्चारणं वाक्यम्' यह वाक्य का लक्षण बतलाया गया है। 'दध्ना जुहोति' में शेष दधि और शेषी होम का सहोच्चारण तो है किन्तु 'दध्ना' में साधनत्व वाचक तृतीया है। अतः पूर्वपक्षी का यह प्रश्न उचित नहीं है, तथापि विचार शैली को दिखाने की दृष्टि से पूर्वपक्षी का प्रश्न है।

वा आवृत्तिकल्पने [1]व्यर्थः प्रयासः समाश्रितः स्यात् । विशिष्टविधौ चागत्या तदाश्रयणम् ।

किंच भवतु श्रुत्यन्तरकल्पनम् । तथापि तत्सहकृतः प्रत्यक्ष एव विधिर्धात्वर्थाङ्गत्वेन गुणं विधत्ते ? उत कल्पितं विध्यन्तरम् ? कल्पितमिति चेन्न, श्रुतिविधे[2]र्व्यर्थतापत्तेः । नहि तेन तदा गुणो विधीयते, कल्पित विध्यन्तराङ्गीकारात् ; नापि धात्वर्थः, तस्य वचनान्तरेण विहितत्वात् ।

हो जाता है तो वाक्य प्रमाण से श्रुत्यन्तर कल्पना की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ?

अरुणा न्याय से शंका की जा सकती है कि जैसा 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एक-हायन्या सोमं क्रीणाति' में आरुण्य पिङ्गाक्षित्व एकहायनीत्व गुण विशिष्ट क्रय भावना का विधान करते हुए विशेषणों के विधान के लिए विधि की आवृत्ति—'अरुणया क्रीणाति' 'पिङ्गाक्ष्या क्रीणाति' मानी जाती है उसी प्रकार 'दध्ना जुहोति' में भी दधिविशिष्ट होमभावना का विधान करते हुए विशेषण दधि के विधान के लिए विध्यावृत्ति क्यों न होगी ? इस शङ्का के उत्तर में कहा गया है—विशिष्टविधौ चागत्या तदाश्रयणम् । उत्पत्ति विधि एवं गुणविधि अलग-अलग न हों, एक ही विधिवाक्य से दोनों कार्य सम्पन्न कराना हो तो वहाँ गत्यन्तर न होने से विशेषण विधि एवं विशिष्ट विधि आवृत्ति से मानी जाती है । 'दध्ना जुहोति' में इस शङ्का का स्थान नहीं है क्योंकि 'अग्निहोत्रं जुहोति' उत्पत्ति वाक्य पृथक् श्रूयमाण है । इसी दृष्टान्त से 'ज्योतिष्टोमेन' को उत्पत्ति विधि मान कर 'सोमेन' को गुणविधि मानने पर मत्वर्थलक्षणा का प्रसंग क्यों होगा । यह पूर्वपक्षी का मन्तव्य है ।

अब पूर्वपक्षी अभ्युपगमवाद से श्रुत्यन्तरकल्पना पक्ष को मानते हुए पूछता है—भवतु श्रुत्यन्तरकल्पनम् । श्रुत्यन्तर कल्पना से मतलब है कि 'दध्ना जुहोति' में वाक्य प्रमाण दधि को धात्वर्थाङ्गत्वबोधन स्वतन्त्र नहीं कर सकता है, अपने पूर्व प्रमाण लिङ्ग और श्रुति की कल्पना कर अङ्गत्व का बोधन करेगा । श्रुतिकल्पना का अर्थ है 'टा' तृतीया की कल्पना करना । 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलं प्रत्ययः' इस पातञ्जल भाष्य से दधि प्रातिपदिक की भी कल्पना होगी, 'दध्ना' । इतने मात्र से कार्य सिद्धि नहीं होगी—अङ्ग के विधान के लिए 'जुहोति' की भी कल्पना होगी । एक प्रत्यक्ष श्रुति और प्रत्यक्ष विधि 'दध्ना जुहोति' हुई, एवं कल्पित श्रुति और कल्पित विधि भी 'दध्ना जुहोति' हुई । इस स्थिति में पूर्व-पक्षी का प्रश्न है कि क्या कल्पित श्रुति से युक्त प्रत्यक्ष विधि दधि को धात्वर्थाङ्गत्व बताती है ? अथवा कल्पित विध्यन्तर ही वह कार्य करता है ?

---

१. वृथा. २. वैयर्थ्यापत्तेः

अथ श्रूयमाण एव विधिः कल्पितश्रुतिसहकृतो धात्वर्थाङ्गत्वेन गुणं विधत्ते–इति चेत्, तर्हि तत्र कथं धात्वर्थस्यान्वयः ? करणत्वेनेति चेन्न, अन्वयानुपपत्तेः। नहि सम्भवति दध्ना होमेनेति चान्वयः। साध्यत्वेनैवान्वयः–दध्ना होमं भावयेदिति चेत्–न, तथा सत्यनुवादेऽपि धात्वर्थः करणत्वेनैवान्वेतीत्येतदुपेक्षितं स्यात्, विवक्षितवाक्यार्थश्च विनैव मत्वर्थलक्षणयाङ्गीकृतः स्यात्। तस्मान्न गुणविधौ मत्वर्थलक्षणा।

यत्तु 'विधाने वानुवादे वा' इति वार्तिकं तत्प्रतीतिमवलम्ब्य, न वस्तुगतिम्। तथाहि—यावद्धि 'अग्निहोत्रं जुहुयादि'ति वाक्यं नाऽऽलोच्यते,

---

'दध्ना जुहोति' प्रत्यक्ष श्रुति एवं प्रत्यक्ष विधि।
'जुहोति दध्ना' कल्पित श्रुति एवं कल्पित विधि।

यदि द्वितीय पक्ष अभिमत है तो प्रत्यक्ष विधि का कोई कार्य नहीं होगा, वह व्यर्थ होगा। क्योंकि 'दधि' गुण विधान के लिए ही तो वाक्य द्वारा विधि की कल्पना हुई है। इसी से धात्वर्थ का अङ्ग 'दधि' विदित हो जाता है तो प्रत्यक्ष विधि की आवश्यकता क्या रह जाती है ? धात्वर्थ का विधान यह नहीं कर सकता। उसके लिए 'अग्निहोत्रं जुहोति' विद्यमान है ही। अतः द्वितीय पक्ष ठीक नहीं। प्रथम पक्ष (कल्पित श्रुति सहकृत प्रत्यक्ष विधि) का ग्रहण करने पर आख्यातवाच्यभावना में धात्वर्थ होम का अन्वय क्या करणत्वेन होगा ? अथवा साध्यत्वेन ? करणत्वेन अन्वय करने पर 'दध्ना होमेन' कहना होगा, यह संभव नहीं, क्योंकि यह विधि दधि का विधायक है विधेयता दधि में होगी। विधेय होने से उसी का करणत्वेन अन्वय उचित है होम का अन्वय अनुपपन्न है। दूसरा साध्यत्व पक्ष का अवलंबन करेंगे—अर्थात् दध्ना होमं भावयेत् तो अपनी प्रतिज्ञा की हानि होगी। यह आपकी प्रतिज्ञा थी कि धात्वर्थ के अनुवाद में भी उसका करणत्वेन ही भावना में अन्वय है। इसी सन्दर्भ में आपने 'विधाने वानुवादे वा' प्रमाण दिया। इस प्रमाण की उपेक्षा करनी होगी और 'दध्ना जुहोति' का मत्वर्थलक्षणा के विना ही शाब्द बोध स्वीकृत हो जायेगा। अतः मानना होगा कि गुणविधि में मत्वर्थलक्षणा नहीं है। 'सोमेन यजेत' को गुण विधि मान कर मत्वर्थलक्षणा से बच सकते हैं।

इस प्रकार पूर्वपक्षी सोम वाक्य को गुणविधि सिद्ध कर सम्प्रति 'विधानेवानुवादे वा' इस वार्तिक की उपपत्ति बनाता है—यत्तु विधाने वानुवादे वा आदि से। पूर्वपक्षी का कहना है कि यह वार्तिक वास्तविक स्थिति के परिचय के निमित्त प्रवृत्त नहीं है, किन्तु एक विशेष परिस्थिति के सन्दर्भ में प्रवृत्त है। उसी परिस्थिति का उपपादक है तथाहि यावद्धि आदि ग्रन्थ।

इस प्रकार की परिस्थिति वन सकती है कि जो व्यक्ति 'अग्निहोत्रं जुहोति'

केवलं 'दध्ना जुहोती'ति वाक्यमालोच्यते, तदा षष्ठाद्यन्यायेन होमस्या[1] भाव्यतां जानतां [2]प्रतिपदाधिकरण [3]भावार्थाधिकरणवासनावसितानां[4] भवत्येव[5] तादृशी मतिः—यद्दधिमता होमेनेष्टं भावयेदिति ।

प्रतिपदाधिकरणे हि 'सोमेन यजेते'त्यादिषु किं गुणधात्वर्थयोः फलभावनाकरणत्वेनान्वयः ? उत एकस्यैवेति सन्दिह्य प्रधानसम्बन्धलाभात् विनिगमनाविरहाच्च सर्वेषां फलभावनाकरणत्वेनान्वयमाशङ्क्य लाघवादेकस्यैव फलभावनाकरणत्वमित्युक्तम् । भावनाकरणत्वं हि भावनाभाव्यनिर्वर्तकतया ।

इस उत्पत्ति विधि पर ध्यान नहीं करता हुआ 'दध्ना जुहोति' इस गुण विधि मात्र का ज्ञान रखता है वह षष्ठाध्याय प्रथमाधिकरण (जिसमें उत्पत्ति विधियों में भावना का भाव्य धात्वर्थ नहीं हो सकता है) के सिद्धान्त को जानता है और प्रतिपदाधिकरण भावार्थाधिकरणों के सिद्धान्त से परिचित है तो उस व्यक्ति को 'दध्ना जुहोति' में मत्वर्थलक्षणा घटित ही 'दधिमता होमेनेष्टं भावयेत्' शाब्दबोध होगा। इस सन्दर्भ का 'विधाने वा' वर्तिक परिचायक है चाहे धात्वर्थ का विधान हो चाहे उसका अनुवाद उभयथापि धात्वर्थ याग आदि करण है। उसके साथ विद्यमान तृतीयान्त पद करण वाचिता का त्याग नहीं करेगा। अर्थात् उसको भी करणत्वेन अन्वय करना होगा और अन्वय की अनुपपत्ति से मत्वर्थ लक्षणा अनिवार्य है—'दधिमता होमेनेष्टं भावयेत्'।

अब विचार करते हैं 'प्रतिपदाधिकरण' और 'भावार्थधिकरण' न्याय का स्वरूप क्या है—प्रतिपदाधिकरणे हि। क्या वाक्य में श्रुत प्रतिपद प्रत्येक पद का अन्वय भावना में होता है ? अथवा एक का ही इस प्रकार विचार जिस अधिकरण में किया गया है वह ''प्रतिपदाधिकरण' है (२.१.१)। 'धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते' प्रमाण से भावार्थ को धात्वर्थ कहते हैं। भवार्थ भावना में करण बनता है ऐसा निश्चय जिस अधिकरण में किया गया है वह 'भावार्थाधिकरण' है (२.१.२)।

प्रतिपदाधिकरण का उदाहरण 'सोमेन यजेत' आदि उत्पत्ति वाक्य है। इनमें सन्देह है कि आख्यात के अर्थ भावना में 'सोमेन यजेत' वाक्य के जितने पद हैं उन सब का (गुण और धात्वर्थ) करणत्वेन अन्वय करना है ? अथवा एक का ही ? मीमांसासिद्धान्त के अनुसार भावना प्रधान है जो आख्यातार्थ है, शेष सभी उपसर्जन हैं। उपसर्जन सभी प्रधान के साथ अन्वय प्राप्त करना चाहेंगे। अतः विना भेद से सभी करणत्वेन अन्वित होंगे इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर

---

१. अभाव्यत्वम् भा० यत्वमजानतां २. पू. मी. २. १. १.
३. पू. मी. २. १. २ ४. वासितान्तःकरणानां ५.भवत्येवादृशी

भाव्यं च स्वर्गादि नादृष्टमन्तरेणानेकेषां करणत्वेऽनेकादृष्टकल्पनाप्रसङ्गात्। तस्मादेकस्यैव करणत्वम्।

यदाप्येकस्य, तदापि किं द्रव्यगुणयोः फलभावनाकरणत्वम्? उत धात्वर्थस्य? इति भावार्थाधिकरणे सन्दिह्य द्रव्यगुणयोरेव भावनाकरणत्वम्, 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति न्यायादित्याशङ्क्य धात्वर्थस्यैव भावनाकरण-

---

सिद्धान्ती का कहना है कि उपसर्जन तो प्रधान के साथ अन्वय प्राप्त करने का लोभ रखेंगे ही किन्तु फल की भावना का करण 'भावना भाव्य निर्वर्तकत्व' रूप माना गया है। भावना का भाव्य स्वर्ग आदि का निर्वर्तन अदृष्ट रूप से होता है। प्रतिपद (प्रत्येक पद) का करणत्वेन अन्वय करने पर अनेक अदृष्ट की कल्पना से गौरव होगा। अतः एक का ही अन्वय उचित है।

इस प्रकार प्रतिपदाधिकरण में एक का ही अन्वय निश्चित होने पर क्या 'सोम' का अन्वय है? अथवा 'याग' का? यह भावार्थाधिकरण का विचार है। 'सिद्ध वस्तु साध्य का साधक होता है' (सिद्धं साध्यायोदिश्यते) न्याय से सोम द्रव्य सिद्ध रूप है, याग क्रिया रूप है। अतः फल-साध्य का साधक द्रव्य ही समर्थ है, याग तो स्वयं साध्य होने से वह फल का साधक नहीं हो सकता है। इस लिए द्रव्य या गुण ही भावना करण है इस प्रकार पूर्वपक्ष का समाधान किया गया है कि भावना में जिस किसी को अन्वय करते हुए प्रमाण कहना पड़ता है। 'सोम' के अन्वय में 'सोमेन' तृतीया श्रुति प्रमाण है। याग के अन्वय में 'एकपद श्रुति' प्रमाण है एक ही 'यजेत' पद से याग और भावना प्रतिपादित हैं। अतः भावना का संनिहित याग पड़ता है। सोम भिन्न पद से प्रतिपादित होने से व्यवहित है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आख्यात वाच्य भावना में पदार्थों का अन्वय दो प्रकार से होता है—प्राथमिक अन्वय और पाष्ठिक अन्वय। [1]प्राथमिक अन्वय में सभी पदार्थ विना किसी संबन्ध से अन्वित होते हैं। अर्थात् करणत्व साध्यत्व आदि संबन्ध लिए विना ही अन्वित होते हैं क्योंकि प्रधान के साथ अन्वय सभी का

---

१ यह न्याय प्रजातन्त्र का उपयोगी है। एक दल ने अपने नेता को चुन लिया। वह सबसे प्रधान है। उसके सहयोग के लिए अन्य व्यक्ति अपनी २ योग्यता के अनुसार प्रधान नेता के पास जाते हैं। जाते हुए योग्यता के अनुरूप मन्त्रिपद प्राप्ति के इच्छुक होते हैं। किन्तु उस समय वह योग्यता अकिञ्चित्कर है। प्रधान नेता विना पक्षपात से मन्त्रि पदों पर नियुक्त कर देता है। अनन्तर गृह मंत्री के हैशियत से कोई मिलता है तो दूसरा अर्थमंत्री के रूप मिलता है, उसी प्रकार पाष्ठिक अन्वय में ही प्रमाण का उपयोग है।

त्वम् , पदश्रुतेर्बलीयस्त्वादित्युक्तम् । अतश्च सिद्धमेतद्वाक्यान्तरानालोचनदशायां गुणविधावपि धात्वर्थस्य करणत्वाशङ्कायां गुणपदे मत्वर्थलक्षणेति ।

यदा तु "अग्निहोत्रं जुहोती"ति होमविधायकं वाक्यान्तरमालोच्यते तदा होमस्य वाक्यान्तरेणैव विहितत्वात्तदुद्देशेन गुणमात्रं विधीयत इत्यालोचनान्न मत्वर्थलक्षणेति । अतएवोक्तं पार्थसारथिमिश्रै [1]राघाराग्निहोत्राधिकरणे फलतो गुणविधिरयं न प्रतीतितः—इति ।

अभ्यहित है। इस प्रकार अन्वय के पश्चात् कौन करण होगा, कौन साध्य होगा यह योग्यता के अनुसार पाष्ठिक अन्वय द्वितीय प्रकार है। प्राथमिक अन्वय में जो जिस का प्रमाण है उस का उस समय उपयोग न होने पर भी पष्ठिक अन्वय में उस का उपयोग माना जाता है। पूर्वपक्षी के कथन का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—अतश्च सिद्धमेतत् इत्यादि। अग्निहोत्र वाक्य को विना देखे 'दध्ना जुहोति' मात्र को देखकर षष्ठाध्याय प्रथमाधिकरण प्रतिपदाधिकरण और भावार्थाधिकरणों के सिद्धान्तों से परिचय रखने वालों को 'दधिमता होमेनेष्टं भावयेत्' बोध होता है। इसी विषय को बतलाने के निमित्त 'विधाने वानुवादे वा' वार्तिक प्रवृत्त हुआ है।

विचार शील व्यक्ति जिसका अग्निहोत्र वाक्य से परिचय है उसका 'दध्ना जुहोति' में मत्वर्थलक्षणा घटित बोध नहीं होगा, क्योंकि अग्निहोत्र वाक्य से होम प्राप्त हो गया है। उसका उद्देश्य कर दध्नावाक्य से दधिमात्र का विधान होता है। इस सन्दर्भ में पूर्वपक्षी पार्थसारथिमिश्र के वाक्य का प्रमाण प्रदर्शित करते हैं—'फलतो गुणविधिरयं न प्रतीतितः'। द्वितीयाध्याय द्वितीय पाद पाँचवाँ अधिकरण आघाराग्निहोत्राधिकरण कहलाता है। उस अधिकरण का यह पार्थसारथि मिश्र का वाक्य है।

पार्थसारथि मिश्र का यह तात्पर्य है कि 'दध्ना जुहोति' यह गुण विधायक वाक्य है। पूर्व कहा जा चुका है कि विधि केवल द्रव्य का विधायक नहीं होगा, जब तक द्रव्य व्यापार से संवद्ध नहीं होगा तब तक वह विधि विषय नहीं बन सकता है। अतः दधिविशिष्ट क्रिया का विधान मानना होगा। जिस क्रिया के साथ दधि का वैशिस्थ्य बनता है वह अग्निहोत्र वाक्य से प्राप्त है। 'प्राप्ताप्राप्तविवेक' न्याय से प्राप्त क्रिया होम को छोड़कर अप्राप्त गुण मात्र में विधि का पर्यवसान होता है। अतः यह 'फलतो गुणविधिरयं न प्रतीतितः' कहा गया है। अतश्च अनुवाद स्थल में दधिविशिष्ट होम का विधान अङ्गीकृत होने पर भी विशेषण मात्र में ही विधि के पर्यवसन्न होने से यह गुणविधि कहलाता है।

---

१. पू. मी. २. २. ५.

यद्वा एतद्वार्तिकमधिकारविध्यभिप्रायम् । 'उद्भिदा यजेते' त्यादीनामधिकारविधित्वात् । तत्र हि यागो विधीयताम्, उत्पत्तिवाक्यसिद्धो वानूद्यताम्, उभयथापि धात्वर्थस्य करणत्वेनान्वयात् तृतीयान्तस्य तद्वाचित्वम्, अन्यथान्वयानुपपत्तेरिति । तस्माद् गुणविधौ विनापि लक्षणामन्वयोपपत्तेर्न मत्वर्थलक्षणेति । अतश्च 'सोमेन यजेते' त्यत्र न विशिष्टविधानम्, किन्तु गुणमात्रविधानम्, यागस्तु 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते' त्यस्मिन्वाक्ये विधीयत इत्येव युक्तम् । अन्यथा मत्वर्थलक्षणापत्तेरिति ।

गुणविधि पूर्वपक्ष निराकरणम्

अत्रोच्यते—यद्यपि यागोद्देशेन सोमविधौ न मत्वर्थलक्षणा, तथापि

पूर्वपक्षी के इस वार्तिक का नयन उचित नहीं है, और पार्थसारथिमिश्र के वाक्य का यह अर्थ नहीं है कि दधि वाक्य परमार्थतः गुणविधि है आपाततः धात्वर्थविधि है—अर्थात् भ्रम है । इस भ्रमात्मक स्थिति के वर्णन के निमित्त वार्तिक प्रवृत्त हुआ है यह कहना उचित नहीं है । सर्वत्र विधि, चेतन की प्रवृत्ति कराती है । अर्थात् प्रवर्तना परक है । विधि अपने व्यापार से अन्यत्र पुरुष को प्रवृत्ति नहीं करा सकती । गुणविधिस्थल में गुण विशिष्ट व्यापार ही में विधि पुरुष को प्रवृत्ति कराती है । विशेष्य भूत वह व्यापार अग्निहोत्र वाक्य से प्राप्त हो जाने से प्राप्ताप्राप्तविवेकन्याय से गुणमात्र में विधि पर्यवसन्न हो जाती है, अतः यह 'फलातो गुण विधि' कहलाता है । यही मिश्र वाक्य का तात्पर्य है । इसलिए पूर्वपक्षी वार्तिक का नयन दूसरे प्रकार से करता है—यद्वा अधिकारविध्यभिप्रायम् । फल संबन्ध बोधक विधि को अधिकारविधि कहते हैं । उत्पत्तिविधि से कर्म प्राप्त होने पर अलग वाक्य फलसंबन्ध बोधक के रूप अलग होता है । जैसा 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' । कहीं-कहीं एक ही वाक्य उत्पत्तिविधि भी है और अधिकारविधि भी । जैसा 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' । विधि फल का विधान नहीं कर सकती, क्योंकि फल राग से प्राप्त होता है । प्राप्त का विधान करना विधि का कार्य अङ्गीकार्य नहीं है । अतः अधिकार विधि में कर्म का विधान हो चाहे अनुवाद धात्वर्थ ही करण है और उसके साथ विद्यमान तृतीयान्त पद करणवाचिता को नहीं छोड़ेगा । अतः गुणविधि में यह वार्तिक लागू नहीं होगा तो मत्वर्थलक्षणा के विना ही 'सोमेन यजेत' में गुण विधि मानने पर विशिष्ट विधि का अवसर नहीं, सोम मात्र का विधान हो जाता है, याग की प्राप्ति ज्योतिष्टोम वाक्य से हो जाती है । मत्वर्थलक्षणा से बच सकते हैं ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहता है अत्रोच्यते । याग को उद्देश्य कर सोम मात्र का विधान होने पर मत्वर्थलक्षणा का अवसर नहीं है

यागस्याप्राप्तत्वात् 'सोमेन यजेते' त्यत्र न यागोद्देशेन सोमविधानं सम्भवति। न च 'ज्योतिष्टोमेने' त्यादिना यागस्य प्राप्तत्वात्तदुद्देशेन गुणमात्रं विधियत इति वाच्यम्। तस्याधिकारविधित्वेनोत्पत्तिविधित्वानुपपत्तेः। कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः। तेन च विहितस्य कर्मणः फलविशेषसम्बन्धमात्रमधिकारविधिना क्रियते। फलविशेषसम्बन्धबोधकस्याधिकारविधित्वात्। यथा 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवती' त्येतद्विहितस्य कर्मणः फलविशेषसम्बन्धमात्रं 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते'ति वाक्यं विधत्त इति तस्याऽधिकारविधित्वं नोत्पत्तिविधित्वम्।

स्यादेतत्; 'दर्शपूर्णमासाभ्या' मित्येतस्य नोत्पत्तिविधित्वं सम्भवति,

---

लेकिन उद्देश्य याग की प्राप्ति होने पर यह गुण विधि संगत होगी। जब कि याग की प्राप्ति किसी वाक्य से प्राप्ति नहीं है तो सोमवाक्य सोम मात्र का विधायक कैसे होगा? पूर्वपक्षी ने कहा था कि ज्योतिष्टोम वाक्य को उत्पत्ति विधि मान कर प्राप्त याग को उद्देश्य कर सोम वाक्य से गुण का विधान हो सकता है, यह ठीक नहीं, क्योंकि ज्योतिष्टोम वाक्य अधिकार विधि है उत्पत्ति विधि नहीं है। उत्पत्ति विधि उसे कहते हैं जो कर्म के स्वरूप मात्र का बोधक है। इस प्रकार के विधि से प्राप्त कर्म को उद्देश्य कर अधिकार वाक्य फल संबन्ध कराता है। फल विशेष स्वर्ग-पुत्र-पश्वादि का याग के साथ सम्बन्ध बोधक वाक्य ही अधिकार वाक्य है। इसका दृष्टान्त प्रस्तुत करता है यथा आदि से। दर्शपूर्णमास प्रकरण में छः प्रधान याग पृथक्-पृथक् वाक्य से विहित हैं—(१) 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति' (२) 'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्' (३) 'ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्' ये तीन दर्श के प्रधान याग हैं, (१) आग्नेय वाक्य से पौर्णमासी में भी आग्नेय याग का विधान है (२) 'तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्' (३) 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छत्' ये तीन याग पौर्णमासी के हैं। इन वाक्यों में कर्म के रूप द्रव्य और देवता का प्रतिपादन है अतः ये उत्पत्तिविधि कहलाते हैं। इन वाक्यों से प्राप्त छः यागों का स्वर्ग फल सम्बन्ध बोधन करते हुए अधिकार वाक्य कहलाता है 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'। दर्श शब्द से एवं पूर्णमास शब्द से तीन-तीन यागों के एक-एक समुदाय सिद्ध कर 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' द्विवचन बना है। अतः दर्शपूर्णमास वाक्य उत्पत्ति विधि नहीं है। इस दृष्टान्त से 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' यह अधिकार विधि है उत्पत्ति विधि नहीं है। ज्योतिष्टोम वाक्य कर्म स्वरूप का अज्ञात ज्ञापन नहीं करता है, किन्तु प्रमाणान्तर से ज्ञात याग का फल सम्बन्ध मात्र बतलाता है। याग का प्रमाणान्तर 'सोमेन यजेत' है। अतः यह गुण विधि नही हो सकता।

"यदाग्नेयोऽष्टाकपाल' इत्यादिवाक्यानर्थक्यापत्तेः। न हि तदा तेन कर्म विधीयते, तस्य 'दर्शपूर्णमासाभ्या' मित्यनेन विहितत्वात्; नापि गुणविधानं सम्भवति, प्राप्ते कर्मणि अनेकविधाने वाक्यभेदापत्तेः। अतः 'आग्नेयोऽष्टाकपाल' इत्यस्योत्पत्तिविधित्वं दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यस्य चाधिकारविधित्वं युक्तम्। 'ज्योतिष्टोमेन' इत्यस्य त्वधिकारविधेः 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यादिवदुत्पत्तिविधित्वेऽपि स्वीक्रियमाणे न कस्यचिदानर्थक्यम्। 'सोमेन यजेते' त्यस्य गुणविधित्वाद्यागोद्देशेन सोममात्रविधानाच्च न वाक्यभेद इति चेत्—

मैवम्। यद्यपि 'सोमेन यजेते' त्यत्र न वाक्यभेदः, तथापि 'ज्योतिष्टोमेने' त्यस्मिन्वाक्ये कर्मस्वरूपे तस्य च फलसम्बन्धे विधीयमाने गौरवलक्षणो वाक्यभेदोऽस्त्येव। 'सोमेन यजेते' त्येतद्वाक्यविहितकर्मणः फलसम्बन्धमा-

---

पुनः पूर्वपक्षी की शंका है—स्यादेतत्। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में परस्पर महान् भेद है। दर्शपूर्णमासवाक्य इसलिए उत्पत्ति विधि नहीं बन सकता है कि 'यदाग्नेयोऽष्टाकापालः' इत्यादि वाक्य अनर्थक हो जायेंगे। क्योंकि दर्शपूर्णमास वाक्य से कर्म की अवगति हो जाने पर अर्थात् उसको उत्पत्ति विधि मानने पर यदाग्नेयादि वाक्यों के द्वारा गुण विधान सम्भव नहीं। इनमें अग्नि देवता, अष्टाकपाल द्रव्य, अमावस्या पूर्णिमा आदि अनेक गुण हैं। प्राप्त कर्म को उद्देश्य मान कर अनेक गुणों का विधान सम्भव नहीं—'प्राप्ते कर्मणि' इत्यादि वार्तिक से वाक्य भेद दोष होगा। यह पूर्व कहा जा चुका है। अतः आग्नेयादि वाक्य उत्पत्ति विधि है और दर्शपूर्णमास वाक्य अधिकार विधि है। दार्ष्टान्तिक में यह बाधा नहीं है। ज्योतिष्टोम वाक्य को उत्पत्ति विधि मानने पर 'सोमेन यजेत' को गुण विधि मान सकते हैं। इस वाक्य से सोम गुण मात्र का विधान है, वाक्य भेद नहीं होगा। एवञ्च ज्योतिष्टोम वाक्य से उत्पन्न कर्म को उद्देश्य कर सोम वाक्य से सोम गुण का विधान ही उचित है। जैसा 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' आदि में उत्पत्ति और अधिकार विधि माना गया है उसी प्रकार ज्योतिष्टोम वाक्य में उभय विधि स्वीकार करने पर किसी का आनर्थक्य नहीं होता, और सोम वाक्य को गुण विधि स्वीकार करने पर वाक्य भेद या मत्वर्थलक्षणा आदि दोष नहीं होंगे।

इस शंका का निराकरण सिद्धान्ती मैवम् आदि से करता है। ज्योतिष्टोम वाक्य को उत्पत्ति विधि स्वीकार करने पर याग-फल संबन्ध विशिष्ट भावना के विधान से विध्यावृत्तिकृत वाक्यभेद, और सोम वाक्य में मत्वर्थलक्षणा आदि दोष होंगे नहीं, किन्तु ज्योतिष्टोम वाक्य में गौरवलक्षण वाक्यभेद होगा। तात्पर्य

त्रविधाने[1] तदभावात् । 'उद्भिदा यजेते' त्यत्र तु वचनान्तराभावेनागत्या तदाश्रयणम् । नच 'सोमेन यजेते' त्यत्रापि कर्मणः स्वरूपे गुणे च विधीयमाने वाक्यभेदः स्यादिति वाच्यम् । श्रूयमाणेन विधिना गुण[2]स्याविधेयत्वात्, विशेषणविधेरार्थिकत्वात् । सर्वत्र हि विशिष्टविधौ विशेषणविधिरार्थिकः । 'ज्योतिष्टोमेने' त्यस्य तूत्पत्तिविधित्वे कर्मस्वरूपं फलसम्बन्धश्चेत्युभयं श्रूयमाणेनैव विधिना विधातव्यमिति दृढो गौरवलक्षणो वाक्यभेदः । यदाहुः—

श्रौतव्यापारनानात्वे शब्दानामतिगौरवम् ।
एकोक्त्यवसितानां तु नार्थाक्षेपो विरुध्यते ।। इति ।

यह है कि वाक्यभेद विधि की आवृत्ति से भी होता है और अनेकों का अज्ञात ज्ञापन से भी होता है । जहाँ विधि अनेक विषयों में अप्रवृत्त प्रवर्तन रूप व्यापार को अपनायेगी वहाँ आवृत्ति के विना कार्य संपन्न नहीं कर सकती है इस स्थल में विध्यावृत्तिरूप वाक्य भेद समझा जाता है । इसी प्रकार जहाँ एक विधि अनेकों के अज्ञात ज्ञापन में प्रवृत्त होगी वहाँ आवृत्ति के विना कार्य संपन्न नहीं कर सकती है । इस प्रकार जहाँ एक विधि अनेकों के अज्ञात ज्ञापक में प्रवृत्त होगी वहां विधि की आवृत्ति तो नहीं होगी, किन्तु अज्ञात ज्ञापन रूप व्यापार अनेकों में होने से गौरवलक्षण वाक्यभेद माना जाता है । इसका प्रमाणभूत वार्तिक स्वयं ग्रन्थकार आगे बतायेंगे । सोमवाक्य विहित कर्म का फलसंबन्ध मात्र करने पर ज्योतिष्टोम वाक्य में गौरवलक्षण वाक्यभेद का अवसर नहीं है । यदि ज्योतिष्टोम वाक्य कर्म का विधायक भी होगा तो अज्ञात ज्ञापन दो विषयों में (कर्म और फल संबन्ध में) होगा । तब गौरव लक्षण वाक्यभेद अनिवार्य है । 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' में गत्यन्तर नहीं है । क्योंकि इसका प्रापक वाक्यान्तर नहीं है । अतः दोनों विधि माने गये हैं । यद्यपि 'सोमेन यजेत' में कर्मस्वरूप और सोमगुण के विधान से अर्थात् उत्पत्ति विधि और विनियोग विधि दो विधि मानने पड़ते हैं, तथापि विशिष्टविधि होने के कारण विधिव्यापार एक ही है, विशेषण का विधान आर्थिक हो जाता है । 'शुक्ल वाससमानय' कहने पर शुक्लवस्त्ररूप विशेषण का आनयन अर्थात् जैसा सिद्ध हो जाता है, शुक्लवस्त्र को लाओ वस्त्र वाले पुरुष को लाओ इस प्रकार दो व्यापार नहीं है वैसा सोम विशिष्ट याग के विधान से विशेषण सोम का विधान आर्थिक हो जाता है । अतः यह उत्पत्ति विधि है । ज्योतिष्टोम वाक्य उत्पत्ति विधि होने से विधि व्यापार अलग अलग ही होंगे तो वाक्यभेद सुदृढ़ है । गौरवलक्षण वाक्यभेद में प्रमाण वार्तिक को प्रस्तुत करते हैं—श्रौतव्यापारनानात्वे आदि । शब्दानां विधि

---

१ लाघवात् २ स्याविहितत्वात्

न च 'सोमेन यजेते' त्यस्योत्पत्तिविधित्वे यद्यपि न वाक्यभेदः, तथापि मत्वर्थलक्षणा स्यादेवेति वाच्यम्। तस्याः स्वीक्रियमाणत्वात्। लक्षणातो वाक्यभेदस्य जघन्यत्वात्। लक्षणा हि पददोषः, वाक्यभेदस्तु वाक्यदोषः, पदवाक्ययोर्मध्ये पदे एव दोषकल्पनाया उचितत्वात्। [1]'गुणे त्वन्याय्य-कल्पना' इति न्यायात्।

अत एव 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इत्यत्राधानानुवादेन जात-

---

शब्दों का श्रौतव्यापार श्रूयमाणविधि प्रत्यय नाना हो जाना अतिगौरव का कारण बनेगा। श्रूयमाण विधि ही कर्म की उत्पत्ति में एवं अधिकार संबन्ध में व्याप्तृत हो तो गौरव अवश्य होगा। यदि एक ही उक्ति से अर्थात् विशिष्टरूप से विधान हो तो तादृश विधियों का विशेषण विधि [2]आर्थिक होकर शब्द के गौरव को लघु बना देता है।

पूर्वपक्षी न च से फिर शंका करता है कि सोम वाक्य में यद्यपि वाक्य भेद नहीं है तथापि मत्वर्थलक्षणा तो दोष है। ज्योतिष्टोम वाक्य उत्पत्ति विधि मानने पर तुम सिद्धान्ती ने वाक्यभेद का आपादान किया है। किन्तु सोम वाक्य के उत्पत्ति विधि में लक्षणा दोष है। दोषोन्मुक्त तुम भी नही हो मैं भी न हूँ। तब सोमवाक्य गुणविधि ही रहे यह पूर्वपक्षी का आशय है। सिद्धान्ती का उत्तर है तस्याः स्वीक्रियमाणत्वात्। लक्षणा से वाक्यभेद निकृष्ट है। इसलिए वह निकृष्ट है कि समग्र वाक्य का वह दूषक है और लक्षणा वाक्य के एकदेश पद का दूषक है। वाक्य का पद अङ्ग है, अर्थात् गुण है। पहिले कहा जा चुका है 'गुणे त्वन्नायाय्यकल्पना' अर्थात् लक्षणा आदि अन्याय्य कल्पना गुणभूत में होती है।

इस विषय की उपपत्ति के लिए दृष्टान्त देते हैं—अतएव जातपुत्रः आदि। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' 'ग्रीष्मे राजन्यः' 'शरदि वैश्यः' 'वर्षासु रथकारः' इन वाक्यों से वर्णभेद और कालभेद से आधान विहित है। आधान को उद्देश्य कर 'जातपुत्रः' आदि वाक्य पुत्री और कृष्णकेश होना दो गुणों का विधान करता है। प्राप्त आधान को उद्देश्यकर दो गुणों के विधान से विध्यावृत्तिकृत वाक्यभेद होता है। उसकी अपेक्षा दोनों पदों को अवस्थाविशेष में लक्षणा समुचित है ऐसा

---

१ जै. सू ६.३.१५

२ विधि एक का विधान कर निवृत्त व्यापार हो जाता है तो विशिष्ट विधि स्थल में विशेषण विधि की कल्पना कर लेती है। सोम विशिष्ट पदार्थ एक है, एक में ही विधि व्यापार है। केवल एक का विधान कर विधिव्यापार उपरत हो जाता है। विशेषण के लिये व्यापार आर्थिक है।

पुत्रत्वकृष्णकेशत्वविधाने वाक्यभेदात् पदद्वयेनावस्थाविशेषो लक्ष्यत इत्युक्तम् । तस्माद्वाक्यभेदप्रसक्तौ लक्षणैव स्वीकार्या । तस्मात् 'सोमेन यजेत' त्ययमेवो त्पत्तिविधिर्न 'ज्योतिष्टोमेने' त्ययम्; गौरवलक्षणावाक्यभेदापत्तेः ।

किञ्च 'सोमेन यजेते' त्यत्र यागविधाने श्रुत्यर्थविधानं[1] स्यात्, गुणविधाने तु वाक्यार्थविधानम्, तच्च श्रुत्यर्थवि[2]धानसम्भवेऽयुक्तम् । यथाहुः—

वाक्यार्थविधिरन्याय्यः श्रुत्यर्थविधिसम्भवे इति ।

सिद्धान्त किया गया है । अवस्थाविशेष का तात्पर्य वयोविशेष है । दर्शपूर्णमास आदि कर्मानुष्ठान का वही वय उचित है कि जिसमें उपवास नियम आदि परिपालन किया जा सके । अतः सोमवाक्य को उत्पत्ति विधि स्वीकार कर लक्षणा मानना समुचित है; ज्योतिष्टोम वाक्य को उत्पत्ति विधि मानने पर जघन्य वाक्य भेद दोष होगा ।

सिद्धान्ती की इन बातों से पूर्वपक्षी का उचित समाधान नहीं मिलता है; क्योंकि उत्पत्ति विधि एवं अधिकार विधि का विशेष अन्तर नहीं है । उत्पत्तिविधि में फल बोधक पद न होते हुए भी विध्यर्थ प्रवर्तना की सिद्धि के लिए सामान्य रूप से इष्ट-फल का आक्षेप करना ही पड़ता है, आक्षेप के विना पुरुष को प्रवृत्त कराना विधि के लिए असाध्य हो जाता है । सामान्य फल को ही अधिकार विधि विशेषरूप से प्रस्तुत कराता है और फल की रागतः प्राप्ति होने से विधि उसको अपना विषय न बनाकर विहित होते हुए भी धात्वर्थ को ही विषय बनाती है । इधर उत्पत्ति विधि में इष्ट की कल्पना करना, उधर अधिकार विधि में विहित का विधान करना दोनों बराबर ही प्रतीत होता हैं । तब ज्योतिष्टोम वाक्य को उत्पत्ति विधि और सोम वाक्य को गुण विधि स्वीकार किया जाय, इस शंका के समाधान के लिए किञ्च सोमेन यजेत इत्यत्र आदि से सिद्धान्ती यत्न करता है । पूर्व कहा जा चुका है कि सर्वत्र विधि को अपने संनिहित धात्वर्थ के विधान में लाघव होता है । इसी को 'श्रुत्यर्थविधान' कहा गया है । 'एकपदश्रुति' का विषय हो जाने से इसको श्रुत्यर्थविधान संज्ञा है । एकपद श्रुति से लब्ध धात्वर्थ को छोड़कर अन्यत्र विधि का व्यापार हो तो वह वाक्यार्थ विधान कहलाता है । 'सोमेन' वाक्य उत्पत्ति विधि के पक्ष में श्रुत्यर्थविधान, गुणविधि के पक्ष में वाक्यार्थ विधान हो जाता है । [3]श्रुत्यर्थविधान का संभव होने पर वाक्यार्थ विधान स्वीकार करना उचित नहीं है । 'वाक्यार्थविधिरन्याय्यः श्रुत्यर्थविधिसम्भवे' यह वार्तिककार का निर्देश है । वार्तिक

---

१ स्यात् इरि नास्ति क पु   २ विधाने सम्भवति

३ भावना की करणाकांक्षा होने से एकपद श्रुति प्रमाण से धात्वर्थ उपस्थित हो कर आकांक्षा को शमन करता है । ऐसी परिस्थिति में गुण जो अन्य पद से प्रतिपादित है उस से आकांक्षा शमन मानना उचित नहीं हैं ।

वाक्यार्थः पदान्तरार्थ इत्यर्थः। 'ज्योतिष्टोमेने' त्यत्रापि फलोद्देशेन यागस्यैव विधानान्न वाक्यार्थविधानम्, तदुत्पत्तिविधित्ववादिनापि तदङ्गीकाराच्च। तस्मात् 'ज्योतिष्टोमेने' त्ययमधिकारविधिरेव।

अपि च कर्मस्वरूपविधिस्तत्र स्वीकार्यो यत्र कर्मणो रूपमुपलभ्यते। यागस्य हि द्वे रूपे, द्रव्यं देवता चेति। 'सोमेन यजेते' त्यत्र यद्यपि देवता नोपलभ्यते सोमयागस्याव्यक्तत्वात्; अव्यक्तत्वं च स्वार्थचोदितदेवता-राहित्यम्, न तु देवताराहित्यमात्रम्; 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाती' त्यादिवाक्यवि-

---

गत 'वाक्यार्थ' शब्द का विवरण है पदान्तरार्थः अर्थात् दूसरे पद से प्रतिपादित अर्थ। ज्योतिष्टोम वाक्य में भी फल को उद्देश्य कर याग का विधान श्रुत्यर्थविधान है, वाक्यार्थविधान नहीं है। तात्पर्य यह है कि अधिकार विधि में उत्पत्तिविधि से याग प्राप्त होने पर भी फलोद्देशेन उसी का विधान मानना पड़ता है। अतः वाक्यार्थविधान नहीं है। पूर्वपक्षी को भी ज्योतिष्टोम वाक्य को उत्पत्तिविधि मानते हुए श्रुत्यर्थविधान स्वीकार करना है। अतः सोमवाक्य उत्पत्तिविधि है और ज्योतिष्टोमवाक्य अधिकार विधि है।

सिद्धान्ती सोमवाक्य को उत्पत्ति विधि मानने में युक्त्यन्तर देता है— अपि च कर्मस्वरूपविधिः। याग उसे कहते है जहाँ देवता का उद्देश्य कर द्रव्य का त्याग होता हो। इससे यह सिद्ध होता है कि याग का रूप द्रव्य और देवता है। यह रूप जिस वाक्य में हो उसी को उत्पत्तिविधि मानना चाहिए। उत्पत्तिविधि होने का योग्य वाक्य 'सोमेन यजेत' ही है। यहाँ द्रव्य मात्र ही है क्योंकि यह 'अव्यक्त' याग कहलाता है। अव्यक्त शब्द का अर्थ है कि अपने लिए विधि के द्वारा विहित देवता का अभाव जिस याग में हो वह याग। देवता का विधान तीन प्रकार से माने जाते हैं—१ तद्धितान्तपद से २ चतुर्थ्यन्त पद से और ३ मन्त्रवर्ण से जैसा वार्त्तिक में कहा है—तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः। 'देवताया विधिः'। 'आग्नेयम्' 'सौर्यम्' 'मैत्रावरुणम्' आदि तद्धितान्त शब्द से देवता की विधि, 'अग्नये जुहोति' 'प्रजापतये जुहोति' इत्यादि चतुर्थ्यन्त पद से देवता विधि, और 'इन्द्र ऊर्ध्वो ऽध्वर इत्याधारमाघारयति' 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति सायं जुहोति' इत्यादि मन्त्रों से देवता विधि होती है। जिस याग में इस प्रकार विहित देवता का अभाव है वह अव्यक्त याग है। केवल देवता के अभाव होने मात्र से वह अव्यक्त याग है ऐसा नहीं समझना चाहिए, देवता के बिना कोई भी याग संपन्न नहीं होता है। वेद में सोमयाग जितने विहित हैं वे सभी अव्यक्त ही हैं। अव्यक्त याग में विहित देवता का अभाव हो तो देवता की प्राप्ति किस प्रकार होगी? उस के लिए उपाय बतलाते हैं—ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' इत्यादि। सोम यागों में सोमलता को कूट कर रस निकालते हैं। उस रस को 'द्रोणकलश' नाम के पात्र में गिरती हुई धारा

हित[1] ग्रहणदेवतानां सत्त्वात् ; ग्रहणार्थाभिरपि देवताभिः प्रसङ्गतो यागोपकारस्य क्रियमाणत्वात्, तथापि द्रव्यमुपलभ्यत एव, तेनापि यागस्वरूपं ज्ञातुं शक्यमेव । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्यत्र न द्रव्यं देवता वा श्रूयते । अतस्तस्योत्पत्तिविधित्वे यागविशेषज्ञानं यागसामान्यस्याविधेयत्वात् विशेषस्यैव विधेयत्वादित्यादिक्लेशेन स्यात् । अतो नायं कर्मोत्पत्तिविधिः ।

नन्वेवमपि 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्ययमपि होमोत्पत्तिविधिर्न स्यात्

से ग्रहण करने की विधियाँ हैं—'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' 'मैत्रावरुणं गृह्णाति' 'आश्विनं गृह्णाति' 'मन्थिनं गृह्णाति' 'शुक्रं गृह्णाति' इत्यादि । ग्रहण का अर्थ है 'ग्रहैर्जुहोति' वाक्य से विहित काष्ठमय पात्र से पकड़ना या भरना आदि । प्रत्येक देवता के लिए अलग अलग पात्र से सोमरस को ग्रहण कर हविर्धान मण्डप में क्रम से रखकर समय आने पर उसका होम होता है । यहाँ ग्रहण विधायक सभी वाक्यों में 'ऐन्द्रवायवम्' 'मैत्रावरुणम्' इत्यादि तद्धितान्त शब्द के द्वारा इन्द्र वायु आदि देवताओं के उद्देश्य से सोमरस ग्रहण करना चाहिए ऐसा बोध होता है । जैसे 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादि स्थलों में तद्धितान्त शब्दों से बोधित द्रव्य देवता संबन्ध से 'निर्वपेत्' 'आलभेत' का यागपरत्व माना जाता है वैसे 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति आदि में 'गृह्णाति' का यागपरत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'ग्रहर्जुहोति' वाक्य से गृहीत सोमरस का ग्रहों द्वारा होम विहित है । अतः यह ग्रहण यागपरक नहीं । सोम रस ग्रहण के लिए उद्देश्य रूप से आये हुए देवताओं के प्रसङ्ग से यागोपकारकत्व भी माना जाता है । प्रसङ्ग शब्द देहली दीपन्याय का परिचायक है । दूसरे के निमित्त अनुष्ठित पदार्थ के उपकार को अन्य भी उपजीवन करता हो तो वहाँ प्रसंग शब्द का प्रयोग मीमांसक करते हैं । द्वादशवें अध्याय का यही विषय है जो पूर्व कहा जा चुका है । अतः सोम याग अव्यक्त होने से देवता की प्राप्ति प्रसंग से मानी जाती है । अस्तु सोमवाक्य में देवता नहीं है किन्तु द्रव्य तो विद्यमान है । द्रव्य से भी याग का स्वरूप अवगत है हो । ज्योतिष्टोम वाक्य में द्रव्य और देवता दोनों नहीं है । ऐसी अवस्था में ज्योतिष्टोम वाक्य यदि उत्पत्ति विधि है तो याग सामान्य का बोध होगा । विधि का विषय सामान्य नहीं बनता; क्योंकि विधि, विशेष में ही पुरुष को प्रवृत्त करा सकती है, विधि सामान्य में प्रवर्तक नहीं होती । प्रवर्तकत्व सिद्ध करने के लिए विशेष खोज में लगना होगा इत्यादि क्लेश के अनुभव करने की अपेक्षा सोम वाक्य में कर्म का रूप द्रव्य विद्यमान होने से वही उत्पत्ति विधि है, और ज्योतिष्टोम वाक्य कर्मोत्पत्तिविधि नहीं हो सकता ।

अब पूर्वपक्षी सोमवाक्य में कर्म का रूप द्रव्य मिलने के कारण से उत्पत्ति विधि स्वीकार करने पर दोष का उद्भावन करता है नन्वेवमपि आदि ग्रन्थ से । द्रव्य

---

१ ग्रह

रूपाश्रवणात् । तच्छ्रवणाच्च 'दध्ना जुहोती' त्ययमेवोत्पत्तिविधिः स्यात् । तथा चाऽऽघाराग्निहोत्राधिकरणविरोधः । तत्र हि 'अग्निहोत्रं जुहोती' त्यस्योत्पत्तिविधित्वं 'दध्ना जुहोती' त्यादीनां च गुणविधित्वमुक्तमिति चेत्-सत्यम्, 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यत्र यद्यपि रूपं नोपलभ्यते, अग्निहोत्रशब्दस्य तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वात्, तदेतदग्रे वक्ष्यामः; तथापि तस्योत्पत्तिविधित्वं स्वीक्रियते, अन्यथाऽऽनर्थक्यापत्तेः दध्ना जुहोती' त्यस्य च नाऽऽनर्थक्यं,

---

श्रवण के लोभ से सोमवाक्य उत्पत्ति विधि है ऐसा मानने से 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य उत्पत्ति विधि वन नहीं सकता। इस वाक्य में न द्रव्य है न देवता ही, किन्तु 'दध्ना जुहोति' 'पयसा जुहोति' इन वाक्यों में दधि पय द्रव्य होने से इन्हीं वाक्यों को उत्पत्ति विधि मानना होगा। यदि वैसा माना जाय तो आघाराग्निहोत्राधिकरण सिद्धान्त का विरोध होगा। दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के पञ्चम आघाराग्निहोत्राधिकरण में यह विचार किया गया है कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य 'दध्ना जुहोति' पयसा जुहोति' वाक्यों से विहित कर्मों का अनुवादक है ? अथवा अग्निहोत्र वाक्य ही कर्म विधायक है। दध्यादि वाक्य गुण विधायक हैं ? यह संशय कर पूर्वपक्षी ने दध्यादि वाक्यों में द्रव्य श्रवण होने से उनको उत्पत्ति विधि सिद्ध किया। सिद्धान्ती ने अग्निहोत्र वाक्य ही उत्पत्ति विधि है और दध्यादि वाक्य गुण विधि है यदि सोम वाक्य को उत्पत्ति विधि माना जाय तो यह सिद्धान्त पूर्वोक्त सिद्धान्त के विरुद्ध होगा क्योंकि सोम वाक्य के समान दध्यादि वाक्य में ही द्रव्य श्रुत है, अतः इसी को उत्पत्ति विधि मानना चाहिए था। दध्यादि वाक्यों का उत्पत्ति विधित्व नहीं, सोम वाक्य उत्पत्ति विधि कहना संगत नहीं।

इस पूर्वपक्ष का सत्यम् आदि ग्रन्थ से समाधान किया जाता है। 'सत्यम्' अर्धाङ्गीकार में प्रयुक्त होता है[1]। अग्निहोत्र वाक्य में कर्म का रूप द्रव्य और देवता नहीं है यह सत्य है क्योंकि 'अग्निहोत्र' शब्द 'तत्प्रख्य' न्याय से कर्म का नाम है। नामधेय प्रकरण में इसका विशेष विवरण किया जायगा। रूप की उपलब्धि न होने पर भी अग्निहोत्र वाक्य ही उत्पत्ति विधि हो सकता है, अन्यथा यह वाक्य निरर्थक होगा। आनर्थक्य स्वीकार करने की अपेक्षा उत्पत्तिविधि मान कर उत्पन्न कर्म को उद्देश्य कर दध्यादि वाक्य गुण विधायक मानने पर दध्यादि वाक्य भी सार्थक होगा। पूर्वपक्षी का यह अभिप्राय था कि कर्म का रूप न होने पर भी अग्निहोत्र वाक्य जैसा उत्पत्ति विधि है वैसा ज्योतिष्टोम वाक्य में द्रव्य देवता का उल्लेख न रहने पर भी उत्पत्ति विधि हो सकता है। सिद्धान्ती का अभि-

---

१ विरोधि पक्ष के प्रश्नों का उत्तर आदर से दिया जाता है। विरोधियों की बातें भी उपादेय होती हैं। विरोधी जो कुछ कहता है वह असंगत ही हैं यह धारणा उचित नहीं। इस नीति का अवलंबन कर सिद्धान्ती उत्तर देता है।

गुणविधित्वात्। अतः 'अग्निहोत्रं जुहोति' त्ययं कर्मोत्पत्तिविधिरिति युक्तम्। 'ज्योतिष्टोमेने' त्यस्य च नाऽऽनर्थक्यम्, अधिकारविधित्वोपपत्तेः। अतः किमर्थं सम्भवति रूपवति वाक्ये कर्मविधाने तद्रहिते तत्स्वीकार्यम् ?

किं च 'दध्ना जुहोती'त्यस्य कर्मोत्पत्तिविधित्वे 'पयसा जुहोती'त्यनेनै तत्कर्मानुवादेन न पयो विधातुं शक्यते, उत्पत्तिशिष्टदध्यवरोधात्। उत्पत्तिशिष्टगुणावरुद्धे हि न गुणान्तरं विधीयते, आकाङ्क्षाया उत्पत्तिशिष्टेनैव निवृत्तत्वात्। अतस्तेनापि विशिष्टं कर्मान्तरं विधेयम्। तथाचानेकादृष्टकल्पनागौरवम्। अग्निहोत्रं जुहोती' त्यस्य तु उत्पत्तिविधित्वे एतद्वाक्य-

---

प्राय है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में भेद है अग्निहोत्र वाक्य को उत्पत्ति विधि न मानने पर उसका आनर्थक्य-निरर्थक हो जाता है, और ज्योतिष्टोम वाक्य उत्पत्ति-विधि न होने पर भी निरर्थक नहीं होता है क्योंकि रूपवाला सोम वाक्य से प्राप्त याग का फलसंबन्ध को बोधन करता हुआ सार्थक बनता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि रूप रहित वाक्य में भी उत्पत्ति विधि मानी जानी चाहिए। यह सार्थक्य नैरर्थक्य रूप विशेष से रूप रहित वाक्य में उत्पत्ति विधि मानी गयी है। रूप वाले वाक्य में जहाँ तक संभव है उत्पत्ति विधि मान लेनी चाहिए। इस प्रकार निरर्थकता दोष होने पर रूपरहित वाक्य भी उत्पत्ति विधि हो सकता है।

सिद्धान्ती अग्निहोत्र वाक्य को उत्पत्ति विधि न मानने पर एक दूसरी प्रबल बाधा प्रस्तुत करता है किञ्च दध्नाजुहोति आदि से। द्रव्य की उपलब्धि से 'दध्ना जुहोति' वाक्य दधि विशिष्ट याग का विधायक मान लिया जाय तो 'पयसा जुहोति' यह वाक्य दधियाग में पय का विधान नहीं कर सकेगा, क्योंकि दधि याग में दधि द्रव्य विद्यमान हैं। उत्पत्ति वाक्य से विहित द्रव्य के रहने पर वह वाक्यान्तर से अन्य द्रव्य को आने नहीं देता है। द्रव्य की आकांक्षा जब उसी से शान्त है तो द्रव्यान्तर का प्रवेश क्यों होगा। अतएव पयोवाक्य को भी पयोविशिष्ट यागान्तर का विधायक मानना होगा। यागान्तर मानने से क्या दोष है ? जैसे दधि वाक्य कर्म विधायक है वैसे पयोवाक्य भी कर्म विधायक हो। दोनों के विशिष्ट कर्म विधायक होने पर अनेक अदृष्टों की कल्पना होगी क्योंकि इन कर्मों का उद्देश्य फल है। वह कालान्तर में ही होगा। फल का जनक कर्म कालान्तर तक रहने वाला न होने से प्रत्येक कर्म से अदृष्ट स्वीकार करना होगा। अस्तु, अनेक अदृष्ट स्वीकार हो ? क्या हानि है ? हानि इस बात की होगी कि दोनों यागों का भेद 'गुणात्' सिद्ध करना पड़ेगा, जैसे 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' 'वाजिभ्यो वाजिनम्' में आमिक्षा द्रव्यक याग से वाजिन-

विहितस्य कर्मणो द्रव्याकाङ्क्षायां युगपदेव खलेकपोतन्यायेन 'दध्ना जुहोति' 'पयसा जुहोति' इत्यादिवाक्यैर्गुणा विधीयन्त इति नानेकादृष्टकल्पनागौरवम् अतो'ऽग्निहोत्रं जुहोती'त्ययमुत्पत्तिविधिः 'पयसा जुहोती'त्यादयस्तु गुणविधय इति युक्तम् ।

'सोमेन यजेते'त्यत्र तु रूपवति वाक्ये कर्मोत्पत्तिविधाने स्वीक्रियमाणे न किंचिद्दूषणं, पक्षद्वयेऽप्येकस्यादृष्टस्य तुल्यत्वात् । तस्माद्युक्तं सोमेन यजेतेत्ययमेवोत्पत्तिविधिरित्यलमनया विधिनिरूपणानुगतप्रसङ्गचिन्तया । प्रकृतमनुसरामः । तत्सिद्धं विधिः प्रयोजनवन्तमप्राप्तमर्थं विधत्त इति ॥

द्रव्यक याग का भेद है उसी प्रकार दधिद्रव्यक याग से पयोद्रव्यक याग भिन्न है । इन भिन्न कर्मों का फलसम्बन्ध बोधक अधिकार वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' नहीं बन सकता है, दधि पयो द्रव्यक यागों का 'अग्निहोत्र' नाम किसी वाक्य से सिद्ध नहीं है । आमिक्षा और वाजिन द्रव्यक यागों का 'वश्वदेवेन यजेत' से सिद्ध है, क्योंकि आमिक्षा यारा में विश्वदेव देवताओं का संबन्ध सिद्ध है । इसलिए वैश्वदेव नाम से वे याग व्यवहृत हो सकते हैं । इसलिए दधिपयोयागों में विश्वजिन्याय से ही फल कल्पना करनी होगी । इस प्रकार अनेक कल्पनाओं का प्रसंग होगा यदि दधिपयोवाक्यों का यागविधायकत्व माना जाता है । अग्निहोत्र वाक्य को उत्पत्तिविधि मानने पर द्रव्य की आकांक्षा होगी और उक्त आकांक्षा होने पर दधि वाक्य तथा पयोवाक्य खले कपोत न्याय से खलिहान में जैसे धान खाने के निमित्त सब कपोत एक साथ उपस्थित होते हैं उस प्रकार एकसाथ उपस्थित होकर द्रव्य के समर्पक बन सकते हैं । ऐसा स्वीकार करने में अनेक अदृष्ट नहीं होंगे, क्योंकि ये दोनों द्रव्य एक साथ उपस्थित होते हुए भी एक ही प्रयोजन रूप याग के संपादन में साधन होने से विकल्प सिद्ध हो जाते हैं—जैसा 'एकार्थास्तु विकल्पेरन्' यह न्याय कहता है । विकल्पित द्रव्यों में एक का ही ग्रहण होता है, अतएव नानादृष्ट की प्रसक्ति नहीं है । अतः सिद्ध हुआ कि अग्निहोत्र वाक्य उत्पत्ति विधि है, और दध्यादि वाक्य गुणविधि हैं । 'सोमेन यजेत' यह रूपवान् है अतः यही उत्पत्ति विधि है, ऐसा स्वीकार करने पर पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त पक्ष में अनेक अदृष्ट कल्पना दोष नहीं होगा; क्योंकि गुणविधिपक्ष में सोम, याग संपादक होकर दृष्टफल जनक है, विशिष्ट विधि पक्ष में याग का फल संपादन में एक अदृष्ट की कल्पना होती है । अतः सिद्ध हुआ कि सोमवाक्य विशिष्ट विधि है और विशिष्ट विधि होने से मत्वर्थलक्षणा-स्वीकार करना आवश्यक है । इससे यह निरूपित हुआ कि वेद के विधि भाग स्वर्ग आदि प्रयोजन वाले यागों का विधान करते हुये स्वयं प्रयोजनवान् होते है ।

स च विधिश्चतुर्विधः—उत्पत्तिविधिः, विनियोगविधिः, प्रयोगविधिः अधिकारविधिश्चेति ।

(उत्पत्तिविधिनिरूपणम्)

तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः, यथा—अग्निहोत्रं जुहोतीति । उत्पत्तिविधौ च कर्मणः करणत्वेनैवान्वयः–होमेनेष्टं भावयेदिति । न तु होमं कुर्यादिति साध्यत्वेन । तथा सति साध्यस्य साध्यान्तरान्वयायोगे-नाधिकारवाक्यावगतफलसंबन्धो न स्यात् । करणत्वेन त्वन्वये होमेनेष्टं भावयेत्' किं तदिष्टमित्याकांक्षायां फलविशेषसंबन्धो घटते ।

न च उत्पत्तिविधाविष्टवाचकपदाभावेन कर्मणा इष्टं भावयेदिति कथं वाक्यार्थ इति वाच्यम् । विधिश्रुतेरेवेष्टबोधकत्वात् । सा हि[1] पुरुषार्थे

चार प्रकार की विधियाँ

यह विधि चार प्रकार की होती है—(१) उत्पत्ति विधि (२) विनियोग विधि (३) प्रयोग विधि और (४) अधिकार विधि ।

उत्पत्ति विधि

कर्म स्वरूप की अवगति के पश्चात् यह कर्म किस द्रव्य किस देवता के लिए किस मन्त्र से किन अंगों से करना है ऐसी अपेक्षा होने पर विनियोगविधि प्रवृत्त होती है । पदार्थों के विनियोग के पश्चात् इन पदार्थों का किस क्रम से अनुष्ठान होगा ऐसी आकांक्षा होने पर प्रयोग विधि प्रवृत्त होगी । प्रयोग से अनुष्ठेय पदार्थों की इयत्ता के अवगत होने पर इस कर्म के अनुष्ठान में अधिकारी कौन है ? ऐसी अपेक्षा होती है । इसका पूरक है अधिकार विधि । इन सब विधियों का मूल है उत्पत्तिविधि । अतः उसका प्रथम स्थान है । जिस वाक्य से कर्म-याग-दान-होम का स्वरूप मात्र का ज्ञान होता है वह उत्पत्तिविधि है । जहाँ एक वाक्य में ही कर्म-गुण और फल बोधित हों वहाँ कर्मांश से उत्पत्ति गुणांश से विनियोग और फलांश से अधिकार विधियाँ मानी जा सकती हैं, उत्पत्तिविधि में नियम है कि भावना में कर्म-धात्वर्थ ही करण होता है । जुहोति, ददाति यजते का होमेन भावयेत् दानेन भावयेत् यागेन भावयेत् बोध होता है । यदि होमं भावयेत् दानं भावयेत्, यागं भावयेत् बोध होगा तो साध्य होम आदियों का स्वर्ग आदि साध्यान्तर से सम्बन्ध घटेगा नहीं । ये वाक्य सब व्यर्थ होंगे । अतः उत्पत्तिविधि में धात्वर्थ करणत्व से अन्वित होगा । उत्पत्तिविधि में फल का निर्देश न होने पर भी सामान्य इष्ट का आक्षेप कर यागेन इष्टं भावयेत् आदि बोध कर लेना पड़ता है, अन्यथा विधि

---

१ पुरुषार्थं प्रति

पुरुषं प्रवर्तयन्ती कर्मणः फलसंबन्धमात्रं बोधयति। तस्माद्युक्तमुत्पत्तिविधौ कर्म करणत्वेनान्वेतीति।

अत एवो'द्भिदा यजे ते'त्यादौ तृतीयान्त उद्भिच्छब्द उपपद्यते—उद्भिदा यागेन इष्टं भावयेत् इत्यन्वयोपपत्तेः। येषामपीष्टसाधनत्वं लिङर्थः, तेषामपि तृतीयान्तानां कर्मनामधेयानामन्वयोऽनुपपन्न एव। न हि संभवति याग इष्ट

की प्रवर्तकता सिद्ध न होगी और विधियाँ अनर्थक होंगी। इसलिए विधिवाक्य में इष्ट बोधक पद के न होने पर भी विधिगत प्रवर्तकत्व सिद्धि के लिए इष्ट का आक्षेप कर विधि की पुरुष प्रवर्तकता को सिद्ध करना है। अतः उत्पत्तिविधि में कर्म का भावना में अन्वय करणत्व से ही करना होगा।

इस विषय का संवाद प्रदर्शक ग्रन्थ है—अतएव उद्भिदा। उत्पत्तिविधि में कर्म का करणत्वेन अन्वय में संवाद है—'उद्भिदा यजेत'। 'त' प्रत्ययार्थ भावना में धात्वर्थ याग का करणत्वेन अन्वय करने पर 'यागेन भावयेत्' बोध हुआ। उद्भिच्छब्द याग का नाम तृतीयान्त है—'उद्भिदा यागेन' अन्वय ठीक हो जाता है। यदि धात्वर्थ का साध्यत्व आदि से अन्वय होता तो 'उद्भिदा' तृतीयान्त की उपपत्ति नहीं होती। अतः कर्म का करणत्वेन अन्वय उचित है। मण्डन मिश्र वैयाकरण तथा नैयायिक आदि ने इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ माना है उनके मत में तृतीयान्त नाम पद का अन्वय संगत नहीं होता यह दिखाते हैं येषामपीष्टसाधनत्वम्। 'उद्भिदा यजेत' में 'त' प्रत्यय का अर्थ इष्टसाधनत्व, धात्वर्थ याग, याग मेरा इष्ट-साधन है ऐसा बोध होने पर तृतीयान्त उद्भिच्छब्द के अन्वय से 'उद्भिदा यागो मदिष्टसाधनम्' बोध होगा। यहाँ नाम की संगति नहीं होती है। इसलिए संगति नहीं होती है कि 'उद्भिदा' की तृतीया करणकारकार्थक है, कारकों का क्रिया के साथ ही अन्वय माना गया है, क्रिया निर्वर्तक को ही कारक कहते हैं। यदि 'त' प्रत्यय का प्रवर्तना अर्थ मान कर उसके भाव्य आर्थी भावना में धात्वर्थ का करणत्वेन अन्वय करते हैं तब 'उद्भिदा यागेन' बोध संगत हो जाता है। पहले कहा जा चुका है कि तृतीया विभक्ति के लिङ्ग संख्या कारक रूप तीन अर्थों में कारक प्रधान है। अतः यह लिङ्ग या संख्या में अन्वित होने योग्य नहीं है, क्योंकि जो अन्वित होता है वह अप्रधान होता है। इस प्रकार लिङ्ग और संख्या में प्रधानता आ जायगी। उस परिस्थिति में 'प्रकृतिप्रत्ययौ' स्मृति का बाध होगा। यह स्मृति प्रत्ययार्थों में कारक का प्राधान्य बोधन करती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि कारक लिङ्ग और संख्या के साथ अन्वयायोग्य है, क्रिया के साथ ही उसका अन्वय करना है। 'क्रिया' से तात्पर्य है आख्यातार्थ भावना, उसमें धात्वर्थ करण है—'यागकरणिका भावना' यह बोध हुआ। 'यागकरणिका' का अर्थ है—याग करण है जिसका ऐसी भावना। भावना विशेष्य है याग उसका

साधनमुद्भिदेति, तृतीयोपात्तस्य कारकस्य लिङ्गसंख्यान्वयायोग्यस्य क्रिययैवान्वयात् ।

ननु—तवाप्य'ग्निहोत्रं जुहोती'त्यादिषु कर्मोत्पत्तिविधिषु द्वितोयान्तानां कर्मनामधेयानामन्वयोऽनुपपन्नः, न हि संभवति होमेन भावयेदग्निहोत्रमिति । सत्यम् ; श्रूयमाणा तावद्द्वितीयाऽर्थाद्धिप्रसाध्यत्वानुवादः, होमस्य हि करणत्वेनान्वयात् असाधितस्य च करणत्वानुपपत्तेः तस्याश्चानन्वयोपस्थितौ

प्रकार-विशेषण है। इतना बोध होने पर 'उद्भिदा' का अन्वय किस रूप से है यह विचार करना है। तृतीया करणवाचिनी और उसका अन्वय क्रिया अर्थात् भावना के साथ ही करना है। शाब्दबोध में पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति को कारण माना गया है। जैसे—'घटत्व प्रकार-विशेषण है ऐसा विशेष्य घट' इस रूप के शाब्द बोध के लिए 'घट' पदजन्य उपस्थिति की कारणता है, वैसे ही तृतीया विभक्ति से बोधित अर्थ प्रकार विशेषण है जिसका इस शाब्द बोध के लिए 'आख्यात' पद जन्य उपस्थिति की कारणता है। इस कार्यकारण भाव से कारक का क्रिया के साथ ही अन्वय करना होगा। अतः सिद्ध हुआ कि जिनके मत में इष्टसाधनत्व विध्यर्थ है उनके मत में तृतीयान्त उद्भिदा पद का अन्वय अनुपपन्न है।

पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है ननु तवापि से। तृतीयान्त उद्भिच्छब्द की अनुपपत्ति तो है किन्तु आप सिद्धान्ती 'अग्निहोत्रं जुहोति' में क्या करोगे। यहाँ अग्निहोत्र शब्द नामधेय है और वह द्वितीयान्त है। भावना में धात्वर्थ करण है और 'होमेन भावयेत् अग्निहोत्रम्' शाब्दबोध होगा। यह भी तो अनुपपन्न है। यही अनुपपत्ति 'आघारमाधारयति' 'आज्याभागौ यजति' 'समिधो यजति' इत्यादि अनेक द्वितीयान्त नामधेय के वाक्यों में भी विद्यमान है।

सत्यम् से समाधान किया जाता है। हम दोनों की अनुपपत्ति बराबर है, यदि हम द्वितीया की तृतीया में लक्षणा करेंगे तो आप तृतीया की प्रथमा में लक्षणा करके 'उद्भिद्यागो मदिष्टसाधनम्' बोध कर लेंगे, यह सत्य है। किन्तु सिद्धान्ती के मेरे मत में कुछ विशेषता है। वह यह है कि भावना में धात्वर्थ का अन्वय करण रूप से किया जाता है। करण वह ही बनता है जो सिद्ध हो चुका हो। 'नासाधितं कारणम्' न्याय है अर्थात् जो असाधित सिद्ध नहीं किया गया है वह करण नहीं बनेगा। सिद्ध होने के पूर्व उस की साध्यावस्था माननी पड़ती है। साध्य होकर जब सिद्ध हो जाता है तब वह करण बनने के योग्य होता है, अन्यथा उसका करणत्व अनुपपन्न होगा। इसलिए धात्वर्थ गत जो साध्यत्व उसका आर्थिक आक्षेप करना पड़ेगा, आक्षिप्त साध्यत्व का यह अनुवादक है 'अग्निहोत्र' में द्वितीया जैसा कि 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' इत्यादि स्थल में 'निर्वपति' पद याग का अनुवादक

सा 'सक्तून् जुहोती' तिवत् तृतीयार्थे लक्षयति–अग्निहोत्रेण होमेनेष्टं भावये-दितीत्युक्तं पार्थसारथिमिश्रैः। अतश्च द्वितीयान्तानां कर्मनामधेयानामन्वयो नानुपपन्नः। तत्सिद्धमुत्पत्तिविधौ क ˚ करणत्वेनान्वेतीति।

(विनियोगविधिनिरूपणम्)

अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः। यथ–दध्ना जुहोतीतिति। स हि तृतीयाप्रतिपन्नाङ्गभावस्य दध्नो होमसम्बन्धं विधत्ते–दध्ना होमं भावयेदिति।

होकर भावना में अनूदित याग का करणत्वेन अन्वय तथा 'सौर्यं चरु' की द्वितीया को करण में लक्षणा कर 'सूर्यदेवताकचरु द्रव्यक यागेन ब्रह्मवर्च्चसं भावयेत्' बोध होता है उसी प्रकार 'अग्निहोत्रं' द्वितीया को तृतीया में लक्षणा मानकर 'अग्निहोत्रेण होमेन इष्टं भावयेत्' बोध हो जाता है। यह स्थिति 'उद्भिदा यजेत' में नहीं है। यह उत्पत्तिविधि होने के कारण धात्वर्थ करण निश्चित है। इष्टसाधनत्वरूप विध्यर्थ के अनुसार 'यागो मदिष्टसाधनम्' बोध में 'उद्भिदा' तृतीया को प्रथमान्त लक्षणा मानकर उद्भिद्यागो मदिष्टसाधनम् कहना होगा अनन्तर आख्यातार्थ भावना में धात्वर्थ को करणत्वेन अन्वय कर उसके साथ सामानाधिकरण्य से उद्भिच्छब्द का अन्वय होगा भावार्थाधिकरण न्याय से पूर्वोक्त अन्वय आवश्यक है। सिद्धान्ती के पक्ष में सक्तुन्याय भी अनुकूल है। जैसे सक्तु न्याय 'आञ्जलिना प्रादाव्ये सक्तून् जुहोति' समग्र वाक्य है। यहाँ 'प्रादाव्य' का अर्थ है दावाग्नि। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' के समान सक्तु का यह होम संस्कार जैसा प्रतीत होता है भूतभाव्युपयोगि हि द्रव्यं संस्कारमर्हति' न्याय से उसी द्रव्य का संस्कार संभव है जिसका उपयोग हो चुका हो या होने वाला हो सक्तु के विषय में भूत या भावि उपयोग नहीं है। अतः संस्कार कर्म अनुपपन्न है। इसलिए द्वितीया को तृतीया में लक्षणा मानकर 'सुक्तुभिर्जुहोति' प्रधान कर्म स्वीकार किया गया है। इस न्याय से 'अग्निहोत्रं' को तृतीया में लक्षणा मानकर अग्निहोत्र होम से इष्ट का संपादन करें यह बोध सुलभ है। इस लिए तृतीयान्त नामधेयों की जो अनुपपत्ति है वैसी द्वितीयान्त नामों की अनुपपत्ति नहीं है। इतने संदर्भ से सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति विधि में धात्वर्थ का भावना में करणत्वेन अन्वय होता है।

विनियोगविधि

उत्पत्ति विधि निरूपण के अनन्तर क्रम प्राप्त विनियोग विधि को निरूपण करते हुए विनियोग विधि का लक्षण अङ्ग प्रधान सम्बन्ध बोधकः किया जाता है। विनियोग का अर्थ है अंगत्वेन अन्वयः अंग और प्रधान का संबन्ध जिस विधि से अवगत होता है वह विनियोग विधि है। जैसे 'दध्ना जुहोति' वाक्य दधि और होम का संबन्ध बोधित करता है। 'दध्ना' तृतीया से ज्ञात होता है दधि अंग है,

एतस्य च विधेः सहकारिभूतानि षट् प्रमाणानि—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरण-स्थानसमाख्यारूपाणि। एतत्सहकृतेन विधिना अङ्गत्वं परोद्देशप्रवृत्तकृति-व्याप्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते।

(श्रुतिनिरूपणम्)

तत्र निरपेक्षो रवः श्रुतिः। सा च त्रिविधा—विधात्री, अभिधात्री, विनि-योक्त्री चेति। तत्र विधात्री लिङाद्यात्मिका। अभिधात्री व्रीह्यादिश्रुतिः। यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव सम्बन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री। सा च

तादृश दधि का होम के साथ संबन्ध बोधक विधि है। अतः यह विनियोग विधि है तृतीया करणत्वरूप साधनत्व का वाचक है। उसका 'जुहोति' विधि विधान करती है। 'हु' धात्वर्थ होम अग्निहोत्र वाक्य से प्राप्त होम का अनुवादक है दधि से होम का निष्पादन करो 'दध्ना होमं भावयेत्' बोध हो जाता है।

इस विनियोग विधि के सहायक प्रमाण छः हैं—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या। इन प्रमाणों की सहायता से विधि अङ्गाङ्गिभाव का बोधन करती है। विधि अङ्गत्व का विधान करती है और ये प्रमाण विधेय के समर्पक हैं। अङ्गत्व का लक्षण ग्रन्थकार बतला रहा है—परोद्देशप्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वम्। पर पद अन्यपरक है। अन्य को उद्देश्य कर प्रवृत्त जो पुरुष उसकी कृति यत्न, उसका व्याप्य अर्थात् कारक रूप से संबन्धी पदार्थ अङ्ग है। अन्य पद से स्वर्ग आदि फल, उसकी प्राप्ति के उद्देश्य से प्रवृत्त पुरुषकृति का सम्पादक है होम आदि। अतः होम आदि अंग हैं। इसी प्रकार अन्य पद से होम आदि को लेकर उसके उद्देश्य से प्रवृत्त पुरुष-कृति का संपादक है दधिपय आदि द्रव्य अङ्ग हैं। इसी प्रकार व्रीहि आदि द्रव्यसंस्कार उद्देश्य से प्रवृत्त पुरुष कृति का संपादक है प्रोक्षण आदि अङ्ग हैं। इस प्रकार अङ्गत्व का परिचय होता है। महर्षि जैमिनि (सूत्रकार) ने 'परार्थः शेषः' सूत्र से अङ्गत्व का परिचय दिया है। पर-इतर अर्थ-प्रयोजन है जिसका वह शेष-अङ्ग है। ग्रन्थकार का लक्षण और सूत्रकार का लक्षण अर्थतः एक ही है। पारार्थ्यापरपर्यायः पारार्थ्य ही है अपरपर्याय-वाचक शब्द जिसका वही अङ्ग है। यही विधि के द्वारा ज्ञापित होता है।

श्रुति

श्रुति का लक्षण है निरपेक्षो रवः। जो शब्द इतर की अपेक्षा किये विना अङ्गताबोधक है वह श्रुति है। लिङ्ग-वाक्य आदि प्रमाण इतर की अपेक्षा रखते हुए अङ्गता के बोधक हैं। अतः सिद्ध हुआ कि प्रमाणान्तर की अपेक्षा न करता हुआ विनियोजक शब्द श्रुति है। वह तीन प्रकार की है=विधात्री अभिधात्री विनियोक्त्री। लिङ् आदि विधायकप्रत्यय-विधात्री श्रुति है और व्रीहि आदि पद अभिधात्री श्रुति है। ये दोनों प्रकृत विनियोगविधि के सहकारी नहीं हैं, क्योंकि

त्रिधा—विभक्तिरूपा, समानाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति। तत्र विभक्ति-श्रुत्याङ्गत्वं यथा—'व्रीहिभिर्यजेते'ति तृतीयाश्रुत्या व्रीहीणां यागाङ्गत्वम्।

न च उत्पत्तिशिष्टपुरोडाशावरुद्धे यागे कथं व्रीहीणामङ्गत्वमिति वाच्यम्। पुरोडाशप्रकृतितयोपपत्तेः, पशोरिव हृदयादिरूपहविष्प्रकृतितया यागाङ्गत्वम्। न च साक्षात्पशोरेवाङ्गत्वं किं न स्यादिति वाच्यम्, तस्य विशसनात्, अवदीयमानत्वाच्च हृदयादीनाम्। अवदीयमानं हि हविः, यथा पुरो-

---

इनसे अङ्गता का परिचय नहीं होता है। विनियोक्त्री श्रुति ही इस विधि को सहायता पहुँचाती है। अतएव उसका लक्षण ग्रन्थकार प्रदर्शित करते हैं—यस्य च शब्दस्य आदि। जिस शब्द के सुनने से ही अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध जाना जाता है वह शब्द विनियोक्त्री श्रुति है। यह भी तीन प्रकार की है—विभक्तिरूपा समानाभिधानरूपा और एकपदरूपा। जितनी विभक्तियाँ हैं वे सभी श्रुति हैं विभक्ति से स्पष्टतया अङ्गता का ज्ञान कराने के लिए प्रथम तृतीया श्रुति का उदाहरण देते हैं 'व्रीहिभिर्यजेत'। यह वाक्य दर्शपूर्णमास प्रकरणगत है। दर्शपूर्णमास याग के उत्पत्तिवाक्य पूर्व लिखे जा चुके हैं। उनसे प्राप्त यागों का 'यजति' पद अनुवादक है। 'त' प्रत्यय विधि है। आख्यात का अर्थ भावना है। उसमें यज् धात्वर्थ याग साध्य होकर अन्वित होता है—यागं भावयेत् बोध हुआ। यागकी द्रव्याकांक्षा की पूर्ति के लिए यह विधि व्रीहि द्रव्यों का विधान करती है—'व्रीहिभिः यागं भावयेत्' बोध होता है। 'व्रीहिभिः' तृतीया ने व्रीहिगत अङ्गत्व का अवगमन कराया, और 'यागं' उद्देश्य हुआ तो वह अङ्गी हुआ। इस प्रकार तृतीया विभक्ति अंगांगिभाव की बोधक है।

यहाँ प्रश्न होता है कि दर्शपूर्णमास के उत्पत्ति वाक्य 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति' 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालम्' इत्यादि में अष्टाकपाल पुरोडाश एवं एकादशकपाल पुरोडाश ही द्रव्य उपदिष्ट हैं। पुरोडाश पिष्टमय होता है। उसमें व्रीहि जो सतुष द्रव्य है उसका विधान कैसे हो सकता है? क्योंकि उत्पत्तिवाक्य में उपदिष्ट द्रव्य रहते हुए उत्पन्न वाक्य से उद्दिष्ट द्रव्य का निवेश असंभव है। इस प्रश्न का उत्तर दिया जाता है—पुरोडाशप्रकृतितयोपपत्तेः। पुरोडाश पिष्ट से निर्मित होता है। पिष्ट को किसी प्रकृति द्रव्य की अपेक्षा रहती है। व्रीहि यव नीवार प्रियङ्गु आदि प्रकृति द्रव्य होते हैं। इनमें किसी न किसी की प्राप्ति होने पर 'व्रीहिभिर्यजेत' वाक्य व्रीहि का नियम करता है अर्थात् जिस किसी द्रव्य का पिष्ट न लेकर व्रीहि का ही ग्रहण किया जाय। यहां यह ज्ञातव्य है कि द्रव्य विधायक जितने हों वे सभी नियम विधि होते हैं—'सर्वे द्रव्यविधयो नियमविधयः'। इस प्रसंग में दृष्टान्त दिया जाता है—पशोरिव हृदयादिहविष्प्रकृतितया। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'

डाशादिः, "मध्यात्पूर्वार्धाच्चावद्यती"ति वाक्यात्। हृदयादीनि चावदीयमानानि, न पशुः, 'हृदयस्याग्रेऽवद्यती'ति वाक्यात्। अतो हृदयादीन्येव हवींषि, पशुस्तु प्रकृतिद्रव्यम्।

पात्नीवतयागे तु साक्षात्पशुरेवाङ्गम्। तस्य जीवत एव 'पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजति' इत्युत्सर्गविधानात्। यत्र तु विशसनं तत्र पशुः प्रकृति-

---

वाक्य से अग्नि और सोमदेवताक[1] पशुद्रव्यक[2] याग का विधान है। विधिवाक्य से पशु याग का साक्षात् द्रव्य अवगत होता है, किन्तु 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः' आदि वाक्य से अङ्गों का अवदान विहित है। इसलिए हृदयादि हवि के प्रकृति के रूप से पशु यागाङ्ग जैसा माना जाता है उसी प्रकार व्रीहियों का पुरोडाश प्रकृति द्रव्य के रूप से यागाङ्गत्व स्वीकार करना है: यद्यपि दृष्टान्त में पशु के साथ देवता का साक्षात् संबन्ध है 'अग्नीषोमीयं पशुम्', पुरोडाश (पिष्टमय) के साथ 'आग्नेयम्' देवता का संबन्ध है तो व्रीहियों की प्रकृति-द्रव्यता उपपन्न है। पशु में साक्षात् ही पशु याग का द्रव्य हों सकता है, तथापि तस्य विशसनात् पशु का 'पशुं विशास्ति' से विशसन विहित है, विशसन का अर्थ है काटना। विशसन से विहित अंगों का अवदान होता है, अवदान संस्कार से संस्कृत अंग ही 'हवि' कहलाती है। जैसे पुरोडाश का 'मध्यादवद्यति' 'पूर्वार्धादवद्यति' वाक्यों से पुरोडाश के मध्य पूर्वार्ध भाग से अवदान कर उसी को हवि माना जाता है उसी तरह हृदय आदि अंग अवदीयमान होने से वे ही हवि हैं। पशु यदि साक्षात् द्रव्य हो तो उसका देवता के लिए साक्षात् त्याग हो जाने पर हृदय आदि अंगों का अवदान असंगत हो जायगा। अतः हृदय आदि अवदत्त द्रव्य ही याग के अंग हैं, पशु उनका प्रकृति द्रव्य है।

इस संदर्भ से सिद्ध हुआ कि जहाँ विशसन अवदान हैं वहाँ याग का पशु प्रकृति द्रव्य है, जहाँ वे नहीं हैं वहाँ साक्षात् पशु द्रव्य हो सकता है। जैसा 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत' विहित त्वष्ट्रयुपपत्नवद्देवताक पशुयाग है। इस प्रकरण में 'पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजति' वाक्य से उस पशु का उत्सर्ग-छोड़ देना विहित है। उत्सर्ग मात्र से याग संपन्न हो जाता है, अवशिष्ट अंगों का अनुष्ठान नहीं होगा। यह याग अग्नीषोमीय पशुयाग का विकृतियाग है। अतः अतिदेश से सभी अंगों की प्राप्ति होते हुए भी 'पर्यग्निकृतमुत्सृजति' से उत्सर्ग विधान से[3] पर्यग्नि-

---

१ पशुशब्द से सर्वत्र छाग ही का ग्रहण होता है षष्ठ अध्याय के अन्तिम अधिकरण में जैमिनी का अनुशासन है।

२ आलभति शब्द का शक्यार्थ स्पर्श है। द्रव्य और देवता के संबन्ध से याग में लक्षणा मानी जाती है।

३ पर्यग्निकरण शब्द का अर्थ है ज्वलदंगारों से पशु का भ्रामण अर्थात् घुमाना।

द्रव्यमित्येव सिद्धम्। एवं व्रीहयोऽपि प्रकृतिद्रव्यतया यागाङ्गं तृतीया-श्रुत्येति।

आरुण्यस्यापि क्रयाङ्गत्वं तृतीयाश्रुत्या। न चामूर्तस्य तस्य कथं क्रयाङ्गत्वमिति वाच्यम्। एकहायनीरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा तदुपपत्तेः।

'व्रीहीन् प्रोक्षती'त्यत्र प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं द्वितीयाश्रुत्या। तच्च

करणान्त ही अंगों का अनुष्ठान किया जाता है। इसलिए पात्नीवत पशुयाग का साक्षात् द्रव्य हो सकता है। एवञ्च 'व्रीहिभिर्यजेत' से विहित व्रीहिद्रव्य पुरोडाश की प्रकृति है।

विभक्तिश्रुति प्रमाण से द्रव्य के यागाङ्गत्व का निरूपण किया गया। अब श्रुति प्रमाण से गुणरूप के अङ्गत्व का निरूपण किया जा रहा है आरुण्यस्यापि क्रयाङ्गत्वम्। ज्योतिष्टोम (सोम) याग में याग का द्रव्य सोम द्रव्य विनिमय-क्रय से खरीदा जाता है। क्रय के लिए वासः प्रभृति दस द्रव्य विहित हैं। उनमें गौ भी एक द्रव्य है। उसका 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' से विधान है। इस वाक्य में 'पिङ्गाक्ष्या 'एकहायन्या' दोनों पद बहुव्रीहि समास से विशेष्य गौ के वाचक हैं। आरुण्य शब्द गुणवाचक है। 'अरुणया' में तृतीया विभक्ति अरुण गुण गत साधनत्व की बोधक है। जैसे व्रीहिगत यागाङ्गत्व की 'व्रीहिभिः' तृतीया बोधक है उसी प्रकार 'अरुणया' में विद्यमान तृतीया अरुण गुण के क्रयाङ्गत्व को बोधित करती है—अरुण गुण से सोम क्रय करो। यह कैसे संभव है? क्योंकि द्रव्य विनिमय से क्रय किया जाता है, अरुण गुण का विनिमय संभव नहीं। पिङ्गाक्षी और एकहायनी गो वाचक हैं उनके विनिमय में बाधा नहीं। अतः आरुण्य का क्रयाङ्गत्व कैसे हो सकता है? इस शंका का उत्तर दिया जाता है—**एकहायनीरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा।** पूर्व कहा जा चुका है कि आख्यातार्थ भावना में पदार्थों का दो प्रकार से अन्वय होता है—एक प्राथमिक दूसरा पाष्ठिक। प्राथमिक अन्वय में पदार्थों का विशेष्य-विशेषण भाव नहीं रहता। सभी स्वतन्त्र होकर भावना से मिलते हैं। आरुण्य का भी करणत्वेन अन्वय हुआ, अन्वित होकर भी योग्यता के अभाव से भावना का उपकार न कर सका। तदनन्तर योग्यता का अन्वेषण करने पर भावना व्यवस्था करती है कि तुम वाक्य में विद्यमान एक-हायनी गोद्रव्य के विशेषण बनकर मेरे पास आओ, तुम उपकारक बन सकते हो[१]। अतः पाष्ठिक अन्वय गो के साथ करके क्रय का करण आरुण्य हो जाता है।

द्रव्य और गुण का अङ्गत्व तृतीया श्रुति से निरूपित कर संप्रति द्वितीया का

---

१ प्रजातन्त्र का यह न्याय परिचायक है। समिति द्वारा की हुई कोई योजना संबद्ध मंत्री के पास साक्षात् प्रथम जाने पर भी तबतक कार्यान्वित नहीं हो सकती जबतक नीचे के लोगों के द्वारा नहीं आती हो

प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्, स्वरूपे आनर्थक्यात्, व्रीहिस्वरूपस्य प्रोक्षणं विनाऽनुपपत्त्यभावात्, किं त्वपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्। यदि व्रीहिषु प्रोक्षणं क्रियते तदा तैर्यागेऽनुष्ठितेऽपूर्वं भवति नान्यथेति। अतः प्रकरणसहकृतया

उदाहरण दे रहे हैं—'व्रीहीन् प्रोक्षति'। प्रोक्षण का अर्थ है मन्त्रोच्चारण पूर्वक जल छिड़कना। इससे व्रीहि संस्कृत होती है। संस्कृत इस व्रीहि का उपयोग आगे यज्ञ में है। अतः यह उपयोक्ष्यमाण[1] संस्कार कहलाता है। तृतीया श्रुति से इसका इतना वैलक्षण्य है कि तृतीया विभक्ति जिस पद में लगी है उस पदार्थ का अंगत्व कहती है। द्वितीया श्रुति दूसरे पदार्थ के अंगत्व को कहती हुई स्वपदार्थ गत अंगित्व का बोधन करती है। अतएव कहा है—प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वम्। 'व्रीहीन्' विधि प्रोक्षण की विधायक है। अर्थात् प्रोक्षण विधेय है। विधेयता के साथ अंगत्व रहता है यह दिखलाया जा चुका है। और उद्देश्यता के साथ प्राधान्य रहता है। अतः प्रोक्षण व्रीहि के प्रति अंग है यह द्वितीया श्रुति से अवगत हुआ। बोध होता है—प्रोक्षणेन व्रीहीन् भावयेत्-जलप्रोक्षण से व्रीहि का संपादन करो। यहाँ यह शंका होती है—जबकि प्रोक्षण के विना ही व्रीहिस्वरूप निष्पन्न होता है तो प्रोक्षण व्रीहि-प्राप्ति के निमित्त क्यों किया जाय? इस शंका का समाधान किया जाता है तच्च प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम् आदि। प्रोक्षण का उद्देश्य व्रीहि है। उद्देश्य में रहने वाला धर्म उद्देश्यतावच्छेदक कहलाता है। उस धर्म से युक्त (व्रीहित्वा-वच्छिन्न) व्रीहि का उद्देश्य कर प्रोक्षण का विधान अनर्थक होगा ही, क्योंकि प्रोक्षण के विना व्रीहित्वावच्छिन्न सिद्ध हो जाता है। अतः व्रीहित्व को उद्देश्यताव-च्छेदक न मानकर अपूर्वसाधनत्व को तदवच्छेदक माना जाता है। अर्थात् अपूर्वसाधनत्वरूप धर्म से युक्त (अपूर्वसाधनत्वावच्छिन्न) व्रीहि को उद्देश्य कर प्रोक्षण का विधान हो तो वह अनर्थक नहीं होगा। प्रोक्षण के प्रति प्रयोजक अपूर्वसाधनत्व ही है व्रीहित्व नहीं। प्रोक्षणरहित व्रीहियों से याग करने पर वह याग फलजनक नहीं होगा, प्रोक्षण से संस्कृत व्रीहियों के द्वारा अनुष्ठित याग ही फल जनक है। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' वाक्य दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित है। प्रकरण से प्रोक्षण और याग का संवन्ध अवगत है। याग अपूर्व के द्वारा ही फल-निष्पादक है। प्रधान याग मात्र के अनुष्ठान से ही अपूर्व नहीं उत्पन्न होता किन्तु पूर्व और उत्तर अंगानुष्ठान सहित प्रधान का अनुष्ठान अपूर्व जनक होता है। अतः सभी प्रकार के अङ्गों के अनुष्ठान भी अपूर्वजनन में उपयोगी होते हैं। उन अंगों में व्रीहि भी प्रकरण संवन्ध से अपूर्व का उपयोगी है। इससे यह अवगत हुआ कि व्रीहि में व्रीहित्व धर्म के साथ अपूर्वसाधनत्व भी धर्म है। इस धर्म का उद्देश्यतावच्छेदक मानेंगे तो उस धर्म से युक्त व्रीहि का प्रोक्षण अनर्थक नहीं

---

१. किसी नौकरी में योग्य बनाने के निमित्त पूर्वाभ्यास (ट्राइनिंग) होता है उसी प्रकार यह संस्कार उपयोक्ष्यमाण है।

द्वितीयाश्रुत्या तण्डुलनिर्वृत्तिप्रणाड्या यदपूर्वसाधनं तदङ्गत्वं प्रोक्षणस्योच्यत इति। एवं सर्वेष्वप्यङ्गेषु अपूर्वप्रयुक्तत्वं वेदितव्यम्।

एवं 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्त' इत्यत्रापि द्वितीयाश्रुत्या मन्त्रस्याश्वाभिधान्यङ्गत्वम्। यत्तु वाक्यीयोऽयं विनियोग इति,

---

होगा। जैसे प्रकरण गत व्रीहि अपूर्वसाधन हैं वैसे आज्य आदि द्रव्य भी अपूर्वसाधन हैं तो आज्य आदि में भी प्रोक्षण प्राप्त होता है, क्योंकि वे भी अपूर्वसाधनत्व प्रयुक्त हैं उनमें भी यह प्रोक्षण चला जायगा, यह अभीष्ट नहीं है। इसलिए उस प्रकार का अपूर्वसाधनत्व विवक्षित है जो तण्डुल की निष्पत्ति के द्वारा अपूर्व साधन हो। आज्य में अपूर्वसाधनता के रहते हुए भी तण्डुलनिष्पत्ति के द्वारा नहीं है, अतः प्रोक्षण आज्य में जायगा नहीं। द्वितीया श्रुति स्वतः पदार्थ की विनियोजक न होगी जब तक प्रकरण, विनियोज्य द्रव्य के अपूर्व-संबन्धित्व का बोध नहीं करायेगा। निष्कर्ष हुआ कि प्रकरण से संबद्ध द्वितीया श्रुति तण्डुल निष्पादन के द्वारा अपूर्व साधन उसका अङ्ग प्रोक्षण है ऐसा बतलाती है। इससे आज्य आदि में प्रोक्षण जायगा नहीं, एवं विकल्प द्रव्य यव और विकृति याग के नीवार आदि में प्रोक्षण निर्बाध है। इसी तरह सभी अङ्गों का अपूर्व ही प्रयोजक समझना चाहिए।

द्वितीया श्रुति का दूसरा उदाहरण है—'इमामगृभ्णाम्' आदि। अग्निचयन में यजमान को एकवर्ष पर्यन्त उखाग्नि को धारण करने का विधान है। अग्नि को रखने के लिए मिट्टी से बनाये गये पात्र को 'उखा' कहते हैं। इसमें जो अग्नि रखी जाता है उसे उख्याग्नि कहा जाता है। मूंज से शिक्या बना कर उसमें उख्याग्नि को रखकर गले में बांधकर एक वर्षपर्यन्त धारण करें तदनन्तर चयन याग करने का विधान है। उखानिर्माण के लिए मिट्टी अध्वर्यु लाता है। लाते समय अध्वर्यु एक घोड़ा और एक गर्दभ को ले जाता है। जहाँ से उपयुक्त मिट्टी लेता है वहाँ घोड़े को मृत्संस्कार के लिए घुमाता है और गर्दभ पर मिट्टी रख कर ले आता है। मिट्टी ले आते समय घोड़े के गले में बधी हुई रस्सी को 'इमामगृभ्णन् रशनाम्' मन्त्र पढ़कर पकड़ता है। इसी का विधान है 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते। अभिधानी शब्द का अर्थ है रस्सी। 'अश्वाभिधानीम्' मे द्वितीया 'इमामगृभ्णन्' मंत्र का अश्वरशना ग्रहण में विनियोग करती है। अर्थात् इस मंत्र का उच्चारण कर घोड़े की रशना का ग्रहण करना चाहिए। मंत्र अङ्ग है रशनादान अङ्गी है द्वितीया श्रुति इसमें प्रमाण है।

मंत्र के प्रतीक को लेकर 'इति' शब्द का विनियोग होने से शंका होती है कि वाक्य प्रमाण से मंत्र का विनियोग क्यों न हो? द्वितीया श्रुति से विनियोग क्यों कहा जा रहा है? इस शंका का अनुवादक ग्रन्थ है—यत्तु वाक्यीयोऽयं विनियोग

तन्न, तथा सति वाक्याल्लिङ्गस्य बलीयस्त्वेन यावद्वाक्यादश्वाभिधान्यङ्गं[1] भवति तावल्लिङ्गाद्रशनामात्राङ्गत्वमेव स्यात्, 'स्योनं ते सदनं कृणोमी' त्यस्येव सदनाङ्गत्वम्। श्रौतविनियोगपक्षे तु यावल्लिङ्गाद्रशनामात्राङ्गत्वं सम्भवति[2] तावत् श्रुत्या 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यत्र तृतीयाश्रुत्या ऐन्द्रया ऋचो गार्हपत्योपस्थानाङ्गत्ववदश्वाभिधान्यां विनियोगः क्रियते इति युक्तं मन्त्रस्याश्वाभिधान्यङ्गत्वम्। तस्माच्छ्रौत एवायं विनियोगः।

इति। शंका निराकरण ग्रन्थ है—तन्न इत्यादि। समाधान का भाव है कि मन्त्र में 'रशनाम्' सामान्य शब्द है। वह घोड़े की भी हो सकती है गर्दभ की भी। मन्त्र गत सामर्थ्य-लिङ्ग उभय साधारण है। अर्थात् दोनों रशनाओं का ग्रहण लिङ्ग प्रमाण से अवगत होता है। वाक्य प्रमाण कहता है, अश्वरशना का ग्रहण करो। वाक्य तीसरा प्रमाण, और लिङ्ग दूसरा है। बलाबलाधिकरण के सिद्धान्त से वाक्य प्रमाण से लिङ्ग प्रमाण प्रबल निश्चित है। दुर्बल वाक्य प्रमाण की प्रवृत्ति से पूर्व ही लिङ्गप्रमाण प्रवृत्त होकर मंत्र को रशना-सामान्य ग्रहण में विनियुक्त कर देगा। इस का दृष्टान्त ग्रन्थ है—स्योनं ते सदनम् इत्यादि।

'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि।
तस्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः॥

यह समग्र मन्त्र है। इसका पूर्वार्ध पुरोडाश पात्र में घृत की धारा से स्थान सदन-बनना इस अर्थ में सामर्थ्य रखता है और उत्तरार्द्ध पुरोडाश को पात्र में सादन-बैठाना इस अर्थ में सामर्थ्य रखता है। सामर्थ्य-लिङ्ग से पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को सदन एवं सादन में मन्त्र का विनियोग अवगत है। 'तस्मिन्' इस तच्छब्द से पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध की एकवाक्यता अवगत होने से वाक्य प्रमाण समग्र मन्त्र को सदन या सादन में विनियोग करेगा। वाक्य से लिङ्ग के प्रबल होने से सदन में पूर्वार्ध, सादन में उत्तरार्ध का विनियोग माना गया है। अतः वाक्य प्रमाण से विनियोग मानना उचित नहीं। द्वितीया श्रुति से विनियोग मानने पर, लिङ्ग प्रमाण का प्रसर न होगा। लिङ्ग प्रमाण रशना-सामान्य में मन्त्र का विनियोग करने के लिए जब प्रवृत्त होता है उससे पूर्व ही प्रबल श्रुति अश्वाभिधान्यङ्गत्व मन्त्र का बोधन कर देगी तो लिङ्ग प्रमाण की प्रवृत्ति रुक जायगी। जैसे 'ऐन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' में ऐन्द्री इन्द्रदेवता का प्रकाशन करने वाली ऋचा 'कदाचन स्तरीरसि' आदि के सामर्थ्य से इन्द्र के उपस्थान में मन्त्र के विनियोग के प्रवृत्त होने से पूर्व ही 'गार्हपत्यम्' यह द्वितीया श्रुति गार्हपत्य के उपस्थान में मन्त्र का विनियोग कर देती है उसी प्रकार प्रकृत में श्रुति प्रमाण अश्वरशना ग्रहण में मन्त्र का विनियोग कर देता है। इसकी विवेचना आगे की जायगी। अतः यहाँ श्रौत ही विनियोग है, वाक्यविनियोग नहीं।

१, ङ्गत्वं सम्भ० २, भवति

'यदाहवनीये जुहोती'त्याहवनीयस्य होमाङ्गत्वं सप्तमीश्रुत्या । एवमन्योऽपि विभक्तिश्रुत्या विनियोगो ज्ञेयः ।

पशुना यजेतेत्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम् ।

द्वितीया श्रुति से अंगत्व के प्रदर्शनानन्तर चतुर्थी पञ्चमी और षष्ठी श्रुतियों का विनियोजकत्व प्रदर्शित करना चाहिए था, किन्तु वे प्रसिद्ध हैं यह समझ कर सप्तमी श्रुति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—यदाहवनीये जुहोति । यह वाक्य आहवनीयाधिकरणक होम का विधायक है । 'आहवनीये' में सप्तमी अधिकरण अर्थ में है । यह सप्तमी आहवनीय का होमाङ्गत्व बतलाती है । अर्थात् होम अङ्गी है और आहवनीय अङ्ग है । चतुर्थी श्रुति का उदाहरण है—मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति' । यहाँ चतुर्थी श्रुति दण्डदान के अंगत्व को बतलाती है । 'अग्नेस्तृणान्यपचिनोति' इसमें पञ्चमी तृणापचय का अङ्गत्व बोधन करती है । 'यजमानस्य याज्या' यहाँ षष्ठी याज्या के अंगत्व की बोधक है । इस प्रकार विभक्ति श्रुतियों का उदाहरण समझना चाहिए ।

समानाभिधान श्रुति का उदाहरण दिया है—पशुना यजेत आदि । समानाभिधानश्रुति शब्द का अर्थ पूर्व कहा जा चुका है । इस श्रुति का उदाहरण 'पशुना यजेत' है । तैत्तिरीय संहिता (६.३.११) में 'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभेत' वाक्य श्रुत है । 'अग्नीषोमीयम्' इस तद्धितान्त शब्द के द्रव्य देवता संबन्ध प्रतिपादक होने से 'आलभेत' की याग में लक्षणा करके यजेत ऐसा लक्ष्य मानकर पशुना यजेत यह कहा गया है । 'लभेत' की याग में लक्षणा करके आख्यातार्थ भावना में याग धात्वर्थ करण है—यागेन भावयेत् बोध होता है । उस याग का विशेषण है 'अग्नीषोमीयं पशुम्' अतः अग्नीषोमीय-पशुद्रव्यक-यागेन भावयेत्' यह शाब्दबोध संपन्न हुआ । इसी का रूपान्तर है 'पशुना यजेत' अथवा किसी शाखान्तर में 'पशुना यजेत' का पाठ उपलब्ध मानकर यह वाक्य वाक्यान्तर प्राप्त याग को उद्देश्य कर पुंस्त्व-संख्या से विशिष्ट कारक का विधायक है ऐसा खण्डदेवाचार्य और पार्थसारथिमिश्र का मत है[1] । पुंस्त्व और संख्या ये दोनों तृतीया कारक के अंग हैं, इसमें प्रमाण है—समानाभिधान श्रुति । 'टा' प्रत्यय से ये तीनों अभिहित हैं और उनमें प्रत्ययार्थ कारक प्रधान है । यह सुबन्तस्थल का उदाहरण है । इसी प्रकार तिङन्त का भी उदाहरण है,—'यजेत' में 'त' आख्यात से एकत्व संख्या एवं भावना अभिहित हैं, अतः समानाभिधान होने से संख्या भावना का अंग

---

१ इस स्थल में ज्ञातव्य है कि पुंस्त्व और संख्या प्रातिपदिकार्थ में रहने वाले हैं तथापि यह कहा जा चुका है 'प्रधानान्वयस्याभ्यर्हितत्वात्' न्याय से प्राथमिक बोध में सभी प्रधान के साथ अन्वित होकर पाष्ठिक बोध में प्रातिपादिकार्थ से अन्वित होते हैं ।

यजेतेत्याख्याताभिहितसङ्ख्याया भावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुतेः। एकपद-श्रुत्या च यागाङ्गत्वम्।

न चामूर्तायास्तस्याः कथं यागाङ्गत्वमिति वाच्यम्; कर्तृपरिच्छेद-द्वारा तदुपपत्तेः। कर्ता चाक्षेपलभ्यः। आख्यातेन हि भावनोच्यते। सा च कर्तारं विनाऽनुपपन्ना तमाक्षिपति।

(आख्यातार्थनिरूपणम्)

ननु किमित्येवं वर्ण्यते—आक्षेपलभ्यः कर्तेति। आख्यातवाच्य एव किं न स्यात्। आख्यातश्रवणे भावनाया इव कर्तुरपि प्रतिपत्तेः। न च भावन-यैवाक्षेपसंभवे किमिति तद्वाचकत्वं कल्पनीयमिति साम्प्रतम्। तथा सति आख्यातवाच्यकर्त्रैव भावनाक्षेपसंभवे तद्वाचकत्वमपि न स्यात्।

है। एकपदश्रुति का उदाहरण है—एकपदश्रुत्या च यागाङ्गत्वम्। 'यजेत' यह तिङन्त पद प्रकृति से याग का और प्रत्यय से संख्या का अभिधायक है। अतः संख्या याग की भी अंग है। इस प्रकार संख्या समानाभिधान श्रुति से भावना की अंग होती है और एकपद श्रुति से याग की अंग होती है।

इसमें प्रश्न होता है कि याग तो क्रिया है उसमें संख्या जो अमूर्त है वह अन्वित होकर क्या उपकार करेगी? न चामूर्तायास्तस्याः कथं यागाङ्गत्वम् इति वाच्यम्=इति न च वाच्यम्। समाधान ग्रन्थ है—कर्तृ परिच्छेदद्वारा तदुपपत्तेः। अमूर्त संख्या सचमुच ही क्रिया की उपकारिणी साक्षात् नहीं हो सकती है किन्तु पूर्वोक्त सरणि का अवलंबन करके संख्या अपना प्राथमिक संबन्ध भावना से करेगी। इस प्रकार संख्या भी उपकारक हो जायगी और शाब्दबोध होगा—एकत्वावच्छिन्नः कर्ता यजेत। यह कथन तो ठीक है किन्तु कर्ता की प्राप्ति किससे है? आप मीमांसक आख्यात का अर्थ भावना मानते हो तो कर्ता कहा से मिलेगा? उत्तर है—कर्ता चाक्षेपलभ्यः। कर्ता का लाभ अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण से होता है। जब कि आख्यात की भावना है और वह प्रवृत्ति रूप है, तब वह विना पुरुष-कर्ता के संबन्ध के कैसे रह सकती है। कर्ता के विना प्रवृत्ति अनुपपन्न है अतः प्रवृत्ति, कर्ता का आक्षेप करती है। प्रवृत्ति चेतन धर्म है। अपने आश्रय चेतन के विना वह रह नहीं सकती।

आख्यातार्थ कर्ता मानने वाले वैयाकरण का शंका-ग्रन्थ है—ननु किमित्येवं वर्ण्यते, आदि। आख्यात का वाच्य कर्ता क्यों नहीं? जो जिससे प्रतीत होता है वह उसका वाच्य होता है 'यच्च यस्मात्प्रतीयते तत् तस्य वाच्यम्' यह मीमांसकों का न्याय है। अतः आख्यात का वाच्य कर्ता क्यों नहीं होता, यह शंका है। यदि कहा कि भावना से आक्षेपद्वारा कर्ता का लाभ हो जाने पर आख्यात का अर्थ कर्ता

किं च भावनाया न केवलं कर्त्रैव सम्बन्धः, कारकान्तरेणापि सम्बन्धात् । अतः सा न झटिति कर्तारमेवाक्षिपेत्, विशेषाभावात् । कर्ता तु भावनयैव संबद्धो न कारकान्तरेण, 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्' इति न्यायात् । अतः स झटिति तामाक्षिपेदिति स एवाख्यातवाच्यः । भावना तु आक्षेपलभ्यैव किं न स्यात् ।

किंचैवं तृतीयादिविभक्तीनामपि करणादिवाचकत्वं न स्यात्, तेषामपि कर्तृवदाक्षेपलाभसंभवात् ।

क्यों माना जाय तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि हम भी कह सकते हैं कि कर्ता से ही भावना का आक्षेप हो सकता है। इस संदर्भ में अन्यतर पक्ष का साधक तर्क न होने से विनिगमनाविरह है ।

वैयाकरण अपने पक्ष के समर्थन में तर्क उपस्थित करते हैं—किञ्च भावनाया न केवलं कर्त्रैव संबन्धः । किसी का किसी के साथ संबन्ध रहने मात्र से वह उसका आक्षेपक बन जाता है, ऐसा स्वीकार करने से सभी के साथ साक्षात् परंपरा से संबद्ध रहते ही हैं । जैसे भावना का कर्ता से संबन्ध है वैसे ही करण आदि कारकों से भी संबन्ध विद्यमान है । तब करण आदि कारकों का भी आक्षेप मानना पड़ेगा । इसलिए आक्षेप उसका मान सकते हैं जो असाधारण संबन्ध रखता हो । असाधारण संबन्ध भावना के साथ कर्ता का ही रहता है । ऐसी अवस्था में इतर कारकों की अपेक्षा कर्ता का ही क्यों आक्षेप होता है ? मेरे मत में कर्तृकारक का क्रिया-भावना के साथ ही सम्बन्ध है, करण आदि कारकों के साथ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जैसे कर्ता क्रिया का गुणभूत है वैसे करण आदि कारक भी 'गुणानाञ्च परार्थत्वाद-संबन्धस्समत्वात्स्यात्' यह न्याय है । परार्थ—पर ही अर्थ-प्रयोजन है जिनका उनका परस्पर अन्वय नहीं हो सकता । इसलिए कर्ता ही भावना का आक्षेपक है, आख्यात का वाच्य अर्थ कर्ता ही है भावना नहीं, यह तर्क युक्तिसंगत है ।

यह सत्य है कि भावना का संबन्ध कर्ता के साथ जैसा है वैसा ही सम्बन्ध करण आदि इतर कारकों के साथ भी है किन्तु प्रथम वह संबन्ध कर्ता के साथ ही रखता है । इतर कारकों के साथ भावना का संबन्ध कर्ता के अधीन है, क्योंकि भावना अर्थात् प्रवृत्ति, वह पुरुष का ही व्यापार है अतः भावना-प्रवृत्ति के साथ इतर कारकों का संबन्ध बहिरंग है क्योंकि वे धात्वर्थ से संबन्ध रखने वाले हैं । प्रवृत्ति-रूप भावना कर्तृगत ही होती है । अतः कर्ता अन्तरंग कोटि में प्रथम आता है । 'उपक्रमोपसंहार' न्याय से प्रथम उपस्थित का परित्याग उचित नहीं है । इसलिए भावना प्रथम उपस्थित कर्ता की ही आक्षेपक होगी, कारकान्तरों की नहीं । मीमांसकों की इस शंका के उत्तर में वैयाकरण की उक्ति है—किञ्चैवं तृतीयादिविभक्तीनामपि आक्षेपलाभसंभवात् । इस प्रकार कहने से कि आक्षेपलाभ मात्र से आख्यात का

किंच यदि कर्ता न वाच्यः स्यात् कथमेकत्वं तेनान्वियात् ? न हि शाब्दमशाब्दे[1]नान्वेतीति युक्तम् । अन्यथा ऊहादिलोपप्रसङ्गः । किंच देवदत्तः

वाच्य कर्ता नहीं, किन्तु भावना है तो तृतीया तथा चतुर्थी आदि विभक्तियों के करण तथा संप्रदान आदि अर्थ वाच्य क्यों माने जाँय; यदि कहें कि तृतीया चतुर्थी आदि विभक्तियाँ करण संप्रदान आदि अर्थों में अनुशासन के द्वारा विहित हैं तो जैसे मीमांसकों का अवलंव उपक्रमोपसंहार न्याय है वैसे वैयाकरण का अवलंव 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' 'संप्रदाने चतुर्थी' आदि अनुशासन है ।

मीमांसकों को यह शंका हो सकती है कि मेरी ओर से अनुशासन की मान्यता है ही, किन्तु भावना से कर्ता का आक्षेप जैसे नियमसिद्ध है वैसा आक्षेप करण आदि कारकों का नहीं क्योंकि भावना से करण आदि कारकों का संवन्ध व्यभिचरित है और कर्ता का अव्यभिचरित है । इसलिए कर्ता का आक्षेपलाभ उचित सिद्ध होता है । इस शंका के उत्तर में—किञ्च यदि कर्ता न वाच्यस्स्यात् इत्यादि ग्रन्थ प्रवृत्त है । वैयाकरण का यह भाव है कि 'देवदत्तः पचति' आदि स्थल में 'ति' प्रत्यय एकत्व संख्या का वाचक है, क्योंकि कर्ता के एकत्व की विवक्षा में ही 'पचति' में एकवचन आया है, और वह शाब्द है=शब्द वाच्य है और आक्षेप लभ्य होने से कर्ता अशाब्द है । शाब्द संख्या अशाब्द कर्ता के साथ कैसे संवद्ध होगी; क्योंकि 'न हि शाब्दमशाब्देनान्वेति' यह न्याय वाधक है । इस न्याय की मान्यता मीमांसकों के भी पक्ष में होनी चाहिए । अन्यथा शाब्द और अशाब्द अर्थ का विकृति सौर्य याग में अर्थ के साथ अन्वय मानने पर अन्वित हो 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र का ऊह सिद्ध नहीं होगा । विकृति याग में प्रकृति याग से अतिदेश के द्वारा आये हुए पदार्थों के विकृति याग के अनुसार अन्यथानयन को ऊह कहते है । अर्थात् प्रकृति दर्शपूर्णमास याग के अग्नि देवता के प्रकाशन हेतु निर्वाप मंत्र 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' पढ़ा गया है । इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए अग्नि देवता के लिए यागार्थ पर्याप्त हवि-व्रीहि आदि द्रव्य को अलग करते हैं । इसी को निर्वाप कहते हैं । यह मन्त्र 'सौर्यं चरुं निर्वपेत्' से विहित विकृति सौर्य याग में अतिदेश के द्वारा वही निर्वाप साधन बनकर प्राप्त हुआ । इस याग में 'सूर्य' देवता होने से सूर्य देवता के प्रकाशन हेतु 'अग्नये' पद को हटाकर उसके स्थान में 'सूर्याय' पद का प्रक्षेप किया जाता है, यह ऊह है । यदि अशाब्द अर्थ शाब्द अर्थ के साथ अन्वित हो सकता है तो सूर्य पद के प्रक्षेप के विना ही स्मरण आदि उपायों से सूर्य को समझकर विकृति सौर्य याग में 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' मन्त्र का प्रयोग करते हुए (सूर्याय इस ऊह के लिए भी) निर्वाप किया जा सकता है । ऐसा करने पर न केवल ऊह का ही लोप होगा किन्तु अतिदेश, अनुषंग, और वाध का भी लोप होगा । इसलिए शाब्द अर्थ और अशाब्द अर्थ का परस्पर अन्वय नहीं मानना चाहिये ।

---

१. न्वेति

पचतीति सामानाधिकरण्यं न स्यात्। न हि केवलं भावनावाचकस्याख्यातस्य देवदत्तपदेन सामानाधिकरण्यमुपपद्यते, एकार्थनिष्ठत्वाभावात्। कर्तृवाचकत्वे तूपपद्यत एव। 'लः कर्तरी'ति व्याकरणस्मृतिविरोधस्तु कर्तुरनभिधेयत्वे स्पष्ट एव।

क्योंकि विकृति स्थलों में भावना की कथंभावाकांक्षा होने पर 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या' इन शब्दों की कल्पना की जाती है। अब इन शब्दों की कल्पना की क्या आवश्यकता होगी। क्योंकि उपमिति प्रमाण से विकृति सौर्य याग का रूप प्रकृति आग्नेय याग के रूप से सिद्ध हो जाता है और प्रकृत पदार्थों की केवल उपस्थिति से सौर्य याग की इतिकर्तव्यताकांक्षा शान्त हो जाती है। इसीप्रकार अनुषंग और अध्याहार आदि का लोप हो जायगा।

वैयाकरण दूसरा दोष देता है—किञ्च आदि। 'देवदत्तः पचति' में आख्यात का अर्थ तुम्हारे पक्ष में भावना, देवदत्त पद कर्ता का बोधक है। भिन्नार्थक इन दोनों का एकार्थबोधकत्व रूप सामानाधिकरण्य कैसे सिद्ध होगा। मेरे मत में आख्यात का अर्थ कर्ता है, उसी का विशेष परिचायक है 'देवदत्त' पद। इसप्रकार मेरे मत में सामानाधिकरण्य उपपन्न हो जाता है।

इस संदर्भ में मीमांसक का यह अभिप्राय है कि आख्यातार्थ भावना की उपपत्ति, कर्ता के विना बनती नहीं; अतः लक्षणा से या अर्थापत्ति से कर्ता की उपस्थिति कराकर सामानाधिकरण्य बनाया जा सकता है, यह तर्क संगत नहीं। क्योंकि मीमांसक गो अरुणा आदि शब्दों की शक्ति आकृत्यधिकरण न्याय से गोत्व आरुण्य में मानता है। ये जातियाँ अपने संबद्ध व्यक्तियों के आश्रित हैं। अतः आनयन एवं क्रयण आदि क्रियाओं को सिद्ध करने के लिए स्वाश्रय व्यक्तियों के आक्षेपक हो सकते हैं अर्थात् अभेदोपचार से व्यक्ति के लक्षक बन सकते हैं। किन्तु आख्यातार्थ भावना-व्यापार रूप है, व्यापार शरीरसमवेत है, शरीर और शरीरी का अभेदोपचार मानकर भी व्यापार का आश्रय शरीर ही होगा, शरीरी = आत्मा नहीं। शरीर के साथ ही व्यापार का समवाय है, शरीर है अचेतन, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। 'स्वतन्त्रः कर्ता' अनुशासन से कर्ता चेतन ही स्वतन्त्र है। अतः चेतन ही कर्ता होगा। इस चेतन कर्ता का और व्यापार का अभेदोपचार संभव नहीं है। यदि संभव है तो 'दण्डो देवदत्तः' आदि में भी दण्डशब्द पुरुष का लक्षक हो जायगा। किन्तु ऐसा अनुभव सिद्ध नहीं है। इसलिए आख्यात का भी पुरुष-कर्तृ लक्षकत्व ठीक नहीं है। आख्यातार्थ कर्ता मानने पर एकत्व आदि संख्या के अन्वय में कोई बाधा नहीं होगी।

व्याकरण अनुशासन का उल्लंघन मीमांसक को करना पड़ता है। पाणिनि 'लः कर्मणि भावे चाकर्मकेभ्यः' सूत्र द्वारा 'कर्तरि' के अनुषंग से कर्ता अर्थ में लकार

किं च कर्तुरनभिधेयत्वे देवदत्तेन पचतीति प्रयोगप्रसङ्गः। तृतीया हि अनभिहितयोः कर्तृकरणयोर्विहिता, आख्यातेन कर्ता[1] नाभिहित इति कर्तृवाचिनी तृतीया स्यादेव। कर्तुरभिधाने तु अभिहितत्वादेव तृतीया न प्राप्नोति, तस्या अनभिहिताधिकारस्थत्वात्। देवदत्तः पचतीति प्रथमा तु प्राप्नोत्येव, प्रथमाया अभिहितकारकविभक्तित्वात्, प्रातिपदिकार्थमात्रवाचित्वाद्वा। न च तदा प्रातिपदिकेनैवार्थस्योक्तत्वात् प्रथमावैयर्थ्यम्। लिङ्गसङ्ख्याप्रतिपत्त्यर्थं तस्या आवश्यकत्वात्। केवलप्रातिपदिकस्य प्रयोगासाधुत्वाच्च। ततश्च यदि कर्ता न वाच्यस्स्यात् देवदत्तेन पचतीति प्रयोगस्स्यात्। तस्मादाख्यातवाच्यः कर्तेति सिद्धमिति पूर्वपक्षसङ्क्षेपः।

अत्राहुः—स एव हि शब्दस्यार्थो यः प्रकारान्तरेण न लभ्यते, 'अनन्यलभ्यश्शब्दार्थ' इति न्यायात्। अत एव न गङ्गापदस्य तीरमर्थः लक्षणयैव

का विधान करते हैं। इस स्मृति का उल्लंघन होगा। इसीप्रकार आख्यात के द्वारा कर्ता के अनभिहित होने पर स्मृति का विरोध स्पष्ट है।

दोषान्तर का उद्भावक ग्रन्थ है—किञ्च आदि। 'अनभिहिते' अधिकार में 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्र से तृतीया विभक्ति विहित है। 'देवदत्तः पचति' में 'ति' प्रत्यय कर्ता का अभिधायक नहीं होगा तो देवदत्त पद में तृतीया प्राप्त होगी—'देवदत्तेन पचति' प्रयोग होने लगेगा। आख्यात का अर्थ कर्ता मानने पर कर्ता के अभिहित होने से तृतीया की प्रसक्ति नहीं होगी और अभिहित कारक होने से प्रथमा विभक्ति ही होगी। अभिहितकारकविभक्तित्वात् का अर्थ है—अभिहित जो कर्तृकारक या कर्मकारक तत्संबन्धी या तद्बोधक विभक्ति। यद्यपि प्रथमा अभिहित कारक नहीं है क्योंकि 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' सूत्र से प्रातिपदिक के अर्थ में ही प्रथमा का विधान है तथापि कर्ता के लिंग और संख्या के बोध के लिए विभक्ति की आवश्यकता है ही, अन्यथा जहाँ प्रथमा नहीं वहाँ 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि प्रत्ययः' न्याय से वह प्रयोग असाधु हो जायगा। अतः सिद्ध हुआ कि आख्यातवाच्य कर्ता ही है।

सिद्धान्ती मीमांसक का ग्रन्थ है—अत्राहुः। वही शब्द का शक्यार्थ माना जाता है जो लक्षणा आदि अन्य प्रकारों से ज्ञात न हो। यही 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' न्याय है। तात्पर्य यह है कि एक शब्द से अनेक अर्थ प्रतीयमान होंगे। इससे सभी अर्थ शब्द के अभिधेय हैं ऐसा स्वीकार करना न्याय्य नहीं है। 'अन्याय्यश्चानेकार्थत्वम्' न्याय है। जहाँ तक संभव है, एक शब्द का एक ही अर्थ

---

१. र्तानभि

प्रतिपत्तिसम्भवात् । अत एव च न वाक्यार्थे शक्तिः । एवं चाख्यातवाच्यभावना कर्तारं विनानुपपन्ना तमाक्षिपतीत्याक्षेपादेव कर्तुः प्रतिपत्तिसम्भवे किमिति तद्वाचकत्वमाख्यातस्य कल्पनीयम् ।

न च विनिगमनाविरहः । कृतिमान् हि कर्ता, एवं च कृतेरेव भावनापर-

---

माना जाना चाहिए। जिस स्थल में अनेक अर्थ प्रतीत होते हैं वहाँ शब्द की शक्ति एक ही अर्थ में है, और अन्य अर्थों का ज्ञान लक्षणा आदि के द्वारा कराना चाहिए। शक्ति भी उसी अर्थ में कल्पित हो सकती है जिसमें शक्तिकल्पना के विना अर्थ का ज्ञान और प्रयोग न बन सकता हो। इस प्रकार एक अर्थ में शक्ति स्वीकृत होने के अनन्तर अवशिष्ट अर्थों का ज्ञान प्रकारान्तर से हो सकता हो तो उन अर्थों में शब्द की शक्ति की कल्पना का अवसर नहीं रह जाता है। जैसे गंगायां घोषः में गंगाशब्द के तीर में, सिंहो माणवकः में सिंहशब्द के माणवक में शक्ति नहीं है। प्रकृत में 'पचति' के आख्यात के द्वारा भावना, कर्ता, कर्तृगत संख्या, पुरुषोपग्रह, और काल इतने अर्थ ज्ञात हो रहे हैं। इनमें से एक भी भावना का आक्षेपक नहीं बन सकता है। क्योंकि भावना के विना भी काल-संख्या आदि की सत्ता रह सकती है तो काल-संख्या आदि, भावना के आक्षेपक नहीं हो सकते। कर्ता और भावना का संवन्ध तो है, किन्तु 'चैत्रः पचति' में चैत्र की प्रवृत्ति के अनन्तर ही वह पाक का कर्ता होगा। जब कि वह पाक का प्रयत्न नहीं करता है तब उसका कर्तृत्व ही नहीं है। कर्तृत्वसिद्धि के लिए भावना का आक्षेप करना होगा, और उस भावना में कर्त्रपेक्षा से अप्राधान्य स्वीकार करना होगा। भावना में अप्राधान्य मानने से 'भावप्रधानमाख्यातम्' स्मृति का विरोध स्वीकार करना होगा। इसलिए कृतिविशिष्ट कर्ता में आख्यात की शक्ति की कल्पना से गौरव होता है। इसकी अपेक्षा कृतिरूप भावना में आख्यात की शक्ति मानने में लाघव है। इस प्रकार शक्ति के निश्चय से कर्ता आक्षेपलभ्य होगा और 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' इस न्याय का अनुसरण सिद्ध हो जाता है। कर्ता के समान काल-संख्या आदि का आक्षेप संभव नहीं है क्योंकि कालान्तर में भी भावना का संवन्ध देखा जाता है। इसी न्याय से वैयाकरणों का यह कथन भी युक्तिसम्पन्न होता है कि वाक्य की अखंड वाक्यार्थ में शक्ति नहीं है। क्योंकि वाक्यार्थ अन्यलभ्य है। वाक्य में पदों के द्वारा उन-उन अर्थों के उपस्थित हो जाने पर वे अर्थ आकांक्षा, संनिधि और योग्यताओं से परस्पर संबद्ध होकर वाक्यार्थ के रूप में भासमान होते हैं। परस्पर संबद्ध अर्थ ही तो वाक्यार्थ है। इसके लिए पृथक् शक्ति कल्पना की क्या आवश्कता है ! विनिगमनाविरह की शंका के उत्तर में मीमांसक अपने पक्ष की युक्ति प्रस्तुत करता है—कृतिमान् हि कर्ता। 'कर्ता' इस पद में विशेषणरूप से 'कृति' (भावना) और विशेष्य रूप से पुरुष भासमान हैं। इन दोनों में आख्यात का आकृत्यधिकरण न्याय से वाच्य कृति को ही मानना उचित है। उस अधिकरण का

पर्यायाया आकृत्यधिकरणन्यायेनाख्यातवाच्यत्वसम्भवे न तद्वतः कर्तुर्वाच्यत्वं कल्पनीयम्, गौरवप्रसङ्गात्। न च भावना कारकान्तरेणापि सम्बद्धा तदुज्झित्वा न झटिति कर्तारमाक्षिपतीति वाच्यम्। सा हि यथा नियमेन कर्त्रा संबद्धा न तथा करणादिकारकान्तरेण, तिष्ठतीत्यादिषु तया तदनाक्षेपात्। अतः प्रथमं सा कर्तारमेवाक्षिपति, न कारकान्तरम्। अत एव चाख्याताभिहिता सङ्ख्या न कारकान्तरेण सम्बध्यते, तस्य प्रथममनुपस्थितेः। अत एव

न्याय है—'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशिष्टमुपसंक्रामति' 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे'। अर्थात् विशेषण के ज्ञान के विना तद्विशिष्ट पदार्थ का ज्ञान नहीं होता, एवं विशेषण के बोध कराने से अभिधा शक्ति के क्षीण हो जाने पर वह विशेष्य की बोधिका नहीं हो सकती। इस न्याय से 'कृति' विशेषण में अभिधा के व्यापार के हो जाने से वह कृतिमान्—कृतिवाला विशेष्य के बोधन में व्यापृत नहीं हो सकता। विशिष्ट अर्थ के बोधन में शब्द का गौरव दिखाया जा चुका है। अतः सिद्ध हुआ कि विशेषण हो कर भासमान 'कृति' (भावना) में आख्यात की शक्ति माननी चाहिए। विशेष्य कर्ता का भान आक्षेप से सिद्ध हो जाता है।

पूर्वपक्षी की शंका थी कि यदि कर्ता का आक्षेप से भान है तो करण आदि इतर कारकों का भी भान आक्षेप से हो जायगा, तब तृतीया चतुर्थी आदि विभक्तियों का करण संप्रदान आदि अर्थवाचकत्व सिद्ध नहीं होगा। इस शंका का समाधान ग्रन्थ है—न च भावना आदि। जैसे कि भावना का संबन्ध कर्ता के साथ नियत है वैसे करण आदि दूसरे कारकों के साथ नहीं है। 'तिष्ठति' 'चलति' 'आस्ते' 'शेते' 'स्नाति' आदि में क्रमशः करण, कर्म अपादान, संप्रदान आदि का आक्षेप नहीं है, कर्ता का तो सब जगह संबन्ध नियत है। अतः अनियत संबन्ध वाले करण आदि का आक्षेप न होकर नियतसंबद्ध कर्ता का आक्षेप संगत ही है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि आख्यात से अभिहित संख्या नियम से आक्षित कर्ता के साथ संबद्ध रहेगी अन्य कारकों से नहीं। क्योंकि प्रथम उपस्थित कर्ता ही है, इतर कारक वैसे नहीं है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि तृतीया चतुर्थी आदि कारकों की करण संप्रदान आदि अर्थों की वाचकता में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि भावना का उनके साथ कर्ता के समान नियत संबन्ध नहीं है। इस संन्दर्भ का निष्कर्ष यह हुआ कि भावना से जो नियतरूप से आक्षिप्त है उसी का वाच्यत्व स्वीकार किया जाता है। करण संप्रदान आदि अर्थ कर्ता के समान नियत नहीं है। अतः तृतीया चतुर्थी आदि विभक्तियों का करण संप्रदान के साथ वाच्य-वाचकभाव युक्तिसंगत है।

इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि आख्यात के द्वारा भावना अभिहित होकर वह कर्ता का आक्षेप अवश्य करेगी, जहाँ अभिहित नहीं है वहाँ इसका प्रश्न ही नहीं उठता है। एक घर में कुसूल में तण्डुल भरा था और उसके पास एक जल-

तृतीयादिविभक्तीनां करणादिवाचित्वम्, भावनायास्तैस्सह नियतसम्बन्धाभावेन तया तेषां नियमेनानाक्षेपात्। आख्यातश्रवणात्प्रागपि तृतीयादिविभक्तिश्रवणे करणादिप्रतीतेर्जायमानत्वाच्च। न च शाब्दी सङ्ख्या कथमशाब्देन कर्त्रान्वेतीति वाच्यम्। कर्त्तुर्लक्षणाङ्गीकारात्। यथा च लक्षितं तीरं शाब्देन घोषेणान्वेति, एवं लक्षितः कर्ता एकत्वेनान्वेष्यति। अत एव देवदत्तः पचतीति सामानाधिकरण्यमुपपद्यते, कर्तुर्लक्षणात्। न च मुख्ये सम्भवति किमिति लाक्षणि[1]कत्वं स्वीकार्यमिति वाच्यम्। अनन्यलभ्यशब्दार्थत्वस्य

भरा बर्तन भी था। किसी कारणवश उस घर में आग लग गई। कथञ्चित् जलभरे बर्तन में कुसूल से तण्डुल गिरे और वे ओदन बन गये। किन्तु यहाँ पाककर्ता कोई नहीं है। यहाँ आख्यातोपात्त भावना भी नहीं है। अतः यहाँ आक्षेप का प्रसंग नहीं उठता है। अतः आख्यात के द्वारा भावना का अभिधान होने पर वह अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए कर्त्ता का आक्षेप अवश्य करेगी। आख्यातान्त शब्द के संवन्ध के विना भी 'रामेण रामाय' आदि सुनने पर करणत्व तथा संप्रदान का बोध होता ही है। अतः विभक्तियों की तत्तद् अर्थवाचकता में कोई बाधा नहीं है।

पूर्वपक्षी ने कहा था कि आख्यात के द्वारा कर्ता के वाच्य न होने पर कर्ता के साथ संख्या का अन्वय नहीं हो पायेगा क्योंकि संख्या शाब्द है और कर्ता अशाब्द। शाब्द और अशाब्द के साथ अन्वय नहीं हो सकता आदि। इसका समाधान ग्रन्थ है—न च शाब्दी संख्या आदि। 'न हि शाब्दमशाब्देनान्वेति' इस न्याय का क्या अर्थ है ? क्या 'शाब्दम्' शब्दाभिधेय-अर्थात् अभिधाके द्वारा शब्दाभिहित अर्थ का 'अशाब्देन' अर्थात् अभिधा के द्वारा शब्द से अनभिहित अर्थ के साथ अन्वय नहीं होता है, ऐसा अर्थ है ? अथवा 'शाब्दम्' शब्द बाध्य अर्थ का 'अशाब्देन' शब्द के द्वारा अबोध्य अर्थ के साथ अन्वय नहीं होता है, ऐसा अर्थ है ? दूसरे कल्प की मान्यता आप के पक्ष में भी न होगी। यदि प्रथम कल्प है तो 'गंगायां घोषः' में तीर के साथ घोष का अन्वय कैसा ? क्योंकि 'तीर' अभिधा से गंगाशब्दाभिहित नहीं है। इस प्रकार अन्वय तो अनुभव सिद्ध है। इसी प्रकार आख्यात वाच्य संख्या का लक्षित कर्ता के साथ अन्वय करने पर न्याय का उल्लंघन नहीं है। अभिहित हो चाहे लक्षित हो सभी शाब्द ही हैं। शाब्द का शाब्द के साथ ही अन्वय माना जाता है। इससे 'देवदत्तः पचति' में लक्षित कर्ता के साथ देवदत्तपद का एकार्थवाचित्वरूप सामानाधिकरण्य भी सिद्ध हो जाता है। यह शंका तो हो सकती है कि वैयाकरण के मत में मुख्य सामानाधिकरण्य है, और मीमांसक के मत में लाक्षणिक सामानाधिकरण्य। मुख्य सामानाधिकरण्य के संभव होने पर लाक्ष-

---

१. कं स्वी०

व्यवस्थापितत्वात्। अन्यथा सिंहो देवदत्त इत्यपि सामानाधिकरण्यं मुख्यं स्यात्।

किं च आख्यातवाच्यः कर्तेति वादिनोऽपि मते देवदत्तः पचतीति सामानाधिकरण्यं न मुख्यम्; तन्मते आख्यातेन तृतीयावन्निष्कृष्टशक्तिमात्ररूप-कर्तृकारकाभिधानात्, शक्तिमद्द्रव्यस्याकृत्यधिकरणन्यायेनानभिधानात्, देवदत्तशब्देन च द्रव्यमात्राभिधानात्, अतश्च भिन्नार्थनिष्ठत्वात्तन्मतेऽपि न मुख्यं सामानाधिकरण्यम्, किंतु लाक्षणिकमेवेति न कश्चिद्विशेषः।

णिक सामानाधिकरण्य मानना संगत नहीं है। समाधान ग्रन्थ है—अनन्यलभ्य-शब्दार्थत्वस्य व्यवस्थापितत्वात्। यह कहा जा चुका है कि शब्द का अभिधेय वही अर्थ हो सकता है जो अन्य प्रकारों से लभ्यमान न हो। भावना ही अनन्यलभ्य है, कर्ता तो अन्य लभ्य है। इस प्रकार यदि नहीं स्वीकार किया जाय तो 'सिंहो देवदत्तः' में भी मुख्य सामानाधिकरण्य स्वीकार करना होगा।

वैयाकरण की ओर से शंका हो सकती है कि 'सिंहो देवदत्तः' स्थल में देवदत्त को सिंह कहना प्रत्यक्ष बाधित है। अतः मुख्य सामानाधिकरण्य न मानकर सिंहगत क्रौर्यगुण के समान गुण देवदत्त में पाने से देवदत्त को सिंह कहा जाता है, तो गौण सामानाधिकरण्य लाचारी से स्वीकार किया जाता है। 'चैत्रः पचति' आदि स्थल में मुख्य सामानाधिकरण्य स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है, इस शंका के समाधान में ग्रन्थ प्रस्तुत हुआ—किं चाख्यातवाच्यः कर्तेति आदि। समाधान ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि आख्यात का वाच्य कर्ता है, यह कहनेवाले के पक्ष में भी 'देवदत्तः पचति' आदि स्थल में मुख्य सामानाधिकरण्य नहीं बन पाता। क्योंकि 'देवदत्त' शब्द का अर्थ द्रव्य है अर्थात् व्यक्ति है, आख्यात का अर्थ कर्तृ-कारक है, अर्थात् कर्तृत्व अर्थ है। कारक सामान्यक्रिया-संपादन की शक्ति रखते हैं। जैसे तृतीया करण कारक का अभिधान करती हुई करण में विद्यमान करणत्व अर्थात् क्रियानिर्वर्तकत्व शक्ति की ही अभिधायिनी है, उसी प्रकार आख्यात भी कर्तृत्वरूप क्रियानिर्वाहकत्व के शक्ति का ही अभिधायक है। वह शक्ति देवदत्तपद-वाच्य द्रव्य में रहती है। यदि शक्तिमद्द्रव्य का वाचक आख्यात होता तो दोनों का सामानाधिकरण्य मुख्य हो सकता था। आकृत्यधिकरण के सिद्धान्त से आख्यात शक्तिमात्र का अभिधायक है, यह सिद्ध होता है। सार यह निकला कि देवदत्त-पद का द्रव्य अर्थ है और आख्यात का कर्तृत्वशक्ति अर्थ है। इस प्रकार दोनों के भिन्नार्थक हो जाने से एकार्थप्रतिपादकत्वरूप मुख्य सामानाधिकरण्य वैयाकरणों के मत से भी सिद्ध नहीं है। अतः गौण सामानाधिकरण्य जैसे आप का है उसी प्रकार मेरा भी है, तो मीमांसक की अपेक्षा वैयाकरण के पक्ष में कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती।

न च 'लः कर्तरी'ति व्याकरणस्मृतिबलादाख्यातवाच्यः कर्तेति वाच्यम्। न हि वाच्यवाचकभावो व्याकरणस्मृत्यधीनः। तस्य न्यायसहितान्वयव्यतिरेकगम्यत्वात्। भवतु वा स्मृतिगम्यः, तथापि नेयं स्मृतिः कर्तुराख्यातवाच्यत्वे प्रमाणम्; किन्तु कर्तुरेकत्वे एकवचनात्मको लकारः, द्वित्वे द्विचना-

---

'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इत्यादि न्याय से मीमांसक के स्वार्थ की सिद्धि होने पर भी व्याकरण-स्मृति का विरोध अपने स्थान में है ही। न्याय से स्मृति प्रबल है। यदि उक्त न्याय के द्वारा आख्यात का भावना अर्थ मान कर आक्षेप के द्वारा कर्ता का लाभ स्वीकार किया जाय तो कर्ता के अर्थ में लकार का विधान करने वाली 'लः कर्तरि' इत्यादि स्मृति का विरोध होगा, तो इस प्रश्न के समाधान में प्रवृत्त ग्रन्थ है—न हि वाच्यवाचकभावः इत्यादि। दो का विरोध तो प्रतीयमान है। किन्तु विरोध के विषय में यह व्यवस्था होती है कि दोनों समानविषयक हों। विभिन्न विषयवाले दो का विरोध नहीं माना जाता। निषेध प्रकरण में इसकी विवेचना की जायगी। प्रकृत 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' यह न्याय वाच्यवाचकसंबन्धविषयक है, अर्थात् कौन वाच्य है और कौन वाचक इस विचार के लिए प्रवृत्त है। इसी प्रकार स्मृति साधु और असाधुविषयक है अर्थात् कौन सा शब्द शुद्ध है? और कौन सा शब्द अशुद्ध है! इस निर्णय के लिए व्याकरण प्रवृत्त है। अतः व्याकरण का न्याय के साथ कोई विरोध नहीं है। वाच्य वाचक भाव-कौन अर्थ है, और कौन उसका प्रतिपादक शब्द है? यह 'अनन्यलभ्यः' न्याय से युक्त अन्वयव्यतिरेकलोक से गम्यमान[1] है। अथवा वाच्यवाचकभाव स्मृतिगम्य भी माना जाय तब भी यह स्मृति आख्यात का अर्थ कर्ता सिद्ध करने में प्रमाण नहीं है। 'लः कर्मणि' यह स्मृति कर्ता की एकत्वसंख्या विवक्षित होने पर एकवचनात्मक, द्वित्व विवक्षित होने से द्विवचनात्मक, और बहुत्व विवक्षित होने पर बहुवचनात्मक लकार का विधान करने के लिए प्रवृत्त हुई है। इस प्रकार अर्थ करने में हेतु है—एकवाक्यत्वात्। 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' 'बहुषु बहुवचनम्' इन सूत्रों की परस्पर एकवाक्यता करनी पड़ती है। एकवाक्यता न होने पर 'लः कर्मणि' सूत्र कर्ता आदि अर्थ में लकार का विधायक है, 'द्व्येकयोः' सूत्र द्वित्व और एकत्व का बोधक है, और 'बहुषु' सूत्र बहुत्व का ज्ञापक है ऐसा अर्थ कहना पड़ेगा। ये सभी अर्थ एकदेश भूत हैं, तो समुचित अर्थज्ञान कराने में ये सूत्र समर्थ नहीं होंगे। वाक्य (मीमांसा) शास्त्र में यह रीति होती है कि अर्थवाद वाक्यों को विधिवाक्य के साथ एकवाक्यता करके अर्थ का अवबोध करना, किन्तु पद (व्याकरण) शास्त्र में यह रीति नहीं है ऐसा भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि संज्ञा-परिभाषादि सूत्रों में एकवाक्यता करके ही अर्थ

---

१. वाच्यवाचकसंबन्धो नाचार्यैरुपदिश्यते। अन्यथानुपपत्त्या हि व्यवहारात् स गम्यते॥ वार्तिके।

त्मकः, बहुत्वे बहुवचनात्मक इत्यस्मिन्नर्थे प्रमाणम्, 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने, बहुषु बहुवचनमि'त्यनेनास्याः स्मृतेरेकवाक्यत्वात् ॥

यत्तूक्तम्—कर्तुरनभिधाने देवदत्तेन पचतीति तृतीयाप्रसङ्गः—इति, तन्न; तृतीया हि कर्तुः प्रतिपत्त्यर्थं तद्गतसङ्ख्याप्रतिपत्त्यर्थं वा। तत्र कर्ता तु भावनाक्षेपादेव लभ्यत इति न तत्र तृतीयापेक्षा। तत्सङ्ख्या तु आख्यातेनैव प्रतीयत इति न तत्राप्यपेक्षा। यथाहुः—

सङ्ख्यायां कारके वा धीर्विभक्त्या हि प्रवर्त्यते।
उभयं चात्र तत्सिद्धं भावनातिङ्विभक्तितः ॥ इति

यत्र तु नाख्यातेन तद्गता सङ्ख्योच्यते तत्र भवत्येव तृतीया, यथा-

---

करना पड़ता है, और अधिकार सूत्रों को तदधिकृतसूत्रों के साथ एकवाक्यता करके ही अर्थ करना होता है। अतः सिद्ध होता है कि कर्ता की एकत्व-संख्या विवक्षित होने पर एकवचनात्मक लकार होता है, इत्यादि में ही स्मृति प्रमाण है, कर्तारूप अर्थ बोधन में यह प्रमाण नहीं है।

पूर्वपक्षी की शंका का अनुवाद करते हुए सिद्धान्ती निराकरण करता है—यत्तूक्तं कर्तुरनभिधाने इत्यादि। कर्त्ता के अनभिधान में 'देवदत्तः पचति' में 'देवदत्तेन' तृतीया का आपादन पूर्वपक्षी ने किया था। इस प्रसंग में पूर्वपक्षी से पूछा जाता है कि आपादन की गई तृतीया का कार्य क्या है? क्या कर्ता के ज्ञान के लिए? अथवा कर्ता की संख्या के ज्ञान के लिए? भावना से आक्षेप के द्वारा कर्ता की प्रतीति हो जाती हो तो तृतीया की आवश्यकता क्यों? कर्तृगतसंख्या के ज्ञान के लिए भी तृतीया की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह संख्या आख्यात से ही ज्ञात है। तब तृतीया का आपादान कैसा? इस सन्दर्भ में वार्तिक का प्रमाण दिया जाता है—यथाहुः।

विभक्ति का प्रयोजन होता है संख्या तथा कारक का ज्ञान कराना। प्रकृत स्थल में भावना और तिङ्विभक्ति से दोनों—कर्ता और संख्या का ज्ञान हो जाता है तो 'देवदत्तेन' यहाँ तृतीया क्यों होगी। इसलिए कर्तृगत संख्या के अनभिधान में तृतीया होगी, ऐसा अर्थ सूत्र का मानना है। कर्मप्रत्यय स्थल 'रामेण हन्यते' में आख्यात के द्वारा कर्तृगत संख्या का अभिधान नहीं है, इसलिए 'रामेण' तृतीया होती है। सिद्ध हुआ कि आख्यात का अर्थ भावना है, और वह अपनी स्थिति के लिए कर्ता का आक्षेप करती है।

इतना विचार 'एकपदश्रुति'प्रमाण के प्रसंग में किया गया। 'यजेत' में आख्याताभिहित संख्या का याग के अंग बनने में असामर्थ्य होने पर भावनाक्षेपलब्ध

देवदत्तेन ओदनः पच्यते इति। तस्मान्न कर्तुरनभिधाने किञ्चिद्दूषणमित्यलमतिविस्तरेण। प्रकृतमनुसरामः। तत्सिद्धस्त्रिविधः श्रुतिविनियोगः।

(श्रुतेर्लिङ्गादितः प्राबल्यनिरूपणम्)

सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबलं प्रमाणम्। लिङ्गादिषु हि न प्रत्यक्षो विनियोजकश्शब्दोऽस्ति, किं तु कल्प्यः। यावच्च तैर्विनियोजकश्शब्दः कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या विनियोगस्य कृतित्वात्तेषां कल्पकत्वशक्तिर्विहन्यत इति श्रुतेः प्राबल्यम्।

कर्ता के द्वारा यागाङ्ग बनने में सामर्थ्य हो जाता है, यह दिखलाकर प्रकृत श्रुतिविनियोग का उपसंहार किया जाता है—तत्सिद्धस्त्रिविधः श्रुतिविनियोगः।

लिङ्ग आदि प्रमाणों से श्रुति प्रबल है

यह श्रुतिप्रमाण लिङ्ग, वाक्य आदि प्रमाणों से प्रबल है। क्योंकि लिङ्ग आदि प्रमाणों में विनियोग करनेवाला अर्थात् अङ्गता का अवगमन करानेवाला शब्द प्रत्यक्ष नहीं रहता है, उस शब्द की कल्पना करनी पड़ती है। जैसे 'बर्हिर्देवसदनं दामि' यह मन्त्र है। 'दो अवखण्डने' धातु का लट् उत्तमपुरुष एकवचन का रूप 'दामि है। देवताओं के सदन भूत बर्हि=कुश को खण्डन करता हूँ, यह मन्त्र का अर्थ हुआ। अर्थात् यह मंत्र कुशलवन अर्थ को कहने में सामर्थ्य रखता है। इस सामर्थ्य (लिङ्ग) से यह अवगत नहीं होता कि इस मन्त्र का पाठ करके कुश को काटना चाहिए। कुशलवन का यह मन्त्र अंग है, ऐसा जानने के लिए 'अनेन मन्त्रेण कुशलवनं कुर्यात्' इस मन्त्र से कुशलवन करें, शब्द की कल्पना करनी पड़ती है। जहाँ द्वितीया, तृतीया आदि विभक्ति श्रुतियाँ रहती हैं वहाँ साध्यत्व–साधनत्व को कहती हुई वे अङ्गत्व की बोधिका हो जाती हैं। लिङ्ग, वाक्य आदि स्थलों में अंगता के अवगमक शब्दों की कल्पना करनी पड़ती है। इतना ही नहीं, किन्तु अपने-अपने पूर्वप्रमाणों की भी कल्पना करनी होती है। जैसे लिङ्ग से श्रुति का विरोध होने पर लिङ्गश्रुति की कल्पना करके वाक्य से श्रुति का विरोध होने पर लिङ्ग और श्रुति की कल्पना करके और प्रकरण से श्रुति का विरोध होने पर वाक्य, लिङ्ग और श्रुति की कल्पना करके ये प्रमाण विनियोजक होते हैं। इस प्रकार ये प्रमाण अपने-अपने पूर्वप्रमाण की कल्पना में लगे रहते हैं, तो श्रुतिप्रमाण प्रत्यक्ष विनियोजकप्रमाण को लेकर पदार्थ का अंगत्व बोधन कर देता है। अतएव श्रुतिप्रमाण प्रबल कहा जाता है। पहले कहा जा चुका है कि 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः'। अन्य की अपेक्षा किये बिना जो शब्द अंगत्वे का बोधक है, वह श्रुति है। लिङ्ग आदि अन्य-सापेक्ष हैं। अतएव श्रुति प्रबल प्रमाण है। प्रबल प्रमाण प्रवृत्त हो जाने पर दुर्बल प्रमाणों में

अत एव "ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत''इत्यत्र यावल्लिङ्गादैन्द्र्या इन्द्रोपस्थाना[1]ङ्गत्वं कल्प्यते तावत् प्रत्यक्षया श्रुत्या गार्हपत्योपस्थाना[2]ङ्गत्वं क्रियत इति ऐन्द्री[3] गार्हपत्योपस्थानाङ्ग[4]म् ।

(लिङ्गनिरूपणम्)

सामर्थ्यं लिङ्गम्। यदाहुः—

'सामर्थ्यं सर्वभावानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इति ।

विद्यमान कल्पकत्वशक्ति कुण्ठित हो जाती है, क्योंकि प्रवल प्रमाण ने अंगत्व बोधन कर दिया तो उनका कार्य समाप्त हो जाता है ।

लिंग से श्रुति के प्रावल्य में उदाहरण दिया जाता है—ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते। इन्द्रो देवता अस्या इति ऐन्द्री, तया ऐन्द्र्या अर्थात् इन्द्र देवतावाली ऋचा से । जो ऋचा इन्द्र देवता का वर्णन करती हो वह ऋचा ऐन्द्री कहलाती है। जैसे—

'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नुते दानं देवस्य पृच्यते ।।

यह पूरा मन्त्र ऐन्द्री है। इस मन्त्र से (गार्हपत्यं) गार्हपत्यनामक अग्नि के (उपतिष्ठते उपपूर्वक स्था धातु का अर्थ) समीप में खड़े हो जाना अथवा मन्त्र को कहते हुए इस अग्नि के समीप में जाना। ऐन्द्री मन्त्र का उच्चारण करते हुए गार्हपत्य अग्नि के समीप में खड़ा होना या गार्हपत्य के पास जाना, यह विधिवाक्य का अर्थ हुआ। 'गार्हपत्यं' में द्वितीया साध्यत्व अर्थात् प्राधान्य की बोधिका है। ऐन्द्र्या में तृतीया साधनत्व अर्थात् अङ्गत्व की परिचायिका है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि ऐन्द्री मन्त्र गार्हपत्योपस्थान का अङ्ग है। अर्थात् इसका उच्चारण कर गार्हपत्य अग्नि के समीप में खड़ा होना चाहिए या उसके समीप जाना चाहिए। मन्त्र के सामर्थ्य का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इन्द्र देवता के प्रकाशक इस मन्त्र से इन्द्रोपस्थान करना चाहिए। किन्तु इन्द्रोपस्थान करने का बोधक शब्द 'इन्द्रमुपतिष्ठते' नहीं है। सामर्थ्य से इस शब्द की कल्पना करनी पड़ेगी। जब तक सामर्थ्य शब्द की कल्पना में प्रवृत्त होगा उससे पूर्व 'गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यह प्रत्यक्ष श्रुति मन्त्र का गार्हपत्योपस्थानाङ्गत्व बोधन कर देगी तो लिङ्गप्रमाण में विद्यमान कल्पकत्व शक्ति को श्रुति रोक देती है। इसीलिए श्रुति प्रबल प्रमाण है।

लिङ्गप्रमाण

सामर्थ्यं लिङ्गम्। सामर्थ्य शब्द का अर्थ है शक्ति। यह शक्ति शब्दगत और अर्थगत दो प्रकार की है। अतएव वृद्धसंमत 'सामर्थ्यं सर्वभावानां

---

१. २. नार्थ० ३. द्र्या ४. ङ्गत्वम्

तेनाङ्गत्वं, यथा—'बर्हिर्देवसदनं[1] दामि' इत्यस्य लवनाङ्गत्वम्। स हि लवनं प्रकाशयितुं समर्थः। तच्च लिङ्गं द्विविधम्—सामान्यसम्बन्धबोधक-प्रमाणान्तरानपेक्षं तदपेक्षं च। तत्र यदन्तरेण यन्न सम्भवत्येव तस्य तदङ्गत्वं तदनपेक्षं केवललिङ्गादेव। यथा—अर्थज्ञानस्य कर्मानुष्ठानाङ्गत्वम्। न ह्यर्थज्ञानमन्तरेणानुष्ठानं सम्भवति।

शक्तिरित्यभिधीयते' इसमें सर्वभावानां कहा है। भाव—शब्द भी है और अर्थ भी। अर्थगत सामर्थ्य का विचार सामर्थ्याधिकरण[2] में कर चुके हैं। तृतीयाध्याय के इस लिङ्गाधिकरण में शब्दगत सामर्थ्य का विचार करना है। शब्दगत सामर्थ्य से विनियोग का उदाहरण है—बर्हिर्देवसदनं दामि'। यह मन्त्र बर्हि के लवन-प्रकाशन में सामर्थ्य रखता है। अतः वह सामर्थ्य = लिंग, मन्त्र का लवन के प्रति अंगत्व बतलाता है।

लिङ्गप्रमाण का विभाजन करते हैं—तच्च लिङ्गं द्विविधम्। प्रथम लिंगप्रमाण अंग और अंगी का सामान्यसंवन्ध वतलाने वाले प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। दूसरा उस प्रकार के प्रमाण की अपेक्षा रखता है। अंग और अंगी का उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध होता है। उपकारक अंग और उपकार्य अंगी। किसका कौन उपकारक, किसका कौन उपकार्य, इसको अवगत कराने के निमित्त छः प्रमाण श्रुति आदि माने गये हैं। उनमें लिंगसामर्थ्यशक्तिरूप द्वितीय प्रमाण अपने सामर्थ्य से अंगत्व को बतला तो देता है, किन्तु यदि कदाचित् कोई बाधा या व्यभिचार की शंका कर दे कि इसके विना ही कार्य सम्पन्न कर लें। जिस उपकार के निमित्त अंग का अनुष्ठान माना जाता है वह उपकार नहीं होता हो आदि। तब वह सामर्थ्य प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखता है। जहाँ इस प्रकार की शङ्का का उदय नहीं है, वहाँ प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती है।

निर्दिष्ट अंग के विना कार्य संपन्न नहीं होता हो वहाँ अंग और अंगी का सामान्यसंवन्ध वतलाने वाले प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। जिस अंग के बिना कार्य संपन्न हो जाता हो वहाँ उसके अंगत्व की व्यवस्था के लिए सामान्यसंबन्ध

---

१. बर्हिर्देवसदनमारभे' इति तैत्तिरीयो मन्त्रः

२. प्रथम अध्याय का अंतिम अधिकरण है। यहां का विचार है कि श्रौत यागों में पुरोडाश, आज्य और मांस तीन प्रकार के द्रव्य होते हैं। इन द्रव्यों का अवदान (अलग) करके होम होता है। अवदान करने के स्रुव, हाथ और छुरा तीन साधन 'स्रुवेणावद्यति' 'हस्तेनावद्यति' 'स्वधितिनावद्यति' विहित हैं। किन्तु किस साधन से किस द्रव्य का अवदान करना चाहिए, यह ज्ञात नहीं है। द्रव्यगत सामर्थ्य से इसकी व्यवस्था मानी गयी है: जैसे स्रुव से आज्य, हस्त से पुरोडाश, तथा स्वधिति से मांस। यह है पदार्थगत सामर्थ्य का विचार।

यदन्तरेण यत्सम्भवति तस्य तदर्थत्वं तदपेक्षम्, यथा—उक्तस्य मन्त्रस्य लवनाङ्गत्वम्; लवनं हि मन्त्रं विनाप्युपायान्तरेण स्मृत्वा कर्तुं शक्यम्, अतो न मन्त्रो लवनस्वरूपार्थस्सम्भवति, किन्त्वपूर्वसाधनीभूतलवनप्रकाशनार्थः। तत्त्वं च न सामर्थ्यमात्रादवगम्यते, लवनप्रकाशनमात्रे सामर्थ्यात्। अतोऽवश्यं प्रकरणादि सामान्यसम्बन्धबोधकं स्वीकार्यम्। दर्शपूर्णमासप्रकरणे हि मन्त्रस्य पाठादेवमवगम्यते—अनेन मन्त्रेण दर्शपूर्णमासापूर्वसम्बन्धि किञ्चित् प्रकाश्यते—इति। अन्यथा प्रकरणपाठवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। किं तदपूर्वसम्बन्धि प्रकाश्यमित्यपेक्षायां सामर्थ्याद्बर्हिर्लवनमित्यवगम्यते। तद्धि बर्हि-

---

बतलाने वाले प्रमाण की अपेक्षा होती है। जैसे सभी कर्मों का अनुष्ठान, ज्ञानपूर्वक होता है। कर्मस्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ और कर्म का अनुष्ठान होता है, यह संभव नहीं है। समझे विना कर्म का अनुष्ठान कैसे संभव हो सकता है। अतः सिद्ध हुआ कि अर्थज्ञान कर्मसामान्य के अनुष्ठान में अंग है। इसमें प्रमाण है सामर्थ्य और वह अर्थज्ञान अंग होने में प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं करता।

लिङ्ग प्रमाण का दूसरा उदाहरण है—यथा उक्तस्य मन्त्रस्य। बर्हिर्देवसदनं दामि'। यह मन्त्र लवन रूप अर्थ के प्रकाशन में सामर्थ्य रखता है, अतः इस मन्त्र से कुश का लवन करना चाहिए, इस प्रकार विधि की कल्पना करके लवनक्रिया के प्रति मन्त्र की अंगता सिद्ध करना है। इसमें प्रश्न हो सकता है कि मन्त्र के विना ही कुशों का लवन करें, लवनकार्य तो सम्पन्न हो ही जायगा, मन्त्र की क्या आवश्यकता है? यद्यपि मन्त्रों का कार्य होता है अनुष्ठान में लगे हुए ऋत्विजों को पदार्थस्मरण कराना। मन्त्रों का उच्चारण करते हुए ऋत्विज मन्त्रार्थज्ञान से आगे के पदार्थों का स्मरण करते हैं, और तदनुसार पदार्थों का अनुष्ठान करते हैं, यह पदार्थ-स्मरणरूप फल मिलता है; तथापि स्मरण फल उपायान्तर से भी हो सकता है, तो मन्त्रोच्चारण की क्या आवश्यकता? ऐसा प्रश्न होने पर इसका समाधान मन्त्र के सामर्थ्यमात्र से नहीं हो पाता है। पहले कहा जा चुका है कि सभी अंग स्वरूपसंपादन के लिए न होकर अपूर्वसंपादन के लिए होते हैं। यह केवल सामर्थ्य से नहीं जाना जा सकता है। इस लिए सामर्थ्य प्रमाणान्तर की अपेक्षा रखता है। क्योंकि सामर्थ्य लवन अर्थ को प्रकाशन करते हुए शान्त हो जाता है। अतः अपूर्वसंबन्ध बतलाने के निमित्त प्रकरण आदि प्रमाण स्वीकार करने पड़ते हैं। प्रकृत मन्त्र दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित है। पाठ से अवगत होता है कि प्रकरणसंबन्धी किसी अर्थ को यह प्रकाशित करता है। यदि मन्त्र के द्वारा प्रकाशित अर्थ का प्रकरण के साथ संबन्ध न माना जाय तो इस मन्त्र का इस प्रकरण में पाठ व्यर्थ हो जायगा। अतः स्वीकार

स्संस्कारद्वाराऽपूर्वसंबन्धीति मन्त्रस्य सामर्थ्यात्तदर्थत्वे सति नानर्थक्यं प्रसज्यते। तस्मात् 'बर्हिर्देवसदनं दामी' त्यस्य प्रकरणाद्दर्शपूर्णमाससम्बन्धितयावगतस्य सामर्थ्याल्लवनाङ्गत्वमिति सिद्धम्।

पूषानुमन्त्रणमन्त्राणां तु यागानुमन्त्रणसमाख्यया यागसामान्यसम्बन्धेऽवगते सामर्थ्यात्पूषयागसम्बन्धोऽवगम्यते।

ननु तेषां यावत्समाख्यया पूषयागेन सामान्यसंबन्धोऽवगम्यते, तावत् प्रकरणाद्दर्शपूर्णमासाभ्यामेव सामान्यसंबन्धोऽवगतः, समाख्यातस्तस्य बली-

---

करना चाहिए कि प्रकरणसम्बन्धी अपूर्व के प्रकाशननिमित्त इस मन्त्र का इस प्रकरण में पाठ है। प्रकरणसंबन्धी वह अपूर्व कौन है? विशेष जिज्ञासा की पूर्ति सामर्थ्य करता है कि बर्हि के लवनसंबन्धी अपूर्व। अर्थात् 'बर्हिर्लुनाति' से प्राप्त लवन इस मन्त्र से करने पर ही वह बर्हि दर्शपूर्णमास से जायमान अपूर्व का उपकारक होगी अन्यथा नहीं। निष्कर्ष यह हुआ कि 'बर्हिर्देवसदनं दामि' यह मन्त्र सामान्यसंबन्धबोधकप्रमाण प्रकरण से दर्शपूर्णमास का संबन्ध रखता है और उसका लिङ्ग से लवनांगत्व बोधित होता है।

लिङ्ग से अपेक्षित सामान्य-संबन्ध-बोधक-प्रमाण-प्रकरण को बतलाया गया। अब उस प्रकार का प्रमाण 'समाख्या' भी होता है, यह कहते हैं—पूषानुमन्त्रणमन्त्राणाम्। मन्त्र अनेक प्रकार के होते हैं—करणमन्त्र, क्रियमाणानुवादी मन्त्र, याज्यामन्त्र, पुरोनुवाक्य मन्त्र, अनुमन्त्रण मन्त्र इत्यादि। इनमें अनुमन्त्रण मन्त्र वह होता है जो याग की समाप्ति होने पर यजमान द्वारा उच्चार्यमाण होता है। इस प्रकार के मन्त्रों की समाख्या—संज्ञा 'यागानुमन्त्रण मन्त्र' है। मन्त्र की आनुपूर्वी यह है—'पूष्णोऽहं देवयज्यया पुष्टिमान् पशुमान् भूयासम्'। इस मन्त्र की समाख्या—संज्ञा से सामान्य यागसंबन्ध अवगत होने पर मन्त्रगत सामर्थ्य से पूष देवता जिसमें है उस विशेष याग का संबन्ध निश्चित होता है। पूष देवतावाला याग 'पौष्णं चरुम्' इत्यादि वाक्यों से विहित है। उस याग का यह मन्त्र अंग है।

इस सन्दर्भ में एक शंका होती है कि यह मन्त्र दर्शपूर्णमासप्रकरण में अधीत है। सामान्यसंबन्धबोधन करनेवाले समाख्या प्रमाण का अवलंबन करते हुए सामर्थ्य पूषदेवतावाले याग का मन्त्र अंग कहना ठीक नहीं है। क्योंकि अंगत्व बोधक छः प्रमाणों में समाख्या अन्तिम प्रमाण है और यह सबसे दुर्बल है। इसकी अपेक्षा प्रकरण प्रमाण चौथा है। बलाबलाधिकरण न्याय से पूर्व-पूर्व प्रमाण प्रबल होता है, तो प्रकरणप्रमाण से यह मन्त्र दर्शपूर्णमास का ही अंग क्यों न माना जाय? अर्थात् दुर्बल समाख्या, सामान्यसंबन्ध बोधन करने के लिए जब प्रवृत्त होगी, उसके पूर्व ही प्रबल प्रकरणप्रमाण उस संबन्ध का बोधक होकर सामर्थ्य का आश्रय बन

यस्त्वात् । अत एव पौरोडाशिकमिति समाख्याते ब्राह्मणे आम्नातानामपि प्रयाजानां प्रकरणात् सान्नाय्योपांशुयाजाङ्गत्वमपीत्युक्तम् ।

किं च यागानुमन्त्रणसमाख्ययापि न पूषयागेन सामान्यसंबन्धोऽवगम्यते, किं तु यागमात्रेण; प्रकरणेन तु दर्शपूर्णमासाभ्यामेव विशेषसंबन्धोऽवगम्यते । अतः प्रकरणाज्झटिति तत्सम्बन्धस्यैवावगतत्वात्तदर्थत्वमेव तेषां युक्तम्, पूषेतिशब्दस्य पुष्णातीति व्युत्पत्त्या कथञ्चिदग्न्याद्यभिधायित्वात् ।

सकता है । क्योंकि समाख्या से प्रकरण प्रबल प्रमाण है । इसका उदाहरण देते हैं—अतएव पौरोडाशिकमिति । याज्ञिक पदार्थों का समुदायरूप से व्यवहार करने के लिए अनेक समाख्यायें बनायी गयी हैं—'पौरोडाशिकं काण्डम्' 'आध्वर्यवं काण्डम्' आदि । पुरोडाश याग से संबन्ध रखने वाले पदार्थ जहाँ पठित हैं वहाँ उसकी संज्ञा 'पौरोडाशिकं काण्डम्' है । तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय काण्ड का पांचवाँ और छठा प्रपाठक 'पौरोडाशिकं काण्डम्' इस समाख्या से व्यवहृत है । इस पौरोडाशिक काण्ड में पाँच प्रयाज याग–समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति और स्वाहाकारं यजति पठित हैं । पौरोडाशिक समाख्या से ये पांचों प्रयाज पुरोडाश याग के अंग प्रतीत होते हैं । दर्शपूर्णमास में दो आग्नेय पुरोडाश याग, अग्नीषोमीय पुरोडाशयाग एक, उपांशुयाज, आज्यद्रव्यक याग एक, इन्द्रदेवताक दधिपयोद्रव्यक दो याग (ये दोनों याग सान्नाय्य संज्ञा से व्यवहृत हैं)। इस प्रकार छः याग हैं । इनमें समाख्या से प्रयाज पुरोडाशयाग के ही अंग होंगे। समाख्या को बाधित करके प्रकरणप्रमाण, प्रयाजों में उपांशुयाज एवं दधिपयो—(सान्नाय्य) याग का भी अंगत्व बोधित करता है । उक्तम् । वार्तिककार ने बलाबलाधिकरण में कहा है ।

केवल इतना ही नहीं कि प्रबल प्रकरण से बाधित होने से समाख्याप्रमाण, मन्त्र को पूषदेवताक याग का अंग नहीं सिद्ध कर सकता, किन्तु समाख्याप्रमाण याग-सामान्य के संबन्ध को भी बोधन करनेवाला है और प्रकरण तो विशेष दर्शपूर्णमास याग संबन्ध को बतलाने वाला है । अतः समाख्या से प्रथम प्रवृत्त होकर प्रकरण दर्शपूर्णमाससंबन्ध को बतलाते हुए मन्त्र में दर्शपूर्णमास का अङ्गत्व स्थापित कर देता है । अतः प्रकरण से मन्त्र को दर्शपूर्णमास का ही अङ्ग मानना युक्त है । इस प्रकार मन्त्र को दर्शपूर्णमास का अंग मानने पर एक बाधा उपस्थित होती है कि पूष-नामक देवता दर्शपूणमास याग में नहीं, है तो यह मन्त्र अंग बन कर ही क्या करेगा ? प्रयोग में समवेत द्रव्य या देवता का स्मरण कराना ही तो मन्त्रों का प्रयोजन है । जब दर्शपूर्णमास यागों में पूषा देवता है ही नहीं तब यह अंग बनकर किस प्रयोजन का संपादन करेगा ? इसी बाधा को दूर करने का ग्रन्थ है—पूषेति शब्दस्य पुष्णातीति आदि । पुष्णातीति पूषा व्युत्पत्ति से पूषा का अर्थ अग्नि आदि मानकर पूषानुमन्त्रण मन्त्र को दर्शपूर्णमासाङ्ग माना जा सकता है ।

मैवम् । पूषानुमन्त्रणमन्त्रे हि श्रूयमाण एवमवगम्यते—पूषाभिधानसमर्थत्वादयं मन्त्रस्तत्प्रकाशनार्थः—इति,लवनमन्त्र इव लवनप्रकाशनार्थः । न तत्र प्रकरणाद्यपेक्षा, येन तेषामुपजीव्यत्वेन प्राबल्यं स्यात् । प्रकरणात्तु दर्शपूर्णमासार्थत्वे तस्य वाक्यलिङ्गश्रुतिकल्पनेन विनियोजकत्वात् लिङ्गस्योपजीव्यत्वेन प्राबल्यम् । अतो लिङ्गात्पूषप्रकाशनार्थत्वेऽवगते तन्मात्रप्रकाशनमनर्थकमित्यपूर्वसाधनपूषप्रकाशनार्थत्वं वक्तव्यम् । किं तदपूर्वमित्यपेक्षायां यागानुमन्त्रणसमाख्यानुगृहीताल्लिङ्गात पूषयागापूर्वसम्बन्धिदेवताप्रकाशनार्थोऽयमित्यवगम्यते । अतो यद्यपि समाख्यातः प्रकरणं बलीयः तथाऽपि तस्य लिङ्गेन बाधितत्वात् समाख्याया दुर्बलाया अपि प्रबललिङ्गाश्रितत्वेन प्राबल्यात् सैव सामान्यसम्बन्धे प्रमाणं सम्भवति, दुर्बलस्यापि प्रबलाश्रितस्य प्राबल्यात् ।

अत एव श्रुत्यपेक्षया दुर्बलाया अपि स्मृतेराचमनरूपपदार्थाश्रितत्वेन

इस शंका के खण्डनरूप से प्रवृत्त ग्रन्थ है—मैवम् । खण्डन का भाव है कि 'पूष्णोऽहं देवयज्यया' यह मन्त्र अपने सामर्थ्य से केवल पूष देवता का प्रकाशन करते हुए प्रयोजन को नहीं प्राप्त करता, क्योंकि पूष-देवता-संबन्धी यह मन्त्र है, इतने ज्ञान से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । जब तक अपूर्व संबन्ध अवगत नहीं होता, तब तक निष्प्रयोजन ही है । अतः मन्त्रगत सामर्थ्य, सामान्यसंबन्ध बतलाने वाले प्रमाण की अपेक्षा करने पर 'यागानुमन्त्रण मन्त्र' समाख्या के अवलंबन से पूषदेवतावाले याग के अपूर्व के साथ संबन्ध रखनेवाले देवता के प्रकाशन के लिए है, मन्त्र ऐसा बतलाता है। समाख्या से प्रकरण प्रबल होता है किन्तु वह लिङ्गप्रमाण से बाधित होने से समाख्या का बाधक नहीं बन सकता क्योंकि समाख्या प्रबल लिङ्गाश्रित है । अतः समाख्या ही लिङ्ग के लिए सामान्य संबन्ध बतलाने वाला प्रमाण हो जाता हैं, स्वयं समाख्या दुर्बल होते हुए भी प्रबलाश्रित होने से प्रबल बन जाता है ।

इस संदर्भ को शिष्टाकोपाधिकरण न्याय बतलाकर पुष्ट करते हैं—अत एव श्रुत्यपेक्षया आदि से । प्रथमाध्याय तीसरे पाद के तीसरे अधिकरण को शिष्टाकोपाधिकरण कहते हैं । वहाँ का विचार है कि 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इस विधि ने वेद और वेदि बनाने का क्रम बतलाया है । वेद शब्द का अर्थ है सोये हुए बछड़े की जानुसदृश आकारवाले कुशाओं से बनायी गयी मुष्टि। दर्शपूर्णमास के जुहू आदि पात्रों के साफ करने और पुरोडास के भस्म को हटाने आदि कार्यों में इसका उपयोग होता है। इस वेद को बनाकर वेदि (यज्ञवेदी) को बनाना

प्राबल्यात्पदार्थधर्मगुणभूतश्रौतक्रमत्यागेन वेदकरणानन्तरं क्षुते आचमनमेव कार्यमित्युक्तम् ।

यथाहुः—

87 अत्यन्तबलवन्तोऽपि पौरजानपदा जनाः ।

चाहिए। वेद को बनाकर ही वेदि का निर्माण करना, क्रम है। इस क्रम का विधायक है 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति'। दैववशात् 'वेद' बनाकर अध्वर्यु छींक दे तो स्मृतिकार आचमन का विधान करते हैं—'क्षुते आचामेत्'। बीच में आचमन करने पर वेद और वेदि का जो श्रुति से विहित क्रम है, उसका उपरोध हो जाता है। क्रम की विधायिका श्रुति है, और आचमन की विधायिका स्मृति। श्रुत्यर्थ का विरोध होने पर दुर्बल स्मृति को प्रबल श्रुति बाधित कर देती है। अतः बीच में आचमन करना नहीं चाहिए, यह पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर शिष्टाकोपाधिकरण में सिद्धान्त किया गया है कि आचमन करना चाहिए। यह ठीक है कि श्रुति प्रबल है और स्मृति दुर्बल है। प्रमाणों का यह प्रबल तथा दुर्बल भाव है, किन्तु दोनों प्रमाणों के प्रमेयों को देखने पर श्रुति का प्रमेय अर्थात् पदार्थों में रहने वाला क्रम धर्म है, स्मृति का तो पदार्थ आचमन है। पदार्थ और पदार्थधर्मों में पदार्थ का प्राबल्य निश्चित है। क्योंकि पदार्थधर्म का आश्रय पदार्थ होता है। प्रमाणों के बलाबल के निश्चय होने से पूर्व प्रमेयों के बलाबल का निश्चय करना आवश्यक है। अतः स्मृति स्वयं दुर्बल होती हुई भी प्रबल पदार्थ आचमन की प्रतिपादिका होने से श्रुति की अपेक्षा प्रबल बन जाती है। अतः आचमन करना ही चाहिए। क्रम का अवसर तब होता है जब सारे पदार्थ आजायँ। इसलिए श्रुति से बोधित क्रम को त्याग कर बीच में छींक आने पर प्रबल पदार्थ से आश्रित स्मृति के द्वारा विहित आचमन का अनुष्ठान होगा। इस न्याय द्वारा समाख्या से प्रबल होते हुए भी प्रकरण समाख्या के आश्रयभूत लिङ्ग प्रमाण का आश्रय लेता है। अतः समाख्या से प्रकरण को दुर्बल मानना उचित है[१]। अतः सिद्ध हुआ कि सामान्य सम्बन्ध का अवबोधक समाख्या से युक्त लिङ्गप्रमाण पूषानुमन्त्रण मन्त्र के पूषदेवताक यागाङ्गत्व को अवगत करता है। इस प्रसङ्ग में वार्तिक का प्रमाण देते हैं—यथाहुः[२]। धन से, बल से

---

१ इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि कोई भी प्रबल होने से ही दुर्बल का बाधक नही बनता किन्तु विरोध प्राप्त होने पर प्रबल बाधक होता हैं। विरोध दोनों प्रमाणों के प्रमेयों पर अवलंबित है। दुर्बल का भी प्रमेय यदि प्रबल है तो दुर्बल भी प्रबल बन जाता है। यह न्याय लौकिक व्यवहार में अत्यन्त उपयोगी है।

२ यह न्याय प्रजातन्त्र का अत्यन्त उपयोगी है। न्याय पालिका का महत्त्व सुरक्षित रखना जनता का कर्तव्य हो जाता है। हमारी ही सरकार क्यों न हो प्रशासन करने वाले और जनता न्याय के सामने झुकना ही होगा।

दुर्बलैरपि बाध्यन्ते पुरुषैः पार्थिवाश्रितैः ॥ इति ।

यत्तु—पूषेति शब्दः कथञ्चिदग्न्याद्यभिधायीति—तन्न; तस्य "अदन्तको हि (स)" इत्यादिवाक्यशेषेण वैदिकप्रसिद्ध्या चाऽर्थविशेषे रूढत्वात्, रूढेश्चावयवार्थालोचनसापेक्षाद्योगात् बलीयस्त्वात् ; अत एव "वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीते"त्यत्र रथकारशब्देन सौधन्वनापरपर्यायो वर्णविशेष उच्यते, रूढेः प्राबल्यात्; न तु रथं करोतीति व्युत्पत्त्या द्विजातयः, योगस्य दौर्बल्यादित्युक्तं षष्ठे ।

तस्माद्युक्तं समाख्यया सामान्यसम्बन्धेऽवगते सामर्थ्यात्पूषयागसम्बन्धः पूषानुमन्त्रणमन्त्राणामिति ।

नगर-ग्राम-निवासी जनता कितनी ही बलवती क्यों न हो किन्तु दुर्बल राजपुरुषों के द्वारा विरोध या नियमोल्लंघन अथवा अनुशासन भंग होने पर निगृहीत हो जाती है ।

पूर्वपक्षी की उक्ति का अनुवाद करके खण्डन करते हैं—यत्तूक्तम् पूषेति शब्दः कथञ्चिदग्न्याद्यभिधायीति, तन्न । पुष्णातीति पूषा की व्युत्पत्ति से पूषन् शब्द का अर्थ अग्नि आदि देवता भी हो सकता है, किन्तु पूर्व और अपर संदर्भ का अवलोकन करके व्युत्पत्ति से सिद्ध अर्थ का ग्रहण करना चाहिए । व्याकरण के द्वारा व्युत्पत्ति होती है, अतः शब्द से मनमानी अर्थ का ग्रहण अनुचित है । इस प्रकार के स्थल में वेद स्वयं अर्थ करने की दिशा दिखलाता है । पूष देवतावाले याग के प्रकरण में 'पूषा प्रपिष्टभागः' इस विधि के संनिधि में वाक्यशेष है 'अदन्तको हि सः' । विधिवाक्य का अर्थ है—'प्रपिष्ट' 'व्रीहि या यव का आटा, 'भाग' हवि जिसका ऐसा पूषदेवता है । पूषदेवताक कर्म में आटे से बने हुए द्रव्य होंगे । वाक्यशेष का अर्थ है—क्योंकि वह पूषा दन्त रहित है । विधि और वाक्यशेष से ज्ञात होता है—रूढि से किसी देवताविशेष का नाम पूषा है । योग से रूढि प्रबल होती है 'योगाद्रूढिर्बलीयसी' न्याय है । रूढि इसलिए प्रबल है क्योंकि योग स्थल में शब्द के अवयव के अर्थों की अपेक्षा कर अर्थ करना पड़ता है, और रूढि स्थल में इस प्रकार की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती । अतः अग्नि आदि देवता से भिन्न है, जो पूष शब्द से माना जाता है । योग से रूढि के प्राबल्य में रथकाराधिकरणन्याय का उदाहरण देते हैं—वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत । वर्षाकाल में रथकार अग्न्याधान करे । रथकार शब्द 'रथं करोतीति' व्युत्पत्ति से त्रैवर्णिक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों का बोधक होता है । रूढि से सुधन्वा त्रैवर्णिक से न्यून जातिविशेष का बोध होता है । योग से रूढि के प्रबल होने से जातिविशेष का ही ग्रहण करना चाहिए, यह सिद्धान्त रथकाराधिकरण षष्ठाध्याय प्रथम पाद में किया गया है । प्रकृत विषय का

यथाहुः—

याागानुमन्त्रणानीति समाख्या[1]क्रतुयोजिका ।
तस्माच्छक्त्यनुरोधेन प्राप्तिस्तद्दैवते क्रतौ ॥ इति ।

तत्सिद्धं प्रमाणान्तरसिद्धसामान्यसम्बन्धस्य पदार्थस्य विनियोजकं लिङ्गमिति ।

तत्र मन्त्रविनियोजकं लिङ्गं मुख्य एवार्थे विनियोजकं, न गौणे । मुख्यार्थस्य प्रथमसमुपस्थितत्वेन तत्रैव[2] विनियोगबुद्धौ पर्यवसन्नायां पुनर्गौणेऽर्थे विनियोगकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात् । अत एव "बर्हिर्देवसदनं दामी"ति मन्त्रः सामर्थ्यात्कुशलवनाङ्गम्, तेषां मुख्यत्वात्, नोलपराजिलवनाङ्गमित्युक्तम् ।

उपसंहार ग्रन्थ है—तस्माद्युक्तं समाख्यया आदि । इस अर्थ में वार्तिक का प्रमाण देते हैं—यथाहुः । यागानुमन्त्रण मन्त्र समाख्या याग के साथ सामान्यसंबन्ध का बोधक है । इस प्रकार के मन्त्रों की 'अनुमन्त्रण मन्त्र' संज्ञा है । यह संज्ञा किसी याग के साथ संबन्ध के बिना अनुपपन्न होगी । अतः वह सामान्य याग के संबन्ध का बोधन करती है । अर्थात् किसी याग के साथ ये मन्त्र संबद्ध हैं, ऐसा समाख्या बतलाती है । इस प्रकार सामान्य संबन्ध प्रतीत होने पर लिङ्ग-सामर्थ्य के अनुसार तद्दैवते मन्त्र के द्वारा प्रतिपादित पूषदेवता-विशिष्ट याग में मन्त्र की प्राप्ति होती है । इतने सन्दर्भ से यह निरूपित किया गया कि सामान्य संबन्ध बोध करनेवाले प्रमाण की अपेक्षा रखता हुआ लिङ्ग विनियोजक होता है ।

लिङ्गाधिकरण में बतलायी गई एक विशेषता को निरूपित कर रहे हैं—तत्र मन्त्रविनियोजकं लिङ्गम् आदि से । मन्त्र के शब्द मुख्य एवं गौण अर्थ के प्रतिपादक होते हैं । इनमें लिङ्ग प्रमाण मुख्य अर्थ का ही विनियोजक होगा, गौण अर्थ का नहीं । क्योंकि मुख्य अर्थ पहले उपस्थित होता है । उपस्थित अर्थ के विनियोग में लिङ्गप्रमाण के व्यापृत होकर विनियोग हो जाने पर पुनः पश्चादुपस्थित गौण अर्थ के विनियोग में प्रवृत्त नहीं होता । क्योंकि दर्शपूर्णमास आदि प्रकरण में पठित मन्त्रों की आकांक्षा के अनुसार विनियोग-कल्पना होती है । यदि गौण अर्थ में लिङ्ग-प्रमाण से मन्त्र के विनियोग की कल्पना करेंगे तो पहले मुख्यार्थ के ज्ञान के बिना गौण अर्थ का ज्ञान होगा हो नहीं । पहले ज्ञान में भासमान मुख्यार्थ में ही मन्त्र का विनियोग करना है । इससे मन्त्र की आकांक्षा शान्त हो जाती है । आकांक्षा के अभाव से पुनः गौण अर्थ में विनियोग का अवसर नहीं रह जाता है । जैसे 'बर्हिर्देवसदनं दामि' में बर्हिःशब्द कुशरूप मुख्यार्थ का बोधक है और गौण शुष्क तृण का

---

१ क्रतुबोधिका, क्रतुयोजिनी इति च मुद्रितपुस्तके । २ विनियोजकतायां

(लिङ्गस्य वाक्यादितः प्राबल्यनिरूपणम्)

तदिदं लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत् । तेषां हि न साक्षाद्विनियोजकत्वम्, किं तु लिङ्गं श्रुतिं च कल्पयित्वा । न चासमर्थस्य श्रुतिं कल्पयित्वा विनियोग-कल्पना सम्भवतीति सामर्थ्यस्यापि कल्प्यत्वेनोपजीव्यत्वात् । अतस्तैर्यावत्सामर्थ्यं कल्पयित्वा श्रुतिः कल्प्यते तावदेवं क्लृप्तेन सामर्थ्येन श्रुतिं कल्पयित्वा विनियोगः क्रियते इति तस्य प्राबल्यम् । अत एव 'स्योनं ते सदनं करोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि'[१] इत्यस्य सदनाङ्गत्वं लिङ्गात्, न तु वाक्यात् पुरोडाशप्रतिष्ठापना[२]ङ्गत्वम्, तस्य दौर्बल्यादिति ॥

भी। उसमें मुख्य कुश के लवन में ही मन्त्र का विनियोग है, गौण तृणविशेष के लवन में नहीं।

वाक्य से लिङ्ग-प्रमाण का प्रावल्य

दो प्रकार के लिङ्गप्रमाणों का निरूपण कर—संप्रति वाक्यप्रमाण से लिङ्ग-प्रमाण के प्राबल्य का निरूपण करते हैं—तदिदं लिङ्गम् इत्यादि से। वाक्य-प्रमाण तब विनियोजक हो सकेगा, जब उस का विनियोज्य अर्थ के प्रकाशन में सामर्थ्य हो। सामर्थ्य की कल्पना किये विना श्रुतिकल्पना के द्वारा वाक्य विनियोजक नहीं बन सकता। सामर्थ्य का उपजीवन करते हुए ही वह श्रुति का कल्पक होगा। जब वाक्यप्रमाण सामर्थ्य की कल्पना में लगेगा, तब क्लृप्त सामर्थ्यवाला लिङ्गप्रमाण श्रुति की कल्पना करके विनियोजक बन जाता है। अतः वाक्य दुर्बल है। उदाहरण है—स्योनं ते सदनम् इत्यादि।

'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि।
तस्मिन् सीदामृत प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः' ॥

यह पूरा मन्त्र है। अध्वर्यु पुरोडाश को संबोधित कर कहता है—व्रीहियों के सार-भूत हे पुरोडाश! घृत की धारा से तुम्हारे लिए स्थान का निर्माण करता हूँ, जो स्थान समीचन होगा एवं बैठने के लिये अच्छा होगा। उस स्थान में तुम अच्छे मनवाले होकर बैठो और प्रतिष्ठा पाओ। इस मन्त्र में दो कार्य कहे गये हैं—१. स्थान-बनाना, २. उसमें बैठाना। उत्तरार्ध के 'तस्मिन्' तच्छब्द से पूर्वार्ध के साथ एकवाक्यता होकर एक वाक्य बन जाने से वाक्यरूप प्रमाण, समग्र मन्त्र को चाहे सदन बनाने में चाहे सादन बैठाने में मन्त्र का विनियोग करेगा। समग्र मन्त्र का सदन या सादन प्रकाशन में सामर्थ्य नही है। क्योंकि पूर्वार्ध सदन-प्रकाशन

---

१ स्योनं ते सदनं करोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि। तस्मिन्सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः ॥ इति समग्रो मन्त्रः।

२ सादनाङ्गत्वम्।

(वाक्यनिरूपणम्)

समभिव्याहारो वाक्यम्। समभिव्याहारो नाम साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावे वस्तुतः शेषशेषिणोस्सहोच्चारणम्। यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न (स) पापꣳ श्लोकꣳ शृणोति' इति। अत्र हि न द्वितीयादिविभक्तिः श्रूयते, केवलं पर्णताजुह्वोस्समभिव्याहारमात्रम्। तस्मादेवच पर्णताया जुह्वङ्गत्वम्। न चानर्थक्यम्, जुहूशब्देनापूर्वलक्षणात्। तदयं वाक्यार्थः—

में सामर्थ्य रखता है और उत्तरार्ध सादन-प्रकाशन में। वाक्यप्रमाण समग्र मन्त्र को सदन करने में विनियोग करेगा तो उत्तरार्ध के सदन-प्रकाशकत्व की कल्पना करेगा, अथवा समग्र मन्त्र को सादन में विनियोग करेगा तो पूर्वार्ध के सादन-प्रकाशकत्वसामर्थ्य की कल्पना करेगा। इस प्रकार कल्पना से पूर्व ही क्लृप्त सामर्थ्यवाला लिङ्गप्रमाण पूर्वार्ध को सदन करने में और उत्तरार्ध को सादन में मन्त्र का विनियोग कर देता है तो वाक्य की कल्पकत्व शक्ति को रोक देगा, अतएव वाक्य से लिङ्ग प्रमाण प्रबल है।

वाक्यप्रमाण

वाक्यप्रमाण का लक्षण ग्रन्थ है—समभिव्याहारो वाक्यम्। समभिव्याहार शब्द का अर्थ है—साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावे आदि। द्वितीया विभक्ति रहने पर साध्यत्व की और तृतीया रहने पर साधनत्व की अवगति होती है। इस प्रकार मानने पर वह श्रुतिप्रमाण ही बन जायगा। अतः द्वितीयादि विभक्ति न रहने पर जहाँ अंग और अंगी का उच्चारण हो वहाँ वाक्यप्रमाण कहलाता है। अङ्ग और अङ्गी के सहोच्चारण मात्र से अङ्गाङ्गिभाव अवगत होता हो, वहाँ वाक्य-प्रमाण और जहाँ वाक्य में द्वितीयादि विभक्ति घटित न हो वहाँ श्रुति से विनियोग समझना चाहिए। उदाहरण है—यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति। पर्णमयी का अर्थ है पलाशविकार। जुहूः वह पत्रविशेष है जिसमें अवदानसंस्कार से संस्कृत द्रव्य को रख कर होम किया जाता है। जुहूपात्र लकड़ी से निर्मित होता है। उसी लकड़ी का निर्देश है—पर्णमयी। पलाश काष्ठ से जुहू बनाना चाहिए। यहाँ द्वितीया आदि विभक्ति नहीं है किन्तु अङ्ग पर्ण और अङ्गी जुहू का समभिव्याहार है। इस समभिव्याहार से अवगत होता है कि जुहू का अङ्ग पर्ण है। 'न पापं श्लोकं शृणोति' यह भाग अर्थवाद है। एवञ्च जुहू को उद्देश्य कर पर्णता का विधान किया जाता है, तो पर्णता से जुहू का सम्पादन करा—'पर्णतया जुहूं भावयेत्' शाब्दबोध होगा। इसमें शंका हो सकती है कि जुहूपात्र जिस किसी काष्ठ से बन सकता है, तो पर्णता के विधान से क्या विशेष प्रयोजन? अतः यह विधान अनर्थक है। समाधान है—पहले कहा जा चुका है—सभी अङ्ग अपूर्व प्रयुक्त होते हैं। अर्थात् अपूर्व ही अङ्गों का प्रयोजक होता है। जुहू स्वरूपसिद्धि

पर्णतया अवत्तहविर्धारणद्वारा यदपूर्वसाधनं तद्भावयेत्—इति। एवं च पर्णताया यदि जुहूः क्रियते तदैव तत्साध्यमपूर्वं भवति नान्यथेति गम्यते इति न पर्णताया वैयर्थ्यम्। अवत्तहविर्द्धारणद्वारेति चावश्यं वक्तव्यम्, अन्यथा स्रुवादिष्वपि पर्णतापत्तेः।

सा चेयं पर्णताऽनारभ्याधीता न सर्वक्रतुषु गच्छति, विकृतिषु चोदकेनापि प्राप्तिसम्भवेन द्विरुक्तत्वापत्तेः, किन्तु प्रकृतिषु। तदुक्तम्—

के लिए पर्णता का विधान हो तो विधेय पर्णता का निश्चित आनर्थक्य है। अत एव 'जुहू' पद से जुहूसाध्य अपूर्व की लक्षणा मानी जाती है। अर्थात् जुहूत्व को उद्देश्यतावच्छेदक न मान कर अपूर्व साधनत्व को उद्देश्यतावच्छेदक स्वीकार किया जाता है। अपूर्वसाधनत्व धर्म से युक्त पदार्थ का पर्णता से संपादन करें, यह बोध होने पर उस धर्म से युक्त पदार्थ उपभृत्, ध्रुवा, स्रुव आदि भी पात्र होंगे तो उनको भी पर्णता से बनाना पड़ेगा, जबकि उनके लिए खदिर आदि काष्ठों का विधान है। अतः उनकी व्यावृत्ति के लिए 'अवत्तहविर्धारणद्वारा' यह विशेषण दिया जाता है। अर्थात् जो अवदान संस्कार से संस्कृत हवि को धारण करता हुआ अपूर्व साधन हो, उसको पर्णता से बनायें। इतने सन्दर्भ से यह सिद्ध हुआ कि पर्णता से बनायी गई जुहू के द्वारा होम करेंगे तभी अपूर्व उत्पन्न होगा अन्यथा नहीं। इस प्रकार से विहित पर्णता में आनर्थक्य का प्रसंग नहीं है।

प्रसंग से पर्णतासम्बन्धी विशेषता का उल्लेख करते हैं—सा चेयं पर्णता आदि। वेद में 'आरभ्याधीत' और 'अनारभ्याधीत' दो प्रकार के वाक्य होते हैं। किसी प्रकरण को आरम्भ कर पठित वाक्य आरभ्याधीत है और प्रकरण के बिना ही पठित वाक्य को अनारभ्याधीत कहते हैं। प्रकरणगत वाक्य, प्रकरण में जो प्रधान है उसी से सम्बन्ध रखता है। प्रकरण से सम्बन्ध नहीं रखनेवाला जैसे पर्णतावाक्य है। उसमें प्रश्न होता है कि इसका सम्बन्ध किससे होगा? इसलिए प्रश्न उत्थित होता है कि श्रौतयागों को प्रकृति और विकृति के रूप में विभक्त होने से प्रकृति और विकृति उभयसाधारण्य से अनारभ्याधीत का सम्बन्ध है? अथवा प्रकृति याग के साथ ही सम्बन्ध है? यह संशय होना स्वाभाविक है। क्योंकि अनारभ्याधीत का नियामक कोई नहीं है। सर्वसाधारणता का अवगमन होता है। इस सन्देह का निराकरण करते हैं—न सर्वक्रतुषु गच्छति। यह सत्य है कि अनारभ्याधीत का नियामक कोई नहीं है, किन्तु 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेश शास्त्र से विकृतियों का अनुष्ठान प्रकृतियागों के समान होता है, अर्थात् प्रकृतियाग जिन अङ्गों के साथ अनुष्ठित हैं, उन्हीं अङ्गों के साथ विकृतियागों का अनुष्ठान करना चाहिए। यदि अनारभ्याधीतों का प्रकृति के साथ सम्बन्ध मानेंगे तो वे अङ्ग अतिदेश के द्वारा विकृति में भी चले जाते हैं तो

'प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात्' इति।

अत्र विकृतिर्यतोऽङ्गानि गृह्णाति सा प्रकृतिरिति न प्रकृतिशब्देन विवक्षितम्, गृहमेधीये पर्णताया अप्राप्तिप्रसङ्गात्, न हि गृहमेधीयात्काचन विकृतिरङ्गानि गृह्णाति, मानाभावात्; किं तु चोदका[1] यत्र नाङ्गप्राप्तिस्तत्कर्म प्रकृतिशब्देन विवक्षितम्। यथा दर्शपूर्णमासौ। तत्र हि न चोदकाङ्गप्राप्तिः। प्रकरणपठितैरेवाङ्गैर्निराकाङ्क्षत्वात्। गृहमेधीयादिष्वपि न चोदकादङ्गप्राप्तिः। क्लृप्तोपकारैरेवाज्यभागादिभिर्निराकाङ्क्षत्वात्। अतो यत्र चोदका[2] प्रवृत्तिस्तत्रानारभ्याधीतानां सन्निवेशः।

अनारभ्याधीतों का प्रकृतिविकृतिसाधारण्य क्यों स्वीकार करें? अन्यथा द्विरुक्तत्व दोष होगा। अर्थात् सर्वसाधारण होने से अनारभ्याधीत विकृति से भी संबन्ध रखता है और अतिदेश शास्त्र से भी विकृति से संबन्ध रखेगा। यह द्विरुक्तिरूप दोष है। अतः अनारभ्याधीत प्रकृतिमात्र से संबन्ध रखेगा। इसमें प्रमाण है—प्रकृतौ वा, अद्विरुक्तत्वात्। अनारभ्याधीत प्रकृति के ही साथ संबन्ध रखता है, प्रकृतिविकृतिसाधारण संबन्ध नहीं। क्यों? अद्विरुक्तत्वात, ऐसा मानने पर द्विरुक्ति दोष नहीं लगेगा।

यागों में प्रकृति और विकृति का क्या स्वरूप है? किसको प्रकृति कहते हैं और किसको विकृति कहते है? जब तक यह निश्चित नहीं होता, तब तक अनारभ्याधीतों की व्यवस्था नहीं बन सकती है। अतः उसका विचार करते हैं—अत्र विकृतिर्यतोऽङ्गानि गृह्णाति आदि। जिससे विकृति याग के अंगों का ग्रहण करते हैं वह प्रकृति है, ऐसा प्रकृति का लक्षण कहना उचित नहीं है। क्योंकि चातुर्मास्य याग के तीसरे साकमेध पर्व में 'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यस्सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्' वाक्य से गृहमेधीयेष्टि विहित है। यजमान गृहमेधी मरुद्देवताओं के लिए अपनी सभी गायों के दुग्ध में ओदन बनाकर सायं याग करे, विधिवाक्य का अर्थ है। यह इष्टि है, अतः इष्टि होने के कारण दर्शपूर्णमास की विकृति होनी चाहिए थी, किन्तु यह उसकी विकृति नहीं मानी जाती। क्योंकि दशम अध्याय के आज्यभागाधिकरण में इस इष्टि की इतिकर्तव्यताकांक्षा के होने पर अपने प्रकरण में अधीत कतिपय 'आज्यभाग' आदि अंगों से ही आकांक्षा शान्त हो जाती है, अतः दर्शपूर्णमास के अंगों का ग्रहण नहीं करेगा, यह सिद्धान्त किया है। स्वयं गृहमेधीयेष्टि दूसरे के अंगों का ग्रहण नहीं करती है। इतना ही नहीं, किन्तु इससे अन्य याग भी दूसरे याग के अंगों का ग्रहण नहीं करते, ऐसी स्थिति है। इस स्थिति में गृहमेधीयेष्टि की जुहू पात्र के लिए पर्णता की प्राप्ति नहीं होगी क्योंकि प्रकृति का लक्षण किया

---

१ अङ्गाप्राप्तिः २ चोदकान्नाङ्गप्रवृत्तिः।

साप्तदश्यं त्वनारभ्याधीतमपि न प्रकृतौ गच्छति, प्रकृतेः पाञ्चदश्याव-रोधात्। किं तु विकृतिषु गच्छति। तत्रापि न सर्वासु गच्छति, चोदक-

---

गया है कि विकृति याग जिस याग के अंगों का ग्रहण करता है, वह प्रकृति है। गृहमेधीय विकृति के किन्हीं अङ्गों का ग्रहण नहीं करता है, तो यह प्रकृति न होगा। अनारभ्याधीतों की प्रकृतिगामिता स्वीकार की गयी है, पर्णता की प्राप्ति इसमें नहीं होगी। अतः प्रकृति का यह लक्षण ठीक नहीं है, किन्तु जिस याग में अतिदेश से अंगों की प्राप्ति नहीं होती हो वह याग प्रकृति शब्द से विवक्षित है, जैसे दर्शपूर्णमास। दर्शपूर्णमास में अतिदेश के द्वारा अंगों की प्राप्ति नहीं होती है, उसके प्रकरण में पठित जितने अंग हैं उन्हीं से उसकी इतिकर्तव्यताकांक्षा शान्त हो जाती है। इसी प्रकार गृहमेधीयेष्टि में भी अतिदेश के द्वारा अंग नहीं प्राप्त होते, उस प्रकरण में पठित आज्यभाग[1] आदि कपिपय अंगों के द्वारा ही उसकी इति-कर्तव्यताकांक्षा शान्त होती है। निष्कर्ष यह हुआ कि अतिदेश के द्वारा जिसमें अंग प्राप्त नहीं होते हों वह प्रकृति है। इस प्रकार का याग गृहमेधीय भी है। अतः पर्णता जो अनारभ्याधीत है उसकी प्राप्ति गृहमेधीय में भी हो जाती है।

अनारभ्याधीत का प्रकृति यागों में निवेश उत्सर्गरूप से बतलाकर संप्रति उसके अपवाद के उदाहरण दे रहे हैं—साप्तदश्यन्त्वनारभ्यधीतमपि। दर्शपूर्णमास में 'सामिधेनी' मन्त्र 'प्रवोवाजा अभिद्यवः' इत्यादि पठित हैं। ये मन्त्र अग्नि के समिन्धन—अच्छी तरह दीप्त करने, के कार्य में विनियुक्त हैं। इन मन्त्रों को पढ़ने-वाला ऋत्विक् 'होता' है। प्रतिऋचा के पाठ के अंत में अध्वर्यु एक समिधा आह-वनीय अग्नि में डालते हुए अग्नि को दीप्त करता है। अतः मन्त्रों का नाम 'सामिधेनी' पड़ा। प्रकृति में 'पञ्चदश सामिधेन्यः' विधि से पन्द्रह संख्या निश्चित है। दर्शपूर्णमास के विकृति यागों में यह संख्या अतिदेश के द्वारा प्राप्त हो जाती है। अर्थात् दर्शपूर्णमास के विकृति यागों में सामिधेनी की संख्या १५ रहती है। इस स्थिति में 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' ऐसा अनारभ्याधीत वाक्य मिलता है। इस साप्तदश्य अर्थात् सप्तदश संख्या का कहाँ निवेश होगा? प्रकृति दर्शपूर्णमास में निवेश नहीं हो सकेगा, क्योंकि वहाँ पाञ्चदश्य १५ संख्या उपदिष्ट है। प्रकृति दर्शपूर्णमास को छोड़कर उसके विकृति यागों में भी निवेश नहीं होगा। क्योंकि प्रकृति से अतिदेश के द्वारा पाञ्चदश्य प्राप्त हुआ है। विकृति यागों में साप्तदश्य के जाने पर अतिदेशप्राप्त पाञ्चदश्य का बाध मानना पड़ेगा। यह उचित नहीं, क्योंकि साप्तदश्यसंख्या सामिधेनोविषयक है, सामिधेनी विकृतियों में अतिदेश से प्राप्त होती है। अतिदेश से प्राप्त सामिधेनी की अपेक्षा करते हुए साप्तदश्य का निवेश करना होगा। अपेक्षित सामिधेनी में जो अतिदिष्ट है, पाञ्चदश्य भी विद्यमान

---

१ आदि पद से 'अग्नये स्विष्टकृते समवद्यति' 'इडामुपह्वयते' इनसे विहित स्विष्टकृद्याग इडोपाह्वान (इडाभक्षण के लिए बुलाना) अंग गृहीत होंगे।

प्राप्तपाञ्चदश्यबाधप्रसङ्गात्; किन्तु प्रत्यक्षश्रुतसाप्तदश्यासु मित्रविन्दादिषु गच्छति।

यथाहुः—

एवं च प्रकृतावेतत्पाञ्चदश्यं प्रतिष्ठितम्।
विकृतौ च न यत्रास्ति साप्तदश्यपुनःश्रुतिः॥ इति।

न च वाक्यवैयर्थ्यम्। अनारभ्याधीतस्यैव साप्तदश्यस्य मित्रविन्दादि-

---

है। केवल सामिधेनी का अतिदेश नहीं होता। क्योंकि उसके साथ पाञ्चदश्य का भी अतिदेश होगा। जिसकी अपेक्षा रखते हुए साप्तदश्य का निवेश है वह साप्तदश्य अपने अपेक्षित अर्थात् उपजीव्य का विरोध कैसे कर सकता है? अर्थात् पाञ्चदश्य का बाध नहीं कर सकता। प्रबल दुर्बल का बाध करता है यह ठीक है, किन्तु उपजीव्य होने से पाञ्चदश्य ही प्रबल है, उसका साप्तदश्य दुर्बल होने से बाध नहीं कर सकता। तब इस साप्तदश्य का निवेश कहाँ होगा। इसका उत्तर है—किन्तु प्रत्यक्षश्रुत-साप्तदश्यासु आदि। अनारभ्याधीत साप्तदश्य उन विकृतियागों में जायगा जिनमें साप्तदश्य का पाठ है। वे विकृतियाँ मित्रविन्दा पशु-वैमृध अध्वरकल्पा नाम की हैं। इन विकृतियों के प्रकरण में 'सप्तदश सामिधेनीरनुब्रूयात्' पाठ है। इसमें वृद्धों की संमति देते हैं—यथाहुः। कारिका का अर्थ है—प्रकृति दर्शपूर्णमास में और जिस विकृति में साप्तदश्य श्रुत नहीं है उस विकृति में पाञ्चदश्य रहेगा।

जिस विकृति में साप्तदश्य का पाठ है उसमें अनारभ्याधीत साप्तदश्य का निवेश क्यों माना जाय, वहाँ साप्तदश्य है ही। उसके वहाँ रहते हुए अनारभ्याधीत साप्तदश्य का निवेश अनर्थक ही होगा; यह शंका नहीं करनी चाहिए—न च वाक्य-वैयर्थ्यम्। क्योंकि अनारभ्याधीत साप्तदश्य का प्रकृति एवं तद्विकृतियों में स्थान न मिलने से यत्र तत्र भटकते हुए उस को लक्ष्य कर के मित्रविन्दादिगत साप्तदश्य वाक्य अपनी ओर खींच लेता है और कहता है अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं, इसी क्रतु का अंग बनकर कार्य करो। इसी को उपसंहार[1] कहते हैं।

उपसंहार के विषय में ज्ञातव्य है कि सामिधेनी को उद्देश्यकर साप्तदश्य संख्या का विधान करती हुई विधि सामिधेनीस्वरूप को उद्देश्य नहीं कर सकती। इसके बिना संख्या से उसका स्वरूप सिद्ध है ही। अतः सामिधेनीत्व को उद्देश्य का अवच्छेदक=विशेषण न मानकर अपूर्वसाधनत्व को विशेषण मानना होगा।

---

१. उपसंहार न्याय से लोक के लिए यह विदित होता है कि देश में कार्य किये बिना अनर्थक न रहें। कुछ न कुछ सभी को कार्य में लगाना प्रशासन का कर्तव्य है। प्रशासन भी ऐसा होना चाहिए जिससे सबको छोटा-मोटा कार्य मिल सके। यही प्रजातंत्र का लक्षण है।

प्रकरणस्थेन वाक्येनोपसंहारात् । उपसंहारो नाम सामान्यप्राप्तस्य विशेषे नियमनम् । यथाहुः—

सामान्यविधिरस्पष्टस्संह्रियेत विशेषतः । इति ॥

तत्रानारभ्यविधिः सामान्यविधिः, मित्रविन्दादिप्रकरणस्थस्तु विशेषविधिरित्यास्तां तावत् । प्रकृतमनुसरामः । तत्सिद्धं वाक्यादङ्गत्वम् ।

(वाक्यस्य प्रकरणादितः प्राबल्यनिरूपणम्)

तदिदं वाक्यं प्रकरणाद्बलीयः, प्रकरणं हि न साक्षाद्विनियोजकम्, तद्धि आकाङ्क्षारूपम् । न चाकाङ्क्षा स्वयं प्रमाणं, किन्तु साकाङ्क्षं वाक्यं प्रकरणस्वरूपं [1]दृष्ट्वा भवत्येतादृशी मतिः—नूनमिदं वाक्यं केनचिद्वाक्येनैकवाक्यभूतमिति । ततश्चाकाङ्क्षारूपं प्रकरणं वाक्यस्य वाक्यान्तरैकवाक्यत्वे प्रमाणम् ।

अपूर्व के लिए अनारभ्याधीत का कोई क्रतु नहीं मिल रहा है। सामिधेनी का तो क्रतु के साथ सुदृढ संबन्ध है। इष्टि और पशुकर्मों में सामिधेनी अव्यभिचरित संबन्ध रखती है। इस प्रकार की सामिधेनी से मिलकर साप्तदश्य संख्या (अनारभ्याधीत) कथमपि क्रतुसंबन्धकल्पना की ओर प्रवृत्त होती है। इसी अवसर पर मित्रविन्दा आदि इष्टियों में आम्नात साप्तदश्य (जिसका क्रतु संबन्ध क्लृप्त है) अनारभ्याधीत साप्तदश्य को अपनी ओर खींच लेता है, यही उपसंहारन्याय है।

इस अंश में वार्तिक का प्रमाण देते हैं—सामान्यविधिरस्पष्टः संह्रियेत विशेषतः। सामान्य विधि—अनारभ्यविधि अस्पष्ट=उद्देश्यविशेषसंबन्ध के बिना स्पष्ट नहीं है, वह विशेष में प्राकरणिक वाक्य के द्वारा अवस्थापित होती है। यहाँ सामान्यविधि अनारभ्यविधि है, विशेषविधि मित्रविन्दाप्रकरणपठित विधि है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि वाक्य भी अंग का विनियोजक है।

प्रकरणादि से वाक्य का प्राबल्य

प्रकरणप्रमाण से वाक्यप्रमाण प्रबल है। प्रकरण उसे कहते हैं जहाँ अंग और अंगी दोनों की परस्पर आकांक्षा हो। 'साकांक्षं वाक्यप्रमाणम्' न्याय से आकांक्षावाले वाक्य को प्रमाण नहीं माना जाता है। क्योंकि आकांक्षायुक्त वाक्य को देखने से यह बुद्धि होती है कि यह वाक्य दूसरे वाक्य से एक वाक्यता को चाहता है। जब यह उससे एक वाक्यता को पा लेगा तब यह अपने अर्थ का प्रतिपादक बनेगा। अतः ज्ञात होता है कि प्रकरण एक वाक्य का दूसरे वाक्य से एकवाक्यता करने में प्रमाण है। वाक्य में उत्पन्न आकांक्षा का शमन होने तक वह अपने अर्थ का प्रतिपादक कैसे बन सकता है ? अतः आकांक्षा को एकवाक्यता करने में ही प्रमाण

---

१. पश्यताम् ।

एवं च यावत्प्रकरणं वाक्यं कल्पयित्वा विनियोजकं भवति तावद्वाक्यं लिङ्ग-श्रुती कल्पयित्वा विनियोजकं भवतीति प्रकरणाद्वाक्यं बलीयः।

अत एव "इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राता" मित्यत्रेन्द्राग्नीपदस्य लिङ्गाद्दर्शाङ्गत्वे सिद्धे 'इदं हवि'रित्यादेरपि तदेक-

---

मानना पड़ेगा। जब तक वह एकवाक्यता करने में प्रवृत्त होगी उससे पूर्व ही निराकांक्ष वाक्यप्रमाण अपने पूर्वप्रमाण लिंग और श्रुति की कल्पना करके पदार्थ का विनियोग कर देता है। अतः प्रकरण से वाक्य प्रबल होता है।

इसका उदाहरण देते हैं—अत एव इन्द्राग्नी इदम् इत्यादि। उदाहरण समझने के लिए दर्शपूर्णमास की कुछ प्रक्रिया को जानना आवश्यक है। यह बतलाया गया है कि दर्शपूर्णमास में दर्शतिथि में ३ और पूर्णिमातिथि में ३ प्रधान याग होते हैं और इनके पूर्व और उत्तर अनेक अङ्ग होते हैं। पूर्णिमा के आग्नेय, उपांशु याज, अग्नीषोमीय ये ३ प्रधान याग हैं। आग्नेय में अग्निदेवता, पुरोडाश द्रव्य, उपांशुयाज में अग्निप्रजापति=अग्नीषोम इनमें विकल्प से एक देवता, और आज्य द्रव्य, अग्नीषोमीय में अग्नीषोम देवता और पुरोडाश द्रव्य होते हैं। दर्श में आग्नेय, ऐन्द्र दधि, ऐन्द्र पयोयाग प्रधान होते हैं। ऐन्द्र दधि पयोयागों को सांनाय्य शब्द से व्यवहार करते हैं। सांनाय्ययाग में उसी का अधिकार माना जाता है जो यजमानकृत-सोमयाग होता है, अर्थात् सोमयाग अनुष्ठित करके जो दर्शयाग करेगा वह सांनाय्य कर सकता है 'नासोमयाजी संनयेत्' निषेध है—अर्थात् असोमयाजी=सोमयाग नहीं किया हुआ यजमान सांनाय्य याग न करें। इस असोमयाजी यजमान के लिए सांनाय्य याग के स्थान में ऐन्द्राग्नयाग विहित है—'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' यह विधिवाक्य है। यह निष्कर्ष निकला कि दर्श के आग्नेय में अग्नि देवता और पुरोडाश द्रव्य, सान्नाय्य में इन्द्र देवता और दधिपयोद्रव्य, सान्नाय्य के स्थान में विहित याग में इन्द्राग्नी देवता और पुरोडाश द्रव्य विहित हैं।

दर्श और पूर्णमास याग के अङ्गों में एक अङ्ग है सूक्तवाक् मन्त्र से [1]प्रस्तर का प्रहरण करना—'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति'। यहाँ प्रहरण[2] को यागरूप माना जाता है। 'इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्' (तै० ब्रा० ३।५-१०) से लेकर 'नमो देवेभ्यः' तक का मन्त्रसमूह सूक्तवाक् कहा जाता है। इस मन्त्रसमूह में दर्श के एवं पूर्णिमा के जितने देवताओं को हवि दे चुके हैं उन सबका प्रत्येक

---

१. दर्शपूर्णमास याग के लिए कुशा को काटते समय जो प्रथम मुष्टि काटकर निकाला जाता है वह प्रस्तर है। इस दर्भमुष्टि को अलग संरक्षित रखते हैं।

२. वेदी में बिछाये हुए प्रस्तर को याग समाप्ति के अनन्तर निकालकर आहवनीय अग्नि में अध्वर्यु दे देता है—हवन करता है।

वाक्यत्वाद्दर्शाङ्गत्वम् , न तु प्रकरणाद्दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम् , प्रकरणाद्वाक्यस्य बलीयस्त्वादिति ।

(प्रकरणनिरूपणम्)

उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम् । यथा प्रयाजादिषु "समिधो यजती"ति । अत्र हि इष्टविशेषस्यानिर्देशात्समिद्यागेन भावयेत् किमित्यस्त्युपकार्याकाङ्क्षा। दर्शपूर्णमासवाक्येऽपि दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत् कथमित्यस्त्युपकारकाकाङ्क्षा । अत उभयाकाङ्क्षया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वं सिध्यति ।

नाम लेकर [1]'अग्निरिदं हविरजुषत अवीवृधत महो ज्यायोऽक्रत' 'सोम इदं हविरजुषत अवीवृधत महो ज्यायोऽक्रत' 'अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम् अवीवृधेताम् महो ज्यायोऽक्राताम्' इत्यादि मन्त्र पढ़े जाते हैं । यह पाठ ब्राह्मणभाग में उपलब्ध है। इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि दर्श और पूर्णमास से सम्बद्ध मन्त्रों को छाँट कर अलग-अलग प्रयोग किया जाता है। जैसे मन्त्रों का आकार दिखाया जा चुका है। उनमें 'इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतावीवृधेतां महो ज्यायोऽक्राताम्' मन्त्र भी है।

इन संदर्भों के ज्ञान होने पर विचार किया जाता है कि 'इन्द्राग्नी' पद से युक्त 'इदं हविः' इत्यादि मन्त्र क्या प्रकरणप्रमाण से दर्शपूर्णमास के अङ्ग हैं ? अथवा 'इन्द्राग्नी' पद से समभिव्याहृत वाक्यप्रमाण से दर्शयाग के अंग हैं ? दर्श और पूर्णमास मिलकर दोनों का प्रकरण व्यवहार होता है, दर्श का अलग और पूर्णमास का अलग प्रकरण व्यवहार नहीं। उभयाकांक्षारूप प्रकरणप्रमाण जबतक एकवाक्यता पाने में लगा रहता है तब तक समभिव्याहार रूप वाक्य 'इन्द्राग्नी' पद के सामर्थ्य को लेकर 'इदं हविः' आदि मन्त्र को दर्श का अंग निश्चय करते हुए श्रुति कल्पना के द्वारा मन्त्र का दर्शाङ्गत्व बोधित कर देता है। क्योंकि 'इन्द्राग्नी' देवता दर्श में ही है, पूर्णमास में नहीं है। अतः प्रकरण से वाक्यप्रमाण प्रबल सिद्ध होता है।

प्रकरण-प्रमाण

प्रकरण का लक्षण बताते हैं—उभयाकांक्षा प्रकरणम्। अंग और अंगी दोनों की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। दर्शपूर्णमास प्रकरण में 'समिधो यजति' आदि प्रयाज आदि अंगों के विधायक हैं। इनसे बोध होता है कि समिद्याग से सम्पादन करना चाहिए और तनूनपाद् याग से संपादन करना चाहिए

---

१. अग्निदेव मेरे द्वारा दिये हुए हवि को सेवन किये हैं, वृद्धि को प्राप्त किये हैं, और हवि के सेवन से बड़ी दीप्ति को पाये हैं, यह अर्थ है। इस प्रकार जितने देवताओं को हवि दे चुके हैं उनकी गणना इस मन्त्रसमूह के द्वारा की जाती है।

ननु यदि प्रयाजादिवाक्ये इष्टविशेषो न श्रूयते तर्हि विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः फलं कल्प्यताम्। विश्वजिदधिकरणे हि 'विश्वजिता यजेते'त्यत्र फलस्याश्रवणात् फलमन्तरेण च विधिश्रुतेरनुपपत्तेरवश्यं फले कल्पयितव्ये सर्वाभिलषितत्वेन स्वर्गः फलमित्युक्तम्। तदुक्तम्—

आदि। किन्तु क्या संपादन करना चाहिए यह नहीं मालूम होता। अतः ये अंग 'किम्' इस प्रकार के साध्य की आकांक्षा रखते हैं। प्रधानवाक्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' में साधन याग साध्य फल के रहते हुए भी 'कथं' यह आकांक्षा बनी रहती है। दर्शपूर्णमास याग से स्वर्गफल का सम्पादन कैसे किया जाय, प्रयाज अनूयाज आदि अंगों का सम्पादन कैसे किया जाय, यह उभयाकांक्षा है। प्रधान वाक्य में उपकारक की आकांक्षा है और अंग वाक्यों में उपकार्य की आकांक्षा है। उपकार्य फलप्रधान वाक्य में विद्यमान है और उपकारकत्व अंगवाक्यों में है। इन दोनों की आकांक्षा को एकवाक्यता से पूर्ण करना पड़ता है—प्रयाज आदि अंगों से उपकृत दर्शपूर्णमास याग से स्वर्ग का सम्पादन करें। यही 'नष्टाश्वदग्ध-रथन्याय' कहलाता है। इससे सिद्ध हुआ कि उभयाकांक्षा से प्रयाज आदि, दर्शपूर्णमास याग के अंग हैं।[1]

इस सन्दर्भ में पूर्वपक्षी[2] शङ्का उठाता है–ननु यदि आदि से। प्रयाज आदि अंगों के फल की आकांक्षा होने पर स्वतन्त्र फल की व्यवस्था करो। यद्यपि इन वाक्यों में फलबोधक शब्द नहीं है तो भी विश्वजित् न्याय से स्वर्गफल की कल्पना की जा सकती है। 'विश्वजिता यजेत' से विहित एकदिनसाध्य एक सोम याग है। 'विश्वजिद्यागेन भावयेत्' विश्वजित् याग से सम्पादन करना चाहिए, बोध होता है। क्या सम्पादन करना चाहिए, आकांक्षा होने पर किसी फल की कल्पना करनी पड़ती है क्योंकि फल की कल्पना किये बिना विधि का प्रवर्तक सिद्ध नहीं

---

१. यह प्रकरणाधिकरण न्याय भी प्रजातन्त्र के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यद्यपि प्रधान वाक्य में उपकार्य फल निर्दिष्ट है, उसका साधन प्रधान याग अवगत होता है; तथापि फल का संपादन प्रधान मात्र के लिए असंभव है। जब तक अंगों का उपकार प्रधान नहीं पाता है तब तक प्रधान अकिञ्चित्कर है। इससे सिद्ध होता है कि अंग भी फलसंपादन में हाथ बटाते हैं। अर्थात् फलसंपादकत्व अंगों का भी है। देश का स्वातन्त्र्यरक्षण न केवल प्रधान मंत्री और मन्त्रियों से होगा अपितु जनता का सहयोग भी अपेक्षित है।

२. प्रजातंत्र में पूर्वपक्षी के न्याय से हम देखते हैं कि केन्द्र-प्रशासन के अधीन न रह कर अपने प्रदेश को स्वतन्त्र रखने के लिए आवाज उठाते हैं। स्वतन्त्रता तो मानव-मात्र की अभिलषित होती ही है। इस पूर्वपक्ष न्याय का जैसा आगे खण्डन होगा उसी प्रकार प्रदेशस्वातन्त्र्य का भी खंडन होगा।

'स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' इति ।

रात्रिसत्रन्यायेन वार्थवादिकं फलं कल्प्यताम् । रात्रिसत्राधिकरणे हि "प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ती" त्यत्र विध्युद्देशे फलाश्रवणात्फलमन्तरेण च विधिश्रुतेरनुपपत्तेरवश्यं फले कल्पयितव्ये आर्थवादिकं प्रतिष्ठाख्यं फलमित्युक्तम् । विश्वजिदधिकरणन्यायेनानुपस्थितस्वर्गकल्पने तस्य प्रकृतसम्बन्धकल्पने गौरवात्, अर्थवादोपस्थितस्यैव प्रकृतफलत्वकल्पने लाघवात् । तदुक्तम्—

होगा । अतः फल की कल्पना आवश्यक है । इसलिए महर्षि जैमिनि ने सर्वाभिलषित स्वर्गफल कल्पना के लिए विश्वजिन्न्याय को प्रवर्तित किया है । जैमिनि का सूत्र है—'सः स्वर्गस्स्यात्सर्वान् प्रत्यवशिष्टत्वात्' । कल्पनीय फल स्वर्ग होगा । क्योंकि स्वर्ग ही सभी को अभीप्सित होता है । स्वर्ग सुखविशेष है, सुख को सभी चाहते हैं । कोई भी मुझे सुख न हो, ऐसा नहीं चाहता । इसलिए स्वर्ग फल ही सबके लिए अभिलषित है । अतः प्रयाज आदि स्वतन्त्र [1]स्वर्गफल के लिए ही हों, दर्शपूर्णमास का अंग क्यों माना जाय ? यह शङ्का का स्वरूप है ।

पूर्वपक्षी न्यायान्तर से प्रयाजादि अंगों के स्वतन्त्र फलार्थत्व की शङ्का करता है—रात्रिसत्रन्यायेन वा । विश्वजिन्न्याय की प्रवृत्ति वहाँ मानी जाती है जहाँ किसी अन्य प्रकार से फल नहीं मिलता हो । यदि विधि के अर्थवाद से फलप्राप्ति की सम्भावना हो तो वहाँ अर्थवाद से अवगत फल को मान लिया जाता है । 'प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति' यह अर्थवाद वाक्य है । जो इन रात्रिसंज्ञक यागों का अनुष्ठान करते हैं वे प्रतिष्ठाफल को प्राप्त करते हैं, यह अर्थवाद का अर्थ है । अर्थात् प्रतिष्ठाप्राप्तिरूप फल का यह बोधक है । इस अर्थवाद के समीप 'ज्योतिर्गौरायुरिति त्र्यहा भवन्ति' विधिवाक्य श्रुत है । यह तीन दिनों में साध्य ज्योति, गौ और आयु नाम के सोमयाग का विधान करता है । इन तीनों का 'रात्रिसत्र' नाम है । विधिवाक्य में फल के अभाव से उसकी आकांक्षा होने पर अर्थवाद से बोधित प्रतिष्ठाफल से आकांक्षा का शमन किया जाता है । यही 'रात्रिसत्राधिकरण' न्याय है । इस न्याय से 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' आदि प्रयाजविधायक वाक्यों के समीप 'वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यत्प्रयाजानूयाजा इज्यन्ते' श्रुत अर्थवाद से बोधित वर्म—कवचप्राप्तिरूप फल, प्रयाजों के लिये माना जा सकता है ।

---

१. शास्त्रकारों ने स्वर्ग को सुखविशेष भी माना है और देशविशेष भी । सुखविशेष में सभी का वह अभिलषित होने से कोई अन्तराय नहीं है । देशविशेष में भी पुत्र-पौत्र, पशु-धन आदि लौकिक फलों की अपेक्षा स्वर्गरूपी देशविशेषाकांक्षा मानव के लिए अभ्यर्हित ही है ।

'फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्' इति ।

तस्मा[1]द्विश्वजिन्न्यायेन रात्रिसत्रन्यायेन वा स्वतन्त्रफलार्थत्वे सम्भवति किमिति दर्शपूर्णमासाङ्गत्वं स्वीक्रियत इति चेत्—

मैवम् । स्वतन्त्रफलार्थत्वेऽन्यतराकाङ्क्षया सम्बन्धः स्यात् । न ह्यत्र फलस्य साधनाकाङ्क्षाऽस्ति । श्रूयमाणं हि फलं साधनमाकाङ्क्षति, न चात्र तत् श्रूयते । एवं च फलस्याकाङ्क्षाभावात् केवलं किं भावयेदिति प्रयाजानां भाव्याकाङ्क्षयैव स्वतन्त्रफलार्थत्वं स्यात् । दर्शपूर्णमासार्थत्वे तूभयाकाङ्क्षा प्रमाणम् । प्रयाजानां भाव्याकाङ्क्षाया इतरत्र च कथंभावाकाङ्क्षायाः सत्त्वात् । अन्यतराकांक्षातश्चोभयाकांक्षा बलीयसीति वक्ष्यते । ततश्च दर्शपूर्णमासार्थत्वमेव युक्तं न स्वतन्त्रफलार्थत्वमिति । तदुक्तम्—

अश्रुत स्वर्गफल की कल्पना करने की अपेक्षा अर्थवाद में श्रुतफल की कल्पना में लाघव है । इस न्याय के लिए महर्षि जैमिनि का सूत्र है—फलमात्रेयो निर्देशात् अश्रुतौ ह्यनुमानम् । आत्रेय महर्षि रात्रिसंज्ञक यागों के लिए आर्थवादिक फल मानते हैं क्योंकि वह फल अर्थवाद से निर्दिष्ट है । जहाँ इस प्रकार के फल श्रुत नहीं वहाँ विश्वजिन्न्याय से फल का अनुमान होता है, यह सूत्र का अर्थ है । अतः प्रयाजों को विश्वजिन्न्याय या रात्रिसत्र न्याय से स्वतन्त्र फल मिलने पर दर्शपूर्णमास के प्रति उन्हें अंग क्यों माना जाय ?

इस शंका का समाधान ग्रन्थ है—मैवम् आदि । समाधान ग्रन्थ का तात्पर्य है कि विश्वजिन्न्याय और रात्रिसत्रन्याय अपने जगह में है ही । इन न्यायों से प्रयाजों के लिए स्वर्ग या वर्मप्राप्तिरूप फल मिल सकते हैं । पूर्वपक्षी को कल्पित इस फल के प्रति प्रयाजों को अंग बनाना होगा, क्योंकि फल के जनक प्रयाज हैं । इन दोनों के अङ्गाङ्गिभाव के लिए आपका कौन प्रमाण हो सकता है ? कहना पड़ेगा 'स्थान' प्रमाण । स्थान अर्थात् अन्यतराकांक्षा । फल और प्रयाज दोनों में एक की आकांक्षा विश्वजित् न्याय से स्वर्ग हो अथवा रात्रिसत्रन्याय से वर्मप्राप्ति हो, ये दोनों कल्पित फल हैं । कल्पित फल की 'कथं भावयेत्' यह उपकारक आकांक्षा नहीं होगी । जहाँ फल विधिवाक्य में श्रूयमाण रहता है वहीं साधन की आकांक्षा कर सकता है । प्रकृत में फल श्रूयमाण नहीं है । अतः फल की आकांक्षा नहीं है, केवल प्रयाजों की 'किं भावयेत्' भाव्याकांक्षा होने से उसी का स्वतन्त्रफलार्थत्व कहना होगा । प्रयाजों को दर्शपूर्णमास का अंग मान लेने पर उभयाकांक्षारूप प्रकरण होता है । क्योंकि प्रयाजों की भाव्याकांक्षा, दर्शपूर्ण-

---

१. विश्वजिदधिकरणन्यायेन ।

'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्' इति।

अत्र द्रव्ये फलश्रुतिः[1] "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापꣳश्लोकꣳ शृणोति" इत्येवमाद्या। संस्कारे फलश्रुतिः "यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते' इत्येवमाद्या। कर्मणि फलश्रुतिः 'वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यत्प्रयाजानूयाजा इज्यन्ते' इत्याद्या। कर्मपदं चारादुपकारककर्मपरं द्रष्टव्यम्, संस्कारकर्मणः पृथक्संकीर्तनादित्यास्तां तावत्।

मास की कथंभावाकांक्षा, इस प्रकार उभयाकांक्षा है। अन्यतर की आकांक्षारूप स्थानप्रमाण से उभयाकांक्षारूप प्रकरण प्रवल है। अतः प्रवल प्रकरणप्रमाण से प्रयाज दर्शपूर्णमास का ही अंग है, स्वतन्त्र फल के लिए नहीं है[2]। इस प्रसंग में सूत्रकार का प्रमाण देते हैं—द्रव्यसंस्कारकर्मसु। द्रव्य-पर्णता आदि, संस्कार-सन्निपत्योपकारक-नेत्र का अञ्जन आदि, कर्म-आरादुपकारक-प्रयाज आदि विधायक वाक्यों में जो फलश्रुति = फलनिर्देश है, वह अर्थवाद = स्तावक है, अर्थात् फलसमर्पक नहीं है, क्यों? परार्थत्वात्—ये सभी पदार्थ क्रत्वर्थ—क्रतु के लिए हैं, अर्थात् स्वतन्त्र फल के लिए नहीं हैं। द्रव्य में फलश्रुति है—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' जिस यजमान का जुहूपात्र पलाशकाष्ठ से निर्मित हो वह यजमान अपकीर्ति को न सुनेगा। संस्कार की फलश्रुति है—यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते' सोमयाग में दीक्षित दीक्षा के समय अपने चक्षु में जो अंजन लगता है वह शत्रु की आँख को छिपा देता है अर्थात् उसे अन्धा बना देता है। कर्म की फलश्रुति है—'वर्म वा एतद्यजमानस्य यत्प्रयाजानूयाजा इज्यन्ते' यजमान के द्वारा प्रयाज अनूयाज आरादुपकारक जो अनुष्ठित होते हैं, वे यजमान के लिए वर्म—कवच रूप रक्षक बन जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य-संस्कार और के विषय में अर्थवादों से जो फल कहे गये हैं, वे फल नहीं हैं किन्तु स्तावक अर्थवाद हैं, यह सिद्ध हुआ। यदि प्रयाजों का स्वतन्त्रफल के निमित्त अनुष्ठान होता तो इन अर्थवादों से बोधित फल माने जाते। महर्षि जैमिनि ने इसके लिए अवसर नहीं दिया है[3]।

---

१. यस्य पर्णमयी जुहूर्भवतीत्येवमाद्या ख. पु.

२. देश के सभी प्रदेश केन्द्र से संबद्ध हैं। अलग प्रशासन रहते हुए भी अखंडता की दृष्टि से केन्द्र, प्रदेशों को अपने अधीन रखता है। कोई प्रदेश स्वतन्त्र प्रशासन चाहता हो तो वहाँ अन्यतराकांक्षा से संवन्ध करना होगा। पूरे देश का जो स्वातन्त्र्य है वह प्रदेश को चाहेगा नहीं, केवल प्रदेश की आकांक्षा होगी। यह अन्यतराकांक्षा है। अतः प्रदेश केन्द्र का अंग बन कर ही रहेगा।

३. भाव यह है कि श्रौत यज्ञों में पदार्थ तीन प्रकार से विभक्त हैं—पुरुषार्थ क्रत्वर्थ और क्रतुयुक्तपुरुषार्थ। पुरुष की फलसिद्धि के लिए जो विहित है वह पुरुषार्थ। जैसे याग, होम, दान आदि। क्रतु की पूर्ति के लिए जो विहित है वह क्रत्वर्थ। जैसे प्रयाज

(प्रकरणस्य क्रियैकविषयत्वनिरूपणम्)

तदिदं प्रकरणं क्रियाया एव विनियोजकम्, न द्रव्यगुणयोः। तयोस्तु क्रियायोगाद्विनियोजकम्। कुत इति चेत्? शृणु–'यजेत स्वर्गकाम' इत्यत्राख्यातांशेनार्थीभावनाभिधीयते—भावयेदिति। सा चांशत्रयमपेक्षते–किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति। तत्र भाव्याकांक्षायां षष्ठाद्यन्यायेन स्वर्गो भाव्यतयान्वेति—स्वर्गं भावयेदिति। करणाकांक्षायां समानपदोपात्तो यागो भावार्थाधिकरणन्यायेन करणतयान्वेति–यागेन स्वर्गं भावयेदिति। तत्र कथमिति कथंभावाकांक्षा[1] जायते। तस्यां चाकांक्षायां यत्संनिधौ पठितमश्रूयमाणफलकं च क्रियाजातं तदेवोपकार्याकांक्षा[2]यामितिकर्तव्यतात्वेनान्वय-

---

यह प्रकरणप्रमाण क्रियात्मक अंगों का ही विनियोजक होता है। श्रुति, लिङ्ग और वाक्य जैसे द्रव्य और गुण आदि के अंगत्व के बोधक हैं, वैसा प्रकरण नहीं है। प्रकरण क्रियात्मक पदार्थों का विनियोजक है। द्रव्य और गुण आदि का विनियोग क्रिया के द्वारा होता है। कारण यह है कि विधिवाक्य को देखकर मानव को स्वभावतः यह जानने की आकांक्षा होती है कि इस कर्म का फल क्या है? तदनन्तर इसका साधन क्या हैं? तदनन्तर इस साधन से इस फल का कैसे संपादन किया जाय? इनको किम्, केन और कथम शब्दों से कहा जाता है। पहले उपपादन किया जा चुका है कि किम्? आकांक्षा होने पर षष्ठ अध्याय के प्रथम अधिकरण न्याय से स्वर्ग आदि फल का अन्वय किया जाता है। केन? आकांक्षा होने पर भावार्थाधिकरण न्याय से धात्वर्थ याग आदि अन्वित होते हैं— 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' 'होमेन स्वर्गं भावयेत्' 'दानेन स्वर्गं भावयेत्' आदि। तीसरी कथम्? आकांक्षा होने पर प्रधान याग की सन्निधि में जितने फलरहित वाक्य हैं,

---

आदि। पुरुष और क्रतु के उपकार के लिए जो विहित है वह क्रतुयुक्तपुरुषार्थ। जैसे 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' आदि से विहित दधि आदि। देश की स्वतंत्रता और अखंडतारूप फलसिद्धि के लिए साधन प्रजातंत्र को माना है। यह प्रजातंत्र 'क्रतु' का स्थानापन्न पुरुषार्थ है। प्रजातन्त्र क्रतुसिद्धि के लिए केन्द्र प्रशासन-क्रत्वर्थ के रूप में है। उस क्रत्वर्थ रूप-केन्द्रप्रशासन के सहायक हैं सभी प्रदेशप्रशासन। जैसे— दर्शपूर्णमास पुरुषार्थ है, दर्शपूर्णमास क्रतु का अंग क्रत्वर्थ व्रीहि—यव आदि, उसके अंग हैं—अवहनन प्रेषण आदि सन्निपत्योपकारक, क्रतु का साक्षादङ्ग है, प्रयाज अनूयाज आदि आरादुपकारक हैं। इनमें सन्निपत्योपकारक हों चाहे आरादुपकारक, दोनों स्वतन्त्रफल के लिए नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रदेशो के प्रशासन स्वतन्त्र फल के लिए नहीं हो सकते हैं।

१ कथम्भावाकाङ्क्षायां इति, क. पु.   २. कांक्षया।

मनुभवितुं योग्यं, क्रियाया एव लोके कथंभावाकांक्षायामन्वयदर्शनात् । न हि कुठारेण छिन्द्यात्कथमित्याकांक्षायां हस्त इति केवलमुच्चार्यमाणोऽपि हस्तोऽन्वयं प्राप्नोति । किं तर्हि ? हस्तेनोद्यम्य निपात्येत्युच्चार्यमाणे उद्यमननिपातने एव । [1]हस्तोऽपि तद्द्वारेणैवान्वयं प्राप्नोतीति सार्वजनीनमेतत् ।

किं च कथंभावाकांक्षा नाम करणगतप्रकाराकांक्षा । [2]थमोः प्रकारवाचित्वात् । सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारः । सामान्यं च क्रियारूपमेवाख्यातेनोच्यते । 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यस्य ह्ययमर्थः—यागेन तथा कर्तव्यं यथा स्वर्गो भवतीति । क्रियासामान्यस्य च विशेषः क्रियैव भवति । न हि ब्राह्मणविशेषः परिव्राजकादिरब्राह्मणो भवति । एवं च करणगतक्रियाविशेषाकांक्षापरनामधेयकथंभावाकांक्षायां क्रियैवान्वेतीति युक्तम् । स च करणगतः

उनसे विहित जितनी क्रियायें हैं, वे सब इस आकांक्षा के पूरकरूप से अन्वित होने योग्य हैं। इसी को इतिकर्तव्यताकांक्षा भी कहते हैं। यही प्रक्रिया लोक में भी चलती है। इसी का निर्देश करते हैं—क्रियया एव लोके कथंभावाकांक्षायामन्वयदर्शनात्। 'कुठार से फाड़ो' कहना सुनकर जो पुरुष फाड़ना नहीं जानता है, आकांक्षा करता है—कैसे ? उसके उत्तर में 'हाथ से' संकेत कहने पर भी वह आकांक्षा बनी ही रहती है। वहाँ कहना पड़ता है कि हाथ से कुठार को उठाकर कुठार की धार को काठपर डालो। तब पुरुष की आकांक्षा का शमन होता है। हाथ भी 'उठाना' 'फेकना' आदि व्यापारों के द्वारा अन्वित होता है।

'कथंभाव' शब्द के अर्थ-विचार से भी क्रियात्मक पदार्थ ही उस आकांक्षा के शमन में समर्थ हैं। इसका निरूपण करने के लिए ग्रन्थ है—किञ्च कथंभावाकांक्षा नाम इत्यादि। भावना के जो करण हैं याग, दान आदि; उनके विशेष व्यापारों की आकांक्षा ही कथंभावाकांक्षा कहलाती है। 'किं' शब्द से प्रकारवाची 'थमु' प्रत्यय विहित है। जो सामान्यरूप से अवगत पदार्थ को विशेषरूप से अवगत कराता है, वह प्रकार कहलाता है। 'पचति' में भावना का करण धात्वर्थ पाक है। पाक के ही विशेष रूप हैं—चूल्हे पर बर्तन चढ़ाना, तण्डुल धोकर पात्र में डालना, दर्वी से चलाना, अग्नि को प्रज्वलित करना और माँड का अवस्रावण करना आदि। इनमें किसी एक को करते हुए पुरुष को देखकर हम कहते हैं कि यह पाक कर रहा है। अतः पाक सामान्यक्रिया है और विशेष क्रियायें पाक की प्रकार हैं। इसी व्यापारसामान्य की वाचिका भावना है। इसी का उपपादक ग्रन्थ है—यागेन तथा कर्तव्यम् आदि। क्रियासामान्य का विशेष क्रिया ही होगी। यही ब्राह्मणपरिव्राजक न्याय

---

१. हस्ताद्यपि, २. थमुनः

क्रियाविशेषोऽन्वाधानादिब्राह्मणतर्पणान्तःक्रियारूप एवेति युक्तं तस्य प्रकरणेन ग्रहणम्। [1]तस्य च करणगतत्वं तदुपकारकत्वमेव, तेन विना यागेनापूर्वाजननात्। न ह्युद्यमननिपातन[2]व्यतिरेकेण कुठारेण द्वैधीभावो जन्यते। तत्सिद्धं कथंभावाकांक्षायां क्रियैवान्वेतीति।

अत एव द्रव्यदेवतयोर्यागसंपादनद्वारान्वयः साम्प्रदायिकैरुक्तः। विकृतौ च कथम्भावाकांक्षायामुपकारसम्पादनमतिदिश्यत इत्युक्तम्। यदि च कथम्भावाकांक्षायां सिद्धं वस्त्वन्वययोग्यं स्यात् तदा सम्पादनपर्यन्तं धावनं[3] ग्रन्थकृता[4]मनर्थकं स्यात्। अतश्च क्रियाया एव इतिकर्तव्यतात्वम्, कथम्भावा-

---

कहलाता है। ब्राह्मण का विशेष परिव्राजक ब्राह्मण ही होता है, अब्राह्मण नहीं होगा। जैसे द्रव्य के विशेष घट-पट आदि द्रव्य ही होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि करण यागादि की विशेषाकांक्षा ही कथंभावाकांक्षा है। ऐसी आकांक्षा में क्रियात्मक पदार्थ ही अन्वित होंगे। याग के विशेष अन्वाधान[5] = अग्निप्रणयन से लेकर ब्राह्मणतर्पणान्त क्रियायें होती हैं। इन्हीं क्रियाओं का विनियोग प्रकरण से होता है। इन क्रियाओं को 'करणगत' इसलिए कहते हैं कि इनसे करण का उपकार होता है। अर्थात् इनके बिना प्रधानमात्र से स्वर्गफलजनक अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होती है। जैसा कि उद्यमन और निपतन आदि के बिना केवल कुठारमात्र से काष्ठ का द्वैधीभाव—चीरना नहीं होता है। अतः कथंभावाकांक्षा की पूर्ति क्रियात्मक पदार्थ ही कर सकता है यह सिद्ध हुआ।

इसीलिए साम्प्रदायिकों ने कहा है कि द्रव्य और देवता, यागक्रियास्वरूप की निष्पत्ति करते हुए क्रिया द्वारा अन्वित होते हैं। द्रव्य और देवता सिद्ध पदार्थ हैं, अत एव क्रिया के द्वारा उनका अन्वय है। इसीलिए विकृति याग की कथंभावाकांक्षा होने पर प्रकृति से साक्षात् पदार्थ अतिदिष्ट नहीं होते, किन्तु पदार्थों के द्वारा जो जो उपकार प्रकृति में प्राप्त हुए थे उनका संपादन ही विकृति में अतिदिष्ट होता है। यदि सिद्ध पदार्थों का अतिदेश होता तो उपकारसंपादनपर्यन्त साम्प्रदायिकों का अनुधावन व्यर्थ होता। तात्पर्य यह है कि प्रकृति में जितने अंगों का अनुष्ठान होता है वे दृष्टफलक या अदृष्टफलक अथवा दृष्टादृष्टफलक होते हैं। उन फलों का विकृति में संपादन करना हो तो उसके पीछे

---

१. ततश्च. २. व्यतिरेके उद्यमननिपातने एव हस्तादिद्वारेणान्वयं प्राप्नुतः।

३. उपकारसम्पादनपर्यन्तानुधावनं. ख. पु. ४. ग्रन्थकाराणां

५ 'ममाग्ने वर्चो विश्वेषु' आदि मन्त्र से अग्नि में समिधा को रखना अन्वाधान कहलाता है। गार्हपत्य कुण्ड से आहवनीय एवं दक्षिणाग्नि कुण्डों में अग्नि को ले जाना अग्निप्रणयन कहलाता है।

कांक्षागृहीतस्येतिकर्तव्यतात्वात्, इतिशब्दस्य च प्रकारवाचित्वात्। कर्तव्यस्य 'इति' प्रकारः 'इतिकर्तव्यता'। प्रकारश्च सामान्यस्य भेदको विशेष इत्युक्तम्। कर्तव्यस्य च विशेषः कर्तव्य एव भवतीति न सिद्धस्य वस्तुन इतिकर्तव्यतात्वम्, किन्तु क्रियाया एव, सिद्धस्य तु द्रव्यादेः केवलमङ्गत्वम्। तदपि श्रुत्यादिना, न तु प्रकरणात्। यथाहुः—

नावान्तरक्रियायोगादृते वाक्योपकल्पितात्।
गुणद्रव्ये कथंभावैर्गृह्णन्ति प्रकृताः क्रियाः॥ इति। 33,88

पदार्थों का अतिदेश होगा। इस विषय को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जाता है—प्रकृति दर्शपूर्णमास में व्रीहियों का अवहनन होता है। अवहनन तुषों के विमोक के लिए किया जाता है। अवहनन से तुषविमोकरूप उपकार मिलता है। यह उपकार विकृति में संपादन करना हो तो अतिदेश शास्त्र उस उपकार संपादन के द्वारा अवहनन का अतिदेश करेगा, अन्यथा नहीं। आयुष्काम पुरुष के लिए कृष्णल-सुवर्णखण्ड द्रव्य की इष्टि विहित है 'घृते चरुं निर्वपेत् शतकृष्णलमायुष्कामः'। दर्शपूर्णमास की विकृति होने से इस इष्टि में अतिदेश शास्त्र तुषविमोकरूप उपकारसंपादन नहीं है, अतः अवहनन पदार्थ का अतिदेश नहीं करेगा। इसी को 'बाध' कहते हैं। इसका विवरण आगे दिया जायगा। निष्कर्ष यह हुआ कि प्राकृत उपकार को विकृति में संपादन करना हो, तभी प्रकृति से वह पदार्थ विकृति में अतिदिष्ट होगा। प्रकृति में द्रव्य और देवता का उपकार याग संपादन था, विकृति में प्राकृत प्रधान यागसंबन्धी द्रव्य एवं देवता के अतिदेश का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि विकृति इष्टि के उत्पत्तिवाक्यों में द्रव्य और देवता प्रायः रहते ही हैं, किन्तु प्रकृति के जुहू उपभृद् स्रुव आदि पात्रों के एवं इन पात्रों के काष्ठ के अतिदेश के समय ये द्रव्य अपने अपने उपकारों के पृष्ठ भावेन (पीछे से) जायेंगे, साक्षात् नहीं जायेंगे। इतने सन्दर्भ से सिद्ध हुआ कि प्रकृति का अथवा विकृति का प्रकरण कथंभावाकांक्षा पूरक के रूप से क्रियात्मक अंगों का ही ग्रहण करता हैं। 'इति कर्तव्यता' शब्द का भी यही अर्थ है—'इति' शब्द प्रकारार्थक है, 'कर्तव्यता' शब्द क्रिया का बोधक है। कर्तव्यता का प्रकार-विशेष कर्तव्य ही होगा, सिद्ध वस्तु नहीं होगी। सिद्ध वस्तु अंग बनती है, इतिकर्तव्यता के रूप से उसका ग्रहण नहीं है। उनके अंगत्व के बोधक प्रमाण श्रुति, लिङ्ग और वाक्य प्रमाण होंगे, प्रकरण नहीं। इन्हीं बातों का संग्रह श्लोक है—नावान्तरक्रियायोगात् आदि। जैसे द्रव्य सिद्ध वस्तु है वैसे मन्त्र[1] भी सिद्ध है। इसका विनियोग

---

१ मीमांसा सिद्धान्त में शब्द द्रव्य है। अतः शब्दात्मक मन्त्र द्रव्य है। इसका विनियोजक लिङ्ग माना गया है।

अत एव 'बर्हिर्देवसदनं दामी'त्यादिमन्त्राणां[1] लिङ्गादङ्गत्वम्, न तु प्रकरणादित्युक्तमर्थवादाधिकरणपूर्वपक्षसमाप्तौ राणके[2]। क्वचिद्द्रव्यस्येति-कर्तव्यतात्वाभिधानमङ्गत्वाभिप्रायं द्रष्टव्यम्। बहुग्रन्थस्वरसादुक्तयुक्तेश्चेति। तत्सिद्धं प्रकरणं क्रियाया एव विनियोजकमिति।

तच्च प्रकरणं द्विविधम्—महाप्रकरणमवान्तरप्रकरणं चेति। तत्र फल-भावनायाः प्रकरणं महाप्रकरणम्। तच्च प्रयाजादीनां ग्राहकम्। तच्च प्रकृता-वेव। यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः, यथा—दर्शपूर्णमासादिः। तत्र चोभयाकांक्षारूपं प्रकरणं संभवति, आकांक्षानुपरमात्।

विकृतौ तु न प्रकरणं सम्भवति। यत्र न समग्राङ्गोपदेशः सा विकृतिः,

---

करनेवाला प्रमाण लिङ्ग-सामर्थ्य माना गया है। यह विषय राणक—न्यायसुधा ग्रन्थ में निरूपित है। यद्यपि पार्थसारथिमिश्र ने द्रव्य को इतिकर्तव्यता के रूप में ग्रहण किया है किन्तु भाष्यवार्तिक आदि ग्रन्थों के आधार से पार्थसारथिमिश्र का कथन अंगत्वाभिप्रायक है। अतः सिद्ध हुआ कि प्रकरणप्रमाण क्रियात्मक पदार्थ का ही विनियोजक है।

प्रकरण का विभाग

प्रकरण दो प्रकार के होते हैं—महाप्रकरण एवं अवान्तरप्रकरण। महा-प्रकरण वहाँ माना जाता है जहाँ भावना में फल साध्य होता है। 'दर्शपूर्णमासा-भ्यां स्वर्गकामो यजेत' 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' आदि स्थल में भावना में स्वर्गफल साध्य के रूप से अन्वित होता है, अतः यह फलभावना है। इस भावना का करण है धात्वर्थ-याग। इतिकर्तव्यता की आकांक्षा होने पर प्रयाज, अनूयाज आदि प्रकरण से गृहीत होकर विनियुक्त होते हैं, और यह महाप्रकरण प्रकृति में ही विनियोजक होता है, विकृति में नहीं। पहले बतलाये गये प्रकृति के स्वरूप को स्मरण दिलाते हैं—यत्र समग्राङ्गोपदेशः। पहले जिस याग में अतिदेश से अंगों की प्राप्ति नहीं होती है, उसे प्रकृति कहा गया है। उसी बात को रूपान्तर से कहते हैं—जहाँ समग्र अंगों का उपदेश—पाठ हो, वह प्रकृति है। समग्र अंगों के पाठ के कारण से ही दूसरे से अतिदेश नहीं होता। पठित अंगों की फलाकांक्षा एवं फलसाधन याग की इतिकर्तव्यताकांक्षा, इस प्रकार उभयाकांक्षारूप प्रकरण है। प्रधान की कथंभावाकांक्षा प्रयाज आदि अंगों के बिना शान्त नहीं होती है, एवं प्रयाज आदि अंगों का प्रधान के साथ अन्वय हुए बिना फल की आकांक्षा शान्त नहीं होती है।

यह प्रकरण विकृति याग में अंगों का विनियोजक नहीं होगा। विकृति वह

१, मन्त्रस्य. ख   १, राणाकेन. ख. पु०

यथा सौर्यादिः। तत्र च यान्यपूर्वाण्यङ्गानि पठ्यन्ते उपहोमादीनि तेषां न प्रकरणं विनियोजकम्। तत्र यद्यपि तेषां किंभावयेदित्यस्त्याकाङ्क्षा, तथापि प्रधानस्य न कथंभावाकाङ्क्षास्ति, प्राकृतैरेवाङ्गैर्निराकाङ्क्षत्वात्। न च प्राकृतानामङ्गानामत्रापठितत्वेनाप्रत्यक्षत्वाद्वैकृतानां तु पठितत्वेन प्रत्यक्षत्वात्तैरेवाकाङ्क्षोपशम इति वाच्यम्। तेषां पठितत्वेऽपि अक्लृप्तोपकारत्वेन झटित्याकाङ्क्षोपशमनेऽसामर्थ्यात्, प्राकृतानां तु क्लृप्तोपकारत्वेन तच्छमने सामर्थ्यात्।

न चात्र तेषामुपस्थापकाभावः, उपमितिलक्षणप्रमाणेन तेषामुपस्थितत्वात्। सौर्यवाक्ये हि दृष्टे औषधद्रव्यकत्वेन एकदेवत्यकत्वेन च सादृश्येन

है जहाँ स्वापेक्षित समग्र अंगों का पाठ न हो। जैसे-सौर्ययाग। 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः'। सूर्यदेवताक चरुंद्रव्यक याग ब्रह्मवर्चस फल के लिए विहित है। इसमें भावना से अपेक्षित अंगों का साकल्य नहीं हैं, किन्तु इस याग की सन्निधि में कुछ नये होम जो प्रकृति में नहीं, विहित हैं। इनको उपहोम कहते हैं। इन उपहोमों का अंगत्व प्रकरणप्रमाण से बोधित नहीं होता है अर्थात् इनका विनियोजक प्रकरण नहीं है। क्यों? जबकि इन उपहोमों की भाव्याकांक्षा है तब प्रकरण के विनियोजक होने में क्या प्रत्यूह है? समाधान यह है कि प्रधान सौर्ययाग की कथंभावाकांक्षा नहीं है। उभय की आकांक्षा होने पर ही प्रकरण होता है। यहाँ अन्यतर की आकांक्षा है। प्रधान की आकांक्षा प्राकृत अंगों से (जो अतिदेश के द्वारा आये हैं) शान्त हो जाती है। शंका होती है कि सौर्ययाग की संनिधि में कुछ अपूर्व अंग पठित हैं, प्राकृत अंग अपठित हैं। अपठित उन अंगों से आकांक्षा का शमन करना उचित नहीं है। अपनी संनिधि में पठित कतिपय अंगों से ही उसका शमन क्यों न माना जाय? अपठित होने से वे अप्रत्यक्ष हैं। पठित होने से ये प्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष पठितों से शमन करना ही उचित है। समाधान ग्रन्थ है—तेषां पठितत्वेऽपि आदि। प्रत्यक्षपाठमात्र को देखकर प्राबल्य निश्चय करना उचित नहीं है, क्योंकि वे उपहोम अक्लृप्तोपकार हैं, अर्थात् अनुष्ठान के द्वारा वे किसी का उपकार नहीं किये हैं। प्राकृत अंग तो प्रकृति का उपकार करने के लिए सिद्धहस्त हैं। अतः वे आकांक्षा के शमन में समर्थ होंगे।

सत्य है—प्राकृत अंग प्रकृति का उपकार करने के लिए अभ्यस्त हैं, किन्तु विकृति सौर्ययाग में उन अंगों की उपस्थिति किस प्रकार होगी? इस शंका का उत्तर ग्रन्थ है—उपमितिलक्षणप्रमाणेन तेषामुपस्थितत्वात्। विकृति में प्राकृत पदार्थों का उपस्थापक उपमान प्रमाण है। उपमान प्रमाण का स्वरूप यह है कि गोव्यक्ति से परिचित

आग्नेयवाक्यमुपमीयते, गवयदर्शनाद्गोरुपमानवत्। तस्मिंश्चोपमिते तेन तदर्थो ज्ञायते। सा त्र्यंशा भावना। तत्र सौर्यवाक्ये भावनायाः भाव्यकरणयोः सत्त्वात् इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामुपकारपृष्ठभावेनाग्नेयेतिकर्तव्यताऽतिदिश्यते-सौर्ययागेन ब्रह्मवर्चसं भावयेदा[1]ग्नेयवदुपकृत्येति। तथा च तयैवाकाङ्क्षो-पशमान्न विकृतेः प्रकरणमस्ति। अन्यतराकाङ्क्षारूपस्थानादेव चापूर्वाङ्ग-ग्रहणम्।

व्यक्ति जंगल में घूमता हुआ 'गवय' को देखकर उस गवय में गोसादृश्य का अनुभव करता है। अनन्तर उसी सादृश्य का अवलंबन करके गोनिष्ठ सादृश्य का स्मरण करते हुये उस पुरुष को यह ज्ञान होता है कि मेरी गाय इस गवय के सदृश है। इसी को मीमांसक उपमिति शब्द से व्यवहार करते हैं। इसका करण है—गवय का दर्शन। वही उपमान है। नैयायिक मत से कुछ भेद तो है किन्तु अतिदेशशास्त्रसिद्धि के लिए मीमांसक इस प्रकार मानते हैं। सौर्य वाक्य को देखकर दर्शपूर्णमास के 'आग्नेय' वाक्य का स्मरण होता है, क्योंकि सौर्य वाक्य में चरुद्रव्य (ओषधिप्रभव) और एक देवता के निर्देश को देखकर इसी प्रकारवाले ओषधि-प्रभव व्रीहिद्रव्य, एवं अग्निरूप एक देवतावाले आग्नेय वाक्य का स्मरण होता है, जैसे गवय दर्शन से तत्सदृश गो का स्मरण होता है। इस प्रकार स्मृत आग्नेय वाक्य अपने अर्थ का ज्ञान कराता है—वहाँ के आख्यात के द्वारा 'किं केन कथं' इस प्रकार तीन अंशों से युक्त भावना का ज्ञान होता है, उसी प्रकार सौर्य वाक्य में 'किं केन' तो है, किन्तु इतिकर्तव्यता 'कथं' की आकांक्षा होने पर उसके शमन के लिए क्रियात्मक पदार्थ न होने से स्मृत आग्नेय याग में जैसे अंगों का अनुष्ठान हुआ है वैसे ही यहाँ भी उन अंगों का अनुष्ठान करते हुए आकांक्षा का शमन करना है। तब प्रकृति आग्नेय याग से अपने अपने उपकार के अनुरूप पदार्थों का अतिदेश होता है—जैसे प्रयाज, अनूयाज आदि अंगों के अनुष्ठान से आग्नेय याग फलसंपादन में समर्थ हुआ, उसी तरह सौर्य याग को भी समर्थ बनाना चाहिए। इस प्रकार उपमान प्रमाण से उपस्थित प्राकृत क्लृप्तोपकार अंगों के द्वारा विकृति भावना की कथंभावाकांक्षा शान्त हो जाती है और विकृति याग की संनिधि में पठित उपहोम जो अक्लृप्तोपकार है उसका ग्रहण विकृति भावना नहीं करती। क्योंकि सन्निधि प्रमाण से ही उपहोम, विकृति याग का अंग होगा। विकृति भावना प्रकृत अंगों को प्रकरणप्रमाण से ग्रहण करे ऐसी शंका हो नहीं सकती, क्योंकि विकृति भावना की कथंभावाकांक्षा तो है किन्तु प्राकृत अंगों की भव्याकांक्षा नहीं है। वह प्रकृति का उपकार करके निराकांक्ष हो चुकी है। अतः उभयाकांक्षा न होने से प्राकृत अंगो का विकृति में प्रकरण नहीं बनता है।

---

१. आग्नेयवदिति ख.पु.

न च प्राकृताङ्गग्रहणमेव विकृतौ प्रकरणात् किं न स्यादिति वाच्यम्। तेषामपि प्रकृत्युपकारकतयाऽऽकाङ्क्षोपशमात्।

ननु प्राकृतानामङ्गानामाकांक्षाभावे तेषां विकृतौ सम्बन्धः केवलं स्थानात् स्यात्; अपूर्वाणां त्वाकांक्षासत्त्वाद्विकृतेरप्याकांक्षावत्त्वात् तेषां तत्सम्बन्धः प्रकरणात्स्यात्, प्रकरणं च स्थानात् झटिति विनियोजकमित्यपूर्वाणामेव प्रथमसम्बन्धः स्यात्, न प्राकृतानामिति।

[1]अत्रोच्यते—सत्यं प्रकरणं झटिति विनियोजकम्। तथापि प्रमाणबलाबलात्प्रमेयबलाबलस्य ज्यायस्त्वादुक्तविधयोपस्थितानां प्राकृतानामेव सम्बन्धो युक्तस्[2]स्यात्, क्लृप्तोपकारत्वात्, न वैकृतानां, कल्प्योपकारत्वात्। विकृतेश्चोपकारकपदार्थाकांक्षा, न पदार्थमात्राणामिति युक्तः प्रथमं प्राकृताङ्गसम्बन्धः। ततश्च न विकृतौ प्रकरणं विनियोजकम्।

प्राकृत अंगों का प्रकरण से विकृत्यङ्गत्व भले ही न हो क्योंकि उभयाकांक्षा नहीं है, किन्तु विकृतिसंनिधि में विद्यमान उपहोमों की भाव्याकांक्षा है एवं विकृति को कथंभावाकांक्षा भी है; इस प्रकार उभयाकांक्षा बनती है। ऐसी दशा में उपहोम एवं प्राकृत अंगों का स्थानप्रमाण से विनियोग क्यों माना जाता है? उपहोमों का प्रकरण से ही विनियोग माना जाय। क्योंकि स्थानप्रमाण प्रकरण से दुर्बल कहा गया है, ऐसी शंका की जा रही है—ननु प्रकृतानामाकांक्षाभावे इत्यादि।

समाधान ग्रन्थ है—अत्रोच्यते आदि। यह सत्य है कि प्रकरण प्रबल और स्थान दुर्बल प्रमाण है, अतएव प्रकरण शीघ्र उपस्थित होकर विनियोग कर देता है, किन्तु प्रमाणों में इस तरह प्रबल-दुर्बल भाव होते हुए भी प्रमेयों के प्रबल-दुर्बल भाव को भी प्रथम विचारना चाहिए—'प्रमाणबलाबलात् प्रमेयबलाबलं ज्यायः' न्याय है। न्याय का स्वरूप पहले दिखाया जा चुका है। प्राकृत अंग क्लृप्तोपकारक है, और वैकृत तो कल्प्योपकारक है। क्लृप्त और कल्प्य में क्लृप्त प्रबल होता है। गृहदाह होने पर बुझाने के लिए कोई नये कूप का खनन करके जल की प्रतीक्षा नहीं करता, किन्तु सिद्ध कूप से जल लाकर बुझाता है। विकृति याग उपकारक पदार्थों की आकांक्षा रखता है, पदार्थमात्र की नहीं। अतः प्राकृत अंगों का ही पहला संबन्ध होगा। इसलिए विकृति में प्रकरण विनियोजक नहीं, स्थान ही होगा।

---

१. उच्यते। ख. पु.

२. स्यात् इति नास्ति ख. पुस्तके।

यत्तु विकृतौ प्राकृताङ्गानुवादेन विधीयते—यथा 'औदुम्बरो यूपो भवति' इति यूपानुवादेन औदुम्बरत्वम्, तत्प्रकरणाद्गृह्यते।

ननु न तत्प्रकरणाद्गृह्यते अक्रियात्वात्। क्रियाया एव प्रकरणग्राह्यत्वा-दिति चेत्—सत्यम्। तथापि तु तावद्विधीयमानस्यौदुम्बरत्वस्यास्त्येवाकांक्षा किं भावयेदिति। न च यूपानुवादेन तस्य विधीयमानत्वाद्यूपस्य चादृष्टरूप-त्वात्तेनैवौदुम्बरत्वस्य नैराकांक्ष्यम्, आहवनीयेनेवाधानस्येति वाच्यम्।

उपरि वर्णित इस विषय का अपवाद दिखाते हैं—यत्तु प्राकृताङ्गानुवादेन। प्रकृति से विकृति में अतिदेश प्राप्त पदार्थ को उद्देश्य (अनुवाद) करके विकृति में जो अङ्ग विहित होता है वह विकृति में प्रकरण से विनियुक्त होता है। प्रकृति पशुयाग (अग्नीषोमीयपशु) में पशुबन्धन के लिए यूप होता है। वह खादिर वृक्ष से निर्मित होता है। विकृति 'सोमापौष्णं त्रैतमालभेत' से विहित याग में अतिदेश से वह यूप आया। उसका अनुवाद करके विकृति में 'औदुम्बरो यूपो भवति' वाक्य उदुम्बर (गूलर) का विधान करता है। प्राकृत अङ्ग है यूप, इस यूप का अनुवाद करके विहित अंग औदुम्बरत्व है, इसका विनियोजक प्रमाण प्रकरण होता है। आगे इसका विवेचन स्वयं ग्रन्थकार करेंगे।

इस संदर्भ में शंका होती है कि यूप का अनुवाद करके विहित उदुम्बर-काष्ठ है। वह सिद्ध द्रव्य है। द्रव्य का विनियोजक प्रकरण प्रमाण नहीं होता। इस का विवेचन अभी किया गया है। ऐसी दशा में प्राकृत अङ्ग यूप का अनुवाद करके विहित यह द्रव्य किस प्रकार प्रकरणग्राह्य होगा? ननु न तत्प्रकरणाद् गृह्यते अक्रियात्वात्। सत्यम् से समाधान किया जाता है। वस्तुतः उदुम्बर द्रव्य ही है, तथापि आकांक्षा के बल से प्रकरण उसका विनियोजक होता है। तात्पर्य यह है कि प्रकरण की प्रवृत्ति आकांक्षामूलक है। अङ्ग और अङ्गी की परस्पर आकांक्षा होने पर प्रकरण बनता है, चाहे द्रव्य हो या क्रियात्मक हो, आकांक्षा का अपलाप नहीं किया जा सकता। आकांक्षा करनेवाला अङ्ग द्रव्य हो तो किसी न किसी क्रिया के द्वारा प्रकरण उस द्रव्य को ग्रहण कर सकता है। अतः औदुम्बरत्व को प्रकरण के द्वारा ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं है। इस संदर्भ में यह विचार उपस्थित होता है कि जो अङ्ग उद्देश्य के स्वरूपसंपादन के लिए विधीयमान हो, वह अनर्थक बन जाता है। इसलिए अपूर्वसाधनपर्यन्त धावन करना पड़ता है। किन्तु जो अङ्ग उद्देश्यस्वरूपसिद्धि के लिए विहित होता हुआ भी अनर्थक नहीं होता है तथा उसी से वह आकांक्षारहित हो जाता है। अतः यहाँ अपूर्वपर्यन्त धावन की आवश्यकता नहीं होती है। इस स्थिति में यूप को उद्देश्य कर औदुम्बरत्व का विधान मानने पर विधिविषय औदुम्बरत्व अनर्थक नहीं होगा, क्योंकि यूप-पदार्थ लोकसिद्ध नहीं है, किन्तु अलौकिक-अदृष्ट रूप है। अदृष्टरूप यूप से हो

यूपस्य केवलादृष्टरूपत्वाभावात् तस्य हि तद्रूपत्वे खादिरत्वादिकं केवलादृष्टार्थं स्यात्। न च तत्संभवति। तथा सति खदिराभावे प्रतिनिधित्वेन कद-रोपादानं न स्यात्, अदृष्टार्थस्य प्रतिनिध्यभावात्, न हि खदिरजन्यमदृष्टं कदरेण क्रियत इत्यत्र प्रमाणमस्ति। अत एव नादृष्टार्थानां प्रतिनिधिः। तदुक्तम्—

'न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थत्वात्' इति।

अन्यार्थत्वात् अदृष्टार्थत्वात्। प्रतिनिधित्वेन चोपादानं कदरादेरुक्तं ग्रन्थेषु। तस्मान्न यूपस्य केवलादृष्टरूपत्वम्, अपि तु दृष्टादृष्टसंस्कारगणो यूप इति साम्प्रदायिकाः।

औदुम्बरत्व निराकांक्ष हो जाता है। अतः भाव्य की आकांक्षा नहीं होती। जैसे अग्निसिद्धि के लिए आधान विहित है—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' विहित इस आधान का फल आहवनीयादि अग्नि है। आहवनीय लौकिक अग्नि नहीं है, यह अलौकिक है। जैसे इससे ही आधान सार्थक हो जाता है उसी प्रकार औदुम्बरत्व भी यूप से ही निराकांक्ष है, तो प्रकरण से उसका विनियोग कैसे होगा। यह शंका न च यूपानुवादेन इत्यादि ग्रन्थ से की गयी। समाधान ग्रन्थ है—यूपस्य केवलादृष्टरूपत्वाभावात्। उदुम्बर काष्ठ से यूप बनाया जाता है, उस यूप में पशुबन्धन होता है। काष्ठ का तक्षण = रंधना, अष्टाश्रीकरण = अठकोना बनाना, अञ्जन घृत आदि से किया जाता है। इस प्रकार के संस्कारों के द्वारा उसका उत्पादन होता है। यदि यह यूप आहवनीय के समान अदृष्टरूप ही है तो जिस काष्ठ (खादिर) से वह बनाया जाता है वह अदृष्ट के लिए होगा। यह ठीक नहीं है। क्योंकि 'खादिर' के न मिलने पर कदर आदि को प्रतिनिधि के रूप से लिया जाता है। यह नहीं हो सकेगा, क्योंकि अदृष्टार्थ वस्तु का प्रतिनिधि निषिद्ध है। इस लिए निषेध है कि खादिर से जो अदृष्ट होगा वह कदर से नहीं होगा। अदृष्ट उत्पत्ति के लिए विधि जिसका विधान करती है उसी से वह होगा, अन्य से नहीं 'नादृष्टार्थानां प्रतिनिधिः' न्याय है। सूत्रकार का सूत्र इसमें प्रमाण है 'न देवताग्नि-शब्दक्रियमन्यार्थत्वात्'। देवता-इन्द्रादिक, अग्नि-आहवनीयादि, शब्द-मन्त्र, क्रिया-प्रयाजादिक इनके प्रतिनिधि नहीं होंगे, क्यों? अन्यार्थत्वात्—अदृष्टार्थ होने से। अदृष्ट की उत्पत्ति के लिए ये विहित हैं। श्रौत कर्मों में इन्द्र देवता से जो अदृष्ट होता है वह दूसरे देवता से नहीं होगा। इसी प्रकार अग्नि-आहवनीय आदि में भी मानना होगा। इसलिए यूप आदि अदृष्टार्थ हैं तो खादिर भी अदृष्टार्थ ही होगा, अतः खादिर के अभाव में 'कदर' का प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण न होगा। किन्तु प्रतिनिधि के रूप से 'कदर' लिया जाता है और ग्रन्थकार ने इसको स्वीकार किया है। इसलिए यूप को केवल अदृष्ट के लिए नहीं, किन्तु दृष्ट और अदृष्ट संस्कारों

एवं चौदुम्बरत्वस्य न यूपमात्रेण नैराकांक्ष्यम्, दृष्टसंस्कारस्य प्रकारान्तरेणापि सम्भवात्। अतश्चास्त्यौदुम्बरत्वस्याकांक्षा। विकृतेरप्यस्ति कथंभावाकांक्षा। सा च तदा शाम्यति यदोपकारास्तत्पृष्ठभावेन च पदार्था अन्वीयन्ते। [1]न तूपकारमात्रान्वयेन शाम्यति। अतश्च यथेन्द्रियभावनायाः

के समूहरूप में मानना चाहिए। पार्थसारथिमिश्रप्रभृति मीमांसकों ने इसी प्रकार कहा है।

इतने विचार से सिद्ध हुआ कि विधेय औदुम्बरत्व की भाव्य आकांक्षा यूपस्वरूपमात्र से शान्त नहीं होगी, क्योंकि यूप के जो दृष्ट संस्कार-पशुबन्धन आदि हैं वे दूसरे प्रकार से भी संपन्न हो सकेंगे। इसलिए भाव्य की आकांक्षा बनी रहती है। विकृति प्रधान याग की कथंभावाकांक्षा है ही। इसप्रकार उभयाकांक्षा होने से प्रकरण औदुम्बरत्व का विनियोजक सिद्ध होता है। कहा गया है कि विकृति की कथंभावाकांक्षा का शमन प्राकृत अंगों के द्वारा हो जाता है, तो औदुम्बरत्व के अन्वय के समय में आकांक्षा क्यों बनी रहेगी? इस शंका के उत्तर में कहा जाता है—सा च तदा शाम्यति आदि। विकृति भावना की कथंभावाकांक्षा प्राकृत उपकारमात्र के अतिदेश से शान्त नहीं होती है किन्तु उपकार के पीछे पदार्थों के अन्वयपर्यन्त बनी रहती है। प्रकृत विकृति याग जो 'सोमापौष्णं त्रैतमालभेत पशुकामः' से विहित है, उसकी स्थिति यह है कि प्रधान याग के द्रव्य-देवता और फल के ज्ञान होने पर इस द्रव्य देवतावाले याग से पशुफल संपादन किस प्रकार से हो, आकांक्षा होती है। सभी पशुद्रव्य के यागों का प्रकृतियाग अग्नीषोमीय पशुयाग निर्धारित होने से वहाँ के अङ्ग-पदार्थ अपने-अपने दृष्ट या अदृष्ट उपकार को आगे करके विकृति में प्राप्त होते हैं। प्रकृति याग में पशुबन्धनरूप उपकार के लिए यूप था। वह यूप प्रकृति में खादिर वृक्ष से बनाया गया था। यह यूप पशुबन्धनरूप उपकार के निमित्त विकृति में अतिदिष्ट हुआ। यूप के पीछे खादिर काष्ठ भी आने लगा, किन्तु विकृति में यूप के काष्ठ उदुम्बर का विधान हुआ। अतिदेश शास्त्र, पशुबन्धन के साधन यूप को तो अतिदिष्ट किया, उस यूप के प्रकृतिकाष्ठ खादिर को नहीं किया, क्योंकि विकृति में खादिर के स्थान में उदुम्बर विहित है। अतिदेश से खादिर की प्राप्ति हो या उदुम्बर का अन्वय हो, उतने से विकृति की कथंभावाकांक्षा शान्त नहीं होगी। अतिदेश से खादिर-प्राप्ति की संभावना नहीं है। विधीयमान उदुम्बर भाव्य की आकांक्षा कर रहा है और विकृति भावना की कथंभावाकांक्षा बनी हुई है। इस अवस्था में प्रकरण औदुम्बरत्व को भावना तक पहुँचाता है तो दोनों की आकांक्षा का शमन होता है। इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने एक दृष्टान्त दिया है—यथा इन्द्रियभावनायाः करणा-

---

१. न तूपकारमात्रेण, ख. पु.

करणाकांक्षा दध्नः करणत्वेनान्वये जाते सिद्धस्य करणत्वानुपपत्त्या होमस्याश्रयत्वेनान्वयं यावदनुवर्तते, न तु दध्यन्वयमात्रेण निवर्तते; आश्रयत्वेन च गृह्यमाणो होमः करणाकांक्षयैव गृह्यत इत्युच्यते, न त्वाश्रयाकांक्षा नाम चतुर्थ्यस्ति, एवं विकृतेः कथंभावाकांक्षा नोपकारान्वयमात्रेण निवर्तते; उपकारपृष्ठभावेन यावत्पदार्थान्वयमनुवर्तते। अतश्चोपकारपृष्ठभावेन गृह्यमाणाः पदार्थाः कथंभावाकांक्षयैव गृह्यन्ते। तत्र प्राकृताः पदार्थाः कथंभावाकांक्षया गृह्यमाणा अपि न प्रकरणग्राह्याः प्रकृत्युपकारकतया तेषामाकांक्षाभावात्। औदुम्बरत्वादयस्तु अन्यानुपकारकतया साकांक्षाः पशुनियोजनयूपपृष्ठभावेन

कांक्षा इत्यादि। दृष्टान्त सन्दर्भ का भाव यह है कि 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' में आख्यातार्थ भावना की भाव्याकांक्षा होने पर इन्द्रियफल अन्वित होता है और करण की आकांक्षा में दधि अन्वित होती है, क्योंकि वही विधेय है। धात्वर्थ का अन्वय नहीं होगा, क्योंकि यह गुणफलविधि है। उत्पत्तिविधि ही में धात्वर्थ का करणत्वेन अन्वय होता है। दधिपद तृतीयान्त है और वह विधेय है। अतः भावना की करणाकांक्षा की पूर्ति के लिए दधि अन्वित हुई, किन्तु भावना की आकांक्षा शान्त नहीं हुई, क्योंकि दधि सिद्ध वस्तु है, किसी व्यापार से अन्वित हुए विना दधि कैसे करण वन सकेगी। अतः दधि किसी न किसी व्यापार की अपेक्षा करती है। भक्षण-दान-पातन-होम आदि अनेक व्यापार के प्राप्त होने पर प्रकृत अग्निहोत्र प्रकरण होम को उपस्थित करता है। प्रकृत होम को आश्रित कर दधि भावना की करणाकांक्षा की शामिका बनती है। अतः जैसे भावना की करणाकांक्षा दधि के अन्वयमात्र से शान्त न होकर होम के आश्रय के रूप से अन्वय होने तक बनी रहती है, (करण की आकांक्षा से ही आश्रय का ग्रहण है, आश्रयाकांक्षा चौथी नहीं है।) उसी प्रकार प्रकृत सोमापौष्ण वाक्य में भावना की कथंभावाकांक्षा तब तक बनी रहेगी जब तक औदुम्बरत्व का अन्वय नहीं होता। प्रकृति से खादिर की प्राप्ति हो जाने पर आकांक्षा का शमन होगा, किन्तु खादिरत्व की प्राप्ति होने से पूर्व ही 'औदुम्बरो यूपो भवति' विधि औदुम्बरत्व का विधान कर देती है। अतः उभयाकांक्षा होने से औदुम्बरत्व प्रकरण द्वारा विनियुक्त होता है। 'औदुम्बरो यूपो भवति' यह विधि सोमापौष्ण याग में औदुम्बरत्व का तब तक विधान कर देती है जब तक अतिदेशशास्त्र पशुवन्धनयूप के साथ खादिरकाष्ठ को नहीं पहुँचाता है, क्योंकि विकृति में वाधकशास्त्र को देखकर ही अतिदेशशास्त्र अपना अतिदेश कार्य करता है। विकृति में पहुँच कर वाधित होने की अपेक्षा पहले से ही दूर रहना उचित समझता है। अतः खादिरकाष्ठ के अतिदेशशास्त्र का विषय न होने से औदुम्बरत्व का प्रकरण विनियोग होता है।

इतने विचार से यह निष्कर्ष निकला कि प्रकृति=अग्नीषोमीय पशुयाग से

यावत्खादिरत्वमायाति तावद्विधीयन्ते इति युक्तं तेषां प्रकरणाद्ग्रहणम्, उभयाकांक्षासत्त्वात्। यदि हि यूपपृष्ठभावेन खादिरत्वं विहितं स्यात्, ततो विकृतेराकांक्षाभावादौदुम्बरत्वं न प्रकरणग्राह्यं स्यात्। न चैतदस्ति। चोदकस्य खादिरत्वाविषयत्वात्।

ननु—यदि यावत्खादिरत्वमायाति तावदेवौदुम्बरत्वं विधीयते, तदा तेन खादिरत्वबाधोऽप्राप्तबाधः स्यात्, तार्तीयबाधवत्। तथाहि—बाधो द्विविधः—अप्राप्तबाधः प्राप्तबाधश्चेति। तत्र तार्तीयो बाधोऽप्राप्तबाधः। तत्र हि यावत् दुर्बलेन [1]प्रमाणेन विनियोगः कर्तुमारभ्यते तावदेव प्रबलप्रमाणेन विनियोगः क्रियते इति तद्बोधितेनेतरबाधोऽप्राप्तबाधः, दुर्बलप्रमाणस्याप्रवृत्तत्वात्।

प्राकृतस्य त्वङ्गस्य विकृतौ चोदकप्राप्तस्य [2]प्रत्याम्नानादर्थलोपात् प्रतिषेधाद्वा यो बाधः स प्राप्तबाधः। यथा—प्राकृतानां कुशानां प्रतिकूलशराम्नानात्, यथा वाऽवघातस्य कृष्णलेषु वैतुष्यरूपप्रयोजनलोपात्, यथा वा

खादिर काष्ठ विकृति-सोमापौष्ण याग में पहुँचने से पूर्व ही औदुम्बर वाक्य से विहित उदुम्बर काष्ठ खादिर को बाधित कर देता है, तो यह बाध अप्राप्तबाध अर्थात् बाध्यपदार्थ अप्राप्त होकर ही बाधक से बाधित हो जाता है। इस प्रकार की शंका का उपस्थापन करते हैं—ननु यदि यावत्खादिरत्वमायाति तावत् आदि। जैसे तृतीयाध्याय में श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण स्थान-समाख्यारूप विनियोजक प्रमाणों में उत्तर-उत्तर प्रमाणों से विरोध होने पर पूर्व-पूर्व प्रमाणों को बाधक माना जाता है। अर्थात् लिङ्गप्रमाण की प्रवृत्ति के पूर्व ही श्रुतिप्रमाण प्रवृत्त होकर लिङ्ग का बाधक हो जाता है, एवं वाक्यप्रमाण प्रवृत्ति के पूर्व ही लिङ्गप्रमाण प्रवृत्त होकर वाक्य का बाधक बन जाता है उसी प्रकार अतिदेश से खादिरत्व प्राप्त होने के पूर्व ही औदुम्बरत्व से बाधित हो जाता है, यही अप्राप्तबाध हुआ। इस शास्त्र में बाध दो प्रकार के माने गये हैं—अप्राप्तबाध और प्राप्तबाध। तृतीय अध्याय का विषय अप्राप्तबाध है। प्रकृति से विकृति में अतिदेश से आये हुए पदार्थ का बाध तीन कारणों से होता है—प्रत्याम्नानात्, अर्थलोपात् और प्रतिषेधात्। प्राकृतपदार्थ के बदले में विकृति में आम्नात पदार्थ से प्राकृत का बाध प्रत्याम्नान से बाध कहा जाता है। प्रकृति में वेदि पर बिछाने के लिए कुश रहा 'कौशं बर्हिः'। इसके अतिदेश से प्राप्त होने पर 'रौद्रीं रोहिणीमालभेताभिचरन्' वाक्य से विहित आभिचारिक याग में 'शरमयं बर्हिः' वाक्य से शर विहित है।

१. प्रमाणेन इति नास्ति क. पु.

२. प्रतिकूलाम्नानात्, इति. ख. पु.

पित्र्येष्टौ होतृवरणस्य [1]"न होतारं वृणीत' इति प्रतिषेधात् । औदुम्बरत्वेन च खादिरत्वबाधः प्राप्तबाध एव वक्तव्यः, शरकुशन्यायेन । चोदकस्य च खादिरत्वाविषयत्वे प्राप्त्यभावात्तदनुपपत्तिः स्यादिति ।

उच्यते–तार्तीयप्रमाणविनियुक्तेनेतरस्य बाधनं तावदप्राप्तबाधनम् । प्रकरणं च तार्तीयम् । तेन तद्विनियुक्तौदुम्बरत्वेनेतरस्य बाधनमप्राप्तबाध एव । नहि वैकृतेन प्राकृतबाधः प्राप्तबाधः एवेति कुलधर्मः ।

वेदि पर कुश न बिछा कर शरों को बिछाया जाता है, यह प्रत्याम्नान से बाध कहलाता है। 'प्राजापत्यं चरुं घृते निर्वपेत् शतकृष्णलमायुष्कामः' वाक्य से विहित आयुष्कामेष्टि में प्रकृति दर्शपूर्णमास से अवहनन प्राप्त हुआ। अवहनन का प्रयोजन तुषों का विमोक है। वह प्रयोजन इस इष्टि में नहीं है, क्योंकि चरु को कृष्णल-सुवर्ण खण्ड से बनाना है। यहाँ तुषविमोकरूप प्रयोजन न होने से अर्थलोप=प्रयोजन लोप से अवहनन का बाध है। एवं दर्शपूर्णमास में होता का वरण 'होतारं वृणीते' से विहित है। पितृयज्ञ में (अमावास्या के दिन 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति' वाक्य से विहित इष्टि को पितृयज्ञ कहते हैं) 'न होतारं वृणीते' से होतृवरण का प्रतिषेध है। इष्टि के नाते दर्शपूर्णमास से होतृवरण पितृयज्ञ में अतिदेश द्वारा प्राप्त हुआ तो प्रतिषेध से उसका बाध माना जाता है। इन तीन कारणों से जो बाध है वह प्राप्तबाध कहलाता है। और यह दशम अध्याय का विषय है। इनमें औदुम्बरत्व से खादिरत्व का बाध शरकुशन्याय के समान है। अतः यहाँ प्राप्तबाध होना चाहिये था, किन्तु खादिरत्व अतिदेश का विषय नहीं है। अतः प्राप्तबाध की उपपत्ति नहीं बनती।

इस शंका का समाधान ग्रन्थ है—उच्यते आदि। तीसरे अध्याय के श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण आदि प्रमाणों के द्वारा विनियुक्त पदार्थ से इतर का बाध अप्राप्तबाध है। औदुम्बरत्व तीसरे अध्याय के प्रमाण—प्रकरण से विनियुक्त है। अर्थात् औदुंबरत्व का अंगत्वबोधक प्रमाण प्रकरण है, उससे विनियुक्त औदुंबरत्व से खादिरत्व का बाध अप्राप्तबाध है। शंकाकर्ता ने कहा था कि विकृतियागसंबन्धिपदार्थ के द्वारा प्राकृत का बाध प्राप्तबाध ही है, यह ठीक नहीं है। विकृति पदार्थ से प्रकृति पदार्थ का बाध प्राप्तबाध है ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है। किन्तु उक्त परिभाषा से यह अप्राप्तबाध है। इसलिए शरकुश न्याय यहाँ लागू नहीं होगा।

(शंका) प्रत्याम्नान के द्वारा जहाँ बाध होता है वहाँ बाधकपदार्थ का प्रकरण अवश्य विनियोजक होता है, और उसे अप्राप्तबाध कहते हैं। ऐसी स्थिति में इसका विचार तीसरे अध्याय में करना चाहिये था। अतः दशम में इस बाध का निरूपण उचित नहीं होगा। यदि प्रसंगसंगति को लेकर पदशास्त्र से आहवनीय

वस्तुतस्तु प्राप्तबाध एवायम्। न च खादिरत्वस्य चोदकाविषयत्वेन प्राप्त्यभावात् कथं तद्बाधः प्राप्तबाधः? तद्विषयत्वे वा तेनैव नैराकांक्ष्यान्नौदुम्बरत्वे प्रकरणं विनियोजकं स्यादिति वाच्यम्। नहि प्राप्तबाधस्थले चोदकेन पदार्थाः प्राप्यन्ते। तथा सति शास्त्रप्राप्तत्वेन बाधो न स्यात्। किं तर्हि तानेव पदार्थान्वस्तुतः प्रापयति ये विकृतौ न बाध्यन्ते। ते च पदार्थाः प्रकृतिवच्छब्देन प्राप्यन्ते इति भवति पुरुषस्य भ्रान्तिः–यथा प्रकृतौ कृतं तथा विकृतौ कर्तव्यमिति सर्वे पदार्थाः प्राकृताः कर्तव्याः—इति। अतश्च भ्रान्तिप्राप्ताः खादिरत्वादयः शास्त्रप्रतिपन्नैरौदुम्बरत्वादिभिर्बाध्यन्ते इति भवति तद्बाधः प्राप्तबाधः। न च भ्रान्तिप्रतिपन्नेन वैधी आकांक्षा निवर्तयितुं

के बाध के समान दशम अध्याय में प्रत्याम्नान से बाध का विचार किया गया, ऐसा कहेंगे तो दशम अध्याय में तीन कारणों से बाध होता है, यह कहना उचित सिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार की शंका होने पर समाधान ग्रन्थ है—वस्तुतस्तु आदि। समाधान ग्रन्थ का भाव यह है कि औदुम्बरत्व से खादिरत्व का बाध प्राप्तबाध ही है। किस प्रकार प्राप्तबाध हो सकता है? प्राप्तबाध कहने वाले से पूछा जाता है कि क्या खादिर अतिदेशशास्त्र का विषय है या नहीं! यदि नहीं है तो प्राप्तबाध कैसा! अतिदेश से प्राप्त होने पर औदुम्बर से बाध हो तो प्राप्तबाध बन सकता है। यहाँ अतिदेश से उसका स्पर्श ही नहीं होता। तब प्राप्तबाध किस प्रकार होगा। यदि अतिदेशशास्त्र का खादिर विषय है तो विहित औदुम्बर यूप से ही निराकांक्ष हो जाता है, तब प्रकरणप्राप्त औदुम्बर नहीं बनेगा। उभयतः पाशः—खादिर को अतिदेशशास्त्र विकृति में लाने पर औदुम्बर प्रकरणग्राह्य नहीं बनता, अतिदेशशास्त्र द्वारा विकृति में खादिर न आने पर प्राप्तबाध सिद्ध नहीं होगा। इस संकट का निराकरण ग्रन्थ है—न हि प्राप्तबाधस्थले आदि। यहाँ ज्ञातव्य है कि 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' यह अतिदेश शास्त्र है। अतिदेश शास्त्र प्रकृति याग से विकृति यागों में अंगों को नहीं पहुँचाता है। पहुँचाने पर उसका बाध ही सिद्ध नहीं होगा। शास्त्र से पहुँचाये हुए अंग का दूसरे शास्त्र से बाध नहीं हो सकता है। यदि होता है तो विकल्प हो जायगा। अतः अतिदेशशास्त्र, उन्हीं अंगों को विकृति यागों में अनुष्ठान करने के लिए बोधन करता है जो विकृति से बाधित न होते हों। प्रकृति के एक एक अंग को लेकर विकृति में उनका अनुष्ठान करना है, ऐसा अतिदेशशास्त्र कहता नहीं। किन्तु सामान्यरूप से 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' अंगों को बुद्धिस्थ कराता है। प्रकृति के समान विकृत में अंगों का अनुष्ठान करना चाहिए। इस सामान्यरूप को देखकर पुरुष को भ्रान्ति हो सकती है कि जो-जो अङ्ग प्रकृति में उपकारसिद्धि के लिए किये गये उन्हें विकृति में करना चाहिये। इस प्रकार भ्रान्ति से प्राप्त प्राकृत खादिरत्व का विकृति में पठित 'औदुम्बरो यूपो भवति' शास्त्र के द्वारा

शक्यते। तस्माद्युक्तमुक्तमुभयाकाङ्क्षारूपप्रकरणसम्भवाद्विकृतौ प्राकृताङ्गानुवादेन विधीयमानानामौदुम्बरत्वादीनां प्रकरणं विनियोजकमिति।

एवं 'पृषदाज्येनानूयाजान् यजती'ति प्राकृतानुयाजानुवादेन विधीयमानं पृषदाज्यमपि प्रकरणाद्विकृत्यङ्गमिति केचिदाचार्याः। [1]अस्मत्तातचरणास्त्वेवमाहुः—पृषदाज्यं हि अनुयाजानुवादेन विधीयते। तत्स्वरूपे चानर्थक्य-

---

बाध प्राप्तबाध ही है। अतः पुरुष की इस भ्रान्ति का निवारक औदुम्बर शास्त्र है। इसी को प्राप्तबाध समझना चाहिये। भ्रान्ति के द्वारा प्राप्त अङ्गों से विकृति याग की कथंभावाकांक्षा का शमन न होगा, अतः विकृति की कथंभावाकांक्षा विद्यमान है, औदुम्बरत्व की भी भाव्याकांक्षा विद्यमान है। इस प्रकार उभयाकांक्षा के द्वारा प्रकरणप्रमाण औदुम्बरत्व का विनियोजक सिद्ध होता है।

उदाहरणान्तर के द्वारा इस न्याय को स्पष्ट करने के लिए विचार प्रस्तुत करते हैं—एवं पृषदाज्येनानूयाजान् यजति आदि। यह वाक्य पशुप्रकरण में विद्यमान है। अग्नीषोमीय पशुयाग दर्शयाग की विकृति है। दर्श में तीन अनूयाज याग अंग हैं, इनका द्रव्य आज्य था। विकृति पशुयाग में अतिदेश से आये हुए अनूयाजों का अनुवाद करके पृषदाज्य द्रव्य का विधान करता है। दधि से मिलाये हुए आज्य को पृषदाज्य कहते हैं। जैसे सोमापौष्ण याग में प्रकृति से प्राप्त यूप का अनुवाद करके विहित औदुम्बरत्व का प्रकरणप्रमाण से विनियोग माना गया है, उसी प्रकार प्रकृति से प्राप्त अनूयाज का अनुवाद करके विहित पृषदाज्य को भी प्रकरण से विकृति का अंग आचार्य[2] भट्टसोमेश्वर मानते हैं। तात्पर्य यह है कि पृषदाज्य वाक्य अनूयाज याग को उद्देश्य करके पृषदाज्य का विधान करता है। अनूयाज याग की स्वरूपसिद्धि के लिए पृषदाज्य का विधान अनर्थक होगा, क्योंकि वह स्वरूप द्रव्यान्तर से भी संपन्न हो सकता है। पृषदाज्य वाक्य को नियमविधि मानना होगा। नियमसिद्धि के लिए क्रतुसंबन्ध की अपेक्षा होती है। अतः क्रतुजन्य अपूर्व की लक्षणा करने से क्रत्वपूर्व पृषदाज्य का प्रयोजक होगा। इससे यह सिद्ध होता है कि पृषदाज्य द्रव्य से अनूयाज का अनुष्ठान होने पर क्रतुजन्य अपूर्व सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं। प्रकरण के बिना पृषदाज्य से क्रत्वपूर्व का संबन्ध सिद्ध नहीं होगा। अतः पृषदाज्य का विनियोजक प्रकरण प्रमाण है।

आपदेव के पितृचरण श्रीअनन्तदेव के मत से पृषदाज्य का विनियोजक प्रकरणप्रमाण नहीं है किन्तु वाक्यप्रमाण होता है। अनूयाज का उद्देश्य करके पृष-

---

१. अन्ये त्वे

२. 'पृषदाज्येनानूयाजान् यजतीति प्राकृतानूयाजानुवादेन पृषदाज्य विधानात् प्राकृताङ्गग्रहणवेलायामेव पृषदाज्यग्रहणप्रतीतेः तदानीञ्च नैराकांक्ष्याभावात् प्रकरणेन पृषदाज्यं यथा गृहीतम्' न्या० सु०।

प्राप्तौ तैर्न विकृत्यपूर्वं लक्षयितुं युक्तं, विप्रकर्षात्; किन्तु दीक्षणीयावाङ्नियमन्यायेन स्वापूर्वमेव लक्षयितुं युक्तं[1], सन्निकर्षात्। अत एवोत्पवनादीनां प्रोक्षणाद्यपूर्वप्रयुक्तत्वमुक्तं नवमे। अतश्च विधीयमानस्य पृषदाज्यस्य वाक्य-

---

दाज्य का विधान होने पर वह अनर्थक होता है। अतः अपूर्व की लक्षणा माननी पड़ती है। इतने तक न्यायसुधाकार एवं अनन्तदेव का मत समान है। किस अपूर्व की लक्षणा की जाय! इसमें मतभेद है। यहाँ विकृति पशुयाग है। क्या इस याग के अपूर्व को लक्षणा से मानना है? अथवा अनूयाज याग के अपूर्व को मानना है? पशुयागजन्य अपूर्व विप्रकृष्ट है अर्थात् अनूयाजयागजन्य अपूर्व की अपेक्षा पशुयागजन्य अपूर्व दूर पड़ता है। पशुयागजन्य अपूर्व फलापूर्व कहलाता है। वह फलापूर्व पूर्व ही तथा उत्तर अंगों के साथ पशुयाग के अनुष्ठान से उत्पन्न होता है। अनूयाजयागजन्य अपूर्व अंगापूर्व कहलाता है। यह अपूर्व अनूयाज यागों के अनुष्ठान से ही उत्पन्न हो जाता है। पृषदाज्य द्रव्य से अनूयाज अनुष्ठित होते हैं। पृषदाज्य से साध्य अनूयाजों के द्वारा जो अपूर्व होगा वही पृषदाज्य का संनिहित होगा। इस अपूर्व को छोड़कर व्यवहित विकृत्यपूर्व को लक्षणा से मानना उचित नहीं है। अतः पृषदाज्य का विनियोजक प्रकरण न होगा, किंतु पृषदाज्य का विनियोजक वाक्यप्रमाण ही होगा। इस प्रकार से मानने में न्याय दिखाते हैं—किन्तु दीक्षणीया वाङ्नियमन्यायेन आदि। ज्योतिष्टोम याग के अंग दीक्षणीयेष्टि 'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद् दीक्षिष्यमाणः' वाक्य से विहित है। जो यजमान ज्योतिष्टोम याग करना चाहता है वह पहले दीक्षासंस्कार से संस्कृत होता है। दीक्षा संस्कार को पाने की इच्छा करता हुआ वह अग्नि विष्णु देवता, एकादशकपालसंस्कृत पुरोडाश द्रव्यवाले याग का अनुष्ठान करता है। इस इष्टि में कामस्वर विहित है—'यावत्या वाचा कामयते तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयात्'। दीक्षणीयेष्टि में पुरोनुवाक्या आदि मन्त्रों को जितने ऊँचे स्वर से बोल सकते हों उतने ऊँचे स्वर से बोलें, यह कामस्वर है। विधेय इस कामस्वर का उद्देश्य दीक्षणीयेष्टि है। इष्टि को उद्देश्य करके विहित कामस्वर अनर्थक होने से दीक्षणीयाशब्द अपूर्व की लक्षणा करेगा। अपने साध्य अपूर्व से जो संनिहित है उसको छोड़कर व्यवहित ज्योतिष्टोमापूर्व का दीक्षणीयाशब्द लक्षक नहीं बनेगा। यह दीक्षणीयावाङ्नियमन्याय है। नवम अध्याय के पहले पाद में इसका विचार किया गया है।

अंगों का प्रयोजक संनिहित अपूर्व होता है, इसमें न्यायान्तर दिया जा रहा है-अत एवोत्पवनादीनाम् आदि। दर्शपूर्णमास में जलभरा प्रोक्षणीपात्र है। उस जल से यज्ञीय पात्रों का प्रोक्षण (छिड़कना) किया जाता है। प्रोक्षण से पूर्व

---

१. क्तमविप्रक.

प्रतिपन्नेनानुयाजापूर्वेणैव नैराकांक्ष्यान्न प्रकरणाद्विकृत्यपूर्वार्थत्वमिति।

[1]वयं त्वङ्गीकृत्य ब्रूमः—भवतु वा विकृत्यपूर्वार्थत्वम्। तथापि पृषदाज्यस्य न प्रकरणं विनियोजकं भवति। यूपपृष्ठभावेन हि यावत्खादिरत्वमायाति, तावदौदुम्बरत्वविधानादुभयाकांक्षासम्भवाद्युक्तः प्रकरणविनियोगः। एवं

जल का संस्कार उत्पवन (पवित्र से पूर्व से पश्चिम की ओर चलाना) किया जाता है। 'उदगग्राभ्यां पवित्राभ्यां[2] प्रोक्षणीरुत्पुनाति' उत्पवन का यह विधिवाक्य है। उत्पवन संस्कार से संस्कृत प्रोक्षणीजल से 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' इत्यादि मन्त्र पढ़कर यज्ञीय पात्रों का प्रोक्षण[3] किया जाता है। उत्पवन वाक्य से विहित उत्पवन क्रिया का उद्देश्य प्रोक्षणी है। प्रोक्षणीस्वरूप को उद्देश्य मानेंगे तो उत्पवन का वैयर्थ्य होगा। अतः प्रोक्षणी से तत्साध्य अपूर्व को लक्षणा से मानना होगा। यही सन्निहित है। दर्शपूर्णमासजन्य अपूर्व लक्षित होने पर वह विप्रकृष्ट हो जाता है। यह न्याय भी नवम अध्याय के प्रथम पाद में विचारित है। इन दोनों न्यायों से यह सिद्ध हुआ कि पृषदाज्य का अनूयाजयागजन्य अपूर्व ही प्रयोजक है, विकृति पशुयागजन्य अपूर्व प्रयोजक नहीं है, इसीलिए पृषदाज्य का विनियोजक प्रकरण न होकर वाक्य ही होगा। यह अनन्तदेव का मत है।

इस चर्चा में ग्रन्थकार अपना मत प्रस्तुत करते हैं—वयन्तु अङ्गीकृत्य ब्रूमः आदि। आपदेव का यह आशय है कि दीक्षणीया वाङ्नियम-उत्पवनन्यायों के आधार से पृषदाज्य का सन्निहित स्वापूर्वार्थत्व ही विप्रकृष्ट विकृति यागजन्य अपूर्वार्थत्व नहीं है, इस प्रकार कहने की अपेक्षा पृषदाज्य के विकृत्यङ्गत्व होने पर भी प्रकरणप्रमाण से विनियोग मानने की आवश्यकता नहीं है; ऐसा उपाय दिखा रहे हैं। पृषदाज्य का प्रकरण से विनियोग मानने में औदुम्बरत्व का दृष्टान्त दिया था। अतिदेश के द्वारा विकृति सोमापौष्ण याग में यूप के पीछे खादिर जब आने लगा तभी 'औदुम्बरो यूपो भवति' वाक्य उदुम्बर काष्ठ का विधान कर देता है, अतः उभयाकांक्षा होने से प्रकरणप्रमाण उदुम्बर का विनियोजक होता है। यह दृष्टान्त की स्थिति है। इस तरह दार्ष्टान्तिक में प्रकृति दर्शपूर्णमास से विकृति पशुयाग में अतिदेश के द्वारा अनूयाज के पीछे प्राकृत आज्यद्रव्य के आने पर पृषदाज्य

---

१. वयन्त्वङ्गीकृत्यापि विकृत्यर्थत्वं ब्रूमः। भवतु वा विकृत्यर्थत्वं पृषदाज्यस्य। तथापि न प्रकरणं इत्येव मुद्रितपुस्तकेषु पाठस्समुपलभ्यते। तथैव व्याख्यातं च गुरुचरणैः। तथाप्युपरितनस्य पाठस्य प्राचीनहस्तलिखितकोशेषूपलम्भात् तत्रैव स्वरसतां पश्यता मया स एव पाठस्स्वीकृतः।

२. प्रोक्षणीशब्द क्रियाप्रवृत्तिनिमित्तक यौगिक है। प्रोक्षण्यधिकरण न्याय से (पू० मी० १.४.९) प्रोक्षणीशब्द स्त्रीलिङ्ग बहुवचन के द्वारा अप्वाची है।

३. प्रोक्षण का विधायक वाक्य 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे इति त्रिःप्रोक्षति' है।

यावदनुयाजपृष्ठभावेनाज्यमायाति तावदेव यदि पृषदाज्यं [1]विधीयेत तदोभयाकांक्षासम्भवात्प्रकरणविनियोगो भवेत्। न त्वेतदस्ति। नहि पृषदाज्यं नाम द्रव्यान्तरं किंचिदस्ति, यदाज्यस्थानापन्नं विधीयेत, औदुम्बरत्वमिव खादिरत्वस्थानापन्नम्; पृषच्छब्दस्य पृषन्मणिरित्यादौ चित्रतावाचित्वेन दृष्टत्वात्, पृषदाज्यशब्दस्य चित्राज्यवाचित्वात्। अत एव निगमेषु आज्य [2]पानित्येव वक्तव्यं न तु पृषदाज्यपा [3]नित्युक्तम्।

न च यावत्प्राकृतमाज्यमायाति तावदेव चित्राज्यविधानात् प्रकरणविनि-

---

का विधान हो तब उदुम्बर के समान पृषदाज्य का विनियोजक प्रकरण होगा। किन्तु ऐसी बात यहाँ नहीं है। क्योंकि पृषदाज्य प्राकृत आज्यद्रव्य से भिन्न नहीं है, किन्तु वह आज्य ही है। जैसे सोमापौष्ण याग में खादिर के स्थान में उदुंबर का विधान है, वैसे विकृति पशुयाग में प्राकृत आज्य के स्थान में पृषदाज्य का विधान नहीं है, क्योंकि पृषच्छब्द चित्रगुण का वाचक है, पृषन्मणिः, 'पृषद्रज्जुः' आदि स्थलों में पृषद् शब्द के चित्रगुणपरक प्रयोग मिलते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि पृषदाज्य शब्द चित्राज्य का वाचक है। घृत में दधि के थोड़े अंश को मिला देने से वह चित्राज्य बन जाता है। आज्य से पृषदाज्य के द्रव्यान्तर हो जाने पर आवाहन-निगम आदि मन्त्रों में 'देवान् पृषदाज्यपानावह, देवाः पृषदाज्यपा अजुषन्त' ऐसा उच्चारण करना आवश्यक हो जाता है। दर्शपूर्णमास में याग के जितने देवता हैं उनका नाम लेकर आवाहन किया जाता है—'अग्निमावह', 'सोममावह', 'अग्नीषोमावावह' इत्यादि। इनमें आज्यद्रव्य को पानेवाले प्रयाज तथा अनूयाजों में जितने देवता हैं उन सबों का 'आज्यपानावह' (आज्य को पानेवाले देवता 'आज्यप शब्द से कहे जाते हैं।) से ही निर्देश किया जाता है। एवं सूक्तवाक् मन्त्रों में भी 'अग्निरिदं हविरजुषत' 'अग्नीषोमाविदं हविरजुषेताम्' इस प्रकार उच्चारण करते हुए प्रयाज तथा अनूयाज देवताओं के लिए 'देवा आज्यपा आज्यमजुषन्त' ऐसा उच्चारण किया जाता है। यह प्रकृतियाग की स्थिति है। विकृति पशुयाग में अतिदेश के द्वारा अनूयाज और उसके पीछे आज्यद्रव्य आने पर 'आज्यपानावह', 'आज्यपा आज्यमजुषन्त' इसी मन्त्र के आनुपूर्वी उच्चारण की व्यवस्था जैमिनि ने दी है। यदि आज्य से पृषदाज्य दूसरा द्रव्य होता तो 'पृषदाज्यपानावह' 'पृषदाज्यपा देवा पृषदाज्यमजुषन्त' इस प्रकार ऊह करके निगममन्त्र का उच्चारण करना होता। ऐसा करने पर जैमिनिन्याय का विरोध होगा। अतः औदुम्बर दृष्टान्त से इसकी समानता नहीं होती है, प्राकृत आज्य के स्थान में पृषदाज्य का विधान न होने से इसका विनियोजक प्रकरण नहीं हो सकता।

इस विषय में शंका का उपस्थापक ग्रन्थ है—न च यावत्प्राकृतमाज्यमायाति

---

१. विधीयते. क. ख. २-३ पानामि

योगः सम्भवतीति वाच्यम् । नहि पृषदाज्यशब्देन चित्रतागुणविशिष्टमाज्यं विधीयते । विशिष्टविधाने गौरवापत्तेः, किं तु प्राकृताज्यानुवादेन चित्रतागुणमात्रं विधीयते, 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती'तिवत् । तदुक्तं दशम-

---

आदि । प्रकृति दर्शपूर्णमास से अनूयाजद्रव्य आज्य अतिदेश से विकृतियाग पशु में आने पर उसके स्थान में पृषदाज्य वाक्य के द्वारा चित्राज्य के विधान होने पर उसका प्रकरणग्राह्यत्व क्यों नहीं होगा ? क्योंकि चित्ररूप गुण से विशिष्ट आज्य और शुद्ध आज्य भिन्न ही है, और औदुम्बर न्याय के समान ही है । अतः प्रकरण ही इसका विनियोजक प्रमाण है । इस शंका का निवारक हेतु है—विशिष्टविधाने गौरवापत्तेः । अनूयाज को उद्देश्य करके चित्रगुणविशिष्ट आज्य का विधान करना होगा । 'पृषदाज्येनानूयाजान् यजति' वाक्य में विधि का व्यापार अनूयाज अंश में नहीं है, क्योंकि उस की प्राप्ति अतिदेश से हो जाती है । पृषदाज्य में विधि का व्यापार मानना है । यदि पृषदाज्य प्राकृत आज्य ही है तो विधि में गौरव नहीं है। यदि पृषत्व-चित्रत्व गुण से विशिष्ट आज्य में विधि का व्यापार हो तो विशिष्ट का विधान करने में गौरव होगा ही । इस गौरव से मुक्त होने के लिए अतिदेशशास्त्र से जैसे अनूयाज आये वैसे उसके पीछे प्राकृत आज्य भी आता है । इस प्रकार आये हुये आज्य को उद्देश्य करके पृषत्व-चित्रत्वगुणमात्र का विधान माना जाय तो विशिष्टविधिगौरव नहीं होगा । किन्तु चित्रत्वगुणमात्र का विधान कहने से 'एकप्रसरताभंग' दोष हो सकता है । इसका विवरण है 'पृषदाज्य' शब्द । यह शब्द समस्तपद है । पृषच्च तदाज्यञ्च पृषदाज्यम् ऐसा समास करना होगा। समस्त पद का स्वभाव है—विशेषण से विशिष्ट एक पदार्थ का बोधन करना। यदि आज्य को उद्देश्य कर पृषत्व का विधान हो तो आज्य में उद्देश्यता और पृषत्व में विधेयता रहेगी । उद्देश्य और विधेय भिन्न होते हैं । उद्देश्यता जहाँ रहती है वहाँ विधेयता नहीं रहती और विधेयता जहाँ रहती है वहाँ उद्देश्यता नहीं रहती। इस प्रकार भिन्नार्थक होने से एक अर्थ प्रतिपादक यह शब्द नहीं बनेगा, और एकार्थीभावलक्षणसामर्थ्य होने पर ही समास होता है । यही 'एकप्रसरता' का स्वरूप है । उसके भंग होने पर एक ही पद के एक अंश को उद्देश्य मानना, दूसरे अंश को विधेय मानना कैसे संगत होगा ? इस शङ्का के समाधान के लिए ग्रन्थ प्रवृत्त हुआ—लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्तीतिवत् । ऋत्विज् यज्ञ के अनुष्ठान काल में लाल पगड़ीवाला हो, यह इस विधि का अर्थ है । इसमें ऋत्विजों का प्रचार-अनुष्ठान, और उष्णीष प्रकृति ज्योतिष्टोम से विकृति याग में अतिदेश से प्राप्त है, किन्तु उष्णीष में लौहित्य = लाल रङ्ग प्राप्त नहीं है, उसका विधान इस वाक्य से किया जाता है। उष्णीष को उद्देश्य करके लौहित्य का विधान करने पर एकप्रसरताभङ्ग हो जाता है, इसलिए लौहित्यविशिष्ट उष्णीष का विधान माना जाता है, किन्तु 'प्राप्ताप्राप्त-

---

१. इस प्रकार के विशिष्टविधि स्थल में कौन प्राप्त है, कौन अप्राप्त है; यह विवेक करते

चतुर्थचरणान्ते—'न वा गुणशास्त्रत्वात्' इति।

प्राकृतस्यैवाज्यस्य चित्रतागुणमात्रविधानमिति च शास्त्रदीपिका। एवं च विकृतेः प्राकृतेनाज्येन क्लृप्तोपकारैश्चानुयाजैर्नैराकांक्ष्ये पश्चाद्विधीयमानस्य चित्रतागुणस्योपहोमाद्यपूर्वाङ्गवन्न प्रकरणं विनियोजकं सम्भवति।

यदि हि प्राकृतस्य कस्यचिद्गुणस्य स्थाने चित्रता गुणो विधीयेत तदा स गुणो यावदायाति तावद्विकृतेर्नैराकांक्ष्याभावात् चित्रतागुणस्य च तावदेव विधानादुभयाकांक्षासम्भवात् प्रकरणविनियोगो भवेत्। न च तादृशः प्राकृतो गुणोऽस्ति। आज्यस्यानुयाजानां च चित्रतागुणात्प्रागेव विधानात्, तस्य तत्स्थानापन्नत्वाभावात्।

विवेक न्याय से विधि का व्यापार अप्राप्त विशेषण मात्र में पर्यवसन्न हो जाता है। इसी तरह पृषत्वगुणविशिष्ट पृषदाज्य के विधान होने पर भी प्राप्ताप्राप्तविवेक न्याय से विधिव्यापार पृषत्वमात्र में पर्यवसन्न हो जाता है। इसमें जैमिनि सूत्र का प्रमाण है—न वा गुणशास्त्रत्वात्। आवाहन आदि निगम मन्त्रों में 'पृषदाज्यपान्' नहीं कहना चाहिए क्योंकि पृषदाज्यपशब्द गुणमात्र वाची है। यह दशम अध्याय चतुर्थपाद अन्तिम अधिकरण का सूत्र है। शास्त्रदीपिकाकार भी अपनी संमति इसी अर्थ में देते हैं। 'द्वयं वा इदं सर्पिश्च दधि च' इस वाक्यशेष के आधार से आज्य में दधिमिश्रणरूप चित्रत्वमात्र का विधान शास्त्रदीपिकाकार ने माना है। अतः सिद्ध हुआ कि—विकृति पशुयाग की आकांक्षा की शान्ति प्राकृत आज्य से एवं प्रकृति में उपकार किये हुए अनूयाजों से होने पर पृषदाज्यवाक्य के द्वारा विहित चित्रत्व का विकृत्यङ्गत्व उपहोमन्याय से अन्यतराकांक्षारूप स्थानप्रमाण के द्वारा निश्चित होता है। यदि चित्रत्वगुण प्रकृति से आये हुए किसी पदार्थ के स्थान में विहित होता तो औदुम्बरत्व के समान इसका प्रकरण से विनियोग माना जा सकता था, उस प्रकार का प्रकृति का गुण यहाँ कोई नहीं है जिसके स्थान में चित्रत्व का विधान मानकर प्रकरणविनियोग कहा जा सके। भाव यह है कि 'पृषदाज्येनानूयाजान् यजति' यह वाक्य अनूयाज को उद्देश्य करके पृषदाज्य का विधान करता है। उद्देश्यभूत अनूयाज अतिदेश के द्वारा अपने पीछे आज्य को लेकर आता है। आज्य के साथ अनूयाज प्राप्त होने पर पृषदाज्यवाक्य पृषद्गुण का विधायक है। विधेय इस गुण के अन्वय से पूर्व ही विकृति की आकांक्षा शान्त हो जाती है तो उभयाकांक्षा प्रकरण नहीं है किन्तु स्थानप्रमाण से ही पृषद्गुण का विनियोग हुआ है।

हुए विधिव्यापार उसी में माना जाता है जो अप्राप्त है। इन स्थलों में विशिष्ट विधि इसलिए माननी पड़ती है क्योंकि एकप्रसरताभंग दोष हो जाता है।

न च आज्यपृष्ठभावेन यावत्प्राकृतं निर्गुणत्वमायाति तावदेवास्य विधानात्प्रकरणसम्भव इति वाच्यम्। निर्गुणत्वस्याविहितत्वेन पाणिकण्डूयनवदनङ्गत्वाद्विकृतेस्तदाकांक्षाभावात्। तथा हि—ज्योतिष्टोमे दक्षिणादानसमये विहितकृष्णविषाणत्यागस्य द्विरात्रादिषु चोदकप्राप्तस्य प्रथमेऽह्नि अननुष्ठानम्। उत्तरेऽह्नि दक्षिणादानपूर्वकालीनैः पदार्थैः कृष्णविषाणकण्डूयनस्य शास्त्रविहितत्वेनापेक्षितत्वात्। ज्योतिष्टोमे च दक्षिणादानोत्तरकालं पाणिकण्डूयनं दृष्टमपि द्विरात्रादिषु प्रथमेऽह्नि अनुष्ठीयमानैर्दक्षिणादानोत्तर-

---

शंका हो सकती है कि प्रकृति से निर्गुण आज्य जब अतिदेश से आता है तब उससे पूर्व निर्गुण के स्थान में पृषद्गुण का विधान माना जाय तो प्रकरण से इसका विनियोग हो सकता है। किन्तु यह शंका उचित नहीं है। प्रकृति से निर्गुणत्व अतिदेश से कैसे आयेगा। अतिदेश का विषय वही होता है जो प्रकृति में विधि से विहित होकर अंग हो। प्रकृति में निर्गुणत्व आज्य का अंग नहीं है, तब अतिदेश का वह विषय कैसे होगा? इसी में दृष्टान्त देते हैं—पाणिकण्डूयनवदनङ्गत्वात्। दृष्टान्त का विवरण ग्रन्थ है—तथाहि आदि। दृष्टान्त को समझने से पूर्व ज्ञातव्य विषय है कि—ज्योतिष्टोम याग ५ दिनों में साध्य है। पांचवाँ दिन सुत्यादिन कहलाता है क्योंकि उस दिन सोमलता का अभिषव होता है। प्रथम दिन दीक्षा के समय यजमान 'कृष्णविषाणया कण्डूयते' वाक्य के अनुसार अपने हाथ में कृष्ण मृग के विषाण को बाँध लेता है, जिससे शरीर की कण्डूति (खुजली) का उससे निराकरण कर सके। पांचवें दिन में माध्यन्दिन[1] सवन में ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती है। दक्षिणा देने के अनन्तर 'नीतासु दक्षिणासु कृष्णविषाणं चात्वाले प्रास्यति' इस विधि के अनुसार कृष्ण विषाण को चात्वाल=चात्वालनामक गर्त में फेक दिया जाता है। दक्षिणादान के उत्तर काल में कण्डूति के प्रसंग होने पर अर्थात् हाथ से उसका निराकरण कर लिया जाता है। यह पाणिकण्डूयन, विधिविषय नहीं है, किन्तु अर्थापत्ति से माना जाता है। यह ज्योतिष्टोम की स्थिति है। ज्योतिष्टोम के कई विकृति याग हैं। उनमें कुछ अहर्गण होते हैं अर्थात् द्व्यह-दो दिन साध्य त्र्यह-तीन दिन साध्य आदि द्वादश दिन तक हैं। द्व्यह-त्र्यह के अर्थ हैं प्रतिदिन सोमयाग और प्रतिदिन दक्षिणा करना। ज्योतिष्टोम के ये विकृति याग हैं अतः दक्षिणादान के अनन्तर विहित कृष्णविषाण-प्रासन अतिदेश से प्राप्त हुआ, किन्तु द्व्यहत्र्यह आदि के प्रथम दिन में यह प्रासन नहीं किया जाता है क्योंकि प्रथम दिन में कृष्णविषाण का त्याग कर दिया जाय तो दूसरे दिन दक्षिणा देने से पूर्व विधि

---

१. पांचवे दिन में प्रातः, मध्याह्न एवं सायं तीनों कालों में सोमलता का अभिषव (रस निकालना) होता है। उसी को 'प्रातस्सवनम्' 'माध्यन्दिनं सवनम्' और 'सायं सवनम्' कहा जाता है

कालीनैः पदार्थैर्नापेक्ष्यते, तस्य प्रकृतावर्थसिद्धत्वेनाशास्त्रीयत्वादिति। एवं निर्गुणत्वस्याविहितत्वेन विकृतेस्तदपेक्षा नास्तीति। तस्मादुभयाकांक्षाया असम्भवात्पृषदाज्यस्य न प्रकरणविनियोगः सम्भवतीत्यलमतिविस्तरेण]x

तत्सिद्धं महाप्रकरणं प्रकृतावेव विनियोजकम्। विकृतौ तु यत्प्राकृतदृष्टार्थाङ्गानुवादेन विधीयते तस्य विनियोजकं, न तु केवलं विधीयमानस्यापूर्वाङ्गस्येति। यत्तु विकृतावपि प्राकृतधर्मानुवादेन विधीयमानयोर्धर्मयोरन्तरालेऽपूर्वमप्यङ्गं केवलं पठ्यते तदपि प्रकरणेन विनियुज्यते। यद्यपि विकृतेः कथं-

---

के द्वारा विहित कृष्णविषाण से कण्डूयन बाधित हो जायगा। पहले दिन फेंक दिये गये कृष्णविषाण को इसलिए नहीं ले सकेंगे क्योंकि वह त्यक्त है। त्यक्त का ग्रहण आचार विरुद्ध है और त्यक्त का फिर उपादान हो तो त्यागबुद्धि क्यों होगी। अतः प्रथमदिन अतिदेश से प्राप्त होने पर भी त्याग नहीं किया जाता है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि ज्योतिष्टोम में दक्षिणादान के अनन्तर पाणिकण्डूयन प्रचलित होने पर भी वह व्यह आदि अहर्गणों में अतिदेश से आयगा नहीं। पाणिकण्डूयन अर्थापत्ति से सिद्ध पदार्थ है। अर्थापत्ति से सिद्ध को अंग नहीं माना जाता है, जो अंग नहीं है वह अतिदेश का विषय नहीं बन सकता है 'न ह्यार्थिकं चोदकः प्रतिदिशति' न्याय है। अर्थापत्ति से सिद्ध पदार्थ को अतिदेश शास्त्र नहीं ग्रहण करता है। इतने विचार से यह सिद्ध हुआ कि पाणिकण्डूयन विधिविषय नहीं है अतः अंग नहीं है, अंग न होने से अतिदेशशास्त्र उसका ग्रहण नहीं करेगा, इसी प्रकार प्रकृति दर्शपूर्णमास में आज्य का निर्गुणत्व विहित नहीं है, विहित न होने से अंग नहीं और अंग न होने से अतिदेश के द्वारा उसकी प्राप्ति की आकांक्षा विकृति याग को नहीं है। अतः उभयाकांक्षा के न रहने से पृषदाज्य का प्रकरण विनियोजक नहीं होगा। यह ग्रन्थकार का मत है।

इतने विचार का उपसंहार करते हैं—तत्सिद्धम् आदि। प्रकरण के विभाग में महाप्रकरण प्रकृति के पदार्थ का ही विनियोजक है, और विकृति में प्रकृति से अंग के आने पर उसको उद्देश्य करके विहित अंग का विनियोजक प्रकरण होता है। इस प्रकार अनुवाद न करते हुए विहित नये अंग का विनियोजक प्रकरण नहीं है, किन्तु स्थानप्रमाण है।

विकृति में विहित सभी नये अंग स्थान से ही विनियुक्त होते हैं इसका अपवाद प्रदर्शित करते हैं—यत्तु विकृतावपि प्राकृतधर्मानुवादेन आदि। प्रकृति से विकृति में आये हुए अंग का अनुवाद करके विधान न हो किन्तु प्रकृति से आये हुए दो अंगों के बीच में पठित अंग का विनियोजक प्रकरण प्रमाण होगा। विकृतिभावना की कथं भावाकांक्षा के पूरक अतिदेश से प्राप्त प्राकृत अंग होते हैं। सभी प्राकृत अंग आजाने पर आकांक्षा शान्त होती है। जबतक पूरे अंग नहीं आ जाते हैं तब

भावाकाङ्क्षा प्राकृतैरेवाङ्गैः शाम्यति, तथापि यत्र प्राकृताङ्गानुवादेन धर्मविधानं तत्र तद्विधानं याव[1]द्भवति तावत्कथंभावाकाङ्क्षा न निवर्तते। अतो विकृतेराकाङ्क्षावत्त्वादन्तराले विहितस्याप्यपूर्वाङ्गस्य भाव्याकाङ्क्षासत्त्वाद्युक्तं तस्य प्रकरणाद्विकृत्यर्थत्वम्, यथा आमनहोमेषु। ते हि प्राकृताङ्गानुवादेन विधीयमानयोर्द्धर्मयोरन्तराले विधीयन्त इत्युक्तं तन्त्ररत्नादावित्यास्तां तावत्।

तक विकृति की आकांक्षा बनी रहती है। जिन प्राकृत अंगों के बीच विकृति में पठित अंग है उसकी भाव्य-आकांक्षा है ही। इस प्रकार उभयाकांक्षाओं के द्वारा प्रकरण बन जाता है। भाव यह है कि प्रकरण बनने का प्रयोजक उभयाकांक्षा है इसमें किसी का विवाद नहीं है। विकृति में उभयाकांक्षा नहीं बनती है क्योंकि विकृतिभावना की कथंभावाकांक्षा रहने पर भी अतिदेश के द्वारा प्राप्त प्राकृत अंगों की भाव्याकांक्षा नहीं है। क्योंकि वे प्रकृति में उपकार कर चुके हैं। अतएव विकृति भावना मात्र की कथंभावाकांक्षा है तथापि प्रकृति से समग्र अंगों के प्राप्त होने तक वह आकांक्षा बनी रहती है जबतक प्राकृत सभी अंग प्राप्त नहीं हो जायेंगे, तबतक आकांक्षा शान्त नहीं होगी। इसीलिए बीच में पठित अंग जो भाव्य की आकांक्षा कर रहा है उसका प्रकरण से विनियोग करने में कोई प्रत्यूह नहीं है। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—यथा आमनहोमेषु। ग्रामकाम के लिए साङ्ग्रहणीष्टि विहित है—'वैश्वदेवीं साङ्ग्रहणीं निर्वपेद् ग्रामकामः' (तै० सं० २०।३०।९) इस इष्टि का 'सांग्रहणी' नाम है, विश्वेदेव देवता है, द्रव्य व्रीहि यव है। यह दर्शपूर्णमास के आग्नेय याग का विकृति याग है। आग्नेय याग से प्रयाज अनूयाज आदि अंग अतिदेश से आते हैं। इस विकृति इष्टि को विधान करके 'आमनमस्यामनस्य देवा इति तिस्र आहुतीर्जुहोति' वाक्य से तीन आहुतियाँ विहित हैं। इन्हीं का 'आमन होम' नाम है। इनका अनुष्ठान[2] प्रयाज एवं अनूयाजों के मध्य में होता है। किन्तु 'ते हि प्राकृताङ्गानुवादेन' कहते हुए ग्रन्थकार आपदेव प्रकृति से आये हुए अंगों का अनुवाद करके आमन होमों का विधान मान रहे हैं और 'इत्युक्तं तन्त्ररत्नादौ' ऐसा प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। किन्तु तन्त्ररत्न की स्थिति भिन्न है। वहाँ की [3]पंक्तियों को देखने

---

१. यावन्न निवर्तते।

२. 'यत्प्रयाजानां पुरस्ताद् जुहुयात् बहिरात्मानं सजातानां दध्यात्, यदनूयाजानां परस्तात् जुहुयात् स्वर्गं लोकमपाक्रामेत्, मध्ये जुहोति' इस वाक्य से प्राकृत प्रयाज और अनूयाज के मध्य में आमन होमों का अनुष्ठान विहित है।

३. तन्त्ररत्न का ग्रन्थ—'प्राकृतास्तावदाकांक्षयैव गृह्यन्ते। तयोर्द्वयोः प्रकृतयोः परामृश्यमानयोर्मध्ये पतितमपूर्वमप्यङ्गमाकांक्षायामव्यावृत्तायां विधीयमानमाकांक्षापरनामधेयप्रकरणेन गृह्यते। यथा 'यत्प्रयाजानां पुरस्ताद् जुहुयात् बहिरात्मानं सजातानां दध्यात् यदनूयाजानां परस्तात् स्वर्गं लोकमपाक्रामेत्, मध्ये जुहोति

(अवान्तरप्रकरणनिरूपणम्)

फलभावनाया अन्तराले यदङ्गभावनायाः प्रकरणं तदवान्तरप्रकरणम् । तच्चाभिक्रमणादीनां प्रयाजादिषु विनियोजकम् । तच्च सन्दंशेन ज्ञायते । तदभावेऽविशेषात्सर्वेषां फलभावनाकथम्भावेन ग्रहणात् ।

से अवगत होता है कि आमन होमों का अनुष्ठान प्रयाज और अनूयाजों के मध्य में करना है ऐसा प्रतीत होता है, न कि प्राकृत अंग का अनुवाद करके विहित दो अंगों के बीच आमन होम करना हैं। ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार का 'ते हि प्राकृताङ्गानुवादेन विधीयमानयोर्धर्मयोरन्तराले' आदि कहना तन्त्ररत्नकार का यह अभिमत है, मेरा नहीं यह सूचित करता है। अतएव 'आस्तां तावत्' कहा है।

अवान्तरप्रकरण

महाप्रकरण का निरूपण करके अवान्तरप्रकरण का निरूपण करते हैं 'फल भावनाया अन्तराले' आदि। फलभावना-महाप्रकरण के मध्य में अङ्गभावना-अङ्गविधायक वाक्य के 'त' प्रत्यय से अभिहित भावना का प्रकरण अवान्तर-प्रकरण कहलाता है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' यह वाक्य फल-भावना का विधायक है। यह महाप्रकरण है। इसके अन्तराल मध्य में 'समिधो यजति' आदि वाक्यों के द्वारा अङ्गभावनायें, विहित हैं। फलभावना की कथंभावाकांक्षा अङ्गभावना की भाव्याकांक्षा होने पर महाप्रकरण बनता है, उसी तरह अङ्गविधायक वाक्यों के द्वारा विहित भावना की भी कथम्भावाकांक्षा होती है, उसके सन्निधि में आम्नात अंग की भाव्याकांक्षा होने पर अवान्तरप्रकरण बन जाता है। जैसे महाप्रकरण प्रयाज अनुयाज आदि का विनियोजक है वैसे ही अवान्तरप्रकरण किसका विनियोजक होगा, जब महाप्रकरण अपने प्रकरण के सभी अंगों का विनियोजक हो गया तब अवशिष्ट अंग कौन रह जाते हैं, जिनका विनियोजक अवान्तरप्रकरण होगा, इस शंका का समाधान देते है—तच्चाभिक्रमणादीनां प्रयाजेषु विनियोजकम्। दर्शपूर्णमास प्रकरण में प्रयाज अनूयाज आदि अंग अम्नात हैं, उसी तरह [1]'अभिक्रामं जुहोति' भी आम्नात है। जैसे प्रकरण प्रयाज आदि को दर्शपूर्णमास के अङ्गत्व का बोधन करता है उसी तरह अभिक्रमण का भी दर्शपूर्णमासाङ्गत्व का बोधन करें प्रयाजों में अभिक्रमण को अवान्तरप्रकरण विनियोग क्यों करेगा? इसमें क्या नियामक है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—तच्च सन्दंशेन ज्ञायते। यदि यह

मध्यत एव सजातानामात्मन्धत्ते' है। इस ग्रन्थ से आमनहोमोंका प्रयाज अनूयाज के मध्य में अनुष्ठान ही अवगत होता है, प्राकृत अंग का अनुवाद करके विहित दो अंगों के बीच में इनका अनुष्ठान अवगत नहीं होता है।

१. यह णमुल् प्रत्ययान्त शब्द है 'अभिक्रम्य अभिक्रम्य' पादविक्षेप-एक एक पैर रखते हुए होम करें ऐसा विधि का अर्थ है।

संदंशो नाम एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वम्, यथा–अभिक्रमणम्, तद्धि 'समानयत उपभृतः' इत्यादिना प्रयाजानुवादेन किञ्चिदङ्गं विधाय विधीयते, पश्चादपि प्रयाजानुवादेन 'यो वै प्रयाजानां

नियामक सन्दंश नहीं है तो प्रयाज आदि जैसे—दर्शपूर्णमासाङ्ग हैं उसी तरह अभिक्रमण भी दर्शपूर्णमासाङ्ग सिद्ध हो जाय। नियामक सन्दंश विद्यमान ही है। अतः अभिक्रमण प्रयाजाङ्ग है।

सन्दंश का लक्षण प्रस्तुत करते हैं—सन्दंशो नाम आदि। प्रधान के एक अङ्ग का अनुवाद करके विहित दो अङ्गों के बीच विहित अंग को 'सन्दष्ट' अर्थात् सन्दंश (सड़सी) पतित कहते हैं। इस प्रकार के विधि व्यापार को सन्दंश कहा जाता है। उदाहरण है—अभिक्रमणम्। अभिक्रमण एक एक पद निक्षेप= पैर रखते हुए प्रयाज होम के निमित्त आहवनीय अग्नि के पास जाना। दर्शपूर्णमास में पांच प्रयाज यागों का विधान करके उसके दो अंग विहित हैं। इन दो अंगों को समझने के लिए यह ज्ञातव्य है कि—प्रयाज यागों के अनुष्ठान के निमित्त दो पात्रों—जुहू और उपभृत् में आज्य स्थाली से आज्य का ग्रहण किया जाता है। आज्यस्थाली से जुहू और उपभृत में आज्य लाने के पात्र को 'स्रुव' कहा जाता है। अर्थात् स्रुव पात्र के द्वारा आज्यस्थाली से आज्य लेकर जुहू और उपभृत में डाला जाता है। इसका विधान 'चतुर्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्' चार वार स्रुव से जुहू में आज्य ग्रहण करो, वह आज्य प्रयाज के लिए होगा। 'अष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानूयाजेभ्यस्तत्' उपभृत् पात्र में आठ बार आज्य का ग्रहण करो वह प्रयाज और अनूयाज के लिए होगा। प्रयाजसंबन्धी आज्य जुहू और उपभृत् दोनों पात्रों में विद्यमान है। प्रयाज की संख्या पाँच है, जुहू पात्र से पाँचों प्रयाजों का होम होगा। यह स्थिति है। प्रयाज होम का अवसर जब आता है तब जुहू पात्र को लेकर अध्वर्यु होम के लिए प्रवृत्त होगा। जुहू में विद्यमान आज्य से प्रथम समित् तनूनपात् इड तीन प्रयाजों का होम करेगा। होम करते हुये अध्वर्यु के हाथ में जुहू उपभृत् दोनों पात्र रहेंगे। बायें हाथ से उपभृत् को धारण करते हुए दाहिने हाथ से जुहू में स्थित आज्य का होम करेगा। इस प्रकार तीन प्रयाजों के होम के समाप्त होने पर बचे हुए बर्हि और स्वाहाकार दो प्रयाजों के अनुष्ठान के निमित्त उपभृत् पात्र में स्थित आज्य का आधा हिस्सा जो प्रयाज संबन्धी है उसको जुहू में गिरा लेता है। इसी का विधायक वाक्य है 'अतिहायेडो बर्हिः प्रति समानयत उपभृतः' तीसरे इडयाग को समाप्त करके बर्हि याग के निमित्त उपभृत् से जुहू में प्रयाज के भाग आज्य को लाओ, यह इस विधि वाक्य का अर्थ है। प्रयाज का अनुवाद कर विहित दो अंगों में यह एक अंग है–उपभृत् से जुहू में आज्य को लाना। दूसरा अंग है 'प्रयाजानिष्ट्वा हवींष्यभिधारयति' वाक्य से अभिधारण का विधान। पाँचो प्रयाजों के अनुष्ठान के वाद बचे हुए आज्य को वेदि में रखे हुए हवियों

मिथुनं वेदे'त्यदिना किञ्चिदङ्गं विधीयते। अतः प्रयाजाङ्गमध्ये पठितमभिक्रमणं तदङ्गं भवति, तत्कथम्भावाकाङ्क्षाया अशान्तेः। यथाहुः—

परप्रकरणस्थानामङ्गे श्रुत्यादिभिस्त्रिभिः।
ज्ञाते पुनश्च तैरेव सन्दंशेन तदिष्यते॥ इति। 44

न चाङ्गभावनायाः कथम्भावाकाङ्क्षाभावात् कथं प्रयाजभावनाकथम्भावेनाभिक्रमणं गृह्यते इति वाच्यम्। भावनासामान्येन सर्वत्र कथम्भावाकाङ्क्षायाः सत्त्वात्। प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेदित्युक्ते यो नाम न

(पुरोडाश आदि) पर अभिधारण-क्षारण करें। यह दूसरा अंग है। इन दोनों के बीच में 'अभिक्रामं जुहोति' विधि है। सन्दंश के स्थान में उपभृत् से जुहू में आज्य को लाना, और प्रयाजशेष से हवियों का अभिधारण करना है। इन दोनों के बीच में अभिक्रमण है, अतः यह संदंशपतित है। सन्दंश को हिन्दी में 'सडसी' कहते हैं। जैसे सडसी के बीच में ओदन पकाने वाली स्थाली आ जाती है उसी प्रकार यह अभिक्रमण भी संदश के बीच में आ जाता है। अभिक्रमण से पूर्व और उत्तर में जो अंग हैं वे प्रयाजों से संबन्ध रखते हैं, यह निश्चित है। उन दोनों के मध्य में पठित अभिक्रमण भी प्रयाजों से ही संबन्ध रखेगा। क्योंकि प्रयाजविधायक वाक्य में विद्यमान 'त' प्रत्ययार्थ भावना की कथंभावाकांक्षा होने पर अभिक्रमण के दोनों ओर विद्यमान अंग उस आकांक्षा का शामक है। उनके बीच में विद्यमान अभिक्रमण भी उस आकांक्षा का शामक होगा ही। यही अवान्तरप्रकरण है, इसी से अभिक्रमण प्रयाजों का अंग बनता है। यहाँ भी उभयाकांक्षा है ही। इस सन्दर्भ में वार्तिक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—यथाहुः। वार्तिक का अर्थ है दर्श-पूर्णमास प्रकरणगत प्रयाज आदियों के लिए आज्य ले आना अभिधारण करना अंग श्रुति, लिङ्ग और वाक्य इन तीन प्रमाणों से अवगत होने पर पुनश्च उन दोनों अंगों के मध्य में उन्हीं तीन प्रमाणों से विहित अभिक्रमणरूप अङ्ग को प्रयाजांगत्व संदंश से माना जाता है।

अवान्तर प्रकरण से अभिक्रमण का प्रयाजाङ्गत्व तब सिद्ध हो सकता है जब अङ्गभावना की कथंभावाकांक्षा होती हो। फलभावना की आकांक्षा स्वाभाविक है। याग साधन से फल का सम्पादन किस प्रकार से हो? यह आकांक्षा फल भावना को उचित है। इस आकांक्षा की पूर्ति प्रयाज आदि अङ्ग करते हैं। इनकी भी यदि कथंभावाकांक्षा हो तो अनवस्था प्राप्ति होगी। अतः अङ्गभावना की आकांक्षा नहीं होगी, इस शंका को प्रस्तुत करते हैं—न चाङ्गभावनायाः आदि। समाधान ग्रन्थ है—भावना सामान्येन आदि। कोई भी आख्यातवाच्य भावना क्यों न हो सर्वत्र भावना कथंभाव की आकांक्षा करती ही है। 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्य अंग यागों का विधान करते हैं। विहित इन यागों से प्रधान का

जानाति प्रयाजैरपूर्वं कर्तुं तस्यास्त्येव कथम्भावाकाङ्क्षा—कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यमिति। सा च सन्दंशपतितैर्वाचनिकैः स्मार्तैश्चाचमनादिभिः शाम्यति। तदभावे च स्वरूपनिष्पादनेन दर्विहोमन्यायेन निवर्तते। दर्विहोमेषु हि स्वरूपनिष्पादनातिरिक्तस्तथा व्यापारो न श्रूयते। नाप्यतिदेशेन तत्प्राप्तिः। यागीयानां धर्माणां तावन्नातिदेशः, यागत्वेन होमत्वेन वैलक्षण्यात्। नापि होमीयानाम्, कस्य होमस्य धर्मः कस्मिन् होमे प्रवर्तत इति विशेषनिर्णये प्रमाणाभावात्। अतो धर्मप्राप्त्यभावाद् दर्विहोमैरिष्टं भावयेत्कथमित्युत्पन्नाप्याकाङ्क्षा स्वरूपनिष्पादनेनैव शाम्यति। एवं येष्वङ्गेषु सन्दंशाद्यभावस्तत्रोत्पन्नाप्याकांक्षा तेनैव निवर्तते, न तु सर्वथा तदभावः। तस्माद्युक्तमुक्तमभिक्रमणं प्रयाजाङ्गमिति।

उपकार होगा, यह भी अनुष्ठाता जान लेता है, किन्तु इन अंगयागों के द्वारा प्रधान याग का उपकार कैसे सम्पादन किया जाय, और प्रयाजों के द्वारा अपूर्व सम्पादन करके प्रधान का उपकार किस प्रकार हो? यह प्रकाराकांक्षा अनुष्ठाता के लिए होगी ही। यह आकांक्षा सन्दंश पतित अंगों के द्वारा शान्त हो सकती है। जिन स्थानों में संदंश पतित अंग नहीं है वहाँ स्मार्त आचमन 'आचान्तेन कर्म कर्तव्यम्' 'दक्षिणाचारेण कर्तव्यम्' 'शुचिना कर्तव्यम्' आदि अंगों के द्वारा आकांक्षा का शमन माना जाता है। इनके भी प्रसंग न आने पर कर्म के स्वरूप के सम्पादन से [1]दर्विहोमन्याय के द्वारा आकांक्षा शान्त हो जाती है। स्वरूप सम्पादन का मतलब है कर्म सामान्य के साधारण नियम। दर्वि होमों में स्वरूप सम्पादन के अतिरिक्त कोई भी अंग विहित नहीं होता। दूसरे कर्मों के अंगों की अतिदेश द्वारा प्राप्ति भी नहीं हो सकती। यागों के अंग इसमें आ नहीं सकेंगे, याग और होम में महान् भेद है। याग मानसिक त्याग रूप है, और होम विहित देश में द्रव्य का प्रक्षेप रूप है। एक होम के अंग का दूसरे होम में अतिदेश भी नहीं हो सकता क्योंकि किस होम का अंग किस होम में प्राप्त हो इसका नियामक कुछ भी नहीं है। अतः दर्विहोम स्थलों में 'कथं' आकांक्षा उत्पन्न होने पर भी स्वरूपसंपादन के द्वारा ही उसकी पूर्ति करनी पड़ती है। जिन अङ्गों में सन्दंश नहीं है वहाँ आकांक्षा होने पर स्वयं ही निवृत्त हो जायगी, आकांक्षा का सर्वथा अभाव नहीं है। अतः ठीक कहा गया है कि अभिक्रमण प्रयाज का अंग है।

---

१. दर्विहोम न्याय का स्वरूप है 'जुहुयात्' हुधातुघटित विधि के द्वारा विहित, 'स्वाहा' इस मन्त्र से अनुष्ठेय, याज्या पुरोनुवाक्या आदि मन्त्रों से रहित जो होम हैं वे दर्विहोम कहे जाते हैं। इस प्रकार विहित होमों की संनिधि में विशेष किसी अंग का विधान नहीं रहता। कथं की आकांक्षा होने पर कर्म स्वरूप निष्पत्ति के लिए जो साधारण नियम हैं उन्हीं से आकांक्षा शान्त हो जाती है।

तच्चेदमवान्तरप्रकरणं महाप्रकरणाद्बलीयः, सन्दंशपतितानां धर्माणां कैमर्थ्याकाङ्क्षायां प्रधानापूर्वात्प्रयाजाद्यपूर्वस्य झटित्युपस्थितेरिति। प्रकृतमनुसरामः। तत्सिद्धमुभयविधस्य प्रकरणस्य विनियोजकत्वम्।

तदिदं स्थानादिप्रमाणाद्बलवत्। यत्र हि स्थानादङ्गत्वं तत्रान्यतरस्य प्रकारान्तरेण निराकाङ्क्षत्वम्। न च साकाङ्क्षं निराकाङ्क्षेण सम्बन्धुं योग्यं विनाकाङ्क्षोत्थापनेन। अतश्चान्यतराकाङ्क्षया यावदुभयाकाङ्क्षारूपप्रकरणकल्पनद्वारा वाक्यादि कल्पयितुमारभ्यते, झटिति तावत्प्रकरणेन वाक्यादिकं कल्पयित्वा विनियोगः क्रियत इति स्थानात्प्रकरणस्य बलीयस्त्वम्।

यह अवान्तरप्रकरण महाप्रकरण की अपेक्षा प्रबल है। सन्दंशपतित अभिक्रमण की कैमर्थ्याकांक्षा-भाव्याकांक्षा के होने पर प्रधान यागजन्य अपूर्व या प्रयाजयागजन्य अपूर्व उपस्थित होते हैं। प्रधानयाग के अपूर्व की सिद्धि अभिक्रमण से करना हो तो महाप्रकरण से विनियोग होगा। यदि प्रयाज याग के अपूर्व के लिए अभिक्रमण हो तो अवान्तर प्रकरण से विनियोग होगा। जब अवान्तर प्रकरण अभिक्रमण का विनियोजक सिद्ध हुआ तब महाप्रकरण का प्रश्न ही नहीं उठता और अभिक्रमण के लिये प्रयाजयाग का अपूर्व सन्निहित पड़ता है तथा प्रधान का अपूर्व व्यवहित पड़ जाता है। पूर्व दीक्षणीयावाङ्नियम न्याय दिखाया जा चुका है। सन्निहित स्वापूर्व मिलने पर व्यवहित अपूर्व की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। अतः प्रधान याग के उपकार के करने में प्रयाज जैसे समर्थ हो उसके लिए अभिक्रमण का अनुष्ठान होता है। अर्थात् अभिक्रमण से उपकृत ही प्रयाज प्रधान याग का उपकारक बन सकता है। अतः अवान्तरप्रकरण प्रबल है।

प्रकरण का प्राबल्य

स्थान आदि प्रमाणों से प्रकरण के प्राबल्य का निरूपक ग्रन्थ है—तदिदं स्थानादिप्रमाणाद् बलवत्। प्रकरण के प्राबल्य में कारण यह है कि प्रकरण उभयाकांक्षा रूप है और स्थान तो अन्यतराकांक्षा रूप है। स्थान प्रमाण के द्वारा जिस अङ्ग का जिस अङ्गी के प्रति अङ्गत्व सिद्ध करेंगे उस स्थल में अङ्ग की आकांक्षा होती है, अङ्गी की आकांक्षा नहीं होती। क्योंकि अङ्गी की आकांक्षा प्रकृति के पदार्थों के द्वारा शान्त हो जाती है। अतः वह निराकांक्ष है। जब तक निराकांक्ष आकांक्षा न करे तब तक निराकांक्ष के साथ साकांक्ष का अन्वय नहीं होता। अतः वहाँ आकांक्षा का उत्थापन करना होगा। अतः उभयाकांक्षारूप प्रकरण की कल्पना करनी होगी। जब तक स्थान प्रमाण इस प्रकार की कल्पना में लगा रहेगा तब तक सिद्ध उभयाकांक्षावाला प्रकरण वाक्य आदि प्रमाणों की कल्पना करता हुआ पदार्थ का विनियोजक बन जाता है। अतः प्रकरण स्थान से प्रबल है।

अत एव विदेवनादयो धर्मा अभिषेचनीयसन्निधौ पठिता अपि नाभिषेचनीयस्याङ्गम्। तेषां तदङ्गत्वं भवत् स्थानाद्भवेत्, न तु प्रकरणात्। अभिषेचनीयस्याव्यक्तचोदनाचोदितत्वेन ज्योतिष्टोमविकारत्वात्प्राकृतैरेव धर्मैर्निराकाङ्क्षत्वात्। किन्तु प्रकरणाद्राजसूयस्याङ्गम्।

ननु 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इत्यत्र राजसूयशब्दस्तावन्नामधेयत्वादाख्यातपरतन्त्रो यत्राख्यातं तत्रैव प्रवर्तते। न च 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते'त्यत्र यथा दर्शपूर्णमासपदं नामधेयमपि नाख्यातपर-

---

उदाहरण है—अतएव विदेवनादयः। स्वाराज्यफलसिद्धिनिमित्त, क्षत्रिय के लिए राजसूय याग विहित है—'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत'। इस प्रकरण में कई इष्टियाँ, कई पशुयाग एवं कई सोम याग आम्नात हैं। ये सभी प्रधान याग हैं। इन इष्ट पशु सोमों का आपस में अङ्ग-अङ्गिभाव नहीं है। और यह भी ज्ञातव्य है कि ये इष्टि पशु सोम याग क्रमशः दर्शपूर्णमास अग्नीषोमीय पशु और ज्योतिष्टोम के विकृति हैं। इन सभी कर्मों का नाम राजसूय है। अनेक सोमयागों में एक याग 'अभिषेचनीय' नाम से व्यवहृत है। इस याग की सन्निधि में 'अक्षैर्दीव्यति' 'राजन्यं जिनाति' 'शौनश्शेपमाख्यापयति' जुआ खेलना, राजसमूह को जीतना और शुनःशेप की कथा सुनाना आदि अङ्ग पठित हैं। ये किसके अङ्ग हैं? स्थान प्रमाण से 'अभिषेचनीय' सोम याग के अङ्ग होंगे, और प्रकरण से तो राजसूय याग के अंग होंगे। यदि स्थान प्रमाण से अभिषेचनीय का अंग मानेंगे तो अभिषेचनीय सोमयाग 'अव्यक्त' होने के कारण ज्योतिष्टोम का विकृति रूप होगा और प्रकृति से प्राप्त अंगों से वह निराकांक्ष रहेगा। अतः वहाँ आकांक्षा का उत्थापन करके विदेवन आदि अंग बन सकेंगे। उससे पूर्व ही उभयाकांक्षारूप प्रकरण वाक्य आदि प्रमाणों की कल्पना करके इन विदेवन आदि को राजसूयांगत्व बोधन कर देगा। अतः प्रकरणप्रमाण से विदेवन आदि राजसूय के अंग होते हैं।

विदेवन आदि के प्रकरण से राजसूय के अंग होने में एक प्रबल शंका प्रस्तुत करते हैं—'ननु राजा राजसूयेन' आदि। शंका का यह सार है कि 'अनुमत्यै पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपति' इत्यादि उत्पत्ति विधियों के द्वारा विहित इष्टियाँ, एवं 'आदित्यां मल्हामालभेत' इत्यादि वाक्यों के द्वारा विहित पशुयाग एवं पवित्र अभिषेचनीय आदि वाक्यों से विहित सोम यागों का फलसम्बन्धबोधक-अधिकार राजसूयवाक्य है। अर्थात् तत्तदुत्पत्तिविधियों से विहित इष्टि पशु और सोम यागों का स्वाराज्यफलसम्बन्ध राजसूय वाक्य से अवगत होता है। ये इष्टियाँ पशु सोम याग की विकृति हैं, अतः अपनी-अपनी प्रकृति से अतिदेश के द्वारा प्राप्त अंगों से निराकांक्ष=आकांक्षा रहित हैं। इनकी 'कथं' आकांक्षा प्राकृत अंगों से शान्त हो जाने पर प्रकृति में विदेवन आदि का प्रकरण कैसे बनेगा? क्योंकि

तन्त्रम्, तत्र हि यजेतेत्याख्यातमविशेषात्सर्वानेव प्रकृतानाग्नेयादीन् प्रयाजादींश्चाभिधातुं समर्थम्, दर्शपूर्णमासपदं त्वाग्नेयादीनेव वदति, न सर्वान्, अतश्च न तदाख्यातपरतन्त्रम्। तथा राजसूयपदमपि किं न स्यादिति वाच्यम्। प्रसिद्धेन हि पदेनाप्रसिद्धं नि[१]र्णीयते। यथाहुः—

पदमज्ञातसन्दिग्धं प्रसिद्धैरपृथक्श्रुति।
निर्णीयते निरूढं तु न स्वार्थादपनीयते॥ इति। ४३

उभयाकांक्षा प्रकृति की प्रयोजिका है विदेवन आदि की केवल भाव्याकांक्षा है। यहाँ अन्यतराकांक्षा होने से स्थानप्रमाण ही इसका विनियोजक हो सकेगा।

पहले लिखा जा चुका है कि राजसूयपद नामधेय है। अनेक प्रधान यागों का जो नामधेय होता है वह दो प्रकार से विभक्त किया गया है—एक परतन्त्र दूसरा स्वतन्त्र। परतन्त्र नामधेय वह कहलाता है जो आख्यातान्त पद के अनुसार अपनी सत्ता रखता हो। अर्थात् आख्यात जिन कर्मों को कहता हो तदनुसार उनका नाम होता है। स्वतन्त्र नामधेय वह होता है जो निर्दिष्ट साधन, निर्वचन आदि को लेकर प्रसिद्ध कर्मों का नाम होता है। संक्षेप से कहा जाय तो पहला अप्रसिद्ध और दूसरा प्रसिद्ध कहलाता है। इन दोनों में 'राजसूय' शब्द (नामधेय) अप्रसिद्ध कोटि में आता है। अर्थात् 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' में विधि जिनका विधान करती है उनका नाम है 'राजसूय'। प्रसिद्ध कोटि का नामधेय है 'दर्शपूर्णमास'। क्योंकि जिन उत्पत्तिवाक्यों में '[२]दर्श' या 'पूर्णमास' कालवाचक पद पड़ा है उन्हीं का नाम है 'दर्शपूर्णमास'। अतएव यह प्रसिद्ध है। इसका विवरण मूल में ही आगे किया गया है। यहाँ शंका होती है कि आख्यातान्त पद के द्वारा परतन्त्र न होने से जैसे 'दर्शपूर्णमास' शब्द प्रसिद्ध है वैसे ही 'राजसूय' शब्द को प्रसिद्ध क्यों न माना जाय, अर्थात् आख्यातपरतन्त्र क्यों माना जाय? शङ्का का समाधान ग्रन्थ है—प्रसिद्धेन हि आदि। यह पद इस अर्थविशेष का वाचक है जहाँ ऐसा निश्चय न हो या संदेह हो वहाँ उस पद का अर्थ प्रसिद्ध अर्थवाले पदों से निश्चित किया जाता है। वह पद प्रसिद्धार्थवाले पदों के अर्थ से भिन्न अर्थ का प्रतिपादक नहीं होता। जो पद अर्थविशेष में नियत है और प्रसिद्ध पदों से समन्वित भी है वह अपने अर्थ से च्युत नहीं होता। इस विचार से सिद्ध हुआ कि दर्शपूर्णमास पद प्रसिद्धार्थक होने के कारण आख्यातपरतन्त्र नहीं है, राजसूय पद प्रसिद्धार्थक नहीं है, अतः उसका प्रसिद्ध अर्थ आख्यात के अनुसार निर्णय करना पड़ता है इसलिए वह आख्यात[३] (यहाँ धातु है) परतन्त्र है।

---

१. नियम्यते, २. 'दर्श' शब्द अमावास्या का पर्याय है।

३. ज्ञातव्य है कि मूल एवं बालतोषिणी में जहाँ जहाँ 'आख्यात' शब्द का प्रयोग है—वहाँ धातुपरक समझना चाहिए।

दर्शपूर्णमासपदं च कालनिमित्तम्, तद्योगश्चाग्नेयादिषूत्पत्तिवाक्यैरवगतः। अतस्तद्वाचित्वेन दर्शपूर्णमासपदं प्रसिद्धम्। न चाग्नेयादीनां बहुत्वाद्द्विवचनान्तत्वमस्यानुपपन्नमिति वाच्यम्। विद्वद्वाक्यद्वयसिद्धसमुदायद्वयाभिप्रायेण तदुपपत्तेः। एवं च दर्शपूर्णमासपदस्याग्नेयादिवाचित्वे निर्णीते यजेतेत्याख्यातमपि तानेव वदति। न हि तदुक्तौ स्वार्थत्यागो भवति। राजसूयपदं त्वनिर्णीतार्थम्, अतस्तदाख्यातपरतन्त्रमेव, तच्चाविशेषात्सर्वेष्विष्टिपशुसोमेषु विद्यते। तत्परतन्त्रत्वाद्राजसूयपदमपि तानेव वदति।

न च राजसूयशब्दस्य राजा सूयते यत्रेति व्युत्पत्त्या सोमाभिषवनिमि-

---

दर्शपूर्णमास पद प्रसिद्धार्थक है, इसमें कारण बतलाते हैं—दर्शपूर्णमासपदञ्च कालनिमित्तम्। दर्शपूर्णमास के [1]उत्पत्ति वाक्यों में कालवाचक दर्श (अमावास्या) एवं पूर्णमास पद विद्यमान है। अतः दर्शपूर्णमास शब्द प्रसिद्ध है। यह शंका हो सकती है कि उत्पत्ति वाक्यों से विहित याग छः हैं, अधिकारवाक्य में 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' द्विवचन है। छः यागों को कहने के लिए 'दर्शपूर्णमासैः' होना चाहिये। यहाँ द्विवचन का प्रयोग क्यों किया गया है। इसका समाधान है—इस प्रकरण में 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' 'य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते' ये दो वाक्य हैं। 'विद्वान्' इस पद से युक्त होने से इन दोनों को विद्वद्वाक्य कहते हैं। ये दोनों वाक्य तत्तत्पर्व में किये गये तीन-तीन यागों के समुदाय के अनुवादक हैं। अनुवाद का प्रयोजन है कि प्रत्येक पर्व में तीन-तीन यागों का अनुष्ठान करना, अन्यथा एक पूर्णिमा में आग्नेय, दूसरी पूर्णिमा में उपांशु याज, तीसरी पूर्णिमा में अग्नीषोमीय इस रूप से अनुष्ठान प्राप्त हो जायगा। अतः समुदाय का यह अनुवादक है। इस प्रकार 'दर्शपूर्णमासाभ्यां' द्विवचन की उपपत्ति की जाती है। अतः दर्शपूर्णमास पद आग्नेय आदि छः यागों को कहता है और 'यजेत' आख्यात भी उन्हीं को बतलाता[2] है। राजसूय पद ऐसा नहीं है। क्योंकि उसका अर्थ निर्णीत नहीं हुआ है। निर्णीत न होने से वह अप्रसिद्ध है, अप्रसिद्ध होने से आख्यात को परतन्त्र मानना पड़ता है। आख्यातान्त यजति पद इष्टि पशु सोम जितने कर्म हैं उनका वाचक है। राजसूय शब्द भी आख्यात परतन्त्र होने से उन्हीं यागों को कहता है।

इस सन्दर्भ में एक शंका का उत्थापन करते हैं—न च राजसूयशब्दस्य

---

१. उत्पत्तिवाक्य पूर्व लिखा जा चुका है।

२. यद्यपि 'यजेत' पद यागसामान्य का वाचक है। प्रकरण के जितने याग हैं अंग और प्रधान उन सब का बोधक यजति पद हो सकता है, छः याग मात्र को कहेगा तो व्यापकयागवाचित्व की हानि हो सकती है, तथापि नामधेय कांस्यभोजिन्याय से यजति पद को नियन्त्रित कर देता है, अतः कोई दोष नहीं।

त्त्वात्तस्य च 'सोममभिषुणोती'ति वाक्येन सोमयागेऽवगतत्वात्तद्वाचित्व- मेव, नेष्टिपशुवाचित्वमिति वाच्यम् । न ह्यभिषेचनीयादिसोमयागेष्वभिषवः प्रत्यक्षेण वाक्येन चोदितोऽस्ति, तद्वाक्यस्य ज्योतिष्टोमे सत्त्वात् । अतिदेशा- त्तत्सम्बन्धोऽवगत इति चेन्न, अतिदेशस्य फलसम्बन्धोत्तरकालिकत्वेन 'राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेते'त्येतद्वाक्यार्थावगत्युत्तरकालिकत्वात् । अनेन हि वाक्येन फलसम्बन्धे बोधिते पश्चात्कथंभावाकाङ्क्षायामतिदेशकल्पनात् । अतस्ततः प्रागेवैतद्वाक्यार्थो वर्णनीयः । तदा चाभिषवस्यानवगतत्वाद्राज- सूयपदमप्रसिद्धार्थमेव । अत एव राजसूयपदमव्युत्पन्नमश्वकर्णशब्दवदित्युक्तं साम्प्रदायिकैः ।

आदि । "राजा-सोमः सूयते-निष्पीड्यते यत्र सः राजसूयः' इस व्युत्पत्ति से सोम लता का रसनिष्पीडन जिस कर्म में हो वह कर्म राजसूय शब्द का अर्थ है । ज्योतिष्टोम प्रकृति याग में 'सोममभिषुणोति' वाक्य से सोमलता का अभिषव=रस निकालना विहित है । वह राजसूय के सोमयागों में करना ही है । उसी निमित्त को लेकर 'राजसूय' नामधेय बनता है, तब यह नामधेय अभिषेचनीय आदि सोम यागों का ही होगा, इष्टि और पशु याग का नहीं होगा । इस स्थिति में राजसूय शब्द प्रसिद्धार्थक होकर प्रकरण के सोमयागों का ही वाचक है यह निश्चित हुआ । अतः राजसूय शब्द आख्यात परतन्त्र क्यों ? शंका का समाधान ग्रन्थ है—न ह्यभिषेच- नीयादिसोमयागेषु आदि । भाव यह है कि अभिषेचनीय आदि विकृति याग हैं, इनमें सोमाभिषव का पाठ नहीं है, उसका पाठ ज्योतिष्टोम प्रकृति याग में है । उसके अतिदेश होने पर विकृति के साथ अभिषव का सम्बन्ध हो सकता है । किन्तु अतिदेश तब हो सकेगा जब योग और फल का संबन्ध बन जाता है । भावना की प्रथम आकांक्षा भाव्य की होती है, और उसके बाद करण की आकांक्षा होती है । 'यागे फलं भावयेत्' संबन्ध हो जाने पर 'कथं भावयेत्' आकांक्षा होगी । इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए अतिदेश किया जाता है । अतिदेश करने पर इस याग में सोमाभिषव का संबन्ध अवगत होगा । किन्तु हमें 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' वाक्य को सुनते ही 'राजसूय' शब्द के अर्थ का ज्ञान होना चाहिए । 'राजा सूयते यत्र' इस व्यत्पत्ति को हम कैसे कर पायेंगे ? इस याग के साथ सोमाभिषव—संबन्ध को जाने बिना व्युत्पत्ति कैसे कर सकेंगे ? अतः यह पद अप्रसिद्धार्थक ही है । इसीलिए मीमांसासम्प्रदाय में राजसूय शब्द को 'अश्वकर्ण' शब्द के समान अव्युत्पन्नप्रातिपदिक-रूढ माना गया है । अतः राजसूय शब्द के आख्यातपरतन्त्र होने से प्रकरण में पठित इष्टि पशु सोम यागों का बोधक माना जाता है । ऐसा मानने पर ये इष्टि पशु सोम अपनी-अपनी प्रकृति यागों से अतिदेश के द्वारा आये हुए पदार्थों से निराकांक्ष हो जाते हैं और विदेवन आदि

एवं चाप्रसिद्धार्थत्वेनाख्यातपरतन्त्रत्वाद्राजसूयपदेनेष्टिपशुसोमयागा उच्यन्ते। ते च तैस्तैः प्राकृतैर्धर्मैर्निराकाङ्क्षा इति न प्रकरणं विदेवनादीनां राजसूये विनियोजकम्, उभयाकांक्षाया अभावात्। न च प्रातिस्विकरूपैर्नैराकांक्ष्येऽपि न राजसूयत्वेन रूपेण नैराकांक्ष्यमिति वाच्यम्। आकांक्षाद्वये प्रमाणाभावात्।

किं च प्रातिस्विकरूपैर्या कथंभावाकांक्षा सापि फलसम्बन्धोत्तरकालम्। स च राजसूयत्वेन, न तु प्रातिस्विकरूपैः; राजसूयत्वेन च फलसम्बन्धे उत्पन्नायाः कथंभावाकांक्षायाः विदेवनादिभिः शान्तेरतिदेशकल्पनमेव न स्यात्। यदि हि सामान्यरूपेण प्रातिस्विकरूपेण च फलसम्बन्धद्विधापि

की आकांक्षा नहीं रखते। अतः विदेवन आदि का विनियोजक प्रकरण नहीं होता। इस प्रसंग में शंका होती है कि अधिकारविधि 'राजसूय' नाम से याग का फलसंबन्ध बताती है। अधिकारविधि जिस राजसूयत्व धर्म को लेकर याग के फल का बोधन करती है, उसी राजसूयत्व धर्म को लेकर कथंभाव की आकांक्षा होनी चाहिए। यह आकांक्षा अतिदेश से प्राप्त पदार्थों के द्वारा शान्त नहीं हो सकती, क्योंकि अतिदेश तो इष्टित्व पशुत्व सोमत्व धर्म को लेकर हुआ है, राजसूयत्व धर्म को लेकर नहीं है। अतः राजसूयत्व धर्म को लेकर उत्पन्न आकांक्षा विदेवन आदि के अन्वय के बिना शान्त न होगी। इसलिए विदेवन आदि का विनियोजक प्रकरण होगा। इस शंका के समाधान में कहा गया—प्रमाणाभावात्। प्रातिस्विक= व्यक्तिगत और सामूहिक=सामान्य ऐसी दो प्रकार की आकाङ्क्षायें होती हैं, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। उत्पत्तिवाक्यों के द्वारा जो भावनायें प्रतिपादित हैं वे ही भावनायें अधिकारविधि में सामूहिक अर्थात् सामान्य रूप से प्रतिपादित हैं। उत्पत्तिवाक्यों में भावना के भेद में शब्दान्तर अभ्यास आदि भेदक प्रमाणों के होने से वे भावनायें भले ही भिन्न हो, किन्तु अधिकारविधि उन्हीं भावनाओं को सामूहिक=सामान्य रूप से लेकर फलसंबन्ध बोधित करती है। अतः दो आकांक्षाओं में प्रमाण नहीं है।

किञ्च। अभी अभी कहा गया है कि अधिकारविधि के द्वारा फलसंबन्ध अवगत हो जाने पर भावना कथंभाव की आकांक्षा करती है। अधिकारविधि ने 'राजसूय' नामक याग का फलसंबन्ध अवगत कराया है उसकी कथंभावाकांक्षा भी राजसूयत्व-सामान्य धर्म को लेकर ही होगी, यही उचित है। अतिदेश राजसूय धर्म को लेकर नहीं हुआ है, किन्तु इष्टित्व पशुत्व सोमत्व धर्म को लेकर हुआ है। राजसूयत्व धर्म को लेकर हुई कथंभावाकांक्षा का शमन विदेवन आदि पदार्थों के द्वारा हो सकता है। अतिदेश कल्पना का अवसर ही न होगा। अधिकारवाक्य

वाक्यद्वयं भवेत्तदा युज्येताप्याकांक्षाद्वयानुसारेण विदेवनादीनामातिदेशिकानां चाङ्गानां सम्बन्धः । न[1] तु तदस्ति । तस्मात् प्राकृतैर्धर्मैर्नैराकांक्ष्यान्न विदेवनादीनां प्रकरणं विनियोजकमिति चेत्—

सत्यम्, अत एव साम्प्रदायिकैर्विदेवनादीनां सन्दंशो दर्शितः । राजसूयत्वपुरस्कारेण ये धर्मा विधीयन्ते 'राजसूयाय ह्येना उत्पुनाति' इत्येवमादयस्तन्मध्ये विदेवनादयः पठ्यन्ते । अतस्ते सर्वे राजसूयाङ्गं प्रयाजानुवादेन विधीयमानधर्ममध्ये पठितप्रयाजाङ्गाभिक्रमणवत् । तस्मात् युक्तमुक्तं विदेवनादीनां प्रकरणाद्राजसूयाङ्गत्वमिति । तत्सिद्धं प्रकरणस्य स्थानाद्बलीयस्त्वमिति ।

में हुई 'कथं' आकांक्षा सन्निधिपठित विदेवन आदि से शान्त हो सकती है। सामान्य और विशेष रूप से फलसंबन्ध करनेवाले दो वाक्य हों तो दो आकांक्षायें हो सकती हैं। यहाँ इस प्रकार के दो वाक्य नहीं हैं। अतः प्रकृति से आये हुए अंगों के निराकांक्ष हो जाने पर विदेवन आदि का विनियोजक प्रकरण नहीं होगा। शंका का उपसंहार करते हैं—तस्मात्प्राकृतैर्धर्मैः आदि। समाधान ग्रन्थ है—सत्यम् आदि। इसीलिए सांप्रदायिकों ने विदेवन आदि को संदंश दिखाया है। जैसे प्रयाजों के अंगों के बीच में पठित अभिक्रमण को अवान्तर प्रकरण से प्रयाजाङ्गत्व माना है उसी प्रकार विदेवन आदि को राजसूय का अंग सिद्ध किया गया है। राजसूयत्व सामान्य धर्म को लेकर 'राजसूयाय ह्येना उत्पुनाति' आदि धर्म=अङ्ग कुछ विहित हैं। अर्थात् राजा के अभिषेक के लिए जो जल है उसका उत्पवन एना अपः राजसूयाय राजसूय के निमित्त उत्पुनाति उत्पवन=चलाना ऐसा विधान है। इन अंगों के बीच में विदेवन आदि आम्नात हैं। अतः संदंश से ज्ञात होता है कि विदेवन आदि प्रकरणप्रमाण से राजसूय के अंग है। इसलिए सिद्ध हुआ कि स्थानप्रमाण से प्रकरण प्रमाण प्रबल है[2]।

---

१. च

२ प्रकरण प्रमाण का विवेचन करते हुए आपदेव ने अनेक विषयों की चर्चा की है। छात्रों की सुविधा के लिए उनका स्वरूप संक्षेप से दिखाना आवश्यक है। (१) अंग और अङ्गी की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। प्रयाज, अनूयाज आदि का दर्शपूर्णमासाङ्गत्व प्रकरण प्रमाण से माना जाता है। (२) प्रयाज आदि को दर्शपूर्णमास के समान स्वतन्त्र फलार्थत्व की शंका विश्वजित् और रात्रिसत्र न्यायों से की गई है और उसका समाधान भी किया गया है। (३) प्रकरणप्रमाण क्रियात्मक पदार्थों का ही विनियोजक होगा, द्रव्य और गुणों का विनियोजक प्रकरण नहीं होता। इसी सन्दर्भ में 'कथंभावाकांक्षा के स्वरूप का विचार किया गया है।

(स्थानप्रामाण्यनिरूपणम्)

देशसामान्यं स्थानम् । तच्च द्विविधम्—पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यं चेति । यदाहुः—

तत्र क्रमो द्विधैवेष्टो देशसामान्यलक्षणः ।
पाठानुष्ठानसादेश्याद्विनियोगस्य कारणम् ॥ इति ।

स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम् । पाठसादेश्यमपि द्विविधम्—यथासङ्ख्य-

---

स्थान प्रमाण

देशसामान्यं स्थानम् । अङ्ग और अङ्गी का एक स्थल में रहना स्थानप्रमाण का लक्षण है। वह स्थानसाम्य दो प्रकार से होता है—पाठ और अनुष्ठान से। पाठ से और अनुष्ठान से भी दोनों का समान देश होना चाहिये। इस अंश में वार्तिक का प्रमाण देते हैं—तत्र क्रमः आदि। क्रम शब्द का अर्थ स्थान है। पाठतः समान देश में रहना, अनुष्ठानतः समानदेश में रहना; ये दोनों विनियोग के कारण होते हैं। विनियोग शब्द का अर्थ है—अंगता का बोधन, अर्थात् यह अंग है और यह अंगी है, ऐसा समझाना। यह शब्द का व्यापार है। सादेश्य का अर्थ है—समानदेश का संबन्ध। यदि यह शब्द नहीं है तो चाहे पाठ सादेश्य हो अथवा अनुष्ठान सादेश्य हो यह विनियोग कैसे कर सकेगा? ऐसी शंका हो सकती है, शंका के समाधान के लिए ही वार्तिक में कहा गया है कि—विनियोगस्य कारणम्। अर्थात् विनियोग का यह नियामक है। नियामकरूप से यदि सादेश्य नहीं होगा तो इन अंगों के प्रधान के उपकार के संपादन को छोड़कर स्वतन्त्र फलार्थत्व हो जायगा। इसलिए सादेश्य को नियामक माना गया है।

---

(४) प्रकरण का विभाग और महाप्रकरण का विचार। (५) विकृति यागों में प्रकरण विनियोजक नहीं होगा। प्रकृति और विकृति का स्वरूपविवेचन। (६) विकृति के अपूर्व अङ्गों का प्रकरण से विनियोग की शंका और समाधान। (७) विकृति में प्रकृति से प्राप्त अङ्ग को उद्देश्य कर के विहित अङ्ग का प्रकरण से विनियोजक का विवेचन यथा औदुम्बरत्व। (८) औदुम्बरत्व द्रव्यसंबन्धी धर्म है, क्रियारूप नहीं है। इसका विनियोजक प्रकरण कैसे बनेगा, इस शंका का समाधान इस सन्दर्भ में प्रतिनिधि और बाध का विचार। (९) अप्राप्त और प्राप्त बाध की चर्चा। (१०) जैसे औदुंबरत्व प्रकरण ग्राह्य है वैसे पृषदाज्य की भी प्रकरणग्राह्यता का विचार। इसी सन्दर्भ में ग्रन्थकार का निर्णय। (११) विकृति के आमन होमों के विषय का विचार। (१२) अवान्तरप्रकरण का विचार, सन्दंश का विवेचन। (१३) अवान्तरप्रकरण से महाप्रकरण के प्राबल्य का निरूपण। (१४) स्थान से प्रकरण का प्राबल्य, राजसूय शब्द की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि का विचार, विदेवन आदि के संदंश का निरूपण।

पाठः सन्निधिपाठश्चेति । तत्र 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्, 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपे'दित्येवंक्रमविहितेष्टिषु 'इन्द्राग्नी रोचना दिव' इत्यादीनां याज्यानुवाक्यामन्त्राणां यथासंख्यं प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीयमित्येव यो[1] विनियोगः स यथासंख्यपाठात् । प्रथमपठितमन्त्रस्य हि कैमर्थ्याकांक्षायां प्रथमतो[2] विहितं कर्मैव प्रथममुपतिष्ठते समानदेशत्वात् ।

यानि तु वैकृतान्यङ्गानि[3] प्राकृताङ्गाननुवादेन विहितानि सन्दंशा-

---

पाठसादेश्य भी यथासंख्य पाठ एवं सन्निधिपाठ के रूप में दो प्रकार के हैं। यथासंख्य पाठ के उदाहरण को समझने से पूर्व यह ज्ञातव्य है कि वेद के दो भाग हैं—संहिता और ब्राह्मण। संहिता में मन्त्रों का पाठ रहता हैं, और ब्राह्मण ग्रन्थ में अनुष्ठेय कर्मों का विधान एवं उनके अंगों का विधान रहता है। ब्राह्मण वाक्य संहिता के मंत्रों का विनियोग भी करता है। अर्थात् इस कर्म को इस मन्त्र से करो ऐसा बोधन करता है। अब उदाहरण को देखिये—ब्राह्मण भाग में 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्' 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' आदि वाक्य द्रव्य और देवता से युक्त कर्मों का विधान करते हैं। ये विकृति याग हैं, इस कारण प्रकृति का निर्णय करके अतिदेश के द्वारा अंगों को लाकर कर्मों का अनुष्ठान तो बन जायगा, किन्तु याज्या और पुरोनुवाक्या मन्त्रों की आवश्यकता होने पर प्रकृति से अतिदेश के द्वारा उनका लाना संभव नहीं होगा। क्योंकि प्रकृति के देवताओं से विकृति के देवता भिन्न हैं। अतः वे मन्त्र यहाँ काम नहीं दे सकते। ब्राह्मणवाक्य भी ऐसा नहीं है जो याज्या पुरोनुवाक्या मन्त्रों को प्राप्त करावे। और मन्त्रों की आवश्यकता पड़ रही है। संहिता ग्रन्थ की स्थिति यह है कि क्रम से मन्त्रयुगलों का पाठ मिलता है। ब्राह्मण भाग में प्रथम ऐन्द्राग्न याग विहित है, संहिता भाग में ऐन्द्राग्न देवतावाले मन्त्रयुगल (पुरोनुवाक्य और याज्या) का पाठ मिल रहा है। इस प्रकार प्रथम संख्या में पठित मन्त्र युगल को एवं द्वितीय संख्या में पठित याग के लिए द्वितीय संख्या में पठित मन्त्रयुगल को अङ्ग के रूप में लेने के लिए नियामक यथासंख्य पाठ हो जाता है। मन्त्र अङ्ग है और कर्म अङ्गी है। अङ्ग के भाव्य-उपकार की आकांक्षा होने पर कर्म की उपस्थिति करनी है। प्रथम पठित अङ्ग के प्रथम पठित कर्म की उपस्थिति कराने में यथासंख्य पाठ नियामक बन जाता है। यही पाठतः सादेश्य = समानदेशवत्ता कहलाता है।

सन्निधि पाठ का उदाहरण प्रदर्शित करते हैं—यानि तु वैकृतान्यङ्गानि आदि।

---

१. यत्तच्छब्दो न स्तः। २. प्रथमविहितं।

३. यद्यत्र क्वचित् पुस्तकेषु प्राकृताङ्गानुवादेनाविहितानि इति पाठो दृश्यते, व्याख्यातं च कैश्चित् तमेव पाठमवलम्ब्य, तन्न युक्तम्। न ह्यत्राविहितस्याङ्गत्वं वक्तुं प्रवृत्तिर्ग्रन्थकारस्य। अतो यथोक्त एव पाठस्साधीयान्।

पतितानि तेषां विकृत्यर्थत्वं सन्निधिपाठात्। तेषां हि कैमर्थ्याकांक्षायां फलवद्विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन सम्बध्यते, उपस्थितत्वात्। अत एव तेषु न विश्वजिन्न्यायावतारः। स्वतन्त्रफलार्थत्वे विकृतिसन्निधिपाठानर्थक्यापत्तेश्च।

पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वमनुष्ठानसादेश्यात्। औपवसथ्येऽह्नि अग्नीषोमीयः पशुरनुष्ठीयते, तस्मिन्नेव दिने ते धर्माः पठ्यन्ते। अतस्तेषां कैमर्थ्याकांक्षायामनुष्ठेयत्वेनोपस्थितं पश्वपूर्वमेव भाव्यत्वेन सम्बध्यते। अतो युक्तमनुष्ठानसादेश्यात्तदर्थत्वं तेषाम्।

न च पाठसादेश्यादेव तत्किं न स्यादिति वाच्यम्। अग्नीषोमीयस्य पशोः क्रयसन्निधौ पाठात्। न च क्रयसन्निधौ तस्य पाठे तदनुष्ठानमपि तत्र स्यादिति वाच्यम्। 'स एष द्विदैवत्यः पशुरौपवसथ्येऽहन्यालब्धव्यः' इति

विकृति में पठित उन अङ्गों का जो सन्दंशपतित न हों और प्रकृति से आये हुए अङ्ग का अनुवाद करके विहित न हों वे संनिधि पाठ के उदाहरण होते हैं। जैसे—सौर्य-याग के उपहोम हैं। इनकी भाव्याकांक्षा होने पर विकृतियागजन्य अपूर्व अन्वित होता है। अर्थात् विकृत्यपूर्व सिद्धि के निमित्त इनका अनुष्ठान है। अत एव इनके स्वतन्त्र फल की कल्पना का अवसर प्राप्त नहीं होता।

अनुष्ठान सादेश्य का उदाहरण है—पशुधर्म = पशु याग के अङ्ग। पशु के अङ्ग होते हैं—उपाकरण, नियोजन, पर्यग्निकरण आदि। ये अग्निषोमीय पशुयाग के अङ्ग अनुष्ठान सादेश्य से होते हैं। ज्योतिष्टोम याग में अग्निषोमीय पशु याग का अनुष्ठान औपवसथ्य = चौथे दिन में होता है। उस दिन के कर्तव्य और पदार्थों में उपाकरण आदि विहित हैं। अग्निषोमीय पशु के अनुष्ठान के देश = स्थान में अङ्गों के आम्नात होने से उनकी भाव्याकांक्षा का शमन अनुष्ठेय पशु याग का अपूर्व करता है। अतः अनुष्ठान सादेश्य से ये अङ्ग अग्निषोमीय पशुयाग के साथ संबन्ध रखते हैं।

यहाँ शंका होती है कि अनुष्ठान सादेश्य से अग्निषोमीय पशु के अङ्ग क्यों कहे जाते हैं? पाठसादेश्य से ही अङ्ग क्यों नहीं कहे जाते, क्योंकि पाठ और अनुष्ठानसादेश्यों में पाठसादेश्य प्रबल होता है। अथवा ज्योतिष्टोम के चतुर्थ दिन में ये अङ्ग पठित हैं, उसी दिन में 'आग्नेयमग्निष्टोम आलभते' वाक्य से सवनीय पशु का पाठ है, तब पाठसादेश्य से ये सवनीय पशु के ही अङ्ग क्यों नहीं बनते? इस शंका का उत्तर देते हैं—अग्नीषोमीयस्य पशोः आदि। यहाँ की स्थिति यह है कि अग्नीषोमीय पशुयागविधायक वाक्य का पाठ सोमक्रय = सोम-लता के खरीदने की संनिधि में विद्यमान है। यह सोमक्रय दूसरे दिन में होता है। दूसरे दिन में अग्नीषोमीय वाक्य का पाठ होते हुए भी उस दिन उसका

वचनात्तदनुपपत्तेः। न च स्थानात्प्रकरणस्य बलीयस्त्वेन पशुधर्माणां ज्योतिष्टोमार्थत्वमेव किं न स्यादिति वाच्यम्। तस्य सोमयागत्वेन पशुधर्मग्रहणेऽयोग्यत्वात्। अतः 'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्' इति न्यायात् स्थानात्पशुयागार्थत्वमेव धर्माणां युक्तम्।

न च तेषां तदर्थत्वं प्रकरणादेव किं न स्यादिति वाच्यम्। अग्नीषोमीयकथंभावाकांक्षायाः क्लृप्तोपकारैः प्राकृतधर्मैरेवोपशान्तत्वात्। स हि सान्नाय्ययागप्रकृतिकः, उभयोः पशुप्रभवत्व[1] सामान्यात्। तदुक्तम्—

अनुष्ठान इसलिए नहीं हो पाता कि 'स एष द्विदैवत्यः (अग्नीषोमीयः) पशुरौपसथ्येऽहि आलब्धव्यः' इस विशेष वाक्य से औपवसथ्य = चतुर्थ दिन में उसके अनुष्ठान का विधान है। चतुर्थ दिन में पठित आग्नेय पशु है, अग्नीषोमीय नहीं। अतः कथमपि पाठसादेश्य नहीं बनता, इसलिए अनुष्ठानसादेश्य से ही अग्नीषोमीय पशु के अंग हैं।

ज्योतिष्टोम प्रकरण में उपाकरण, नियोजन आदि पश्वंग पठित हैं, उनको स्थान-प्रमाण से अग्नीषोमीय पशु का अंग क्यों कहा जाता है? स्थानप्रमाण से प्रकरण प्रबल है। प्रकरण से ज्योतिष्टोम का ही अंग हो यह शंका हो सकती है, किन्तु ज्योतिष्टोम सोमयाग है, उसका अंग बनकर उपाकरण आदि क्या उपकार कर सकेंगे? प्रधान की सहायता के लिए ही अंग होते हैं। अतः पशु के अंगों को लेने में ज्योतिष्टोम असमर्थ है। यद्यपि ज्योतिष्टोम, अग्नीषोमीय पशु के प्रति प्रधान है तथापि ये प्रधान का उपकार नहीं कर सकते हैं, अतः प्रधान में अनर्थक होकर उसके अंग अग्नीषोमीय आदि पशु का अंग बनाना होगा। ज्योतिष्टोममें अग्नीषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य ये तीन पशु हैं। इन सबों के ये साधारण अंग हो जायेंगे। यही आनर्थक्यतरङ्ग न्याय कहा जाता है। उपाकरण आदि प्रधान में अनर्थक होने से प्रधान के अंगों के साथ संबन्ध बना लेंगे। अतः ये ज्योतिष्टोम के तीनों पशुओं के ये अंग हों। स्थानप्रमाण से अग्नीषोमीय पशु के अंग क्यों कहे जाते हैं? यह शंका अपनी जगह पर ठीक है, किन्तु यह विचारना चाहिए कि प्रकरण किन अंगों को ग्रहण करने का सामर्थ्य रखता है। अपने लिए जो अंग उपाकरण होंगे, प्रकरण उन्हीं के ग्रहण में प्रवृत्त होगा। उपाकरण, नियोजन आदि सोमयाग के उपकारक नहीं बन सकते हैं, यह देखकर पहले वह विमुख हो जाता है। पुनः वह देखता है कि अपने प्रकरण में निरर्थक ये क्यों पड़े हुए हैं? सर्वथा ये व्यर्थ हैं तो जहाँ इनका काम बन सकता हो वहाँ भेजकर व्यवस्था कर देता है। यह अगतिक स्थल है। यदि किसी प्रकार अपने लिये उपयोगी समझकर इन अंगों को कोई ग्रहण कर लेता है तो प्रकरण स्वयं बलवान् होने के नाते उससे छीनकर अन्यत्र

---

१. पशुप्रभवद्रव्यत्व०।

'सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वात्' इति ।

सान्नाय्यं दधिपयसी । तत्र पशुयागः पयोयागप्रकृतिकः सान्नात्पशुप्रभवत्वात् । अतश्चोदकप्राप्तैस्तद्धर्मैर्निराकांक्षत्वान्न पशुयागे धर्माणां प्रकरणं विनियोजकम्; किं तु स्थानमेव । तदेवं निरूपितः संक्षेपतः स्थानविनियोगः ।

तच्च समाख्यातः प्रबलम् । स्थानविनियोगे हि पदार्थयोर्देशसामान्यलक्षणः सम्बन्धः प्रत्यक्षः । समाख्याविनियोगे तु सम्बन्धो न प्रत्यक्षः ।

नहीं भेज सकता है। प्रकृत में अनुष्ठानसादेश्यरूप स्थानप्रमाण उन अङ्गों को ग्रहण करने में समर्थ है। स्वयं स्थानप्रमाण प्रकरण से दुर्बल क्यों न हो, तथापि प्रकरण दुबारा आने तक स्थानप्रमाण इन अङ्गों का विनियोजक बन जाता है। इसी को 'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलम्' न्याय[1] कहते हैं।

स्थानप्रमाण से उपाकरण आदि का अग्नीषोमीय पशु के प्रति अङ्गत्व क्यों कहा जाता है? उनको प्रकरणप्रमाण से अङ्ग कह सकते हैं। क्योंकि पशुयाग की 'कथं' आकांक्षा तो है ही, उपाकरण आदि की भी भाव्याकांक्षा है ही। उभयाकांक्षा से अङ्गत्व हो सकता है। स्थानप्रमाण से अङ्गत्व क्यों? ऐसी शंका उचित नहीं। अग्नीषोमीय पशुयाग विकृति है। इसकी प्रकृति दर्श के सान्नाय्य दधि पयोयाग है। सान्नाय्य में भी पयोयाग प्रकृति है क्योंकि पय पशु से उत्पन्न होता है, पशु भी पशु से उत्पन्न होता है। अतः पशुप्रभवत्वसादृश्य दोनों का है। पशु याग की 'कथं' आकांक्षा के कारण प्रकृति से अतिदेश द्वारा उसका अङ्गत्व प्राप्त हो जाता है। उन्हीं से आकांक्षा शान्त हो जाती है तो उभयाकांक्षा नहीं बन पाती, अतः स्थानप्रमाण की शरण लेनी है।

स्थान समाख्या से प्रबल है

पाठ या अनुष्ठानसादेश्यरूप स्थानप्रमाण अङ्ग और अङ्गी का समानदेशस्थितिरूप संबन्ध बतलाता है। समाख्या केवल संज्ञा है। यह दोनों का संबन्ध बतलाने में असमर्थ है। समाख्या से संबन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी। इसके पूर्व ही सिद्ध संबन्ध को लेकर स्थान, प्रकरण आदि की कल्पना करते हुए

---

१. यह न्याय लोकोपयोगी है। केन्द्र का गृहमन्त्रालय देश के सभी कार्यों में अधिकार रखता ही है। प्रादेशिक राज्यों की व्यवस्था की दृष्टि से गृहमन्त्रालय दखल कर सकता है, किन्तु स्थानीय व्यवस्थापक के द्वारा यह कार्य अपनाया गया हो तो गृहमन्त्रालय दखल नहीं दे सकता। उसी प्रकार उपाकरण आदि के स्थानप्रमाण से विनियुक्त हो जाने पर प्रकरण प्रबल होते हुए भी दखल नहीं देगा।

पदार्थयोर्भिन्नदेशत्वात् । न च सा सम्बन्धवाचिका । यौगिकानां शब्दानां द्रव्यवाचकत्वेन सम्बन्धावाचकत्वात् । तथा हि—समाख्या सम्बन्धसामान्यवाचिका स्यात्, ? तद्विशेषवाचिका वा ? । नाद्यः । तदुक्तौ प्रयोजनाभावात् । सर्वयौगिकशब्दानां पर्यायतापत्तेश्च । द्वितीयेऽवश्यं सम्बन्धिनौ वाच्यौ । तदन्तरेण सम्बन्धे विशेषाभावात् । तत्प्रतिपत्तिमन्तरेण तदप्रतिपत्तेश्च । अतश्चावश्यं सम्बन्धिवाचकत्वं समाख्याया वक्तव्यम् । तथा च न संबन्धवाचकत्वं, संबन्धिप्रतिपत्त्यैव वाक्यार्थप्रतिपत्तिन्यायेन तत्प्रतिपत्तिसंभवे तत्र शक्तिकल्पने गौरवात् । तथाहुः—

पदार्थ का विनियोजक बन जाता है। अतः स्थान प्रबल है। समाख्यासंज्ञा उनकी होती है जो भिन्नदेश में अर्थात् मन्त्र, काण्ड एवं ब्राह्मण भाग में विद्यमान है। मन्त्र अंग है, ब्राह्मणभागविहित कर्म अंगी है। इन दोनों की समाख्या-संज्ञा संबन्धवाचक नहीं है। समाख्या शब्द यौगिक है। यौगिक शब्द द्रव्य के वाचक होते हैं, संबन्ध के नहीं। यदि समाख्या संबन्ध की वाचिका होती हो तो प्रश्न होगा कि क्या वह संबन्ध सामान्य का होगा, या विशेष समवायसंयोगसंबन्ध आदि का ? यदि प्रथम कल्प है तो वह उपयुक्त नहीं। क्योंकि सभी यौगिक शब्द पर्यायवाची हो जायँगे। यदि दूसरा कल्प है तो उसकी विशेषता संबन्धी से ही अवगत होगी। संयोग संबन्ध की विशेषतायानी समवाय आदि से व्यावृत्त होकर रहना संयोग के जो संबन्धी द्रव्य हैं उनसे ही जानी जा सकती है। इसी रूप से समवाय की विशेषता-द्रव्य-गुण, क्रिया-क्रियावान्, जाति व्यक्ति आदि संबन्धी के द्वारा ही जानी जा सकती है। इस प्रकार के ज्ञान के लिए समाख्या को दोनों संबन्धियों की भी वाचिका मानना होगा। जब समाख्या संबन्धी की वाचिका बनेगी तब संबन्ध की वाचिका नहीं हो सकती क्योंकि संबन्धी के ज्ञान से ही संबन्ध का भी ज्ञान हो जाता है। जैसे 'देवदत्त ओदनं पचति' वाक्य में प्रत्येक पद से अपने अर्थ को उपस्थापन करने के अनन्तर उन पदार्थों के संबन्ध के वाचक शब्द के न होने पर भी पदों के समभिव्याहार से संबन्ध का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार प्रकृति और प्रत्यय के समभिव्याहार से ही संबन्ध का ज्ञान हो जायगा[1]। यही वाक्यार्थप्रतिपत्ति न्याय कहलाता है। इस संदर्भ

---

१. शिक्षामन्त्रालयीय एक समाख्या है। शिक्षासंबन्धी मन्त्रणा जिस स्थान में होती है वह शिक्षामन्त्रालय कहलाता है, उसमें कार्य करनेवाला शिक्षामन्त्रालयीय होता है। शब्द की इस यौगिकव्युत्पत्ति से यह शब्द द्रव्यवाचक स्पष्ट है। इसके साथ संबन्ध का भी वाचक मानने पर गौरव होगा। अतः समभिव्याहार द्वारा संबन्ध का ज्ञान करने में लाघव है।

सर्वत्र यौगिकैः शब्दैर्द्रव्यमेवाभिधीयते।
नहि संबन्धवाचित्वं संभवत्यतिगौरवात् ॥ इति।

तथा—

पाकं तु पचिरेवाह कर्तारं प्रत्ययोऽप्यकः।
पाकयुक्तः पुनः कर्ता वाच्यो नैकस्य कस्यचित् ॥ इति।

तथा च समाख्या न संबन्धवाचिका। 'होतृचमस' इत्यादिका तु वैदिकी समाख्या निषादस्थपतिशब्दवन्न षष्ठ्यर्थसम्बन्धवाचिका। नापि वाक्यवत्तद्बोधिका, तस्याः पदत्वेनाप्रमाणत्वात्। पौरोडाशिकमित्यादिसमाख्यास्त्वतिदुर्बलाः, लौकिकत्वेन पुरुषप्रत्ययसापेक्षत्वात्; काण्डगोचरत्वेन तत्तत्पदार्था-

---

में वार्तिक प्रमाण करते हैं—सर्वत्र यौगिकैः आदि। वार्तिककार के द्वारा दिया हुआ उदाहरण है—पाकन्तु पचिरेवाह आदि। 'पाचकः' पच धातु का अर्थ पाक, कर्ता के अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय और उसका आदेश 'अक' है। प्रत्यय का अर्थ कर्ता। कर्ता और पाक के संबन्ध को अवगत करानेवाले किसी शब्द के न होने पर भी प्रकृति और प्रत्यय के सहोच्चारण से ही क्रिया और कर्ता का संबन्ध अवगत हो जाता है। अतः समाख्या संबन्ध की वाचिका नहीं है।

समाख्या के सामान्यतः संबन्धवाचकत्व का निराकरण कर वैदिक और लौकिक समाख्याओं में समन्वय दिखाते हैं—तथा च आदि से। 'होतृचमसः' यह वैदिक समाख्या है। ज्योतिष्टोम याग में अनेक चमस पात्र हैं। काष्ठ से निर्मित चतुष्कोणाकार मध्य गर्तवाले पात्र को चमस कहते हैं। इनसे सोमरस का होम और पान करते हैं। उनमें एक होतृचमस है। निषादस्थपतिशब्दवत् 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्' वाक्य से निषादस्थपति के लिए एक इष्टि विहित है। 'निषाद स्थपति' कौन है? क्या 'निषादानां स्थपतिः' विग्रह से निषाद—भिल्लों का स्थपति-राजा अर्थ माना जाय? अथवा निषादश्चासौ स्थपतिश्च विग्रह से निषाद-भिल्लरूपी राजा अर्थ माना जाय? इस प्रकार सन्देह होनेपर षष्ठाध्याय के प्रथम पाद में निश्चय किया गया है कि षष्ठीतत्पुरुष में पूर्वपद की संबन्ध में लक्षणा माननी होगी अतः कर्मधारय ही उचित है, सिद्धान्त किया गया। उसी प्रकार 'होतुः चमसः' ऐसा षष्ठीतत्पुरुष नहीं मानना चाहिए। जैसे निषादस्थपति शब्द का षष्ठीतत्पुरुष न होने से वह संबन्धवाचक नहीं है वैसे होतृचमस शब्द भी सम्बन्धवाचक नहीं है। शंका होती है कि जैसे वाक्य के वाक्यार्थ का वाचक न होनेपर भी वाक्यार्थ की प्रतीति वाक्य से मानी जाती है वैसे ही होतृचमस पद संबन्ध का वाचक न होते हुए भी पदसंबन्ध का बोधक माना जाय। इस शंका के उत्तर में कहा है—तस्याः पदत्वेनाप्रमाणत्वात्। वाक्य स्थल में अनेक पदों का समभिव्याहार है।

गोचरत्वाच्च। काण्डवाचकत्वमपि न काण्डत्वेन, किं तु पौरोडाशिकत्वादिनैव। न ह्येकहायनीशब्दो द्रव्यवाचकोऽपि गोत्वेन तद्वदति[1], किं तर्हि? एकहायनीत्वेनैव।

स्थानविनियोगे तु पदार्थयोर्विशेषपुरस्कारेणैव सम्बन्धः प्रत्यक्षप्रमाणप्रतिपन्नः। अतश्च समाख्यामुपलभ्य नूनमनयोः पदार्थयोः सम्बन्धोऽस्तीति यावत्कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षप्रतिपन्नेन सम्बन्धेन परस्परमाकाङ्क्षा, तदभावे च सम्बन्धानुपपत्तेः; कल्पितसम्बन्धेन च यावादितरत्राकाङ्क्षादि कल्पना[2] तावदन्यत्राकाङ्क्षया वाक्यादिकल्पनया विनियोगः क्रियते इति सिद्धं स्थानस्य

प्रत्येक पद के द्वारा अर्थ अभिहित हो जाने पर आकांक्षा आदि कारणों से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, समाख्या स्थल में पद यौगिक है। पद अपने अर्थ का उपस्थापन कर सकता है। प्रकृति-प्रत्ययों के द्वारा अलग-अलग अर्थ को भी उपस्थापन कराता है किन्तु उनके संबन्ध का बोधन करने में वह प्रमाण नहीं होगा। संबन्ध से संबद्ध अर्थ शाब्दबोधरूप है। शाब्दबोध के जनन में पद प्रमाण नहीं। अतः वाक्यन्यायेन संबन्ध का बोधक पद नहीं बन सकता। वैदिक समाख्या में ही यह स्थिति है तो लौकिक समाख्या 'पौरोडाशिकम्' 'हौत्रम्' आदि में शंका का स्थान ही नहीं क्योंकि याज्ञिकों के द्वारा ये समाख्यायें कल्पित हैं। कल्पक पुरुषों का ज्ञान यथार्थ है, ऐसा निश्चय करने के लिए प्रमाणान्तर की अपेक्षा होगी। अतः लौकिक समाख्या शीघ्र अर्थ की निश्चित बुद्धि नहीं कर सकती। पौरोडाशिकम् हौत्रम् आदि संज्ञायें वेद के काण्डभाग की बोधिका है, उस भाग में विद्यमान पदार्थ की बोधिका नहीं। 'पौरोडाशिकम्' यह समाख्या काण्डरूप अर्थ की प्रतिपादिका है किन्तु इसका शक्यतावच्छेदक काण्डत्व नहीं अपितु पौरोडाशिकत्व ही है। जैसे एकहायनी शब्द 'एकं हायनं यस्याः' व्युत्पत्ति से द्रव्यवाचक होता हुआ एकहायनीत्व धर्म से उस द्रव्य को कहता है न कि गोत्वेन। अर्थात् एकहायनी शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त गोत्व जाति नहीं है किन्तु द्रव्य ही है। वैसे ही 'पौरोडाशिकम्' पद का शक्यार्थ काण्ड होते हुए भी शक्यतावच्छेदक काण्डत्व नहीं किन्तु पौरोडाशिकत्व है।

इतने विचार से सिद्ध हुआ कि समाख्या सम्बन्ध को नहीं कहती है, किन्तु विनियोज्य-अंग की सबन्धकल्पना करके समाख्या विनियोजक बनेगी। स्थान प्रमाण वैसा नहीं है। अंग और अंगी का सादेश्य-समानदेश संबन्ध सिद्ध है। उन दोनों के आकांक्षा की कल्पना करते हुए स्थान शीघ्र विनियोजक हो जाता है। अतः स्थान प्रबल है। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते

---

१. द्वदिता। २. कल्प्यते।

समाख्यातः प्राबल्यम् । अत एव शुन्धनमन्त्रः सान्नाय्यपात्राङ्गं, पाठसादेश्यात्; न तु पौरोडाशिकसमाख्यया पुरोडाशपात्राङ्गमिति ।

समाख्या यौगिकः शब्दः । सा च द्विविधा—वैदिकी लौकिकी चेति । तत्र होतुः चमसभक्षणाङ्गत्वं 'होतृचमस' इति वैदिक्या समाख्यया । अध्वर्योस्तत्तत्पदार्थाङ्गत्वं लौकिक्या 'आध्वर्यव'मिति समाख्ययेति संक्षेपः ।

तदेवं निरूपितानि संक्षेपतः श्रुत्यादीनि षट् प्रमाणानि ।

एतत्सहकृतेन विनियोगविधिना—समिदादिभिरुपकृत्य दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेत्येवंरूपेण यानि विनियुज्यन्ते तान्यङ्गानि । तानि द्विविधानि सिद्धरूपाणि क्रियारूपाणि चेति ।

तत्र सिद्धरूपाणि जातिद्रव्यसङ्ख्यादीनि । तानि च दृष्टार्थान्येव ।

हैं—अत एव शुन्धनमन्त्रः आदि । 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयाज्यायै' मन्त्र से यज्ञीय पात्रों का प्रोक्षण किया जाता है । इस मन्त्र से किन पात्रों का प्रोक्षण किया जाय, ऐसा प्रश्न होनेपर 'पौरोडाशिकम्' समाख्या द्वारा अवगत होता है कि पुरोडाशयागसंबन्धी पात्रों का प्रोक्षण करना चाहिए । क्योंकि यह मन्त्र पौराडाशिक काण्ड में पठित है । स्थान के द्वारा अवगत होता है कि इस मन्त्र से सान्नाय्यपात्रों का प्रोक्षण करना है क्योंकि पौरोडाशिक काण्ड में भी सान्नाय्ययाग के अंगों के सन्निधि में पाठ है । पाठसादेश्यरूप स्थानप्रमाण से यह मन्त्र सांनाय्य पात्रों के प्रोक्षण का ही अंग है, समाख्या से पुरोडाश पात्र के प्रोक्षण का अंग नहीं ।

समाख्या

समाख्या का अर्थ है—यौगिकः शब्दः । वह दो प्रकार की है—वैदिकी और लौकिकी । 'होतृचमसः' इस वैदिक समाख्या से चमसगत सोमरस भक्षण का अंग 'होता' है यह बोधित होता है । 'हौत्रम्' 'आध्वर्यवम्' इत्यादि लौकिक समाख्यायें होता और अध्वर्यु को अपने पदार्थ के अनुष्ठान में अङ्गत्व का बोधन करती हैं । इस प्रकार विनियोगविधि के छः प्रमाणों का संक्षेप से निरूपण हुआ ।

अंगों का विभाग

इन प्रमाणों की सहायता से विनियोगविधि जिनका विनियोग करती है वे अंग कहे जाते हैं । इन अंगों की सहायता प्राप्त कर प्रधानयाग फल का संपादक बनता है अर्थात् प्रयाज-अनूयाज आदि अंगों से उपकृत दर्शपूर्णमास याग फलप्रद होता है । ये अंग सिद्धरूप एवं क्रियारूप से दो प्रकार के होते हैं ।

क्रियारूपाणि च द्विविधानि—गुणकर्माणि प्रधानकर्माणि चेति। एतान्येव सन्निपत्योपकारकाण्याराादुपकारकाणीति चोच्यंते। तत्र कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म सन्निपत्योपकारकम्। यथा—अवघातप्रोक्षणादि। तच्च दृष्टार्थमदृष्टार्थं दृष्टादृष्टार्थं च। दृष्टार्थमवघातादि। अदृष्टार्थं प्रोक्षणादि। दृष्टादृष्टार्थं पशुपुरो-

---

सिद्धरूप अंग

सिद्धरूप अंग वे कहलाते हैं जो साध्य नहीं हैं। जैसे ब्राह्मणत्व औदुम्बरत्व आदि जाति, व्रीहि यव आदि द्रव्य, एकत्व द्वित्व आदि संख्या, आरुण्य आदि गुण, पुंस्त्व स्त्रीत्व आदि लिंग। ये सब सिद्ध अंग होते हैं।

क्रियारूप अंग

क्रियारूप अंग वे होते हैं जो साध्य हैं। इनके दो विभाग हैं—गुणकर्म और प्रधानकर्म। गुणकर्म अर्थात् गुणभूतकर्म, प्रधानकर्म अर्थात् प्रधानभूतकर्म। गुणकर्म में द्रव्यका प्राधान्य और कर्म का उपसर्जनत्व, प्रधानकर्म में कर्म का प्राधान्य और द्रव्य का उपसर्जनत्व रहता है। जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' यह गुणकर्म है। यहाँ पर व्रीहि उद्देश्य है और अवहनन विधेय है। जो उद्देश्य होगा वह प्रधान होता है। जो विधेय होगा वह अप्रधान=उपसर्जन होता है। अतः व्रीहिद्रव्य की अपेक्षा अवहननकर्म गुणभूत हुआ तो यह गुणकर्म है। 'प्रयाजैर्यजते' 'अनूयाजैर्यजते' आदि में प्रयाज-अनूयाज आदि याग विधेय होते हुए भी ये कर्म आज्य आदि द्रव्य के लिए प्रधान होते हैं, और द्रव्य उनके उपसर्जन होते हैं। अतः यह कर्म प्रधानभूत हुआ तो ये प्रधानकर्म हैं। इन्हीं गुण और प्रधान कर्मों के नामान्तर दिखलाते हैं—एतान्येव सन्निपत्योपकारकाणि आरादुपकारकाणि। प्रधान याग से सम्बद्ध पदार्थों के जो उपकारक हैं वे सन्निपत्योपकारक हैं, जो साक्षात् फलापूर्व के उपकारक हैं वे आरादुपकारक हैं। सन्निपत्योपकारक का लक्षण ग्रन्थ है—कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन। कर्म के अंग द्रव्य या देवता को उद्देश्य कर विहित कर्म संनिपत्योपकारक है। जैसा 'व्रीहीनवहन्ति' 'व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि। दर्शपूर्णमास कर्म के अंग व्रीहि हैं। 'व्रीहिभिर्यजेत' से इनका विधान है। यह विधि तृतीयाश्रुति से व्रीहिद्रव्य को याग का अंग बतलाती है। इस अंग को उद्देश्य कर अवहनन-प्रोक्षण आदि कर्मों का विधान किया जाता है 'व्रीहीन् अवहन्ति' यह सन्निपत्योपकारक है। इस सन्निपत्योपकारक अंग का विभाग दिखलाते हैं—तच्चादृष्टार्थमदृष्टार्थं दृष्टादृष्टार्थञ्च। दृष्ट-प्रत्यक्ष प्रयोजनवाला सन्निपत्योपकारक, जैसे अवहनन पेषण आदि। अदृष्ट-अप्रत्यक्ष प्रयोजनवाला सन्निपत्योपकारक, जैसे प्रोक्षण पर्यग्निकरण आदि। दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजनवाला सन्निपत्योपकारक, जैसे पशुपरोडाश याग स्विष्टकृद्याग आदि। पशुयाग के अंग पुरोडाश याग को पशुपुरोडाश कहते हैं। जिन देवताओं को पशुयाग द्वारा हवि

डाशयागादि। तद्धि द्रव्यत्यागांशेनादृष्टं देवतोद्देशेन च देवतास्मरणं दृष्टं करोति। इदमेव चाश्रयिकर्मेत्युच्यते।

तच्च सन्निपत्योपकारकं द्विविधम्—उपयोक्ष्यमाणार्थमुपयुक्तार्थं चेति। तत्रावघातप्रोक्षणादि उपयोक्ष्यमाणार्थम्, व्रीहीणां यागे उपयोक्ष्यमाणत्वात्। प्रतिपत्तिकर्म इडाभक्षणादि उपयुक्तपुरोडाशादिसंस्कारकम्। उपयुक्तस्या[1]-कीर्णकरतानिवर्तकं कर्म प्रतिपत्तिकर्म।

उपयुक्तसंस्कारार्थं च [2]कर्म उपयोक्ष्यमाणसंस्कारार्थात् दुर्बलम्, उपयुक्तापेक्षया उपयोक्ष्यमाणेऽत्यादरात्। अत एव 'प्रायणीयनिष्कास उदयनीय-

---

दे चुके हैं अर्थात् याग कर चुके हैं उन देवताओं का यह याग स्मारक है। अर्थात् याग कर चुके हैं उन देवताओं का स्मारक है। अर्थात् उनका स्मरण कराता है अर्थात् इस पशुपुरोडाश याग में वे ही देवतायें हैं जो पशु याग के थे। "यद्दैवत्यः पशुः तद्दैवत्यः पशुपुराडाशः" विधि है। प्रत्येक याग के तीन अंश होते हैं—उद्देश, त्याग और प्रक्षेप। उद्देश के अंश में स्मरणरूप दृष्ट ही प्रयोजन है। त्याग—'अग्नय इदं न मम' अंश में अदृष्ट प्रयोजन है क्योंकि मानसिक क्रिया है। इससे यजमान की आत्मा में अपूर्व-अदृष्ट उत्पन्न होता है। अतः पशुपुरोडाश याग दृष्ट और अदृष्ट उभयार्थ अंग है। इसी उभयार्थ कर्म को आश्रयिकर्म भी कहते हैं।

यह सन्निपत्योपकारक पुनः दो प्रकार का होता है—उपयोक्ष्यमाण संस्कारार्थ उपयुक्त संस्कारार्थ, अवहनन प्रोक्षण आदि प्रधान याग में जिसका उपयोग होनेवाला है उसका संस्कारक है क्योंकि व्रीहि का उपयोग याग में होने वाला है। प्रधान याग में जो उपयुक्त हैं उनका संस्कार इडाभक्षण आदि। प्रधान याग में उपयुक्त और अवशिष्ट पुरोडाश का इडाभक्षण स्विष्टकृद् आदि से संस्कार है। इडाशब्द देवता, द्रव्य और पात्र में प्रयुक्त होता है। उपह्वान में देवता को और भक्षण में द्रव्य अवशिष्ट अंश को जिस पात्र में रखा जाता है उसमें इडाशब्द का प्रयोग है। इस कर्म को 'प्रतिपत्ति' कर्म भी कहते हैं। प्रतिपत्ति का लक्षण ग्रन्थकार कहते हैं—उपयुक्तस्य आकीर्णकरता—आदि। द्रव्य का याग में उपयोग हो जाने पर अवशिष्ट द्रव्य कार्य के लिए संकीर्ण-व्याप्त हो जाता है—जैसा चाहे वैसा उपयोग हो सकता है, उसके निवर्तक कर्म को प्रतिपत्तिकर्म कहते हैं। जैसा चाहे वैसे उपयोग न करना चाहिए, अमुक उपयोग करना चाहिए कह कर वाक्य जिस कर्म को निर्देश कहता है वह प्रतिपत्ति कर्म है।

उपयुक्त और उपयोक्ष्यमाण कर्मों में प्राबल्य-दौर्बल्य विचार करते हैं—उपयुक्तसंस्कारार्थञ्च कर्म आदि। उपयुक्त पदार्थ की अपेक्षा उपयोक्ष्यमाण में

१, कीर्णतानिव। २, क्वचित् कर्मेति नास्ति।

मभिनिर्वपती'त्यत्र निष्कासस्य निर्वापार्थत्वम्, न तु तस्य तदर्थत्वम्, निष्कासस्योपयुक्तत्वादित्युक्तमेकादशे।

तच्च सन्निपत्योपकारकमारादुपकारकाद्बलीयः। नन्ववघातादि भवतु बलीयः, तस्य दृष्टार्थत्वात्; आरादुपकारस्य चादृष्टार्थत्वात्, दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनस्यान्याय्यत्वात्। प्रोक्षणादि सन्निपत्यापकारकं तु कथं बलीयः; उभयोरदृष्टार्थत्वाविशेषात्।

किञ्च आरादुपकारकं साक्षात्प्रधानाङ्गम्, तस्यान्योद्देशेनाविधानात्।

आदर दृष्टि होती है। इसका उदाहरण है—प्रायणीयनिष्कासे। ज्योतिष्टोम में द्वितीय दिन प्रायणीयेष्टि अन्तिम दिन में उदयनीयेष्टि होती है। इन दोनों इष्टियों में चरु द्रव्य है। प्रायणीयेष्टि में जिस पात्र से चरु बनाया जाता है, चरु का होम आदि हो जाने पर उस पात्र को धोने के लिए जो जल पात्र में डाला जाता है वह 'प्रायणीयनिष्कास' कहा जाता है। इसी जल से उदयनीयेष्टि के चरु को पकाना चाहिए, यह वाक्य का अर्थ है। प्रायणीय निष्कासाधिकरणक उदयनीय निर्वाप क्या प्रायणीयेष्टि में उपयुक्त अथवा उदयनीयेष्टि में उपयोक्ष्यमाण चरु का संस्कार करता है? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उपयुक्त चरु का यह संस्कारक नहीं किन्तु उपयोक्ष्यमाण का ही संस्कारक है, यह न्याय ग्यारहवें अध्याय में निरूपित है। अतः उपयुक्त संस्कार की अपेक्षा उपयोक्ष्यमाण संस्कार प्रबल है।

उक्त तीन प्रकार का सन्निपत्योपकारक आरादुपकारक की अपेक्षा प्रबल माना जाता है। इन दोनों अङ्गों में प्राबल्य और दौर्बल्य स्वरूपतः नहीं है किन्तु सन्निपत्योपकारक अंग दृष्टफलजनक है, आरादुपकारक अदृष्टफलजनक है। अदृष्ट फल से दृष्ट फल आकर्षक होता है। अतः सन्निपत्योपकारक का प्राबल्य माना जाना चाहिए, किन्तु सन्निपत्योपकारक दृष्ट और अदृष्ट दोनों फलों का जनक है। उनमें दृष्टफलक सन्निपत्योपकारक प्रबल हो यह तो उचित है, किन्तु अदृष्टफलक प्रबल कैसे हो सकता है? प्राबल्य में दृष्टफल हेतु बन सकता है 'दृष्टे सम्भवति अदृष्टस्यान्याय्यत्वात्' न्याय है। अवहनन दृष्टफल के जनक होने से वह प्रबल हो, किन्तु प्रोक्षणरूप सन्निपत्योपकारक तो अदृष्टफल का जनक है। आरादुपकारक भी अदृष्ट ही का जनक है। तब सभी सन्निपत्योपकारक आरादुपकारक होने से कैसे प्रबल हो सकेंगे यह शङ्का है। इस शङ्का की पुष्टि में और युक्ति प्रस्तुत करते हैं—किञ्च आरादुपकारकम् आदि। पहले कहा जा चुका है कि आरादुपकारक सीधे प्रधान याग से उत्पन्न होनेवाले अपूर्व से सम्बन्ध रखता है। जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' स्थल में याग के अंग व्रीहि को उद्देश्य कर अवहनन का विधान है वैसे प्रयाज-अनूयाज आदि आरादुपकारक में नहीं है। सीधे अपूर्व उत्पन्न कराने के लिए ही इनका विधान है। सन्निपत्योपकारक अङ्ग का अङ्ग होता है, आरादुप-

सन्निपत्योपकारकं तु अङ्गाङ्गम् । कर्माङ्गव्रीह्याद्युद्देशेन विधानात् । अङ्गाङ्गापेक्षया च साक्षादङ्गं बलीयः ।

'अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यात्' इति न्यायात् ।

अत एव 'य इष्ट्या पशुना सोमेन वा यजेत सोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वा यजेत' इत्यविशेषविधानेऽपि पर्वानुग्रहः सोमयागस्यैव क्रियते, न तु दीक्षणीयादेः । अतः कथं सन्निपत्योपकारकस्य बलीयस्त्वम् ।

उच्यते—सत्यप्यदृष्टार्थत्वाविशेषे सन्निपत्योपकारकमारादुपकारकाद्बलीयः । सन्निपत्योपकारके हि कर्मणि उपकार्योपकारकयोर्व्रीहिप्रोक्षणयोः

कारक तो साक्षादङ्ग होता है । अङ्ग के अङ्गी की अपेक्षा साक्षादङ्ग को ही प्रबल मानना चाहिए । अतः सन्निपत्योपकारक से आरादुपकारक ही प्रबल होता है । इस अंश में न्याय प्रदर्शित करते हैं—अंगगुणविरोधे च तादर्थ्यात् । अङ्गगुण= अङ्गाङ्ग के साथ प्रधानगुण का विरोध होने पर प्रधान गुण का ही अनुग्रह होना चाहिए, क्योंकि वह गुण प्रधान की सहायता करता है । इस न्याय का उदाहरण है—य इष्ट्या पशुना सोमेन वा आदि । यह वाक्य इष्टि पशु और सोमयागों के पर्वकाल का विकल्प से विधान करता है । सोमयाग के दीक्षणीय आदि इष्टि और अग्नीषोमीय आदि पशु अंग हैं और प्रधान ज्योतिष्टोम है । ज्योतिष्टोम के प्रथम दिन में दीक्षणीयेष्टि तथा चतुर्थ दिन में अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान और पञ्चम दिन में सोम याग होता है । यह कथमपि असम्भव है कि इन तीनों का एकपर्वकाल में अनुष्ठान हो । दीक्षणीयेष्टि का पर्वकाल अनुगृहीत होने पर तृतीया तिथि में पशु, एवं चतुर्थी में सोम याग, एवं पशु याग का पर्वकाल का अनुग्रह करने पर द्वादशी के दिन दीक्षणीयेष्टि प्रतिपदा में सोमयाग होगा । अङ्ग इष्टि और पशु के गुण-पर्व काल के साथ प्रधान गुण-पर्व काल का विरोध होने पर प्रधान गुण का जिस प्रकार अनुग्रह हो उस प्रकार अनुष्ठान की व्यवस्था की गई है अर्थात् एकादशी से आरम्भ कर पर्व-पूर्णिमा में कर्म की समाप्ति करें । तब प्रधान सामयाग के पर्वकाल का अनुग्रह सिद्ध होगा । इस न्याय से प्रधानाङ्ग आरादुपकारक का प्राबल्य कहना था, उसको छोड़कर अङ्गाङ्ग संनिपत्योपकारक का प्राबल्य कैसे कहा जाता है, इस शंका का समाधान ग्रन्थ है—उच्यते । अदृष्टफलक संनिपत्योपकारक और आरादुपकारक में कोई विशेषता नहीं होने पर भी सन्निपत्योपकारक ही प्रबल है; क्योंकि संस्कार्य व्रीहि एवं संस्कारक प्रोक्षण इन दोनों का संबन्ध 'व्रीहीन् प्रोक्षति' वाक्य से स्पष्ट रूप से गम्यमान है । व्रीहि और प्रोक्षण के उपकार्योपकारकभावमात्र की कल्पना करनी पड़ती है । क्योंकि उपकार्योपकारकभाव के बिना एकवाक्य से दोनों का संबन्ध उपपन्न नहीं होता है । अतः कल्पना करनी

सम्बन्धो वाक्यक्लृप्तः। उपकारमात्रं तु कल्प्यम्। आरादुपकारकस्थले तु [1]दर्शपूर्णमासप्रयाजयोः सम्बन्धः कल्प्यः, उपकारोऽपि।

किं च आरादुपकारकस्थले हि प्रकरणं विनियोजकम्, इतरत्र तु 'व्रीहीन् प्रोक्षती' ति वाक्यमेव। व्रीहिपदेनापूर्वसाधनलक्षणां कृत्वा क्रतौ विनियोजकमिति बलीयस्त्वम्।

[2]यदुक्तम्—'अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यात्' इति न्यायेन दुर्बलत्वमिति, तदसत्; नहि व्रीह्याद्युद्देशेन विधीयमानं प्रोक्षणादि तदर्थं भवति, तत्स्वरूपे आनर्थक्यात्, किन्तु तत्संस्कारद्वारा क्रत्वर्थमेव, सन्निपत्योपकारकाणामुत्पत्त्यपूर्वप्रयुक्तत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। अत उभयविधमप्यङ्गजातं क्रत्वर्थमेवेति नाङ्गगुणविरोधन्यायावतारः। दीक्षणीयादेः पर्वानुग्रहस्तु दीक्षणीयाद्यर्थ एव, तस्य तदपूर्वप्रयुक्तत्वात्। अतो युक्तं साक्षात्प्रधानाङ्गेन प्रधानपर्वा-

---

पड़ेगी। आरादुपकारक स्थल में दर्शपूर्णमास का विधान दूसरा वाक्य करता है और प्रयाज का विधान दूसरा करता है। दोनों भिन्न भिन्न वाक्यों के द्वारा विहित हैं। इनका संवन्ध एकप्रकरणपठित होने से कल्पना के साथ उपकार्योपकारक की भी कल्पना करनी होगी। अतः आरादुपकारक स्थल में दो कल्पनायें, संनिपत्योपकारक में एक ही कल्पना है। इसलिए संनिपत्योपकारक प्रवल है।

किञ्च। आरादुपकारक प्रयाज आदि का विनियोग प्रकरण करता है, संनिपत्योपकारक प्रोक्षण आदि का विनियोग श्रुतिप्रमाण करता है। प्रकरण से श्रुतिप्रमाण प्रवल है ही। अतः प्रवल प्रमाण से विनियुक्त संनिपत्योपकारक का प्राबल्य मानना उचित है।

अङ्गगुणविरोध न्याय से आरादुपकारक का प्रावल्य जो दिखलाया गया उस का समाधान ग्रन्थ है—तदसत् आदि। पहले कहा जा चुका है कि सभी अंगों का प्रयोजक=अनुष्ठापक अपूर्व होता है। व्रीहिस्वरूप को उद्देश्य कर जो अवहनन प्रोक्षण आदि होते हैं वे व्रीहिस्वरूपसिद्धि के लिए माने जाय तो अनर्थक हो जाते हैं। अतः व्रीहि आदि पदों से अपूर्व की लक्षणा मानी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि अवहनन-प्रोक्षण आदि भी क्रत्वर्थ होते हैं जैसे आरादुपकारक। इतना भेद अवश्य है कि सन्निपत्योपकारक उत्पत्त्यपूर्व का सहायक होता है, और आरादुपकारक परमापूर्व का सहायक होता है। यह विषय आगे स्पष्ट होगा। फलित यह हुआ कि दोनों क्रत्वर्थ हैं तो अङ्गगुणविरोध का अवसर ही नहीं है।

---

१. दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजानुयाजयोः

२. यथोक्तं।

नुग्रहेण स बाध्यत इति। तत्सिद्धं सन्निपत्योपकारकस्यारादुपकारकाद्बलीयस्त्वम्।

अत एव "स्थाणौ स्थाण्वाहुतिं जुहोती"ति विहिता स्थाण्वाहुतिः यूपव्रश्चनस्थाणुद्वारा यूपसंस्कारार्था, देवदत्तधारितायाः स्रजः शुचिदेशनिधानमिव देवदत्तसंस्कारार्थम्। न तु स्थाण्वाहुतिरारादुपकारिकेत्युक्तं दशमे इति दिक्।

द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम्। यथा—

दीक्षणीयेष्टि तथा सोमयाग दृष्टान्त में पर्वकाल का अनुग्रह स्वरूपसिद्धि के लिए होता है। दीक्षणीय आदि स्वरूप में आनर्थक्य होने से स्वस्वापूर्व की लक्षणा मानी ही जाती है। अत एव साक्षात् प्रधानाङ्ग पर्वकाल से अङ्गाङ्ग पर्वकाल का बाध उचित ही है। इस विषय में दृष्टान्त के रूप में न्याय प्रस्तुत करते हैं—स्थाणौ स्थाण्वाहुतिं जुहोति। पशुयाग में यूप के लिए वृक्ष को काटना पड़ता है। काटने के अनन्तर वृक्ष का अंश जो बचा रहता है उस काष्ठ को स्थाणु कहते हैं। यह यूप का अपादन होता है। उस स्थाणु में आज्य से आहुति का विधायक यह वाक्य है। स्थाणु में करने के लिए विहित यह आहुति क्या संनिपत्योपकारक है ? या आरादुपकारक है ? यदि यह आहुति यूप की संस्कारिका हो तो सन्निपत्योपकारक बनेगा। क्योंकि यूप याग का अंग है। उसको उद्देश्य कर यह आहुति विहित है। यदि स्थाणु का संस्कारक होगा तो आरादुपकारक होगा क्योंकि स्थाणु याग का अंग नहीं। इस प्रकार संशय होनेपर सिद्धान्त किया गया है कि इस आहुति से यूप ही संस्कृत होता है, स्थाणु नहीं। स्थाणु का संस्कार मानने पर आरादुपकारक हो जायगा, आरादुपकारक से संनिपत्योपकारक प्रबल होता है। अतः यह संनिपत्योपकारक ही है। जैसे घर पर गुरुजी के आनेपर उनके आदर-सत्कार के निमित्त पुष्पमाला पहनायी जाती है। गुरु उस माला को जाते हुए छोड़ जाते हैं तो हम उस माला को प्रसाद समझकर अच्छे स्थान में रखते हैं, जिससे गुरु का अनादर न होने पाये। माला को अच्छे स्थान में रखने से गुरु का संस्कारक हो जाता है अर्थात् गुरु अपने आदर का अनुभव करते हैं। उसी प्रकार यह स्थाण्वाहुति आरादुपकारक नहीं किन्तु यूपसंस्कार होकर संनिपत्योपकारक है। इतने सन्दर्भ से यह सिद्ध हुआ कि आरादुपकारक से सन्निपत्योपकारक प्रबल है।

आरादुपकारक

सन्निपत्योपकारक की चर्चा समाप्त होने पर आरादुपकारक अंग का लक्षण प्रस्तुत करते हैं—द्रव्याद्यनुद्दिश्य आदि। याग के अंग द्रव्य आदि का उद्देश्य न करते हुए यों ही जो कर्म विहित हैं वे आरादुपकारक हैं। जैसे—'समिधो

(अङ्गानामपूर्वार्थत्वनिरूपणम्)

प्रयाजादि। तदेवं निरूपितं द्विविधमप्यङ्गजातम्।

तच्च न यागादिस्वरूपप्रयुक्तम्, स्वरूपे आनर्थक्यात्, तदन्तरेणापि तत्सिद्धेः; किं त्वपूर्वप्रयुक्तमेव। नहि तदन्तरेणापूर्वं भवतीत्यत्र किंचित्प्रमाणमस्ति, तस्यादृष्टत्वात्।

न चैवं प्राधान्याद्दृष्टत्वाच्च फलप्रयुक्तत्वमेव किं न स्यादिति वाच्यम्। फलभावनायां यागस्यैव करणत्वादङ्गानां च करणानुग्राहकत्वात्तदर्थत्वे[1] बुद्धे तत्र चानर्थक्यप्रसक्तौ तेन [2]स्वपूर्वमेवोपस्थाप्यते, सन्निकर्षात्। दीक्ष-

---

यजति' आदि प्रयाज तथा अनूयाज आदि कर्म। यहाँ तक दो प्रकार के अंगों का स्वरूप निरूपित हुआ।

अंगों का अपूर्वार्थत्व

सभी अंगों के प्रति प्रयोजक=अनुष्ठापक अपूर्व होता है, यह पूर्व कहा जा चुका है। उसका विशद वर्णन प्रस्तुत किया जाता है—तच्च न यागादिस्वरूपप्रयुक्तम् आदि। याग का स्वरूप है—देवता को उद्देश्यकर द्रव्य का त्याग करना 'अग्नय इदं न मम' 'वायव इदं न मम' आदि। इस स्वरूप के संपादन के निमित्त चाहे संनिपत्योपकारक हों चाहे आरादुपकारक, इनके अनुष्ठान के लिए कोई आवश्यकता नहीं है। इन अंगों को किये बिना ही उक्त यागस्वरूप का संपादन हो जा सकता है। तब ये अंग व्यर्थ हो जायँगे, इसलिए अपूर्वपर्यन्त जाना होगा अर्थात् इन अंगों के बिना प्रधानमात्र के अनुष्ठान से वह प्रधानफलजनक नहीं होगा। इसका निष्कर्ष यह निकला कि प्रधान याग से अपूर्व की उत्पत्ति के लिए अंगों का अनुष्ठान आवश्यक है अर्थात् वही अपूर्व इन अंगों का प्रयोजक=अनुष्ठापक है।

इस सन्दर्भ में शंका हो सकती है कि प्रधान के अनुष्ठान के लिए प्रयोजक फल होता है, उसी फल को अंगों के भी अनुष्ठान के लिए प्रयोजक मान लिया जाय तो अपूर्व को प्रयोजक मानने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि फल प्रधान है और प्रधान के संवन्ध अभ्यर्हित हैं। अतः अंगों का भी प्रयोजक फल ही हो। इस शंका का समाधान ग्रन्थ है—फलभावनायां यागस्यैव आदि। अर्थात् उत्पत्तिवाक्य या अधिकार वाक्य, फल भाव्य है जिस भावना का उसका विधान करता है। वह भावना से करण की आकांक्षा करने पर संनिहित धात्वर्थ का अन्वय होता है। वह भी धात्वर्थ अपने स्वरूप निष्पादन मात्र से फल का उत्पादक नहीं हो सकता, क्योंकि वह याग क्रियात्मक है। और क्रिया क्षणिक है। अतः साध्यसाधनता की उपपत्ति के लिए व्यापार स्थान में अपूर्व की कल्पना की जाती है। यह अपूर्व कालान्तर में यजमान

---

१. सिद्धे २. तेन चे यागल

णीयादिशब्देनेव तदपूर्वम् । न तु फलमुपस्थाप्यते, विप्रकर्षात् । अतो न तत्प्रयुक्तत्वमङ्गानाम् ।

अत एव [1]'अगन्म सुवः सुवरगन्म' इति मन्त्रो विकृतावूहितव्य इत्युक्तं नवमे [2]'फलदेवतयोश्चे' त्यत्र । फलप्रयुक्तत्वं तु सौर्यादिविकृतिषु स्वर्गरूप-

---

को फल दिलाता है। अर्थात् फलस्थानापन्न अपूर्व का याग करण हुआ। यह करण अपने में फल साधने की योग्यता के लिए सहायकों की अपेक्षा करता है। अंगों में यह सामर्थ्य है कि करण का अनुग्राहक स्वयं बने। अंग अनुग्राहक बनने पर अपने को वे समझेंगे कि 'हम करण के लिए हैं' फल के लिए नहीं। हमारे बिना ही जब करण का स्वरूप बन जाता है तब करण के लिए हम कैसे हो सकते हैं, यह सोचने पर स्वजन्य अपूर्व के लिए हम हैं इस निष्कर्ष पर वे आ जाते हैं, यही अपूर्व संनिहित है। दीक्षणीया वाङ्नियम न्याय का विवरण करते हुए यह विषय दिखाया जा चुका है। अतः अंगफलपर्यन्त नहीं दौड़ेंगे क्योंकि वह विप्रकृष्ट है। इसलिए अंगों का फल प्रयोजक नहीं किन्तु अपूर्व[3] ही है।

अंगों के अपूर्वप्रयुक्तत्व होने में उदाहरण देते हैं—अत एव अगन्म सुवः आदि। दर्शपूर्णमास याग में यजमान इस मन्त्र को पढ़ता है—हम स्वर्ग पहुँच गये ऐसा इसका अर्थ है। दर्शपूर्णमास का फल स्वर्ग है, अतः इस मन्त्र की संगति बन जाती है। यह मन्त्र अतिदेश के द्वारा सौर्ययाग में जाता है तो 'अगन्म ब्रह्मवर्चसम्' ऐसा ऊह करके पढ़ना पड़ता है क्योंकि सौर्ययाग का फल ब्रह्मवर्चस है—'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः'। नवमाध्याय के प्रथम पाद में 'फलदेवतयोश्च' सूत्र का यह न्याय है। इस न्याय से यह सिद्ध होता है कि यजमान के द्वारा इस मन्त्र के पढ़ने में फल यदि प्रयोजक होगा तो विकृति सौर्ययाग में इस मन्त्र का अतिदेश होगा ही नहीं क्योंकि विकृति याग का फल स्वर्ग नहीं। एवं इसका ऊह भी सिद्ध

---

१. तै. सं. १–५–६–१ २. जै. सू. २–१–४

३. यह न्याय लोकतन्त्र सिद्धान्त का महान् अवलंब हैं। प्रधानमन्त्री प्रधानयाग के स्थापनापन्न है, अतः सभी मंत्रियों के साथ मन्त्रालय प्रादेशिक राज्यों के मुख्यमन्त्री एवं उनके सहायक सभी अंगों का स्थानापन्न है। प्रधानमन्त्री देशसमृद्धिरूप फल-संपादन करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए अंगों का अनुग्रह चाहता है। अङ्ग भी व्यक्ति पूजन को छोड़कर ठोस कार्यों के द्वारा देश समृद्धि जो प्रधानमन्त्री द्वारा उठाई गई है उसमें अनुग्राहक होते हैं। ये ठोस कार्य ही अपूर्व है। प्रधानमन्त्री भी देश-समृद्धि का निष्पादन करने में ठोस कार्य का अवलंबन करता है। यह ठोस कार्य ही परमापूर्व है। इस परमापूर्व की उत्पत्ति करने में अङ्गों के द्वारा योग्यता प्राप्त होती है। फल की ओर दृष्टि न रखते हुए ठोस कार्य के संपादन में लग जायँगे तो देश समृद्ध होगा।

फलाभावात् मन्त्रो न प्रवर्तेत' नतरां चोहितव्यः स्यादिति । तत्सिद्धमङ्गाना- मन्यप्रयुक्तत्वानुपपत्तेरपूर्वप्रयुक्तत्वम् ।

तत्रापि सन्निपत्योपकारकाणां द्रव्यदेवतादिसंस्कारद्वारा यागस्वरूपे- उपयोगादुत्पत्त्यपूर्वार्थत्वम् । अत एवौषधधर्माणामवघातादीनामाज्ये न प्रवृत्तिः, तेषामाग्नेयापूर्वप्रयुक्तत्वात्, आज्यस्य च तदर्थत्वाभावादित्युक्तं तृतीये ।

नहीं होगा । अतः अंगभूत इस मन्त्र को पढ़ने का प्रयोजक फल नहीं किन्तु अपूर्व ही है । इस अपूर्व की आवश्यकता सौर्ययाग में भी है, अतः अतिदेश से वहाँ जाता है और विकृति के अनुसार ऊह भी सिद्ध हो सकता है । अतः सभी अंग अपूर्व प्रयुक्त हैं ।

इतना ज्ञातव्य है कि दृष्टफलजनक संनिपत्योपकारक एवं द्रव्यविधि स्थलों में दृष्ट ही फल मिलता है किन्तु उन स्थलों में नियमजन्य अपूर्व को मानना अनिवार्य है ।

अपूर्व की विवेचना

अपूर्व श्रौतकर्मों में स्वर्गादि फल प्राप्ति के सोपानरूप माने जाते हैं । ये स्थूलशः चार प्रकार के होते हैं—अङ्गापूर्व, उत्पत्त्यपूर्व, समुदायापूर्व, और परमापूर्व । जहाँ एक ही प्रधान याग हो वहाँ समुदायापूर्व नहीं माना जाता है और प्रधान याग अनेक होते हुए भी वे एक ही काल में अनुष्ठेय हों तो वहाँ भी समुदायापूर्व नहीं माना जाता है । समुदायापूर्व की वहाँ आवश्यकता पड़ती है जहाँ अनेक प्रधान हों और भिन्नकाल में वे अनुष्ठेय हों । जैसे दर्शपूर्णमास और चातुर्मास्य आदि कर्मों में समुदायापूर्व स्वीकार किया जाता है । प्रधानयाग के पूर्व अनुष्ठेय अङ्गों- द्वारा एवं प्रधानयाग के अनन्तर अनुष्ठेय अङ्गोंद्वारा जायमान अपूर्वों का कार्य भिन्न होता है । कहाँ ? कैसा ? इस विशेष को—तत्रापि संनिपत्योपकारकाणाम् आदि ग्रन्थ से बतलाते हैं । प्रधान याग के द्रव्य या देवता को उद्देश्य कर विहित अंग संनिपत्योपकारक कहा गया है । जैसे—अवहनन, प्रोक्षण, पेषण आदि । इन अंगों से उत्पन्न अपूर्व उत्पत्त्यपूर्व के उपकारक होते हैं । उत्पत्त्यपूर्व वह कहलाता है जो प्रधानयाग संपन्न होने के अनन्तर उत्पन्न होता है । पौर्णमासी के तीन प्रधानयागों में आग्नेय याग से उत्पन्न अपूर्व के उपकारक वे ही अङ्गापूर्व होंगे जो प्रधानयाग के द्रव्य में किये जाते हैं । प्रधानयाग का द्रव्य व्रीहि है । उसमें अवहनन प्रोक्षण आदि अङ्ग किये जाते हैं । इनसे उत्पन्न अपूर्व आग्नेय याग के उत्पत्त्यपूर्व से ही संबन्ध रखेंगे, आज्य द्रव्य में इनकी प्रवृत्ति नहीं होगी । उपांशुयाज का आज्य द्रव्य है । आज्य के संस्कार उत्पवन आदि हैं, ये उपांशु याग से उत्पन्न उत्पत्त्यपूर्व से प्रयुक्त हैं । आज्य आग्नेययागसंबन्धी नहीं, पुरोडाश उपांशुयाज

आरादुपकारकाणां तु स्वरूपेऽनुपयोगात् परमापूर्वार्थत्वम्। तत्रोत्पत्त्यपूर्वस्य यागस्वरूपानुष्ठानानन्तरमेवोत्पद्यमानत्वात् सन्निपत्योपकारकाणां पूर्वाङ्गानां तदुत्पत्तावुपयोगः, उत्तराङ्गानां तु तेषां तत्स्थितावुपयोगः। परमापूर्वस्य तु साङ्गप्रधाना[1]नुष्ठानानन्तरमेवोत्पद्यमानत्वात् सर्वेषामारादुपकारकाणां तदुत्पत्तौ। प्रयोगवहिर्भूतस्य तु तस्य तत्स्थितावुपयोगः। यथा-बृहस्पतिसवस्य 'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेते'ति वाजपेयोत्तरकालमङ्गत्वेन विहितस्य वाजपेयापूर्वस्थितावुपयोगः। तस्य प्रागेवोत्पन्नत्वादित्युक्तं चतुर्थे। तत्सिद्धं सर्वथाङ्गानामपूर्वार्थत्वम्। प्रकृतमनुसरामः—तदेवं निरूपितः संक्षेपतो विनियोगविधिः।

(प्रयोगविधिनिरूपणम्)

प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः। स चाङ्गवाक्यैकवाक्यता-

---

से संबन्ध नहीं रखता। अपने-अपने द्रव्य और उसके संस्कारों का स्व-स्व उत्पत्त्यपूर्व ही प्रयोजक होता है। यह न्याय तृतीय अध्याय के तेषामर्थाधिकरण में निरूपित है।

आरादुपकारक प्रयाज आदि के प्रति परमापूर्व प्रयोजक है। याग के पूर्व जो सन्निपत्योपकारक हैं वे उत्पत्त्यपूर्व की उत्पत्ति में सहायक हैं। जो अंग याग के अनन्तर किये जाते हैं, वे उत्पत्त्यपूर्व की दृढ़ता में सहायक हैं। परमापूर्व निखिलअङ्गसमवेत प्रधानयाग के अनुष्ठान के अनन्तर उत्पन्न होता है। अतः आरादुपकारक परमापूर्व की उत्पत्ति में सहायक हैं। क्रतु के बहिर्भूत आरादुपकारक परमापूर्व की स्थिति में सहायक होते हैं। जैसे वाजपेयक्रतु समाप्त होने पर उसका अङ्ग बृहस्पतिसव याग विहित है—'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत'। वाजपेय याग के अनुष्ठान के अनन्तर ही परमापूर्व उत्पन्न हो जाता है, तदनन्तर करने के लिए विहित यह बृहस्पति सव उस परमापूर्व की दृढ़ता में सहायक है। इतने विचारों से सिद्ध हुआ है कि सभी प्रकार के अङ्गों के प्रति अपूर्व प्रयोजक=अनुष्ठापक होता है। विनियोगविधि साङ्गोपांग समाप्त हुई।

प्रयोग विधि

विनियोग विधि के द्वारा पदार्थों के विनियोग का ज्ञान हो जानेपर उनके अनुष्ठान का प्रसंग उपस्थित होता है। अनुष्ठान को ही प्रयोग कहते हैं और प्रयोग को बतलानेवाली विधि प्रयोगविधि है। प्रयोगविधि का लक्षण है—प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः। प्रयोग अनुष्ठान के प्राशुभाव=शीघ्रता का

---

१. प्रयोगानुष्ठान

मापन्नः प्रधानविधिरेव । स हि साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन् विलम्बे प्रमाणाभावादविलम्बापरपर्यायं प्रयोगप्राशुभावं विधत्ते । न च विलम्बवदविलम्बेऽपि प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । विलम्बे हि अङ्गप्रधानविध्येकवाक्यतावगततत्साहित्यानुपपत्तिः प्रसज्येत । न हि विलम्बेन क्रियमाणयोः पदार्थयोः 'सहकृत' मिति साहित्यं व्यवहरन्ति ।

न चैवं साहित्यानुपपत्त्या समानकालत्वमेव स्यात्, न त्वविलम्बः, अव्यवधानेन पूर्वोत्तरकालक्रियमाणपदार्थयोः 'अविलम्बेन कृत' मिति व्यवहारादिति वाच्यम् । अनेकपदार्थानामेकस्मिन् कालेऽनुष्ठानानुपपत्तेः । न च तावत्कर्तृसंपादनेनानुष्ठानं किं न स्यादिति वाच्यम् । "तस्यैतस्य यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विज" इत्यादिना कर्तॄणां नियतत्वात् ।

बोधन करनेवाली विधि प्रयोगविधि है। शीघ्रता का अर्थ है असंबन्धी पदार्थों का व्यवधान न होना। जैसे उत्पत्तिविधि का परिचायक 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य है, एवं विनियोगविधि का 'दध्ना जुहोति' वाक्य है, वैसे ही प्रयोगविधि का परिचायक वाक्य क्या है? इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहते हैं—स चाङ्गवाक्यैकवाक्यतामापन्नः प्रधानविधिरेव। 'प्रधानविधि' से अधिकारविधि का ग्रहण किया जाना चाहिए। अङ्गवाक्यों के साथ प्रधानवाक्य की एकवाक्यता करने पर 'समिदादिभिरङ्गैरुपकृतवद्भ्यां दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' ऐसा वाक्य बनता है यही प्रयोगविधि का परिचायक है। यह प्रयोगविधि ही अङ्गों के साथ प्रधान याग की अनुष्ठापिका है। उत्पत्तिविधियाँ एवं अङ्गविधियाँ अपने कर्मों की विधायिका होती हैं। अङ्गसहित प्रधान याग की अनुष्ठापिका प्रयोग विधि ही होती है। यह कर्मों का अनुष्ठापन करती हुई प्रयोगप्राशुभाव=शीघ्रता, अविलंब में भी ध्यान रखती है। यह विधि अङ्गसहित प्रधान की अनुष्ठापिका है। अङ्गसाहित्य के अविलंब से अनुष्ठित होने पर ही अङ्गों का साहित्य बनेगा। विलंब से अनुष्ठित पदार्थों में 'यह सहकृत' है ऐसा प्रयोग नहीं होता। यद्यपि विधिवाक्य अविलम्ब का नाम नहीं लेता है तथापि साहित्यसंपादन के लिए अविलंब से पदार्थों का अनुष्ठान आवश्यक है। एक ही काल में सब अङ्गों का अनुष्ठान असंभव है। अतः साहित्यसंपादन के निमित्त अविलंब का अवलम्बन करना पड़ता है। विलंब से अनुष्ठित पदार्थों का साहित्य नहीं बन पाता है। यह भी संभव नहीं है कि जितने अङ्ग हैं उतने व्यक्तियों को नियुक्त करके एक ही काल में उनके अनुष्ठान से साहित्यसंपादन किया जाय। क्योंकि श्रौत यज्ञों में कर्ता=अनुष्ठाता की संख्या नियत है। जैसे अग्निहोत्र में १, दर्शपूर्णमास में ४, चातुर्मास्य में ५, पशुयाग में ६, और सोमयाग में १६ आदि। इनमें कर्ता को नहीं बढ़ा सकते।

तस्मादङ्गवाक्यैकवाक्यतामापन्नः प्रधानविधिः एकवाक्यतावगततत्साहित्यं विदधत् उक्तविधया एककालानुष्ठानानुपपत्तेरविलम्बं विधत्ते इति सिद्धं प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिरिति ।

स चायमविलम्बो नियते क्रमे आश्रीयमाणे भवति । अन्यथा हि किमेतदनन्तरं[1] कर्तव्यं तदनन्तरं वेति प्रयोगविक्षेपापत्तेः । अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिध्यर्थं नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणतया विधत्ते ।

(क्रमलक्षणम्)

तत्र क्रमो नाम विततिविशेषः पौर्वापर्यरूपो वा । तत्र च षट् प्रमाणानि-श्रुत्यर्थपाठस्थानमुख्यप्रवृत्त्याख्यानि ।

इसलिए अङ्गवाक्यों से एकवाक्यता को पाकर प्रधान-अधिकारविधि एकवाक्यता से जाने गये साहित्य का विधान करती हुई साहित्य का एककाल में संपादन, असंभव होने के कारण अविलंबरूपी प्रयोग प्राशुभाव का भी विधान करती है।

विधेय अविलंब की सिद्धि के लिए नियमित एक क्रम को स्वीकार करना होगा, अन्यथा किसके अनन्तर कौन अनुष्ठित हुआ ? कौन नहीं हुआ, कभी कभी एक का ही दो बार अनुष्ठान किसी का अननुष्ठान आदि व्यक्तिक्रम हो जायेंगे। इसी को—प्रयोगविक्षेपापत्तेः इससे सूचित किया। अतः प्रयोगविधि अपने विधेय प्राशुभाव की सिद्धि के लिए नियत एक क्रम का भी विधान करती है। निष्कर्ष यह निकला कि प्रयोगविधि के प्रमेय तीन हैं—१–साहित्य, २–प्राशुभाव-अविलंब, ३–नियतक्रम। यह नियतक्रम यद्यपि पदार्थरूप नहीं है, पदार्थ न होने से विधेय नहीं बन सकता, तथापि पदार्थ का विशेषण बनकर विधेय हो सकता है। जैसे—अनुपादेय पञ्चक देशकाल आदि विधेय नहीं होते हुए भी विशेषण बन कर विधेय कोटि में आ जाते हैं। वैसे ही क्रम भी विधेय हो सकता है।

क्रमलक्षण

क्रम का लक्षण है—विततिविशेषः पौर्वापर्यरूपो वा। वितति शब्द का अर्थ है विस्तार। अर्थात् अनेक पदार्थों में रहनेवाले पौर्वापर्यसमुदाय। इस विततिविशेष को क्रम मानने से शब्द के द्वारा प्रतीयमान न होने के कारण अशाब्द हो जायगा इसलिए पौर्वापर्यरूपो वा कहा है। पौर्वापर्य का अर्थ है आनन्तर्य। आनन्तर्य के वाचक शब्द क्त्वा आदि मिलते हैं। आनन्तर्य उत्तर पदार्थ का उपस्थापक है यही क्रम है। अतः विततिविशेष को क्रम मानने की अपेक्षा 'पौर्वापर्य' को क्रम मानने में लाघव है। अत एव पौर्वापर्यरूपो वा कहा है। इस क्रम के छः प्रमाण होते हैं—श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य तथा प्रवृत्ति।

---

१. एतदनन्तरमेतत्कर्तव्यमेतदनन्तरं वा

(श्रुतिनिरूपणम्)

तत्र क्रमपरवचनं श्रुतिः । तच्च द्विविधं-केवलक्रमपरं, तद्विशिष्टपदार्थपरं चेति । तत्र 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'ति केवलक्रमपरम् ; वेदिकरणादेर्वचनान्तरेण विहितत्वात् । 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इति तु क्रमविशिष्टपदार्थपरम् ।

श्रुति

जो शब्द क्रम का वाचक है वह श्रुति है। क्रमपरवचनम् इस पद में क्रमत्व का अर्थ है वृत्ति के द्वारा अर्थ को कहना। यह वचन दो प्रकार का होता है—पहला शुद्ध क्रम का बोधन करनेवाला, और दूसरा पदार्थविशिष्ट क्रम का बोधन करनेवाला। 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' यह वचन शुद्धक्रम का बोधक है। 'वेद' शब्द का अर्थ है—सोए हुए बछड़े के जानु और जंघा के सदृश आकारवाली दर्भमुष्टि। दर्भमुष्टि को ऐसा बनाते है जो सोए हुए बछड़े के जानु और जँघे के समान हो जाती है। 'वेदि' उस संस्कृत भूमि को कहते हैं जहाँ यज्ञ के पात्र और हविष् को रखकर कर्म का अनुष्ठान होता हो। इन दोनों की प्राप्ति 'वेदं करोति' 'वेदिं करोति' से हो जाती है। अतः इस वाक्य से उनका विधान नहीं है। किन्तु कृत्वा के 'त्वा' प्रत्यय से आनन्तर्यरूप शुद्धक्रम का विधान मानना होता है। अतः यह शुद्ध क्रमपरवचन है। क्रमविशिष्ट पदार्थ परवचन का उदाहरण है—'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः। 'याज्या' मन्त्र के आदि में 'ये यजामहे' एवं अन्त में 'वौषट्' बोलने का विधान है—'यजतिषु ये यजामहं करोति' और 'याज्याया अधिवषट्करोति'। ऋत्विजों में वषट्कार करने का अधिकार होता रखता है। अतः होता को वषट्कर्ता कहते हैं। याग की समाप्ति में ऋत्विज के लिए हुतशिष्ट द्रव्य पुरोडाश आदि का भक्षण विहित है—'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति'। इस वाक्य से भक्षण प्राप्त है और भक्षणकर्ता ऋत्विजों में वषट्कर्ता—होता भी प्राप्त है। विधि प्राप्तपदार्थ का विधान नहीं करती। क्योंकि पूर्व कह चुके हैं कि विधि अप्राप्त=अज्ञात अर्थ की ही विधायिका होती है। अब विचारना चाहिए कि 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' में विधेय क्या है ? वषट्कर्ता एवं भक्षण की प्राप्ति तत्तद्वाक्यों के द्वारा हो चुकी है, अप्राप्त अंश केवल प्राथम्य का है। वही किसी से प्राप्त नहीं हुआ है। प्राप्त वषट्कर्ता के भक्षण को उद्देश्य करके 'प्राथम्य' का विधान इस वाक्य में मानना है। यह संभव नहीं है। क्योंकि 'प्रथमभक्षः' यह समस्त पद है। समस्त पद एक अर्थ का प्रतिपादक होता है। किन्तु 'प्रथमभक्षः' पद में विधेय और उद्देश्य दो भिन्न अर्थ हैं। विधेय और उद्देश्य परस्पर सापेक्ष भी हैं। व्यपेक्षालक्षण सामर्थ्य के न रहने पर समास नहीं होगा। यदि प्राप्त भक्षण को उद्देश्य करके प्राथम्य का विधान होता है तो एक प्रसरता का भंग होगा। एकप्रसरता अर्थात् विशिष्ट एक अर्थ का प्रतिपादन करना। विधेयत्व एवं उद्देश्यत्व का वैशिष्ट्य-विशेष्यविशेषणभाव नहीं होगा। विशेष्यविशेषणभाव तब हो सकता है जब भक्षण को भी विधेय

एकप्रसरताभङ्गभयेन भक्षानुवादेन क्रममात्रस्य विधातुमशक्यत्वात् ।

(श्रुतिप्राबल्यनिरूपणम्)

सेयं श्रुतिरितरप्रमाणापेक्षया बलवती । तेषां वचनकल्पनद्वारा क्रमप्रमाणत्वात् । अत एवाश्विनस्य पाठक्रमात्तृतीयस्थाने ग्रहणप्रसक्तौ 'आश्विनो दशमो गृह्यते' इति वचनाद्दशमस्थाने ग्रहणमित्युक्तम् ।

कोटि में रखेंगे । अतः एकप्रसरता भङ्ग की भीति से प्राप्त होते हुए भी प्राथम्य से विशिष्ट भक्ष का ही विधान माना जाता है । अत एव यह प्राथम्यरूप क्रमविशिष्ट पदार्थ परवचन का उदाहरण है ।

श्रुतिक्रम का प्राबल्य

इतर क्रमबोधक प्रमाणों की अपेक्षा श्रुतिक्रम प्रबल है । क्योंकि दूसरे प्रमाणों में क्रम का वाचक शब्द नहीं रहता, कल्पना करनी पड़ती है और श्रुति में वाचक शब्द रहता है । अतः यह शीघ्र क्रम का बोधन करते हुए पदार्थों का अनुष्ठापक बन जाता है । इसका उदाहरण देते हैं—अत एव आश्विनस्य आदि । ज्योतिष्टोभ में दस धाराग्रह हैं । गिरती हुई धारा से जिन पात्रों के द्वारा सोमरस का ग्रहण किया जाता है वे धाराग्रह कहलाते हैं । उनका पाठ इस प्रकार है—'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' 'मैत्रावरुणं गृह्णाति' 'आश्विनं गृह्णाति' 'मन्थिनं गृह्णाति' आदि । अश्विदेवताक ग्रह का तृतीय स्थान में पाठ है । इस विधि से अवगत होता है कि तीसरे स्थान में अश्विदेवता के ग्रह का ग्रहण करना चाहिए, किन्तु 'अश्विनो दशमो गृह्यते तं तृतीयं जुहोति' इस वाक्य के 'दशमः' श्रुतिक्रम से विरोध होता है । दशवीं संख्या के पूरणार्थ में प्रत्यय विहित है । यह प्रत्यय क्रम का वाचक है । अतः यह क्रम का विधायक हो जाता है । पाठ से तो क्रम की कल्पना करनी होगी । कल्पना के पूर्व 'दशमः' यह श्रुति दशवें क्रम का बोधन करके अनुष्ठान करा देती है, इसलिए श्रुति प्रबल है ।

द्वितीय अर्थप्रमाण को छोड़कर तृतीय पाठप्रमाण से श्रुति का प्राबल्य निरूपण करने का तात्पर्य है कि अर्थक्रम में प्रयोजन के अनुसार क्रम की कल्पना होती है । 'प्रयोजन' श्रुतिगम्य होगा । तब विरोध का अवसर ही नहीं होता । इसलिए अर्थ प्रमाण को छोड़कर पाठक्रम को लिया । पाठक्रम से यथापाठक्रम की कल्पना करते हुए पदार्थ का अनुष्ठान हो सकता है, यदि कोई इसका विरोध नहीं करता हो । विरोध होने पर बलाबल का प्रसंग आता है । विरोध करनेवाला प्रबल हो जाय तो दुर्बलपाठ बाधित हो जाता है । यह न्याय[1] पञ्चम अध्याय चतुर्थ पाद के प्रथम अधिकरण में सिद्ध है ।

---

१. लोकोपयोगी यह न्याय है—चयन समिति आचार्य, योग्यता एवं दो वर्ष के अनुभव को निश्चित कर ४ व्यक्तियों को एक पद के निमित्त चुनती है और क्रमिक संख्या को भी

(अर्थक्रमनिरूपणम्)

यत्र प्रयोजनवशेनार्थनिर्णयः स आर्थः क्रमः। यथाऽग्निहोत्रहोमयवागूपाकयोः। अत्र हि यवाग्वा होमार्थत्वेन तत्पाकः प्रयोजनवशेन पूर्वमनुष्ठीयते।

स चायं पाठक्रमाद्बलवान्। यथापाठं ह्यनुष्ठाने क्लृप्तप्रयोजनबाधोऽदृष्टार्थत्वं च स्यात्। न हि होमानन्तरं क्रियमाणस्य किञ्चित् दृष्टं प्रयोजनमस्ति।

(पाठक्रमनिरूपणम्)

पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः। तस्माच्च पदार्थानां क्रम

अर्थक्रम

जहाँ प्रयोजन के निमित्त पदार्थ का निश्चय कर क्रम माना जाता है वहाँ अर्थक्रम होता है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'यवागूं पचति' इस पाठ के द्वारा प्रथम अग्निहोत्र होम और उसके बाद यवागू का पाक करना है ऐसा मालूम होता है। किन्तु अग्निहोत्रहोम के प्रति साधन यवागूद्रव्य के विधायक 'यवाग्वा जुहोति' वाक्य को देखकर निश्चय होता है कि होमसंपादन का द्रव्य यवागू है। होम संपादनरूप दृष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए यवागू पाक प्रथम होगा और उसके बाद होम होगा, यह क्रम अर्थक्रम है। अन्यथा होम के अनन्तर किया हुआ यवागूपाक अदृष्ट के लिए हो जायगा। एक अदृष्ट होम से उत्पन्न होगा, और होमान्तर किये हुए यवागूपाक से दूसरा अदृष्ट उत्पन्न होकर अदृष्टद्वय मानने की अपेक्षा होम से पूर्व यवागूपाक करके उससे होम किया जाय तो यवागूपाक का होमनिर्वर्तकत्वरूप दृष्टप्रयोजन मिल जायगा।

इस उदाहरण से यह सिद्ध हो जाता है कि पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् है। पाठ के क्रम से यवागूपाक का दृष्टप्रयोजन नहीं मिलेगा, क्योंकि होम के अनन्तर यवागूपाक करने से उसका दृष्टप्रयोजन क्या होगा।

पाठक्रम

अनुष्ठेय पदार्थों के बोधक वाक्यों का क्रम पाठक्रम कहा जाता है। जिस क्रम से वाक्यों का पाठ है उसी क्रम से पदार्थ का ज्ञान एवं स्मरण करके अनुष्ठान किया जाता है।

अंकित कर देती है। लेकिन चौथी संख्या में कुछ विशेषता पाकर उपर का अधिकारी चौथी संख्यावाले को नियुक्त करने का आदेश देता है। इसी प्रकार 'दशमः' पद क्रम का विधायक माना जाता है।

आश्रीयते। येन हि क्रमेण वाक्यानि पठितानि तेनैव क्रमेणाधीतान्यर्थप्रत्ययं जनयन्ति। यथार्थप्रत्ययं च पदार्थानामनुष्ठानात्।

स च पाठो द्विविधः—मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठश्चेति। तत्राग्नेयाग्नीषोमीययोस्तत्तद्याज्यानुवाक्याक्रमात् यः क्रम आश्रीयते स मन्त्रपाठात्।

स चायं मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठाद्बलवान्; अनुष्ठाने ब्राह्मणवाक्यापेक्षया मन्त्रवाक्यस्यान्तरङ्गत्वात्। ब्राह्मणवाक्यं हि प्रयोगाद्बहिरेव 'इदमेवं कर्तव्य' मित्येवमवबोध्य कृतार्थमिति न पुनः प्रयोगकाले व्याप्रियते। मन्त्राः पुनरनन्यप्रयोजनाः प्रयोगसमवेतार्थस्मारका इति वक्ष्यामः। तेनानुष्ठानक्रमस्य स्मरणक्रमाधीनत्वात् तत्क्रमस्य च मन्त्रक्रमाधीनत्वादन्तरङ्गो मन्त्रपाठ इतरस्मादिति बलवान्। अत एवाग्नेयाग्नीषोमीययोर्ब्राह्मणपाठादादावग्नीषोमीयानुष्ठानं, पश्चादाग्नेयानुष्ठानमित्येवं क्रमं बाधित्वा मन्त्रपाठादादावाग्नेयानुष्ठानं पश्चादग्नीषोमीयस्येत्येव क्रम इत्युक्तम्।

पाठक्रम दो प्रकार का है—मन्त्रपाठ एवं ब्राह्मणपाठ। मन्त्रपाठ का उदाहरण देते हैं—तत्राग्नेयाग्नीषोमीययोः आदि। दर्शपूर्णमास के पौर्णमासी याग में आग्नेय उपांशुयाज एवं अग्नीषोमीय याग होते हैं। यह पहले कहा जा चुका है। ब्राह्मणभाग में पहले अग्नीषोमीय[1] याग का और बाद में आग्नेय[2] याग का विधान है। मन्त्र भाग में प्रयाज आज्य भाग के मन्त्रों के अनन्तर आग्नेय याग के 'अग्निर्मूधा' 'भुवो यज्ञस्य' पुरोनुवाक्या और याज्या मन्त्रों को पढ़कर पुनः अग्नीषोमीय याग के 'अग्नीषोमा सवेदस' 'युवमेतानि दिवि' मन्त्रों का पाठ है। ब्राह्मणपाठ के अन्यादृश होने पर भी मन्त्रपाठ के क्रम से प्रथम आग्नेय तदनन्तर अग्नीषोम याग का अनुष्ठान (मन्त्रपाठ क्रम के अनुसार) किया जाता है। ब्राह्मणपाठ से मन्त्रपाठ बलवान् होता है। क्योंकि अनुष्ठान काल में मन्त्रपाठ अंतरंग होता है। ब्राह्मणपाठ पदार्थों के विधान में सीमित रहता है और अनुष्ठानकाल में उसकी उपयोगिता नहीं रहती है। ब्राह्मणपाठ यह निर्देश करता है कि यह कर्म अमुक फल का साधक है, और इस कर्म के द्रव्य और देवता ये हैं। अनुष्ठान काल में इसका कोई उपयोग नहीं है। मन्त्र ऐसा नहीं है। अनुष्ठानकाल में आवश्यक पदार्थों के ज्ञान कराने में मन्त्र की आवश्यकता होती है। क्योंकि अनुष्ठान स्मरणक्रम पर आश्रित है, और स्मरण मन्त्रक्रमपर आश्रित है। मन्त्रों के द्वारा जिस क्रम से पदार्थों का स्मरण होता है उसी क्रम से पदार्थों का अनुष्ठान होता है। अतः मन्त्रपाठ बलवान् है। अतएव आग्नेय याग का अनुष्ठान पहले किया जाता है और अग्नीषोमीय का अनुष्ठान बाद में किया जाता है।

---

१. देखिये—तै० सं० २।५।२ २. देखिये—तै० सं० २।६।३

प्रयाजानां[1] 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्येवं विधायकवाक्यक्रमात् यः क्रमः स ब्राह्मणपाठक्रमः। अत्र च यद्यपि ब्राह्मणवाक्यान्यर्थं विधाय कृतार्थानि तथापि प्रयाजानां स्मारकान्तरस्याभावात् तान्येव स्मारकत्वेन स्वीक्रियन्ते। तथा च येन क्रमेण तान्यधीतानि तेनैव क्रमेणार्थस्मरणं जनयन्तीति युक्तं तेनैव क्रमेण तेषामनुष्ठानमिति। तत्सिद्धं प्रयाजानां ब्राह्मणपाठक्रमात् क्रम इति।

ननु—प्रयाजेषु प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वं विधायकत्वेन कृतार्थानां ब्राह्मणवाक्यानां किमिति स्वीक्रियते, प्रयोगसमवेतार्थस्मारकाणां याज्यामन्त्राणामाग्नेयादिष्विवात्रापि सत्त्वात्। न च तेषां देवतास्मारकत्वात् कर्म-

---

ब्राह्मण पाठक्रम

ब्राह्मण पाठक्रम का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -प्रयाजानां समिधो यजति आदि। पाँच प्रयाजों के विधायक ब्राह्मणवाक्यों से समित्, तनूनपात्, इडः, बर्हिः स्वाहार यागों का क्रम अवगत होता है। पूर्व कथन के अनुसार ब्राह्मण वाक्य अनुष्ठानकाल में यद्यपि व्यावृत्त नहीं होते हैं, अपने पदार्थों का विधान करते हुए वे चरितार्थ हो जाते हैं, तथापि इन पाँचों यागों के क्रम का स्मारक अन्यत्र उपलब्ध नहीं है अतः इन ब्राह्मण वाक्यों को ही स्मारक माना जाता है। जिस क्रम से ये वाक्य अधीत हैं उसी क्रम से अनुष्ठान करना पड़ता है। अतः प्रयाजों का क्रम ब्राह्मणपाठ से सिद्ध होता है।

इस सन्दर्भ में एक शंका का उपस्थापन करते हैं—ननु प्रयाजेषु आदि। शंका का भाव यह है कि प्रयाज, यागों की संज्ञा है। जो कर्म 'यजति' शब्द से विहित होते हैं वे याग कहलाते हैं। किसी भी याग का अनुष्ठान याज्यामन्त्र के बिना नहीं होता। इनके याज्यामन्त्र 'समित्समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु' 'तनूनपाददग्न आज्यस्य वेतु' इत्यादि हैं। होता इन याज्यामन्त्रों का पाठ करते हुए अन्त में 'वौषट्', का उच्चारण करता है तब अध्वर्यु आज्य की आहुति करता है। आग्नेय आदि प्रधान यागों में भी यही रीति है। प्रयोग=अनुष्ठान के अर्थों का स्मरण करानेवाले मन्त्र ही होते हैं, ब्राह्मणवाक्य नहीं होते। ऐसी स्थिति में ब्राह्मणपाठ का उदाहरण प्रयाज कैसे होगा ?

जैसे याज्यामन्त्र प्रधानयाग में समवेत अर्थ को स्मरण कराते हुए अंग हैं उसीप्रकार प्रयाजों में भी हैं। यदि कहा जाय कि प्रयाज के याज्यामन्त्र देवता

---

१. तै. सं. २. १. १. १।

स्मारकत्वेन ब्राह्मणवाक्यं स्वीक्रियते इति वाच्यम्। आग्नेयादिष्वपि, कर्मस्मारकत्वेन तत्स्वीकारापत्तेः।

न चेष्टापत्तिः। तथा सति ब्राह्मणपाठान्मन्त्रपाठस्य बलीयस्त्वं न स्यात्। तद्बलीयस्त्वे हि मन्त्राणां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वमितरस्य तदस्मारकत्वं हेतुः। यदि च कर्मस्मारकत्वं ब्राह्मणवाक्यस्य स्वीक्रियते तदा प्रधानकर्मस्मारकत्वेन ब्राह्मणवाक्यस्यान्तरङ्गत्वात् अङ्गभूतदेवतास्मारकत्वेन च मन्त्राणां बहिरङ्गत्वात् मन्त्रपाठाद्ब्राह्मणपाठस्यैव बलीयस्त्वं स्यात्। तथा च [1]'मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात्' इति पाञ्चमिकाधिकरणविरोधः। तत्र हि ब्राह्मणपाठान्मन्त्रपाठस्य बलीयस्त्वादादावाग्नेयानुष्ठानं पश्चादग्नीषोमीयस्येत्युक्तम्।

के स्मारक हैं और ब्राह्मणवाक्य कर्म के स्मारक हैं, तो इसी रीति से आग्नेय आदि प्रधान यागों में कर्म के स्मारक के रूप में ब्राह्मण वाक्यों को क्यों नहीं स्वीकार किया जाता!

यदि प्रयाजों की तरह यहाँ स्वीकार करेंगे तो ब्राह्मणपाठ से मन्त्रपाठ का जो प्राबल्य कहा गया है वह अनुचित सिद्ध होगा। मन्त्रपाठ के प्राबल्य में हेतु बतलाया गया है कि मन्त्र अनुष्ठानसंबन्धी पदार्थों का स्मरण कराता है और ब्राह्मणवाक्य वैसा स्मरण नहीं कराते। यह प्रश्न किया जा सकता है कि ब्राह्मणवाक्यों के कर्मस्मारक होने पर भी, मन्त्रों के कर्मसंबन्धीदेवतास्मारक होने से उसके प्रयोग से समवेत अर्थ के स्मारकत्व की हानि नहीं होती है। अतः मन्त्रपाठ प्रबल है। इस प्रश्न के उत्तर में यह ग्रन्थ है—तदा प्रधानकर्मस्मारकत्वेन आदि। आशय है कि फल के सम्पादन में कर्म प्रधान होता है। कर्म के अंग होते हैं द्रव्य और देवता। इन दोनों में भी देवता दुर्बल माना जाता है। ब्राह्मणपाठ प्रधानभूत कर्म का स्मारक है, और मन्त्रपाठ तो कर्म के अंग दुर्बलदेवता का स्मारक है। अंग के स्मारक मन्त्र की अपेक्षा प्रधानकर्म का स्मारक ब्राह्मणपाठ ही बलवान् बनता है। मन्त्रपाठ की अपेक्षा ब्राह्मणपाठ ही अन्तरङ्ग हो जाता है। इस प्रकार ब्राह्मणपाठ का प्राबल्य मानने पर पञ्चम अध्याय प्रथम पाद के सोलहवें अधिकरण से सिद्ध न्याय का विरोध होगा। उस अधिकरण का सूत्र है—मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात् प्रयोगरूपसामर्थ्यात् तस्मादुत्पत्तिदेशस्सः। सूत्र का अर्थ है—मन्त्र और ब्राह्मणपाठ के विरोध होने पर, मन्त्र-पाठ क्रम से ही पदार्थ का अनुष्ठान होना चाहिए क्योंकि मन्त्र अनुष्ठान में संबद्ध-पदार्थों के स्मरण कराने का सामर्थ्य रखता है। इसलिए ब्राह्मणपाठ कर्म की उत्पत्तिमात्र का बोधक है, प्रयोगकाल में उसका संबन्ध

---

१. जै. सू. ५. १. १६।

अथ–आग्नेयादिषु याज्यामन्त्रा एव देवताप्रकाशनद्वारा कर्मप्रकाशकाः त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वरूपत्वाद्देवतात्वस्येति—चेत्, तुल्यं प्रयाजेषु, तत्रापि हि याज्यामन्त्रा देवताप्रकाशकाः। प्रयाजेषु देवताया मान्त्रवर्णिकत्वात्। तथा च प्रयाजेषु याज्यामन्त्राणां देवताप्रकाशनद्वारा कर्मप्रकाशकत्वात् तत्क्रमो मन्त्रपाठादेव स्यात्, न तु ब्राह्मणपाठक्रमात्।

न च मन्त्रपाठस्यान्यादृशत्वात् प्रयाजक्रमो ब्राह्मणपाठक्रमादेवेति वाच्यम्। अन्यादृशत्वे तस्यैव क्रमस्यानुष्ठानं स्यात्, मन्त्रक्रमस्य बलीयस्त्वात्।

[1]अभ्यासाधिकरणे च वार्तिककृता 'क्रमविनियुक्तैवं लिङ्गक्रमन्त्रवर्णे' त्यादिना प्रयाजेषु याज्यामन्त्राणां क्रमविनियोग उक्तः। [2]नवमेऽपि तन्त्ररत्ने 'समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्त्वि' त्यादिभिः क्रमप्रकरणप्राप्तमं-

---

नहीं है। यदि ब्राह्मणपाठ का प्राबल्य हो तो इस न्याय का विरोध होगा। इस न्याय के बल से पहले कहा जा चुका है कि मन्त्रपाठ के प्राबल्य के कारण पूर्णमास में प्रथम आग्नेय याग का अनुष्ठान, अनन्तर अग्नीषोम पुरोडाश याग का अनुष्ठान होता है।

यदि आग्नेय आदि यागों में याज्यामंत्र ही देवता का प्रकाशन करते हुए कर्म का भी प्रकाशन करता है, ऐसा मानेंगे तो यही स्थिति प्रयाजों में भी होगी क्योंकि प्रयाजों में भी आग्नेय आदि के समान याज्यामन्त्र हैं। आग्नेय आदि यागों में तो तद्धितान्त शब्द के द्वारा देवता का विधान है, और प्रयाजों में देवता का ज्ञान मन्त्रवर्ण से ही होता है। अतः प्रयाजों में मन्त्रों के द्वारा देवता का ज्ञान होते हुए उन्हीं से कर्मों के क्रम की भी अवगति होती है, ब्राह्मण पाठ से नहीं होती। यदि कदाचित् प्रयाजों में मन्त्रपाठ का क्रम विपरीत हो तो उसी क्रम से प्रयाजों का अनुष्ठान होगा, ब्राह्मणपाठ से नहीं। क्योंकि मन्त्रपाठ बलवान् है।

अभ्यासाधिकरणे। द्वितीयाध्याय द्वितीय पाद का यह द्वितीयाधिकरण है। इस अधिकरण में 'समिधो यजति', तनूनपातं यजति', 'इडो यजति', 'बर्हिर्यजति' तथा 'स्वाहाकारं यजति' इन पाँचों यागों का अभ्यासप्रकरण से कर्मभेद सिद्ध किया गया है। अभ्यास का अर्थ है अनन्यपरविधिश्रवण। अर्थात् पाँचों विधियाँ अन्यपरक=गुणविधायक न होकर भिन्न-भिन्न कर्मों के विधान के निमित्त ही प्रवृत्त हैं। इनमें समित्, तनूपात् आदि शब्द तत्प्रख्यशास्त्र से नामधेय हैं। तत्प्रख्यशास्त्र 'समित् समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु' इत्यादि मन्त्र हैं। इस स्थिति में वार्तिककार क्रमविनियुक्तैवं लिङ्गकमन्त्रवर्ण इत्यादि कहते हैं। अर्थात् क्रम=यथासंख्यपाठक्रम से विनियुक्त समित्, तनूनपात् आदि सामर्थ्ययुक्त मन्त्रवर्ण—'समित्समिधोऽग्न

---

१. पू० मी० २. २. २. तं० वा० पृ० ४५७। २. नवमे तन्त्र०।

न्त्रैर्देवताः गुणत्वेन समर्प्यन्त इत्युक्तम् । मन्त्राणामन्यादृशक्रमत्वे तदनुपपत्तिः स्यात् । तत्कथं प्रयाजेषु ब्राह्मणपाठक्रमात् क्रम इति चेत्—

उच्यते—सत्यमेतत् । तथापि यत्रार्थस्मारका मन्त्रा न सन्त्येव, यथा तूष्णीं विहितेषु कर्मसु—तेषां क्रमो ब्राह्मणपाठक्रमात् । तत्र तेषामेव प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वा[1]त् । प्रयाजोदाहरणं तु कृत्वाचिन्तया, तत्र ब्राह्मणवाक्यानां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वाभावात् । यथाहुरर्थवादचरणे वार्तिककाराः[2] 'प्रयाजादिवाक्यान्यर्थं समर्प्य चरितार्थानि स्वरूपसंस्पर्शे सत्यपि प्रयोज्यतां न प्रतिपद्यन्ते' इति ।

तस्मात्समन्त्रककर्मणां मन्त्रपाठक्रमात् क्रमः । अमन्त्रककर्मणां क्रमस्तु ब्राह्मणपाठक्रमादेवेति दिक् ॥

आज्यस्य व्यन्तु' इत्यादि मन्त्रों के द्वारा देवता के प्रकाशित होने में कारण ब्राह्मणवाक्य के समित् तनूनपात् आदिपद कर्म के नामधेय हैं । अतः प्रयाजों में मन्त्राभाव के कारण ब्राह्मणपाठ से क्रम कहना युक्त नहीं है । इसी प्रकार नवम अध्याय के तन्त्ररत्न में पार्थसारथिमिश्र ने भी 'पूर्वाभिहित मन्त्र जो यथासंख्य पाठ एवं प्रकरण से प्राप्त हैं, उनसे देवता समर्पित होते हैं' ऐसा कहा है । इस परिस्थिति में मन्त्रों का क्रम अन्यादृश=विपरीत होता है यह कहने से पूर्वोक्त सभी प्रमाण अनुपपन्न हो जायँगे । इसलिए प्रयाजों का क्रम ब्राह्मणपाठ से कैसे बन सकता है ? यह प्रश्न है ।

इसका उत्तर उच्यते-सत्यमेतत् इत्यादि से दिया जाता है । इस प्रश्न का यथायथ उत्तर नहीं है, किन्तु ब्राह्मणपाठ के उदाहरण प्रयाज हो सकेंगे ऐसा समझ कर विचार किया गया है । ब्राह्मणपाठ के उदाहरण वे होंगे जहाँ अर्थस्मरण करानेवाले मन्त्र न हों, अपि च कर्म करना आवश्यक है, वहाँ विधिवाक्य के द्वारा पदार्थों का कथमपि स्मरण करके अनुष्ठान करना पड़ता हो । वार्तिककार अर्थवाद पाद में स्पष्ट कहते हैं कि—प्रयाज विधायक वाक्य 'समिधो यजति' आदि अपने विधेय कर्म का विधान कर चरितार्थ हो जाते हैं । अनुष्ठान काल में उन वाक्यों के उच्चारण की आवश्यकता नहीं है । उन विधायक वाक्यों का कार्य है दर्शपूर्णमास क्रतु में इन अंगों का अनुष्ठान हो, यह बतलाना । इतनी चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिन कर्मों का अनुष्ठान मन्त्रोच्चारण के द्वारा होता है वहाँ मन्त्रपाठ क्रम का नियामक है, और जिन कर्मों का अनुष्ठान मन्त्र के बिना करना पड़ता है वहाँ ब्राह्मणपाठ क्रम का नियामक है ।

---

१. ०कत्वम् । २. तं० वा० पृ० ५१ ।

(स्थानक्रमनिरूपणम्)

प्रकृतौ नानादे[1]शानां पदार्थानां विकृतौ वचनादेकस्मिन् देशेऽनुष्ठाने कर्तव्ये यस्य देशेऽनुष्ठीयन्ते तस्य प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चात्—[2]अयं यः क्रमः स स्थानक्रमः ।

स्थानं नामोपस्थितिः । यस्य हि देशेऽनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवतीति युक्तं तस्य प्रथममनुष्ठानम् । अत एव साद्यस्क्रे अग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्यानां सवनीयदेशे सहानुष्ठाने कर्तव्ये आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानम्; तस्मिन्देशे आश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयस्यैव प्रथममुपस्थितेः; इतरयोस्तु पश्चात् ।

तथा हि—ज्योतिष्टोमे त्रयः पशुयागाः—अग्नीषोमीयः, सवनीयः,

स्थानक्रम

स्थानक्रम के स्वरूप के निरूपण का ग्रन्थ है—प्रकृतौ नानादेशानां पदार्थानां आदि । प्रकृति=ज्योतिष्टोम में विभिन्न देशों के अनुष्ठेय पदार्थों के अतिदेश के द्वारा विकृतिरूप एक दिन साध्य सोमयाग में प्राप्त होनेपर विधिवचन से उनका एक देश=स्थान में अनुष्ठान किया जाता है । जिस स्थान में अनुष्ठान होता हो उस स्थान से संबन्धीपदार्थ का प्रथम अनुष्ठान, अवशिष्ट का अनन्तर अनुष्ठान यह क्रम स्थानक्रम कहा जाता है ।

स्थान शब्द का यहाँ अर्थ है—उपस्थिति । विनियोग विधि के पांचवें स्थान-प्रमाण से यह स्थान भिन्न है । वहाँ स्थान सन्निधि को कहता है, और यहाँ उपस्थिति को । विकृति में जिस देश के जिस अंग का अनुष्ठान विधि से विहित है, उसके पूर्ववर्ती अंग के अनुष्ठित होने पर वही अंग पहले उपस्थित होगा । इस उपस्थिति से पहले उसी का अनुष्ठान उचित है । इसका उदाहरण देते हैं—अत एव साद्यस्क्रे आदि । साद्यस्क्र वह सोमयाग है जो एक ही दिन में सोमलता के क्रय आदि समग्र अंगों के साथ समाप्त किया जाता है । सद्यः सकल अंगों के साथ किया जानेवाला सोमयाग साद्यस्क्र कहा जाता है । यह ज्योतिष्टोम का विकृति-याग है । अतः विकृति होने से अतिदेश के द्वारा आये हुए अग्नीषामीय पशु, सवनीय पशु, आनुबन्ध्य पशु और इन तीनों का सह अनुष्ठान सवनीय देश में वचन से प्राप्त होने पर प्रथम सवनीय पशु का अनुष्ठान हो जाने पर अनन्तर अवशिष्ट दो पशुयागों का अनुष्ठान होता है । क्योंकि आश्विन नामक ग्रह के ग्रहण होनेपर सवनीय पशु की उपस्थिति होती है ।

विशदरूप से इसका विवरण प्रस्तुत करते हैं—तथाहि ज्योतिष्टोमे आदि ।

---

१. देशस्थानां । २. एवं ।

आनुबन्ध्यश्चेति । ते च भिन्नदेशाः । अग्नीषोमीय औपवसथ्येऽह्नि, सवनीयः सुत्याकाले, आनुबन्ध्यस्त्वन्ते । साद्यस्को नाम सोमयागविशेषः । स चाव्यक्तत्वात् ज्योतिष्टोमविकारः । अतस्ते त्रयोऽपि पशुयागाः साद्यस्के चोदकप्राप्ताः । तेषां च [1]तत्र साहित्यं श्रुतं—'सह पशूनालभेत' इति । तच्च साहित्यं सवनीयदेशे; तस्य प्रधानप्रत्यासत्तेः, स्थानातिक्रमसाम्याच्च । सवनीयदेशे ह्यनुष्ठाने क्रियमाणे अग्नीषोमीयानुबन्ध्ययोः स्वस्वस्थानातिक्रममात्रं भवति, अग्नीषोमीयदेशे ह्यनुष्ठाने क्रियमाणे सवनीयस्य स्वस्थानातिक्रममात्रम्, आनुबन्धस्य तु स्वस्थानातिक्रमः सवनीयस्थानातिक्रमश्च स्यात् । एवमानुबन्ध्यदेशेऽग्नीषोमीयस्य द्रष्टव्यः ।

पंचदिनसाध्य ज्योतिष्टोम में तीन पशुयाग हैं—अग्नीषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य। चौथे दिन में अग्नीषोमीय, पांचवें दिन में सवनीय, अवभृथ के अन्त में आनुबन्ध्य पशु का अनुष्ठान होता है। विभिन्न देशों में अनुष्ठेय ये तीनों पशु एक दिन में अनुष्ठेय साद्यस्क सोमयाग में अतिदिष्ट होते हैं क्योंकि साद्यस्क अव्यक्तयाग है। अव्यक्त शब्द का अर्थ पहले लिखा जा चुका है और यह अग्निष्टोमसंस्थाक ज्योतिष्टोम का विकृतियाग है, यह भी बतलाया जा चुका है। इन तीनों पशुयागों का सह अनुष्ठान 'सह पशूनालभते' वचन से विहित है। यह सहानुष्ठान सवनीय देश-सुत्या काल में प्राप्त है। सहनुष्ठान अर्थात् एककाल में तीनों का तन्त्र से अनुष्ठान है। तन्त्रानुष्ठान का अर्थ होता है एक ही काल में क्रमेण अनुष्ठान। अर्थात् एक याग को समाप्तकर दूसरे एवं तीसरे का अनुष्ठान करना। यहाँ सन्देह होगा कि जैसे—प्रकृति ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय, सवनीय एवं आनुबन्ध्य का क्रम होता है वैसे ही विकृति साद्यस्क में भी अनुष्ठान किया जाय अथवा दूसरे प्रकार से अनुष्ठान किया जाय। इस सन्देह के निराकरण के लिए कहते हैं—तच्च साहित्यं सवनीयदेशे। अर्थात् सोमलता का अभिषव जिस काल में होता हो उस सवनीय देश में साहित्य सहानुष्ठान है। इन प्रकारों के मानने में हेतु है—प्रधानप्रत्यासत्तेः अर्थात प्रधान सोमयाग की प्रत्यासत्ति-सामीप्य। भाव यह है कि साद्यस्क सोमयाग तीनों पशुयागों में प्रधान है। जो पशुयागों के अनुष्ठान के समनन्तर ही होता है। यहाँ पर सवनीय पशु के प्रधान सोमयाग का सामीप्य है ही। इसीप्रकार प्रकृति में अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान औपवसथ्यदिन=चतुर्थ दिन होता है। उसका अतिक्रमण करके विकृति में सवनीय दिन में अनुष्ठान, एवं आनुबन्ध्य पशु का प्रकृति में स्थान रहा अवभृथान्त, उसका अतिक्रमण कर विकृति में सवनीय दिन में अनुष्ठान, इस प्रकार इन दोनों का

---

१. तत्र साहित्यं सह पशूनालभत इति विहितम्।

तथा च सवनीयदेशे सर्वेषामनुष्ठाने कर्तव्ये सवनीयस्य प्रथममनुष्ठानम्। आश्विनग्रहणानन्तरं हि सवनीयदेशः। प्रकृतौ 'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोती' त्याश्विनग्रहणानन्तरं तस्य विहितत्वात्। तथा च साद्यस्क्रेऽप्याश्विनग्रहणे कृते सवनीय एवोपस्थितो भवतीति युक्तं तस्य स्थानात्प्रथममनुष्ठानमितरयोश्च पश्चादित्युक्तम्।

(मुख्यक्रमनिरूपणम्)

प्रधानक्रमेण योऽङ्गानां क्रम आश्रीयते स मुख्यक्रमः। येन हि क्रमेण प्रधानानि क्रियन्ते तेनैव चेत् क्रमेण तेषामङ्गान्यनुष्ठीयन्ते तदा सर्वेषामङ्गानां स्वैः प्रधानैस्तुल्यं व्यवधानं भवति, व्युत्क्रमेण त्वनुष्ठाने केषांचिदङ्गानां

अपना स्थानातिक्रमण समान बनता है। अर्थात् अग्नीषोमीय का स्वस्थान से उत्कर्ष तथा आनुबन्ध्य का स्वस्थान से अपकर्षरूपी अपने-अपने स्थान का अतिक्रमण तुल्य होता है। यह भी तीनों पशुओं के सवनीय देश में अनुष्ठान के प्रति हेतु होता है।

इस प्रकार सवनीय देश में तीनों पशुयागों के अनुष्ठान में यह क्रम सिद्ध हुआ कि प्रथम सवनीय पशु के अनन्तर अग्नीषोमीय और आनुबन्ध्य पशु का अनुष्ठान नहीं होगा। सवनीय पशु के सवनीय स्थान के मानने में हेतु देते हैं—आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति'। अश्विदेवतावाले ग्रह को ग्रहण कर तिगुनी रस्सी से यूप को परिवेष्टित कर अग्निदेवताक सवनीयपशु का याग करना चाहिए। यह साद्यस्क्र याग में अतिदेश से प्राप्त हुआ। इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि सवनीय पशु का स्थान सवनीय दिन है। अतः प्रथम सवनीय पशु का अनुष्ठान करने के पश्चात् अन्य दोनों का अनुष्ठान होता है। यह न्याय पञ्चम अध्याय में निरूपित किया गया है।

मुख्यक्रम

जहाँ प्रधानों के क्रम से अंगों का क्रम स्वीकृत किया जाता है वहाँ मुख्यक्रम होता है। जिस क्रम से प्रधान यागों का अनुष्ठान है उसी क्रम से उनके अंगों का भी अनुष्ठान हो तो अपने-अपने प्रधान के साथ अंगों का समान-व्यवधान सिद्ध होगा। यदि विपरीत क्रम से अंगों का अनुष्ठान हो तो किसी का प्रधान के साथ व्यवधान नहीं रहेगा अथवा किसी के साथ अधिक व्यवधान होगा। यह उचित नहीं। क्योंकि प्रयोगविधि अंग और प्रधान के साहित्य=असंबन्धी पदार्थों से अव्यवधान का ध्यान रखती है। एक काल में सभी का अनुष्ठान संभव न होने से अविलंबरूप प्रयोगप्राशुभाव पर ध्यान रखती हुई प्रयोगविधि पदार्थों का अनुष्ठापन

स्वैः प्रधानैरत्यन्तमव्यवधानमन्येषामत्यन्तं व्यवधानं स्यात्, तच्चायुक्तम्, प्रयोगविध्यवगतसाहित्यबाधापत्तेः, अतः प्रधानक्रमोऽप्यङ्गक्रमे हेतुः।

अत एव प्रयाजशेषेणादावाग्नेयहविषोऽभिघारणं, पश्चादैन्द्रस्य दध्नः, आग्नेययागैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यात्। अत्र हि द्वयोरभिघारणयोः स्वेन स्वेन प्रधानेन तुल्यमेकान्तरितव्यवधानं भवति, आग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोः ऐन्द्रयागहविरघभिारणेन व्यवधानात्। ऐन्द्रयागहविरभिघारणैन्द्रयागयोश्चाग्नेययागेन व्यवधानात्। अतश्चादावाग्नेयहविरभिघारणम्, तत ऐन्द्रस्य हविषः, तत आग्नेययागः, ततश्चैन्द्रो यागः, इत्येवंक्रमो मुख्यक्रमात् सिद्धो भवति।

कराती है। जितने व्यवधान के विना अनुष्ठान असंभव होता है, उतने ही व्यवधानों को प्रयोगविधि सहन करती है। विपरीत अनुष्ठान के द्वारा उत्पन्न व्यवधान के अभाव अथवा अधिक व्यवधान को वह नहीं सहती। प्रयोगविधि पदार्थों का अनुष्ठापन कराती हुई निश्चित क्रमबद्ध होकर पदार्थों का अनुष्ठान हो, इसपर विशेष ध्यान रखती है। अतः प्रधान क्रम भी अंगों के क्रम में हेतु होता है।

इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—अत एव प्रयाजशेषेणादौ आदि। पाँच प्रयाजयागों का अनुष्ठान करके प्रयाजसम्बन्धी आज्य का कुछ अंश बचाकर वेदि पर आसादित प्रधान हवियों पर उसका अभिघारण=क्षारण विहित है—'प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति'। क्षारण का क्रम क्या होगा? क्योंकि दर्श में तीन प्रधान हवि वेदि पर आसादित हैं—१—आग्नेय पुरोडाश, २—ऐन्द्र दधि तथा ३—ऐन्द्र पय। इन तीनों हवियों का अभिघारण अङ्ग है। इस अङ्ग का अनुष्ठान उस क्रम से करना होगा जिस क्रम से प्रधान हवियों का अनुष्ठान होता है। प्रधान हवियों का क्रम निश्चित है = प्रथम आग्नेय हवियाग, अनन्तर ऐन्द्र[1] दधि पयोयाग। प्रधानों के इस क्रम से प्रयाजशेषाभिधारण सर्वप्रथम आग्नेय हविष् पर होगा बादमें ऐन्द्रदधिपय पर होगा। इस प्रकार अनुष्ठान से सभी अङ्गों का तुल्य व्यवधान सिद्ध होता है। जैसे—

आग्नेय हविरभिघारण। ऐन्द्र हविरभिघारण। आग्नेय याग। ऐन्द्रयाग। इस क्रम से अनुष्ठान में आग्नेय हविरभिघारण और आग्नेय याग के बीच में ऐन्द्रहविरभिघारण एक का व्यवधान, एवं ऐन्द्रहविरभिघारण और ऐन्द्र याग के बीच में

---

१. ज्ञातव्य है कि जिस याग में द्रव्य अनेक और देवता एक हो, उसको संप्रतिपन्न देवतावाला याग कहते हैं। जितने द्रव्य होंगे उतने याग होंगे, किन्तु अग्नि में प्रक्षेप-होम सब द्रव्यों को मिलाकर एक ही होगा। अर्थात् दधि और पय को मिलाकर आहुति—एक होगी।

यदि तु आदावैन्द्रहविषोऽभिघारणं, तत आग्नेयस्य क्रियते, तदा याज्यानुवाक्यक्रमवशादादावाग्नेयस्यानुष्ठानादाग्नेययागतदङ्गहविरभिघारणयोरत्यन्तमव्यवधानम्, ऐन्द्रयागतदङ्गहविरभिघारणयोरत्यन्तं व्यवधानं स्यात्, तच्च न युक्तम्। अतो युक्तः प्रयाजशेषाभिघारणस्य मुख्यक्रमात् क्रम इति।

स चासौ मुख्यक्रमः पाठक्रमात् दुर्बलः। मुख्यक्रमो हि प्रमाणान्तरसापेक्षप्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्षतया विलम्बित[1]प्रतिपत्तिकः, पाठक्रमस्तु निरपेक्षस्वाध्यायपाठक्रममात्रसापेक्षतया न तथेति बलवान्।

अत एव आग्नेयोपांशुयाजाग्नीषोमीयाणां क्रमेणानुष्ठीयमानानामप्यु-

---

आग्नेय याग एक का व्यवधान है। इस प्रकार एक एक का व्यवधान तुल्य हो जाता है।

यदि—ऐन्द्र हविरभिघारण। आग्नेय हविरभिघारण। आग्नेय याग। ऐन्द्र याग। इस विपरीत क्रम का अवलम्बन हो तो आग्नेय हविरभिघारण और आग्नेय याग का व्यवधान ही नहीं है तथा ऐन्द्रहविरभिघारण और ऐन्द्र याग के बीच आग्नेय हविरभिघारण और आग्नेययाग ये दो व्यवधान हो जाते हैं। प्रधान यागों में आग्नेय का प्राथम्य क्यों होता है ऐन्द्रयाग का प्राथम्य क्यों नहीं होता, यह शंका नहीं हो सकती, क्योंकि मन्त्र पाठ (याज्या पुरोनुवाक्या पाठ) से प्रधान यागों का क्रम [2]निश्चित है। अतः विपरीतक्रम से अभिघारण का अनुष्ठान ठीक नहीं है। अतः सिद्ध हुआ कि प्रधान के क्रम से अङ्गों का क्रम मुख्यक्रम से होता है।

पाठक्रम से मुख्यक्रम का दौर्बल्य

मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल होता है। मुख्यक्रम, प्रधानक्रम-सापेक्ष है। प्रधान का क्रम क्या है? इसको जानने के अनन्तर ही मुख्यक्रम प्रवृत्त होगा। सापेक्ष होने से वह विलम्ब से प्रवृत्त होगा। क्योंकि मन्त्रपाठरूप प्रमाणान्तर की अपेक्षा करके प्रधानक्रम बनेगा, यह ज्ञात होने के अनन्तर अङ्गों का क्रम बनेगा। इसलिए विलम्बज्ञानसाध्य है।

इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—अत एव आग्नेयोपांशुयाज आदि। पौर्णमासी में आग्नेय पुरोडाश, उपांशुयाज, आज्य हवि एवं अग्नीषोमीय पुरोडाश इन तीनों का प्रधानक्रम नियत है। पहले कहा जा चुका है कि मन्त्रपाठक्रम से आग्नेय

---

१. प्रवृत्तिकः।

२ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.५.७ में आग्नेय याग के याज्यानुवाक्यों का पाठ है, तदनन्तर ऐन्द्र याग के याज्यानुवाक्यों का पाठ है। इस मन्त्रपाठ के क्रम से प्रधान यागों का क्रम निश्चित है।

पांशुयाजाज्यनिर्वापो मुख्यक्रमान्न पूर्वमनुष्ठीयते, तस्य दुर्बलत्वात्। पाठक्रमात्तु पश्चादनुष्ठीयते, तस्य प्रबलत्वादिति।

स चायं मुख्यक्रमः प्रवृत्तिक्रमाद्बलवान्। प्रवृत्तिक्रमे ह्याश्रीयमाणे

और अग्नीषोमीय का क्रम निश्चित है, किन्तु 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इस विधि से आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाशों के अन्तराल = मध्य में उपांशुयाज के विधान के कारण तीनों का क्रम नियत हुआ। इन तीनों का एक अङ्ग हविर्निर्वाप–यज्ञ के पर्याप्त द्रव्यों को पृथक् करना है। निर्वाप करने का मन्त्र है—'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' 'अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं निर्वपामि'। निर्वाप का अनुष्ठान किस क्रम से करना है; यह सन्देह है। क्या मुख्यक्रम से आग्नेय हविष् के निर्वाप के अनन्तर और अग्नीषोमीय हवि के निर्वाप से पूर्व उपांशुयाज का आज्य निर्वाप करना है? अथवा पाठक्रम से आग्नेय अग्नीषोमीय के निर्वाप के अनन्तर उपांशुयाज के आज्य का निर्वाप करना है? पाठक्रम से मुख्यक्रम के दुर्बल होने से आग्नेय अग्नीषोमीय निर्वाप करते हैं, बाद में आज्यनिर्वाप करते हैं।

इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाशद्रव्यक हैं। पुरोडाश का प्रकृतिद्रव्य व्रीहि या यव है। प्रकृतिद्रव्य का ही निर्वाप करना है। एक ही पात्र में आग्नेय अग्नीषोमीय का निर्वाप करके धान या यव का अवहनन किया जाता है। तण्डुल निष्पन्न हो जाने से उसको धोकर इकट्ठा पीसा जाता है। पीसे हुए आँटे का भर्जन आदि करके पुरोडाश बनाते हैं। पुरोडाश बन जाने पर उसे मन्त्र से निर्दिष्ट किया जाता है 'इदमग्नये' 'इदमग्नीषोमाभ्याम्'। निर्वाप से लेकर पुरोडाश बनाने तक जितने अङ्ग हैं वे दोनों के लिए एक साथ किये जाते हैं। आज्यनिर्वाप के विषय में ज्ञातव्य है कि जुहू, उपभृत्, और ध्रुवा इन तीन पात्रों में आज्य का ग्रहण आज्यस्थाली से स्रुव के द्वारा करना होता है। उसमें जुहू में तीन प्रयाजों के लिए, उपभृत् में अवशिष्ट दो प्रयाजों एवं अनूयाजों के लिए, ध्रुवा में सर्वयज्ञों के लिए ग्रहण किया जाता है—'सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय क्रियते यद् ध्रुवायामाज्यम्' यह उसका विधायक वाक्य है। ध्रुवा में विद्यमान आज्य से ही उपांशुयाज का अनुष्ठान होता है। उपांशुयाज के लिए ध्रुवा से आज्य को जुहू में ले लेने पर आज्यस्थाली से स्रुव द्वारा ध्रुवा में उतने आज्य को भरना पड़ता है। इसमें पुरोडाश के प्रकृतिद्रव्य व्रीहि के निर्वाप के अनन्तर आज्यनिर्वाप का पाठ इस प्रकार है—'चतुर्जुह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्' 'अष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानूयाजेभ्यस्तत्' 'चतुर्ध्रुवायां गृह्णाति सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय क्रियते यद् ध्रुवायामाज्यम्'। उपांशु याज के लिए पृथक् निर्वाप का पाठ नहीं है। अतः आज्यग्रहण ही निर्वाप है, उसका पाठव्रीहि-निर्वाप के अनन्तर है।

मुख्य क्रम का प्राबल्य

मुख्यक्रम प्रवृत्तिक्रम से बलवान् है। प्रधान के साथ अंगों के विप्रकर्ष और

बहूनामङ्गानां प्रधानविप्रकर्षो भवति, अस्मिंस्तु आश्रीयमाणे सन्निकर्षः। तद्यथा—दर्शपूर्णमासयोराद्यावाग्नेयानुष्ठानं, ततः सान्नाय्यस्य। तद्धर्माश्च केचित् पूर्वमनुष्ठीयन्ते। तत्र यदि प्रवृत्तिक्रममाश्रित्य तद्धर्माः सर्वे पूर्वमनुष्ठीयेरन्, तत आग्नेयधर्माः, तत आग्नेयानुष्ठानं, ततः सान्नाय्यानुष्ठानम्, तदा तद्धर्माणां स्वप्रधानेन सह द्वाभ्यामाग्नेयधर्मतदनुष्ठानाभ्यां विप्रकर्षः स्यात्।

यदा तु सान्नाय्यधर्माणां केषाञ्चित् पूर्वमनुष्ठानेऽपि अन्ये सर्वे मुख्यक्रममाश्रित्याग्नेयधर्मानुष्ठानानन्तरमनुष्ठीयन्ते तदा सर्वेषामाग्नेयधर्मसान्नाय्यधर्माणामेकैकेन विजातीयेन व्यवधानं भवति;—आग्नेयधर्माणां स्वप्रधानेन सह सान्नाय्यधर्मैर्व्यवधानात्, सान्नाय्यधर्माणां च स्वप्रधानेन

सन्निकर्ष को लेकर दौर्बल्य और प्राबल्य का निश्चय होता है। प्रवृत्तिक्रम के आश्रयण से विप्रकर्ष एवं मुख्यक्रम के आश्रयण से सन्निकर्ष सिद्ध होते हैं इसका उदाहरण प्रदर्शित करते हैं—तद्यथा दर्शपूर्णमासयोः आदि। बताया जा चुका है कि दर्श में आग्नेय और सांनाय्य प्रधान याग होते हैं। यह भी लिखा जा चुका है कि दधिपयोयागों का ही सांनाय्यपद से व्यवहार होता है। [1]दर्शेष्टि द्विदिन साध्य होती है। अमावास्या के दिन पलाशशाखाहरण और सायं दाह आदि कतिपय अङ्गों का अनुष्ठान होता है। तदनन्तर प्रतिपद् के दिन दर्शेष्टि होती है। प्रवृत्तिक्रम का स्वरूप आगे बतायेंगे, किन्तु यहाँ स्थूलतः उसका स्वरूप जानना आवश्यक है। अनेक प्रधानों में अनेक अङ्गों की आवृत्ति से अनुष्ठान प्राप्त होने पर प्रथम अङ्ग जिस प्रधान से आरम्भ किया गया हो उसी प्रधान से दूसरे एवं तीसरे आदि अङ्गों का अनुष्ठान करना होगा। आगे इसका विस्तृत विवरण दिया जायगा। प्रवृत्तिक्रम से अमावस्या के दिन सांनाय्य के कतिपय अङ्गों के अनुष्ठित हो जाने से दूसरे दिन में प्रथम सांनाय्य के ही अङ्गों का प्रथम अनुष्ठान किया जाता है। मुख्यक्रम के अवलंबन से प्रथम आग्नेय याग के अंगों का प्रथम, अनन्तर सान्नाय्य याग के अंगों का अनुष्ठान होगा। प्रवृत्तिक्रम से अंगों का अनुष्ठान हो तो अंगों का अपने प्रधान से विप्रकर्ष होगा। अर्थात् सर्वप्रथम सांनाय्य के अंग का पुनः आग्नेय याग के अंग का तत्पश्चात आग्नेय याग का तथा अन्त में सांनाय्ययाग का अनुष्ठान सिद्ध होता है। इसमें सान्नाय्य के अंग और सान्नाय्य याग के बीच में दो व्यवधान तथा आग्नेय के अंग और आग्नेय याग के बीच में व्यवधान का अभाव, इस प्रकार वैषम्य सिद्ध होगा। दर्श के कतिपय अंगों

---

१. ज्ञातव्य है कि प्रकृति दर्शपूर्णमासेष्टि द्विदिन साध्य होता है और जितनी विकृतीष्टियाँ हैं वे सद्यःकाल—एकदिन साध्य होती हैं।

सहागूनेयानुष्ठानेन व्यवधानात्—इति न विप्रकर्षः। तस्मात् मुख्यक्रमः प्रवृत्तिक्रमाद्बलवान्।

(प्रवृत्तिक्रमनिरूपणम्)

सह प्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु सन्निपातिनामङ्गानामावृत्त्यानुष्ठाने कर्तव्ये द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमात् यः क्रमः स प्रवृत्तिक्रमः।

का पूर्वदिन में अनुष्ठान होने पर भी दूसरे दिन मुख्यक्रम से अनुष्ठान हो तो एक-एक विजातीय पदार्थ द्वारा समानरूप से व्यवधान सिद्ध होगा। अतः विप्रकर्ष और सन्निकर्ष के कारण प्रवृत्तिक्रम से मुख्यक्रम प्रबल होता है।

प्रवृत्तिक्रम

प्रवृत्तिक्रम का निरूपण करते हैं—सहप्रयुज्यमानेषु आदि। अनेक प्रधानों का एक काल में युगपदनुष्ठान प्राप्त होने पर उनके सन्निपत्योपकारक अंगों का भी युगपदनुष्ठान प्राप्त हुआ, किन्तु वह अशक्य है क्योंकि प्रतियागीय द्रव्य में संनिपत्योपकारक अंग युगपत् कैसे किये जा सकेंगे? अतः आवृत्ति द्वारा अंगों का अनुष्ठान करना होगा। आवृत्ति भी दो प्रकार की हो सकती है—१—काण्डानुसमय से तथा २—पदार्थानुसमय से। काण्डानुसमय वह कहा जाता है जिसमें एक-एक प्रधान में जितने अंगों का अनुष्ठान प्राप्त हो उन सबको एक प्रधान में समाप्त कर दूसरे प्रधान में उनकी समाप्ति की जाती हो। पदार्थानुसमय वह होता है—जिसमें एक अंग को सभी प्रधानों में करके दूसरे अंग एवं तीसरे अंग का अनुष्ठान किया जाता हो। यह दोनों प्रकार की आवृत्ति स्थलभेद से प्रचलित है। प्रकृत में पदार्थानुसमय का ही प्रसंग है। अनेक प्रधानों में अनेक अंगों की आवृत्ति से अनुष्ठान प्राप्त होने पर प्रथम अंग को स्वेच्छा से जिस किसी प्रधान से शुरू करके सभी प्रधानों में अनुष्ठान हो जाने पर द्वितीय अंग को उसी प्रधान से शुरू करके सभी में अनुष्ठान करना चाहिए जिस प्रधान से शुरू करके प्रथम पदार्थों का अनुष्ठान हुआ है। यह प्रवृत्तिक्रम है।

उदाहरण जानने के पूर्व कतिपय पदार्थों का जानना आवश्यक है—वाजपेय याग है। जिसमें 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते' वाक्य से प्रजापति देवता एवं सत्रह पशुद्रव्यवाले याग विहित हैं। सत्रह पशुद्रव्य के यागों का देवता प्रजापति एक है। यहाँ संख्या से कर्मभेद माना गया है। प्रत्येक पशु के अंग अनेक हैं—१—उपाकरण 'प्रजापतेर्जायमानः' इत्यादि मन्त्र से प्लक्षशाखा से पशु का स्पर्श करना, २—नियोजन मन्त्रोच्चारण करते हुए पशु को यूप में बाँधना, ३—पर्यग्निकरण-ज्वालायुक्त अंगारों से आरार्ति के समान घुमाना इत्यादि अनेक अंग हैं। ये सभी सन्निपत्योपकारक हैं, प्रत्येक पशु में करना है। अब उदाहरण पर ध्यान

यथा–प्राजापत्याङ्गेषु। प्राजापत्या हि 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ती'ति वाक्येन तृतीयानिर्देशात् सेतिकर्तव्यताका एककालत्वेन विहिताः, अतस्तेषां तदङ्गानां चोपाकरणनियोजनप्रभृतीनां साहित्यं संपादनीयम्।

तत्र प्राजापत्यानां सम्प्रतिपन्नदेवताकत्वेनैकस्मिन् कालेऽनुष्ठानादुपपद्यते साहित्यम्। तदङ्गानां चैकस्मिन् कालेऽनुष्ठानमशक्यम्। न ह्यनेकेषां पशूनामुपाकरणमेकस्मिन् काले कर्तुं शक्यम्। अतस्तेषां साहित्यमव्यवधानेनानुष्ठानात् सम्पाद्यम्-एकस्योपाकरणं कृत्वाऽपरस्योपाकरणमिति। अतः प्राजापत्येषु एकं पदार्थं सर्वत्रानुष्ठाय द्वितीयः पदार्थोऽनुष्ठेयः। तत्र प्रथमपदार्थानुष्ठानं कस्माच्चित्पशोरारभ्य कर्तव्यम्। द्वितीयस्तु पदार्थो येन क्रमेण प्रथमोऽनुष्ठितः तेनैव क्रमेणानुष्ठेयः प्रयोगविध्यवगतस्य मिथोऽङ्गसाहित्यस्योपपत्तये।

दीजिए। यथा प्राजापत्येषु प्राजापत्या हि आदि। 'सप्तदशप्राजापत्यान् पशूनालभते' इस वाक्य में विहित सत्रह याग प्रजापत्य हैं। ये याग वैश्वदेवीष्टि को समाप्त करके 'प्राजापत्यैश्चरन्ति' वाक्य की तृतीयाविभक्ति के द्वारा अपने अंगों के साथ एककाल में किये जाते हैं। जहाँ तृतीया का निर्देश रहता है वहाँ तृतीया विभक्ति का प्रकृत्यर्थ करण होता है। वह करण फलजनकरूप है। फल की जनकता प्रधानमात्र में संभव नहीं किन्तु निखिल अंगों से विशिष्ट प्रधान में संभव है। इसका परिणाम यह हुआ कि अंगसहित प्रधान ही भावना की करणाकांक्षा का पूरक है, केवल प्रधानमात्र उस आकांक्षा का शमन नहीं कर सकता। इसलिए 'प्राजापत्यैः' इस तृतीया से अंगसहित पशुओं का साहित्य अवगत होता है। अर्थात् साहित्य का अन्वय साङ्गपशुओं में होता है। इसका परिणाम यह निकलेगा कि जैसे—प्रधानों का एककालानुष्ठेयत्वरूप साहित्य है वैसे ही अंगों का भी साहित्य होना चाहिए, किन्तु यह संभव नहीं है। क्योंकि प्रधान एकदेवताक है, प्रजापतिर्देवता अस्य इति प्राजापत्यः, प्रजापत्यश्च प्राजापत्यश्च ऐसा सत्रह बार कहकर द्वन्द्व से साहित्य मानना पड़ता है! क्योंकि संख्या से यागभेद माना गया है। अर्थात् सत्रह द्रव्यदेवता संबन्ध होने से सत्रह याग होते हैं। एक-एक याग के अंग भिन्न हैं। अतः अंगों का युगपद् अनुष्ठान नहीं हो सकता। इसलिए अविलंबरूप प्रयोगप्राशुभाव में पर्यवासान होगा। इस प्राशुभाव की सिद्धि के लिए प्रथम अंग के उपाकरण को किसी पशु से आरंभ कर सकते हैं, किन्तु द्वितीय अंग नियोजन का पहले अंग के समान आरंभकर अनुष्ठान करना चाहिए। इसी विषय का प्रतिपादक ग्रन्थ है—तत्र प्राजापत्यानाम् आदि। मूल ग्रन्थ स्पष्ट है।

प्रयोगविधिना हि दैक्षे तदङ्गानामुपाकरणनियोजनादीनां मिथः साहित्यमानन्तर्यापरपर्यायं विहितम्। तच्च साहित्यं सवनीयपशौ चोदकेन प्राप्तम्, तस्य प्राणिद्रव्यकत्वेन दैक्षविकृतित्वात्। सवनीयाच्चैकादशिनेषु प्राप्तम्, सुत्याकालत्वसामान्यात्। तेभ्यश्च प्राजापत्येषु प्राप्तम्, गणत्वसामान्यात्।

प्राजापत्येषु च प्रतिपशु यागभेदाच्चोदका भिद्यन्ते। अतश्चोदकात्तत्तत्पश्वङ्गभूतानामुपाकरणनियोजनादीनां साहित्यमानन्तर्यापरपर्यायं प्राप्तम्। अत एकस्य पशोरुपाकरणानन्तरमेव नियोजनं चोदकबलात् कर्तव्यत्वेन प्राप्तम्। तत्तु न क्रियते, प्रत्यक्षवचनावगतसर्वपश्वङ्गसाहित्यानुपपत्तेः। अत एकस्मिन् पशावुपाकरणे कृते तदनन्तरमेव कर्तव्यत्वेन प्राप्तमपि नियोजनं न क्रियते। प्रत्यक्षवचनबलात्तु पश्वन्तरेषु षोडशसु उपाकरणमेव क्रियते। कृते तु तेषूपाकरणे प्रथमपशोर्नियोजनस्य तदीयोपाकरणेन व्यवधाने प्रमाणाभावात् प्रथमपशावेव नियोजनं कार्यम्। अतश्च येन क्रमेणोपाकरणं कृतं तेनैव क्रमेण नियोजनं कार्यम्।

उपाकरण नियोजन आदि अंगों की प्राप्ति के प्रकारों को कह रहे हैं—प्रयोगविधिना हि दैक्षे आदि। दैक्ष पशु-अग्नीषोमीय पशु में उसके अंगों का उपाकरण, नियोजन आदि का क्रम से विधान है। उसी से उनका आनन्तर्यरूप साहित्य सिद्ध होता है। यह अंगों का साहित्य अतिदेश के द्वारा सवनीय पशु में प्राप्त होता है, दोनों का प्राणिद्रव्यकत्वसादृश्य है सादृश्य से ही प्रकृति का निश्चय करके अतिदेश करना पड़ता है। सवनीय पशु और ऐकादशिन पशुओं के सुत्याकालानुष्ठेयत्वरूप सादृश्य होने के कारण सवनीय पशु के विकृति याग ऐकादशिन पशु माने जाते हैं। 'आग्नेयः कृष्णग्रीवः' आदि वाक्यों से विहित ग्यारह पशुयागों को ऐकादशिन कहते हैं। ऐकादशिन और प्राजापत्य पशुओं का गणत्वसादृश्य है। अतः प्राजापत्य पशुयाग ऐकादशिन पशुयाग का विकृतियाग है। इस प्रकार प्रकृति-विकृतिभाव अधिक सादृश्य को लेकर माना जाता है। प्रत्येक याग में प्राजापत्य पशुयागों के अतिदेश भिन्न-भिन्न होते हैं क्योंकि यागभेद माना गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एक पशु के उपाकरण करने के अनन्तर द्वितीय अंग के नियोजन के प्राप्त होने पर भी उसका अनुष्ठान नहीं किया जाता है। 'प्राजापत्यैश्चरन्ति' इस प्रत्यक्षवचन से प्रधानों के समान अंगों और प्रधानों का भी साहित्य अवगत होता है। इस प्रकार एक क्षण में अंगों के भी युगपद् अनुष्ठान की प्राप्ति होती है तो जिस प्रधान में उपाकरण किया गया उसी क्षण में दूसरा प्रधान भी अपने उपाकरण की अपेक्षा रखेगा, किन्तु वैसा अनुष्ठान अशक्य है। अतः बचे हुए सोलह पशुओं

एवञ्च तत्तत्पशूपाकरणानां स्वस्वनियोजनैस्तुल्यं षोडशक्षणैर्व्यवधानं भवति। अन्यथा केषांचिदत्यन्तव्यवधानं केषांचिच्चाव्यवधानं स्यात् तच्च न युक्तम्। तस्मात् येन क्रमेण प्रथमपदार्थोऽनुष्ठितस्तेनैव द्वितीयोऽनुष्ठेयः ततिसद्धं प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमात् यो द्वितीयपदार्थक्रमः स प्रवृत्तिक्रम इति।

तदेवं निरूपितः संक्षेपतः षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिव्यापारः।

(अधिकारविधिनिरूपणम्)

फलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। फलस्वाम्यं च कर्मजन्यफलभोक्तृत्वम्। स च 'यजेत स्वर्गकाम' इत्येवंरूपः। अनेन हि स्वर्गमुद्दिश्य

में उपाकरण किया जाता है। अनन्तर द्वितीय नियोजनरूप अंग के उपाकरण का अनुष्ठान जिस प्रकार से हुआ उसी प्रकार से करना चाहिए, इससे सभी का समान-व्यवधान सिद्ध होगा। अर्थात् उपाकरण और नियोजन के बीच सोलह क्षण का व्यवधान एवं नियोजन और पर्यग्निकरण के बीच सोलह क्षण का व्यवधान समान-रूप से सिद्ध होता है। इस क्रम से अनुष्ठान न होने पर व्यवधानों में प्रवृत्तक्रम संनिकर्ष की आपत्ति आ जायेगी। अतः जिस क्रम से प्रथम अङ्ग का अनुष्ठान हुआ है उसी क्रम से दूसरे एवं तीसरे आदि अङ्गों का अनुष्ठान ही प्रवृत्तक्रम है। प्रयोग विधि का उपसंहार ग्रन्थ है—तदेवं निरूपितः आदि।

अधिकारविधि

क्रमप्राप्त अधिकारविधि का निरूपणपरक ग्रन्थ है—फलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। स्वर्ग आदि फलस्वामिता की बोध करनेवाली विधि को अधिकारविधि कहते हैं। कर्म से उत्पन्न फल को भोगनेवाले को फलस्वामी कहते हैं और उसके धर्म को फलस्वाम्य-स्वामिता कहते हैं। जो व्यक्ति जिस फल को चाहता है वह उसके साधन याग आदि का अधिकारी कहलाता है। उस अधिकार का बोधन करनेवाली विधि अधिकारविधि है। उसका परिचायक वाक्य है 'यजेत स्वर्गकामः' 'यजेत पुत्रकामः' आदि। ये वाक्य स्वर्ग, पुत्र आदि फल को उद्देश्य करके याग का विधान करते हुए तत्तत्फलाभिलाषी की स्वामिता को बतलाते हैं।

इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि—प्रकृत वाक्यों में स्वर्गकामः, पुत्रकामः आदि पद हैं। ये स्वर्ग और पुत्र आदि फल की अभिलाषा रखनेवाले पुरुषों के अभिधायक हैं, उद्देश्यरूप स्वर्ग के अभिधायक नहीं हैं। ऐसी स्थिति में स्वर्ग आदि फल को उद्देश्य कर याग का विधान कैसे संभव है? यह प्रश्न उठता है। इसके समाधान में यह चिन्तन करना चाहिए कि 'यजेत' यह विधि पुरुषप्रवर्तक-पुरुष-

यागं विदधता स्वर्गकामस्य यागजन्यफलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते।

'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपे'दित्यादिभिस्तु गृहदाहादौ निमित्ते कर्म विदधद्भिर्निमित्तवतः

प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार की बोधिका है। पुरुष उसी में प्रवृत्त होगा जिसमें स्वार्थबुद्धि रखता है। इस प्रकार के पुरुष को प्रवृत्त करानेवाली विधि, भावना से भाव्य-साध्य उसी को मानती है जो पुरुष के द्वारा अभिलषित हो। अतः स्वर्ग, पुत्र तथा पशु आदि फल पुरुष के विशेषण होते हैं। इन विशेषणों से विशिष्ट पुरुष के अभिधायक हैं—स्वर्गकामः, पुत्रकामः और पशुकामः आदि। इस प्रकार ये पद विशेषणविशिष्ट पुरुष के वाचक होते हुए भी विधिबल से विशेषणमात्रपरक होंगे। क्योंकि 'यजेत' के आख्यात के द्वारा कर्त्ता का आक्षेप भावना करती है, अतः विशेषणफलमात्र को भाव्य के रूप में ग्रहण करेगी। यही स्वर्गकामाधिकारसिद्ध न्याय है। यह न्याय पूर्वोक्त आशय का ही बोधक है—यागं विदधता स्वर्गकास्य आदि।

काम्यकर्मों में यह पद्धति ठीक है क्योंकि वहाँ स्वर्गकास आदि पद हैं। जो जिस फल की अभिलाषा रखता है वह उसकी प्राप्ति के लिए उस कर्म का अधिकारी बन जाता है। किन्तु नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों में क्या व्यवस्था होगी? क्योंकि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत्' इत्यादि नित्यनैमित्तिक विधायक वाक्यों में फलबोधक पद नहीं है। अतः उनके न होने से विधि के प्रवर्तकत्व की व्यवस्था कैसे होगी? इस प्रश्न का समाधान करने का उपक्रमग्रन्थ है—यस्याहिताग्नेरग्निः इत्यादि। आधान से संस्कृत अग्निमान् को आहिताग्नि कहते हैं। जिस आहिताग्नि के गृहों का अग्नि दाह कर दे तो वह यजमान क्षामवद्गुणवाला, अग्नि देवतावाला तथा पुरोडाश द्रव्यवाला याग करे। यहाँ भी आख्यातवाच्य भावना का स्वभाव इष्टफल को भाव्य बनाना है। अतः नैमित्तिक स्थल में भी कुछ फल होना चाहिए। वह फल विश्वजिन्न्याय से स्वर्ग नहीं हो सकता। गृहदाह इस इष्टि का निमित्त अर्थात् उद्देश्य है। यहाँ एक निमित्त के साथ विश्वजिन्न्याय से कल्पित स्वर्ग भी उद्देश्य है। एक वाक्य में दो उद्देश्य मानने से वाक्यभेद होता है। क्योंकि प्रत्येक उद्देश्य के साथ एक विधेय का संबन्ध वाक्यभेद का आपादक होता है। अतः विश्वजिन्न्याय से फलकल्पना उचित नहीं है। यदि यजमान मुमुक्षु होगा तो स्वर्ग आदि फल को स्वयं नहीं चाहेगा। उसके लिए वह फल अनिष्ट है। अतः वहाँ विश्वजिन्न्याय प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि विश्वजिन्न्याय की प्रवृत्ति वहाँ होती है जहाँ किसी प्रकार के फल की प्राप्ति की संभावना न हो। अतः रात्रिसत्रन्याय से 'धर्मेण पापमपनुदति' इस अर्थवाद से बोधित पापक्षय को फल के रूप में मान सकते हैं। इस स्थिति में निमित्त और फल दो उद्देश्यों के संबन्ध से वाक्यभेद की शंका होगी। किन्तु उसका

कर्मजन्यपापक्षयरूपफलस्वाम्यं प्रतिपाद्यते ।

तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव योऽधिकारिविशेषणविशिष्टः। अधिकारिविशेषणं च तदेव यत्पुरुषविशेषणत्वेन श्रुतम् । अत एव 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इत्यनेन स्वाराज्यमुद्दिश्य राजसूयं विदधतापि न स्वाराज्यकाममात्रस्य तत्फलभोक्तृत्वं प्रतिपाद्यते, किं तु राज्ञः सतस्तत्कामस्य ।

किंचित्तु पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतमप्यधिकारिविशेषणं भवति । यथा—अध्ययनविधिसिद्धा विद्या, अग्निसाध्येषु च कर्मसु आधानसिद्धाग्निमत्ता,

---

परिहार इस प्रकार हो सकता है कि दो उद्देश्यों से विधेय के संवन्ध होने पर विधि की आवृत्ति करने पर वाक्यभेद होता है। लेकिन विधेय कर्म के फल के साथ संवन्ध एवं कर्म की कर्तव्यता का निमित्त के साथ संबन्ध यहाँ है। इस प्रकार यहाँ फल और निमित्त के साथ एक विधेय का संवन्ध नहीं है। अतः वाक्यभेद का आपादन नहीं हो सकता। इसी आशय को वार्तिककार कहते हैं—

द्वाभ्यां विधेयसंवन्धे वाक्यभेदः प्रसज्यते ।
उद्देश्येन निमित्तेन विधेयस्य न संगतिः ।।

अतः नित्य और नैमित्तिक स्थलों में इन कर्मों के द्वारा उत्पन्न पापक्षयरूप फलस्वामिता का प्रतिपादन है। काम्य कर्मों के समान नित्य और नैमित्तिक कर्मों में भी यदि फलस्वामिता का प्रतिपादन है तव काम्य कर्मों से उनका भेद क्या होगा ? इसका समाधान है—काम्य कर्मों में जो जिस फल की कामना करता है, वह उस कर्म को करता है, और उस कामना से रहित व्यक्ति उस फलवाले कर्म को नहीं करता है। न करनेवाले को इससे कोई दोष नहीं लगता। नित्य-नैमित्तिकर्मों में ऐसा नहीं, इन नित्य-नैमित्तिक कर्मों को न करने पर प्रत्यवाय लगता ही है। यही काम्य तथा नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों में परस्पर भेद है।

कर्मों से उत्पन्न फलस्वामितामात्र से अधिकार का यदि निर्णय किया जाता है तो अधिकार का सांकर्य हो जायगा। अर्थात् ब्राह्मण के कर्मों में क्षत्रिय के कर्म का तथा क्षत्रिय के कर्मों में ब्राह्मण के कर्म का सांकर्य प्राप्त होगा। अतः कहते हैं— तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव आदि। फलस्वामिता उसी की मानी जायगी जो अधिकारी के विशेषणों से विशिष्ट है। अधिकारी पुरुष-कर्ता उसके विशेषणों से विशिष्ट है तो उसमें फलस्वामिता होगी। जैसे—'राजा राजसूयेन' में कर्ता पुरुष का विशेषण 'राजा' है। अवेष्ट्यधिकरणन्याय से 'राजा' शब्द का अर्थ क्षत्रिय है। क्षत्रिय होकर स्वाराज्यफल की कामना करता हो तो वह राजसूय में अधिकारी होगा। अन्य ब्राह्मण या वैश्य अधिकारी नहीं होंगे।

अधिकारी के कुछ ऐसे भी विशेषण हैं जो पुरुष के विशेषण नहीं है। उन विशेषणों को प्रदर्शित करते हैं—यथा अध्ययनविधिसिद्धा विद्या आदि। अध्य-

सामर्थ्यं च। एतेषां पुरुषविशेषणत्वेनाश्रवणेऽप्यधिकारिविशेषणत्वमस्त्येव। उत्तरक्रतुविधीनां ज्ञानाक्षेपशक्तेरभावेनाध्ययनविधिसिद्धज्ञानवन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः। अग्निसाध्यकर्मणां चाग्न्यपेक्षत्वेन तद्विधीनामाधानसिद्धाग्निमन्तं प्रत्येव प्रवृत्तेः।

अत एव च शूद्रस्य न यागादावधिकारः। तस्याध्ययनविधिसिद्धज्ञानाभावात्, आधानसिद्धाग्न्यभावाच्च, अध्ययनस्योपनीताधिकारत्वादुपनयनस्य

यनविधि का स्वरूप पूर्व बताया जा चुका है। वेदवाक्यों का यथावद् अर्थ जानना ही विद्या शब्द से कहा जाता है। ब्राह्मणभाग के अर्थज्ञान के बिना कर्मस्वरूप अवगत नहीं होगा, एवं मन्त्रों के अर्थज्ञान के बिना कर्म का प्रयोग-अनुष्ठान ठीक ढंग से नहीं होगा। कर्म और उसके प्रयोग के ज्ञान के लिए अध्ययनविधि से सिद्ध विद्या की आवश्यकता है। अतः इस प्रकार का विद्यावान् कर्म का अधिकारी होगा। अधिकारी का दूसरा विशेषण है—आधानसिद्धाग्निमत्ता। श्रौतकर्म जितने होते हैं वे सभी अग्निसाध्य होते हैं। यह अग्नि साधारण लौकिक अग्नि नहीं है किन्तु 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्यादि विधियों से विहित आधान संस्कार के द्वारा सिद्ध अलौकिक अग्नि है। अतः अलौकिक अग्निमत्ता भी अधिकारी का विशेषण है। अधिकारी का तीसरा विशेषण है—सामर्थ्य। अध्ययनविधि से सिद्ध विद्या, आधानविधि से सिद्ध अग्निमत्ता और सामर्थ्य ये तीनों पुरुषविशेषण के रूप में श्रुत न होते हुए भी अधिकारी के विशेषण हैं। इनके विशेषण होने में हेतु दिखलाते हैं—उत्तरक्रतुविधीनाम् आदि। आधान के अनन्तर अनुष्ठान करने के लिए विहित दर्शपूर्णमास ज्योतिष्टोम और इनके विकृतिकर्मों का विधान जिन विधियों के द्वारा होता है वे उत्तरक्रतु[1]विधियाँ कहलाती हैं। ये विधियाँ क्रतुओं के अनुष्ठान के लिये उन अधिकारियों की अपेक्षा करती हैं जो सांगोपाङ्ग क्रतु के पदार्थों का ज्ञान रखते हों, लेकिन उस प्रकार के ज्ञान का आक्षेप न करती हुई अध्ययनविधि से सिद्ध ज्ञानवान् को लेकर प्रवृत्त हो जाती हैं। इसी तरह आधानविधि सिद्ध अग्निमान् अधिकारी को प्राप्त कर चरितार्थ हो जाती है। इस प्रकार विद्यावान् और अग्निमान् अधिकारी के लाभ से शूद्रों को क्रतुओं में अधिकार नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि वहाँ अध्ययनविधि से सिद्ध ज्ञान एवं आधानविधि से सिद्ध अग्नि नहीं है। उनके ज्ञान और अग्नि के अभाव में हेतु है—अध्ययनस्योपनीताधिकारत्वात् उपनयन संस्कार से संस्कृत व्यक्तियों का

---

१. ज्ञातव्य है—क्रतु एवं यज्ञ शब्द प्रयुक्त होते हैं। इनका भेद यह है कि देवता को उद्देश्य कर हवि का त्यागमात्र यज्ञ कहा जाता है और अंगोपांगसहित समग्र कर्म को क्रतु कहा जाता है। देखो तै० सं० सायणभाष्य ३।१।७

चा'ष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीते' त्यादिना त्रैवर्णिकाधिकारत्वात्। आधानस्यापि 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्यादिना त्रैवर्णिकाधिकारत्वात्।

यद्यपि च 'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीते' त्यनेन रथकारस्य सौधन्वनापरपर्यायस्याधानं विहितम्, योगाद्रूढेर्बलीयस्त्वात्, तथापि नास्योत्तरकर्मस्वधिकारः, अध्ययनविधिसिद्धज्ञानाभावात्।

न च तदभावे आधानेऽपि कथमधिकारः, तदनुष्ठानस्य तत्साध्यत्वादिति वाच्यम्; तस्याध्ययनविधिसिद्धज्ञानाभावेऽपि 'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत' इत्यनेनैव विधिनाऽऽधानमात्रौपयिकज्ञानाक्षेपणात्। अन्यथा एत-

---

ही अध्ययन में अधिकार वेदविहित है। इसी प्रकार उपनीत त्रैवर्णिकों के लिए ही आधान विहित है। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत', 'एकादशवर्षं राजन्यम्', द्वादशवर्षं वैश्यम्' एवं 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत', 'ग्रीष्मे राजन्यः', 'शरदि वैश्यः' वेदों के इन अनुशासन से उपनयन और आधान तीन वर्णों के लिए विहित हैं। अतः उपनीत होकर अध्ययनविधि से सिद्ध ज्ञान एवं आधानविधि से सिद्ध अग्नि के अभाव से इन क्रतुओं में शूद्र का अधिकार सिद्ध नहीं होता।

इस संदर्भ में शंका का उपस्थापन कर निराकरण करते हैं—यद्यपि च आदि। शंका का सार यह है कि वेदों में त्रैवर्णिक से अन्य का भी श्रौत कर्म में अधिकार देखा जाता है। 'वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत' इस वाक्य से रथकार का अग्नि के आधान में अधिकार कहा गया है। 'सुधन्वाचार्य एवञ्च' इत्यादि प्रमाण से रथकार शब्द त्रैवर्णिकों से इतरमें रूढ़ है। रूढ़ क्यों माना जाता है? 'रथं करोति' इस व्युत्पत्ति से जो लकड़ी का काम करते हैं उनमें जो त्रैवणिक हों उन्हीं में रथकारशब्द का यौगिक अर्थ माना जाय। त्रवर्णिकों में जो इस प्रकार कार्य को करता है उसके लिए आधान का यह काल विधायक बन जा सकता है। आपस्तबाचार्य के 'ये त्रयाणां वर्णानामेतत्कर्म कुर्वन्ति तेषामेष कालः' इस वचन से त्रैवर्णिक ही आधान में अधिकृत है यह विदित होता है। अतः यौगिक मानकर त्रैवर्णिकों में ही रथकार को मानना चाहिए, चतुर्थवर्ण शूद्र में नहीं। इसका समाधान है—योगाद्रूढेर्बलीयस्त्वात्। अतः जाति विशेष में रथकार शब्द रूढ है। इस विधि बल से शूद्र का इस कार्य में अधिकार होते हुए भी आगे के दर्शपूर्णमास आदि कर्मों में अधिकार नहीं माना जाता है क्योंकि शूद्रों की अध्ययनविधि सिद्धविद्या नहीं है। पुनः प्रश्न होता है कि यदि शूद्र का अध्ययनविधि सिद्धज्ञान नहीं है तो वर्षाकाल के इस आधान में अधिकार कैसे माना जाता है? इस आधान का भी अनुष्ठान ज्ञानसाध्य ही है। ज्ञान के बिना इसका अनुष्ठान कैसे होगा? इस प्रश्न का उत्तर है कि इस विधि की उपपत्ति के लिए आधान मात्र करने से ज्ञान का आक्षेप किया

स्यैव विधेरनुपपत्तेः। अतश्च रथकारस्याधानमात्रेऽधिकारेऽपि नोत्तरकर्मस्वधिकारः, विद्याभावात्।

एवञ्च तदाधानं नाग्निसंस्कारार्थम्। संस्कृतानामग्नीनामुत्तरत्रोपयोगाभावात्, किं तु तदाधानं लौकिकाग्निगुणकं विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गफलकञ्च स्वतन्त्रमेव प्रधानकर्म विधीयते। अग्नीनिति च द्वितीया 'सक्तून् जुहोती'तिवत्तृतीयार्था इति।

जाता है, अन्यथा यह विधि अनर्थक हो जायगी। अतः आधानमात्र में रथकार का अधिकार हैं और उत्तर के क्रतुओं में नहीं है।

त्रैवर्णिकों का आधान संस्कारकर्म-गुण कर्म है। अर्थात् आधान से संस्कृत होकर अग्नि आगे किये जानेवाले क्रतुओं में उपयोगी होती हैं। यह उपयोक्ष्यमाण संस्कार कर्म है, रथकार द्वारा अनुष्ठित आधान, संस्कार कर्म नहीं है, इनका उपयोग आगे नहीं होता। अतः यह आधान-प्रधान कर्म है यही कहा जाता है—एवञ्च तदाधानं आदि। विश्वजिन्न्याय से आक्षेप करके स्वर्ग को फल मानने पर स्वतन्त्र कर्म होने से अर्थात् क्रिया ईप्सित न होने से 'अग्नीन्' इस पद में द्वितीया की उपपत्ति कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थ है—अग्नीनिति च द्वितीया। इस संबन्ध में ज्ञातव्य है कि 'कर्मणि द्वितीया' यह अनुशासन कर्मत्वरूप अर्थ में द्वितीया का विधान करता है। कर्मत्व ईप्सित और अनीप्सित दो प्रकार के होते हैं। इन दोनों में रहनेवाले कर्मत्व का अनुगत साधारणधर्म क्रियाव्याप्यत्वरूप माना गया है। इसलिए जहाँ ईप्सित अथवा अनीप्सित कर्म हो वहाँ कोई न कोई क्रिया रहेगी ही। अतः उभयसाधारण्य से क्रियाव्याप्यत्वरूप कर्मत्व को मानने से लाघव है। ईप्सितत्व और अनीप्सितत्व का भेद इस रूप से माना जाता है कि प्रमाणान्तर से कर्मत्वाश्रयत्व के प्रमित-ज्ञान होने पर वह ईप्सिततम होता है, और प्रमाणान्तर से कर्माश्रयत्व के प्रमित ज्ञान न होने पर वह अनीप्सित होता है। जैसे—'व्रीहीन् प्रोक्षति' में प्रोक्षण-कर्मत्व व्रीहियों में है क्योंकि कर्मत्व का आश्रय व्रीहियाँ है यह 'व्रीहिभिर्यजेत' से प्रमित है। अतः व्रीहियों के ईप्सिततम होने से भावना में भाव्यत्वेन अन्वय हो जाता है। तब 'व्रीहिभाव्य का प्रोक्षणकरणिका भावना' यह बोध निष्पन्न होता है। इस प्रकार 'सक्तून् जुहोति' में कर्मत्वाश्रय सक्तु है, यह प्रमाणान्तर से 'व्रीहिभिर्यजेत' के समान प्रमित नहीं है। अतः भावना का भाव्य न होकर जुहोतिधात्वर्थ में अन्वित होने के लिए द्वितीया करणत्वलक्षिका बन जाती है—'सक्तुभिः जुहोति'। इसी का ग्रन्थकार ने निर्देश किया—अग्नीनिति च द्वितीया सक्तून् जुहोतीतिवत्तृतीयार्था। इतने विचार से सिद्ध हुआ कि रथकार के आधानविधायक वाक्य में 'अग्नीन्' यह द्वितीया सक्तुन्याय से तृतीयार्था है 'अग्निभिरादधाति'। इस आधानमात्र से

प्रकृतमनुसरामः। तत्सिद्धं—शूद्रस्याध्ययनविधिसिद्धज्ञानाभावादाधानसिद्धाग्न्यभावाच्च नोत्तरकर्मस्वधिकार इति।

नन्वेवं स्त्रिया अधिकारो न स्यात्। तस्या अध्ययनप्रतिषेधेन तद्विधिसिद्धज्ञानाभावात्। न च नास्त्येवेति वाच्यम्। 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादौ स्वर्गकामपदस्योद्देश्यसमर्पकत्वेन पुंस्त्वस्योद्देश्यविशेषणत्वाद् ग्रहैकत्ववदविवक्षितत्वेन स्त्रिया अधिकारस्य साधितत्वादिति चेत् सत्यम्। अधिकारः साधितो, न तु स्वातन्त्र्येण, 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हती' त्यादिना तस्य निषिद्ध-

---

रथकार स्वर्गफल को प्राप्त कर सकता है। अतः यह प्रधान कर्म है और अध्ययनविधि से सिद्धविद्या न होने से रथकार का उत्तर क्रतुओं में अधिकार नहीं माना जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि अध्ययन-विधि से सिद्ध विद्या एवं आधानविधि से सिद्ध अग्नि न होने से शूद्र का क्रतुओं में अधिकार नहीं है।

इस न्याय से प्रश्न उठता है कि स्त्रियों का क्रतुओं में अधिकार नहीं होगा। क्योंकि उनका भी वेदाध्ययन के लिए 'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेताम्' इस वाक्य से प्रतिषेध है। अतः स्त्रियों की अध्ययनविधि सिद्धज्ञान नहीं है। स्त्रियों का क्रतुओं में अधिकार न माना जाय यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि 'यजेत स्वर्गकामः' वाक्य में 'स्वर्गकामः' इस उद्देश्यसमर्पक पद के द्वारा अवगत पुंस्त्वलिंग की अविवक्षा ग्रहैकत्वाधिकरण न्याय से माननी पड़ती है। ग्रहैकत्वाधिकरणन्याय पूर्व बताया जा चुका है। जैसे—'ग्रहं' यह उद्देश्यसमर्पक होने से ग्रह में विद्यमान एकत्व और पुंस्त्व विशेषण की अविवक्षा मानी जाती है, वैसे ही 'स्वर्गकामः' में विद्यमान पुंस्त्व की अविवक्षा हो जाने पर स्त्रियों का अधिकार तो षष्ठ अध्याय के न्याय से सिद्ध हो जाता है, किन्तु ज्ञान का साधन अध्ययनविधि सिद्ध विद्या, एवं आधानसाध्य अग्नि इन दोनों के अभाव में अधिकार कैसे सफल होगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—सत्यम् अधिकारस्साधितः आदि। समाधान का भाव है कि स्त्रियों का क्रतुओं में अधिकार है किन्तु स्वतन्त्रता से अधिकार नहीं माना जाता है। क्योंकि 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' इस मनु की उक्ति से स्वतन्त्रता का निषेध है। यह निषेध स्त्रियों के रक्षण के निमित्त प्रवृत्त हुआ। मनु से पूर्व और उत्तर के वचनों को देखने से यह प्रकरण स्त्रीरक्षणपरक सिद्ध होता है, क्योंकि—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैस्स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥

इस अंश से विदित होता है कि जो स्त्रियाँ स्वतन्त्रता से सांसारिक विषयों में प्रवृत्त होती हैं उनके निषेध के लिए ही प्रकरण प्रवृत्त हुआ है। अतः यह निषेध कर्मपरक नहीं है। कर्मों में उनका अधिकार है ही किन्तु स्वतन्त्रता से नहीं है। अर्थात् पति के बिना आधान आदि करती हुई दर्शपूर्णमास आदि क्रतुओं को नहीं कर

त्वात्, स्वतन्त्र्येण कर्तृत्वे प्रयोगद्वयस्यापि वैगुण्यापत्तेश्च । [1]यजमानकर्तृक-प्रयोगे पत्नीकर्तृकाज्यावेक्षणादिलोपात्, पत्नीप्रयोगे च यजमानकर्तृकाज्या-वेक्षणादिलोपात् । अतो दम्पत्योः सहाधिकारः । सहाधिकारत्वे च यजमान-विद्ययैव पत्न्या अपि कार्यसिद्धेर्न ज्ञानं विना तस्या अधिकारानुपपत्तिः ।

'पाणिग्रहणात्तु सहत्वं कर्मसु, तथा पुण्यफलेषु' इति वचनेन स्त्रिया

सकती । इसका कारण बतलाते हैं—स्वातन्त्र्येण कर्तृत्वे आदि । श्रौतकर्म जितने हैं उन सबों में पति और पत्नी उभयकर्तृक अंग होते हैं । एक अंग भी यदि विहीन होगा तो सम्पूर्ण कर्म विगुण हो जायँगे । यदि पति के बिना स्वतन्त्र होकर पत्नी दर्शपूर्णमास में प्रवृत्त होती है तो पतिकर्तृक अंग से वह कर्म विहीन होगा, इसी प्रकार पतिकर्तृक स्वतन्त्र कर्म में पत्नीकर्तृक अंग से विहीन होगा । इस प्रकार अंग के विहीन होने से दोनों के प्रयोग विगुण हो जायँगे तथा कर्मों का अनुष्ठान व्यर्थ होगा । दर्शपूर्णमास में आज्यावेक्षण एक अंग है । इसको पति और पत्नी अलग-अलग करें, ऐसा विधान है । इस अंग से दोनों का प्रयोग विगुण होगा, इसलिये दोनों का सहाधिकार है । पत्नी के बिना पति और पति के बिना पत्नी अग्निसिद्धि के ही अधिकारी नहीं बन सकते हैं तो उत्तर क्रतुओं के अनुष्ठान में अधिकार कैसे बनेगा । अतः जब पति और पत्नी का सहाधिकार मान लेते हैं तब पति की विद्या से ही पत्नी भी विद्यावती हो जाती है और पति की अग्नि से ही पत्नी भी अग्निमती समझी जाती है । इसलिए कर्म में स्त्रियों के लिए अधिकार मानना शास्त्रसंगत है ।

इसका अर्थ यह नहीं है कि आज्य के अवेक्षण आदि कतिपय निर्दिष्ट अंगों में ही स्त्रियों का अधिकार है और कर्मों में नहीं; किन्तु सभी कर्मों में आपस्तंबाचार अधिकार दिखलाते हैं—पाणिग्रहणात्तु सहत्वं कर्मसु तथा पुण्यफलेषु । इस[2] आपस्तंबवचन में 'कर्मसु' कहा है । अतः यह वैतानिक अग्नियों से साध्य सभी कर्मों का परिचायक है, केवल आज्यावेक्षण आदि कतिपय अगों का ही नहीं । इसी प्रकार 'पुण्यफलेषु' यह वाक्य स्पष्ट कहता है कि कर्म से उत्पन्न फलभोक्तृत्व में स्त्रियों का भी सहभाव है । यह फलभोक्तृत्व स्त्रियों के अधिकार के बिना नहीं हो सकता है । इतना ही नहीं, पति की विद्या से ही पत्नी भी विद्यावती मानी जाती है । इनके लिए विद्या का आक्षेप भी नहीं करना पड़ता है । जैसे—रथकार का विधि के बल से आधान तक का ज्ञान आक्षिप्त होता है, वैसे स्त्रियों के विषय में

---

१. यजमानप्रयोगे

२. ज्ञातव्य है कि 'शेषं सर्ववर्णेभ्यः स्त्रीभ्यः प्रतीयेत' इस प्रकार अपने धर्मसूत्र में कहते हुए आपस्तंबाचार्य स्त्रियो के ज्ञान के विषय में बहुत उदार हैं ।

अधिकारनिर्णयाच्च निषादस्थपतेरिवाध्ययनविधिसिद्धज्ञानविरहिणोऽपि 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्' इति वचनान्निषादेष्टयाम्।

निषादस्थपतिशब्दे हि निषादं स्थपतिं चेति कर्मधारयो न तु निषादानां स्थपतिरिति षष्ठीतत्पुरुषः, षष्ठयर्थे लक्षणापत्तेः। एतावांस्तु विशेषः—निषादस्याध्ययनसिद्धज्ञानाभावेन एतस्यैव विधेस्तत्कर्मौपयिकज्ञानाक्षेपकत्वम्। पत्न्यास्तु तादृशज्ञानाभावेऽपि यजमानेन सहाधिकारात्तस्य च तादृशज्ञानवत्त्वात्तेनैव च तस्याः कार्यसिद्धेर्नोत्तरक्रतुविधीनां ज्ञानाक्षेपकत्वम्।

ये तु पत्नीमात्रकर्तृकाः पदार्थाः आज्यावेक्षणादयस्ते ज्ञानं विनाऽश-

---

आक्षेप भी नहीं करता पड़ता। इसी में दृष्टान्त देते हैं—निषादस्थपतेरिव आदि। निषादस्थपति त्रैवर्णिक नहीं, तदतिरिक्त ही होता है। ब्राह्मण के द्वारा एक इष्टि करायी जाती है जिसे निषादस्थपतीष्टि कहते हैं। इस इष्टि के विधान के बल से निषादस्थपति का अधिकार माना जाता है। इसीप्रकार स्त्रियों का भी अधिकार माना जाता है। इस दृष्टान्त को विशद करते हैं—निषादस्थपतिशब्दे हि आदि। 'रौद्रं वास्तुमयं चरुं निर्वपेत्' इस वाक्य से रुद्रदेवताक वास्तु (बथुआ) से बनी हुई चरुवाली इष्टि का विधान करके 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्'—इस इष्टि से निषादस्थपति से याग कराये, यह विधान है। इसमें निषादस्थपति कौन है? क्या इसमें कर्मधारय समास करके निषादरूप राजा यह अर्थ माना जाय? अथवा षष्ठीतत्पुरुष समास मानकर निषादों का राजा यह अर्थ माना जाय? यह प्रश्न उठा—कर निर्णय किया गया है कि षष्ठीतत्पुरुष मानने पर पूर्वपद में जघन्य लक्षणावृत्ति की प्राप्ति होगी। अतः उसकी अपेक्षा कर्मधारय समास उचित है। षष्ठीतत्पुरुष मानने पर त्रैवर्णिकों में कोई निषादों का स्थपति बन सकता है किन्तु तत्पुरुष से कर्मधारय निर्दुष्ट है। अतः निषाद होकर जो स्थपति है वही इस इष्टि में अधिकारी माना गया है। निषाद वह होता है जो ब्राह्मण से शूद्रा स्त्री में उत्पन्न हुआ हो। अतः यह शूद्राधिकृत कर्म है। विशेषता यह है कि निषाद के शूद्र होने से इस इष्टि के विधान के बल से ज्ञान का आक्षेप किया जाता है, किन्तु पत्नी में तादृशविद्या के न होने पर भी क्रतुविधियों से ज्ञान का आक्षेप नहीं होता। क्योंकि पति के ज्ञान से ही क्रतु का अनुष्ठान सिद्ध होने से पत्नी का ज्ञान मान लिया जाता है। यदि उत्तर क्रतुविधियाँ स्त्रियों के ज्ञान की आक्षेपिका हों तो स्त्रियों को वेद के अध्ययन में अधिकार मिल जायगा और स्वतन्त्ररूप से पति के बिना भी कर्मानुष्ठान में अधिकार प्राप्त हो जायगा। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि पति और पत्नी के स्वतन्त्र प्रयोग विगुण बन जाते हैं। इसीलिए क्रतुओं में पति और पत्नी के अंगकर्मों में स्वतन्त्र प्रयोगानुष्ठान विहित हैं। जैसे—आज्य का अवेक्षण आदि। उन विधियों के द्वारा पत्नी के लिए ज्ञान का आक्षेप मान लिया जाता है। इस विषय का प्रतिपादन किया जाता है—ये तु पत्नीमात्रकर्तृकाः पदार्थाः आदि। अभी तक यह सिद्ध

क्यानुष्ठाना इति तद्विधीनां तदाक्षेपकत्वं स्वीक्रियते । तत्सिद्धमध्ययनविधिसिद्धज्ञानस्याधानसिद्धाग्निसत्तायाश्चोत्तरकर्मसु अधिकारिविशेषणत्वमिति ।

एवं सामर्थ्यस्यापि अधिकारिविशेषणत्वम् । असमर्थं प्रति विध्यप्रवृत्तेः । 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी'ति न्यायात् ।

तच्च सामर्थ्यं काम्ये कर्मणि अङ्गप्रधानविषयम् । न ह्यङ्गासमर्थः प्रधानमात्रसमर्थश्च काम्ये कर्मण्यधिकारी । प्रधानविधेरङ्गविध्येकवाक्यतापन्नस्य साङ्गकर्मसमर्थं प्रत्येव प्रवृत्तेः । यथाविनियोगमधिकारात् । यदि हि समर्थं प्रत्येव प्रवृत्तौ कयाचित् श्रुत्या विरोधः स्यात् तदाऽसमर्थस्याप्यधिकारः

हुआ कि अध्ययनविधि के द्वारा सिद्ध ज्ञान एवं आधानविधि के द्वारा सिद्ध अग्नि ये दोनों पुरुषविशेषणरूप से श्रूयमाण न होने पर भी अधिकारी के विशेषण माने जाते हैं । अर्थात् वही उत्तरक्रतुओं में अधिकारी बनेगा जो अध्ययनविधि और आधानविधियों से सिद्ध ज्ञानवान् एवं अग्निमान् हो ।

अधिकारी का तीसरा विशेषण है सामर्थ्य । असमर्थ व्यक्ति के लिए विधि प्रवृत्त नहीं होती है । विधि अपनी प्रवर्तना का प्रतिपादन करती हुई उसी पुरुष को प्रवृत्त कराती है जो उस कर्म का पूरा अनुष्ठान कर सकता हो । इसलिए असमर्थता के कारण पशु-पक्षियों को एवं विग्रह आदि के न होने के कारण देवों का कर्मों में अधिकार नहीं माना जाता । 'आख्यातानामर्थं ब्रुवतां' न्याय का विवरण पूर्व किया जा चुका है । सामर्थ्य की विशेषता का निर्देश करते हैं— तच्च सामर्थ्यं काम्ये कर्मणि अङ्गप्रधानविषयम् । अर्थात् समग्र अंगों के साथ प्रधान के अनुष्ठान में समर्थ व्यक्ति ही काम्य कर्मों का अधिकारी होगा । क्योंकि अंगों के अनुष्ठान में असमर्थ और प्रधानमात्र के अनुष्ठान में समर्थ व्यक्ति काम्य कर्मों को करके सफल बन सकता है । पहले कहा जा चुका है कि प्रधानमात्र के अनुष्ठान से फल मिल सकता है । एक अंग का भी वैकल्य = वैगुण्य नहीं होना चाहिये । इस प्रकार विहित सभी अंगों से युक्त प्रधान के अनुष्ठान से ही फल मिलता है । अतः काम्यकर्मों में सम्पूर्ण अंगों के साथ प्रधान को करने में जो समर्थ है वही उसका अधिकारी होता है । काम्यकर्मों की अनुष्ठापिका केवल प्रधान विधि नहीं है किन्तु अंगवाक्यों के साथ एकवाक्यता को प्राप्त की हुई प्रधान विधि होती है । यही प्रयोगविधि कहलाती है । प्रयोग विधि काम्यकर्मों का अनुष्ठापन करती हुई अंगों में एक को भी नहीं छोड़ेगी । क्योंकि एक भी अंग के न रहने से सर्वाङ्गसाहित्य का बाध होता है और वैगुण्य की प्रसक्ति होती है । विगुण होने पर फलप्राप्ति नहीं होती । अतः अंगसहित प्रधान का फल में विनियोग होता है और अधिकार भी उसी में होगा । नित्य-नैमित्तिक स्थल में यथाशक्ति कर्म का अनुष्ठान हो सकता है, तद्वत् काम्य में नहीं हो सकता । क्योंकि काम्यकर्मों में

स्यात्। न च विरोधोऽस्ति। स्वर्गकामश्रुतेः समर्थं प्रत्येव प्रवृत्तौ विरोधाभावात्। प्रत्युतासमर्थं प्रति प्रवृत्ता प्रधानविधेरङ्गवाक्यैकवाक्यतया प्रतिपन्नस्याङ्गसाहित्यस्य बाधापत्तेः। नित्यवत् श्रुतानामङ्गानां पाक्षिकत्वप्रसङ्गाच्च। अतः साङ्गे प्रयोगे समर्थस्यैव काम्ये कर्मण्यधिकारः।

नित्यकर्मणां तु अङ्गेषु यथाशक्तिन्यायः। तानि हि यावज्जीवश्रुत्या यावज्जीवं कर्तव्यत्वेन चोदितानि। न च यावज्जीवं केनापि साङ्गः प्रयोगः कर्तुं शक्यते। अतो नित्यकर्मसु प्रधानमात्रसमर्थोऽधिकारी।

समर्थ का ही अधिकार मानने से किसी प्रमाण से विरोध होने पर असमर्थ को भी अधिकार दिया जा सकता है। ऐसा विरोध नहीं है क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' यह श्रुति समर्थ को देखकर प्रवृत्त होती है। अन्यथा असमर्थ व्यक्ति के लिए प्रवृत्त होनेपर प्रधान और अंगों के अपेक्षित साहित्य का बाध हो जाता है। नियमित करने के लिए विहित अंगों का विकल्प (एकपक्षता) स्वीकार करना अनुचित है। समर्थ कर सकता है, असमर्थ छोड़ सकता है; यह पाक्षिकरूप नित्यरूप से अनुष्ठेय अंगों में लागू नहीं हो सकता। अतः साङ्गप्रयोग के अनुष्ठान में जो समर्थ है वही काम्यकर्मों का अधिकारी है।

नित्य और नैमित्तिक कर्मों में काम्य कर्मों से वैलक्षण्य है। नित्य-नैमित्तिक के अङ्गों में यथाशक्ति न्याय होता है। इसका भाव यह है कि—अंग विहित हैं। विधि के विषय होने से उनका ग्रहण = उपादान होता है, किसी निमित्त की उपस्थिति में उनका त्याग भी हो सकता है, दोनों के संग्रह के लिए समर्थ का उपादान और असमर्थ का त्याग भी हो सकता है। ये तीन प्रकार के मार्ग होते हैं यदि विधि और निमित्त दोनों का अनुग्रह संभव है तो वही उचित है। यदि संभव नहीं है तब अंगों में यथाशक्तिन्याय लागू होगा। वह भी सभी अंगों में नहीं लागू होगा। सामर्थ्य रहने पर प्रयोगविधि जिनका अनुष्ठान कराती है उन्हीं में यह न्याय लागू होगा। वे अंग कौन हैं, जिनका अनुष्ठान प्रयोगविधि कराती है? इसका समाधान करते हैं—तानि हि यावज्जीवश्रुत्या आदि। 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति', 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इन वाक्यों में 'यावज्जीव' पद णमुल्प्रत्ययान्त है। 'जीवन् जीवन्' उसका अर्थ है। अर्थात् सायं-प्रातः काल से अवच्छिन्न जीवन निमित्त होने पर अग्निहोत्र एवं पर्वकाल से अवच्छिन्न जीवन निमित्त होने पर दर्शपूर्णमास का अंगों के साथ अनुष्ठान करना चाहिए। शरीर के शैथिल्य से अधिकारी जीवनपर्यन्त सांगकर्मों का अनुष्ठान यथावत् नहीं कर सकेगा। अतः जो व्यक्ति सभी अंगों को करते हुए प्रधान के अनुष्ठान में असमर्थ है उस के प्रति यह विधि प्रवृत्त नहीं होगी, अतः निमित्तजीवन में संकोच करना होगा। वह संकोच इस प्रकार का होना चाहिए कि जितने अंगों के

अङ्गानि तु यावन्ति कर्तुं शक्यन्ते तावन्ति कार्याणीत्यास्तां[1] बहूक्त्या, सूरिभिः पराक्रान्तत्वात् । तत्सिद्धं फलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिरिति ।

तदेवं निरूपितं चतुर्विधभेदनिरूपणेन विधेः प्रयोजनवदर्थपर्यवसानम् ॥

इत्यापदेवकृतौ मीमांसान्यायप्रकाशे पूर्वभागः

साथ प्रधान का अनुष्ठान हो सकता हो उतना करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रधान को भी छोड़ दें। प्रधान में निमित्त का संकोच नहीं हो सकता। इसलिए प्रधान को मुख्यकोटि में रखते हुए अंगों में संकोच हो सकता है।

निष्कर्ष यह निकला कि काम्य कर्म करने का वही अधिकारी है जो समग्र अंगों के साथ प्रधान को करने में समर्थ हो। जिसका इतना सामर्थ्य नहीं है वह अधिकारी नहीं है। नित्य और नैमित्तिक कर्मों के करने में जो सभी प्रकार से समर्थ है, वह अंगसहित प्रधान को करने का अधिकारी है, सामर्थ्य रहते हुए अंगों को नहीं छोड़ सकता है। पूर्ण करने में जो असमर्थ है वह प्रधान को न छोड़ते हुए कतिपय अंगों को छोड़ सकता है, जिन्हें करने में असमर्थ है। नित्य और नैमित्तिक का इतना ही भेद है कि नियत निमित्तवाला कर्म नित्य होता है तथा अनियत निमित्तवाला कर्म नैमित्तिक होता है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि फलस्वामिता का बोध करानेवाली विधि अधिकार-विधि है। संक्षेप में कह सकते हैं कि विधियाँ चार प्रकार की होती है और सभी सप्रयोजन अर्थ का विधान करती हुई स्वयं प्रयोजनवती होती हैं।

पूर्वार्ध समाप्त

---

१. तावत्

अथोत्तरभागः

(मन्त्रप्रयोजननिरूपणम्)

मन्त्राणां च प्रयोगसमवेतार्थस्मारकतयाऽर्थवत्त्वम्। न तु तदुच्चारण-मदृष्टार्थम्, दृष्टे संभवति अदृष्टस्याऽन्याय्यत्वात्। न च दृष्टस्य प्रकारान्तरेणापि संभवान्मन्त्राम्नानमनर्थकम्। मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणात्।

मन्त्रविचार

ग्रन्थ के आदि में वेद को पाँच प्रकारों से विभक्त किया गया है। उनमें विधि का सांगोपांग विचार परिसमाप्त कर सम्प्रति मन्त्रों का प्रामाण्य, प्रकार एवं उनका उपयोग प्रदर्शित करते हैं—मन्त्राणाञ्च आदि। प्रयोग अनुष्ठान में मन्त्र अपने से संबद्ध अर्थ द्रव्यदेवतादिरूप का स्मरण कराता हुआ प्रयोजनवान् होता है। जैसे—प्रयोजनवान् अर्थ-याग आदि का विधान कर विधि प्रयोजनवती होती है उसी प्रकार कर्म से संबद्ध देवता आदि का स्मरण कराता हुआ मन्त्र भी प्रयोजनवान् होता है। अत एव मन्त्रों का प्रामाण्य भी सिद्ध होता है। सभी मन्त्रों का स्मरण कराना प्रयोजन सिद्ध नहीं है क्योंकि ऐसे भी मन्त्रों का पाठ प्रकरण में प्राप्त होता है जो कर्मों से संबद्ध अर्थ को नहीं कहते हैं। प्रयोग में असंबद्ध अर्थ का प्रतिपादक मन्त्र अर्थस्मारक कैसे हो सकता है? और ऐसे भी मन्त्र हैं जिनका कुछ अर्थ ही नहीं है। अतः इस प्रकार के मन्त्रों को अदृष्टार्थ ही मानना पड़ता है। 'तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम्' न्याय से सभी मन्त्रों को अदृष्टार्थ ही माना जाय तो क्या दोष है? कुछ मन्त्र दृष्टफलक हैं और कुछ मन्त्र अदृष्टफलक हैं। अतः यह अधजरतीय न्याय क्यों? इस शंका का निराकरण करते हैं—न तु तदुच्चारणमदृष्टार्थम्। अर्थात् दृष्टफल होने पर उसे छोड़ कर अदृष्ट फल की कल्पना अनुचित है। मन्त्रों का दृष्ट फल है-कर्म से संबद्ध पदार्थ का स्मरण कराना। यह कार्य मन्त्रोच्चारण से ही क्यों माना जाता है? दूसरे प्रकार से भी यह फल हो सकता है, इसके अनन्तर इसको करना चाहिए इस प्रकार सूची बनाकर भी प्रयोग से संबद्ध अर्थ का स्मरण किया जा सकता है। इस स्थिति में मन्त्र और उसके उच्चारण की क्या आवश्यकता? इस शंका के निराकरण का ग्रन्थ है- मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम् इत्यादि। दूसरे प्रकार से स्मरण संभव होने पर भी मन्त्र के द्वारा ही स्मरण कराना चाहिए ऐसी नियमविधि स्वीकार की गयी है। इस प्रकार नियम का अदृष्टफल स्वीकार करना इच्छा पर निर्भर है किन्तु मन्त्रोच्चारण का नहीं।

(नियमविधिनिरूपणम्)

साधनद्वयस्य पक्षप्राप्तौ अन्यतरस्य साधनस्याप्राप्ततादशायां यो विधिः स नियमविधिः । यदाहुः—

विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसङ्ख्येति गीयते ।। इति ।।

नियमविधि

पहले उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, प्रयोगविधि, अधिकारविधि, अपूर्वविधि, गुणविधि एवं विशिष्टविधि इस प्रकार की ही विधियाँ बतलायी गयी हैं। उनमें यह नियमविधि क्या है? इसको प्रदर्शित कर रहे हैं—साधनद्वयस्य पक्षप्राप्तौ आदि। एक कार्य को सिद्ध करने के लिए जहाँ दो साधन या अनेक साधन विकल्प से प्राप्त हों वहाँ पर एक साधन की प्राप्ति की दशा में जो अन्य की अप्राप्ति है उसकी प्राप्ति के लिए जो विधि होती है वह नियमविधि है। ग्रन्थकार इसका उपपादन उदाहरण के द्वारा आगे करेंगे। इस सन्दर्भ में वार्तिक का प्रमाण प्रदर्शित करते हैं–विधिरत्यन्तमप्राप्ते आदि। इस विधि की प्रवृत्ति से पूर्व दूसरे प्रमाण के द्वारा अत्यन्त अप्राप्त पदार्थ की प्रापिका विधि को अपूर्वविधि कहते हैं। 'नियमः पाक्षिके सति' इस विधि की प्रवृत्ति से पूर्व एक पक्ष के प्राप्त होने की संभावना होने पर उसके अप्राप्त पक्ष की पूर्ति करनेवाली विधि नियमविधि कहलाती है। तत्र चान्यत्र च प्राप्ते यह परिसंख्याविधि का स्वरूप बतलाता है। इसमें 'तत्र' और 'अन्यत्र' दोनों सप्तम्यर्थक हैं। उस शेषी और अन्य शेषी में एकशेष प्राप्त होने पर एकशेषी का निराकरण शेषिपरिसंख्या कहलाती है। अर्थात् दो शेषियों के साथ एकशेष, प्राप्त होने पर एकशेषी का निराकरण करना शेषिपरिसंख्या है। जैसा—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' यह वाक्य मन्त्र का विनियोग करता है अर्थात् मन्त्र का अंगत्व बतलाता है। अंगी अश्वरशना का आदान एवं गर्दभरशना का आदान ये दो हैं। मन्त्र के सामर्थ्य से दोनों अंगी प्रतीत होते हैं। अर्थात् मन्त्र का उच्चारण कर दोनों रशनाओं का आदान करना चाहिये। इस प्रकार दो शेषियों में एकशेष-मन्त्र प्राप्त होने पर 'इत्यश्वाभिधानीमादत्ते' यह विधि गर्दभरशनादानरूप शेषी का निराकरण करती है। यह अश्वरशना के आदान का विधान नहीं कर सकती क्योंकि वह आदान मन्त्र के सामर्थ्य से ही प्राप्त है। प्राप्त का विधान विधि का स्वरूप नहीं है। अतः यह शेषिपरिसंख्या है।

इसी प्रकार 'तत्र' 'अन्यत्र' को प्रथमान्त मानकर एकशेषी में 'वह' और 'अन्य' शेष प्राप्त होने पर एकशेष का निराकरण शेषपरिसंख्या कहलाती है। इसका उदाहरण है चातुर्मास्य के वरुण प्रघास पर्व में गृहमेधीयेष्टि का विधान—'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्'। यह इष्टि होने से दर्शपूर्णमास की विकृति है। अतः दर्शपूर्णमास से प्रयाज-आज्यभाग आदि पदार्थ अति-

(अपूर्वविधिनिरूपणम्)

अस्यायमर्थः—यस्य यदर्थत्वं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं तस्य तदर्थत्वेन यो विधिः सोऽपूर्वविधिः। यथा—'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिः। यागस्य हि स्वर्गार्थत्वं न प्रमाणान्तरेण [1]प्राप्तम्, किन्त्वनेनैव विधिनेति भवत्ययमपूर्वविधिः।

देश के द्वारा प्राप्त होते हैं। किन्तु गृहमेधीय इष्टि के प्रकरण में 'आज्यभागौ यजति' इस विधि का पाठ मिलता है। अतः प्रयाज आज्य भाग आदि अंग हैं और इष्टि अंगी है। प्रकरण में पठित यह आज्यभागवाक्य आज्यभाग का विधान नहीं कर सकता क्योंकि अतिदेश से वह प्राप्त हो जाता है। तब इस वाक्य का कार्य क्या है ? इस प्रश्न के होने पर कहा जाता है कि जैसे प्रकृति से आज्य भाग प्राप्त होता है वैसे ही प्रयाज आदि अंग भी प्राप्त होते हैं। प्राप्त होने पर यह प्रकरणगत वाक्य अपने से इतर प्रयाज आदि अंगों का निराकरण अर्थात् परिसंख्या कर देता है। अतः शेषपरिसंख्या कही जाती है। इसको प्राप्तपरिसंख्या भी कहते हैं। इसका विचार दशम अध्याय के गृहमेधीयाधिकरण में किया गया है। इस अधिकरण में आठ पक्ष हैं, उनमें यह पंचम पक्ष है। सिद्धान्त आठवें पक्ष में किया गया है। वह भी परिसंख्याविधि का ही पक्ष है, किन्तु वह अप्राप्त परिसंख्याविधि है। अप्राप्त परिसंख्या का तात्पर्य है गृहमेधीय-प्रकरणगत वाक्य से बोधित आज्यभाग आदि अंगों से ही भावना की कथमाकांक्षा की शान्ति हो जाने पर अतिदेश के द्वारा युगपदङ्गों की प्राप्ति के होने से पूर्व ही आज्यभाग से इतर अंगों की परिसंख्या कर देना। अतः यह अप्राप्तपरिसंख्या है। इस प्रकार परिसंख्या का निष्कर्ष यह हुआ कि दो शेषियों में एक शेष की, एकशेषि में दो शेषों की प्राप्ति होने पर दूसरे शेषी एवं दूसरे शेष का निवारण जिस विधि से किया जाय वह परिसंख्याविधि है।

अपूर्वविधि

ग्रन्थकार इस वार्तिक की व्याख्या स्वयं करते हैं—अस्यार्थः इत्यादि। जिस साध्य की प्राप्ति के निमित्त प्रकृत वाक्य को छोड़कर अन्य वैदिक एवं लौकिक प्रमाणों के द्वारा अप्राप्त साधन के साध्य की सिद्धि के लिए जो विधि है वह अपूर्वविधि है। जैसे—याग और स्वर्ग। याग साधन है और स्वर्ग साध्य है। स्वर्ग-साध्य के लिए याग-साधन, यह साध्य-साधनभाव 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य को छोड़कर अन्य प्रमाणों के द्वारा विदित नहीं है। यह साधन स्वर्ग के लिए याग का विधान करता है। अतः यह अपूर्वविधि है।

---

१. ज्ञायते।

(नियमविधिनिरूपणम्)

पक्षेऽप्राप्तस्य तु यो विधिः स नियमविधिः। यथा 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादिः। अनेन हि विधिना अवघातस्य न वैतुष्यार्थत्वं बोध्यते, अन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्। किन्तु नियमः, स चाप्राप्तांशपूरणम्; वैतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वात् यस्यां दशायामवघातं परिहृत्योपायान्तरं ग्रहीतुमारभते तस्यां दशायामवघातस्या[1]प्राप्तत्वेन तद्विधानात्मकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते। अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः। पक्षेऽप्राप्ततादशायामवघातविधानमिति यावत्। न त्वपूर्वविधाविवात्यन्ताप्राप्ततया विधानमिति।

(परिसंख्याविधिनिरूपणम्)

उभयस्य युगपत् प्राप्तौ इतरव्यावृत्तिपरो विधिः परिसङ्ख्याविधिः। यथा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इति। इदं हि वाक्यं न भक्षणविधिपरम्,

---

नियमविधि

पाक्षिक अप्राप्ति की स्थिति में जो विधि होती है वह नियमविधि है। पाक्षिक अप्राप्ति का तात्पर्य है—किसी समय प्राप्त हो और किसी समय अप्राप्त हो। अप्राप्ति की स्थिति में जो विधि प्राप्त कराती है वह नियमविधि है। 'व्रीहीनवहन्ति' यह अवहनन धान के तुषों को अलग करने के लिये किया जाता है। तुषों के अलग करने के साधन अनेक हो सकते हैं—नखों से छीलना, पत्थर से घीसना और ऊखल में विद्यमान धान पर मुसल का प्रहार करना आदि। इनमें एक साधन का अवलंबन करने पर दूसरा साधन प्राप्त नहीं होता है। नखों से धान को छीलने पर अवहनन की अप्राप्ति है। उस अप्राप्त अंश को 'व्रीहीनवहन्ति' यह विधि पूरा करती है। यह अप्राप्तपदार्थ की विधायिका अपूर्वविधि नहीं है क्योंकि जिस तुषापाकरण-प्रयोजन सिद्धि के लिए अवहनन किया जाता है वह लोक से ही ज्ञात है कि अवहनन से तुषापाकरण होता है। अतः यह अप्राप्त अंश की पूरकमात्र है। सर्वथा अप्राप्त के विधान करने की अपेक्षा पाक्षिक अप्राप्त अंश को पूरण करने में विधि का लाघव होता है। अतः यह नियमविधि है।

परिसंख्याविधि

दो साधनों की युगपत् प्राप्ति होने पर इतर की निवृत्ति के निमित्त जो विधि प्रवृत्त होती है वह परिसंख्याविधि है। 'इतरव्यावृत्ति' नियमविधि के भेद का परिचायक है। नियमविधि में अप्राप्त अंश का पूरण विधि का कार्य है। परि-

---

१. स्यांशेऽप्रा।

तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। नापि नियमपरम्, पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य

संख्या में इतर की व्यावृत्ति विधि का कार्य है। 'व्रीहीनवहन्ति' इस विधि का विषय धात्वर्थ-अवहनन है, और इसका फल वितुषीभाव है। वितुषीभावफलक अवहन की प्राप्ति लोक से ही अवगत है। अतः ऐसा अवहनन विधि का विषय नहीं है, किन्तु अप्राप्तांशपूरण ही नियम का विधेय होता है। यही वाक्यार्थ है और विधि का फल भी। जब अप्राप्त अंश का पूरण कर देते हैं तब इतरव्यावृत्ति का भान होने पर भी वह इतरव्यावृत्ति विधेय नहीं होती क्योंकि वह अर्थात् सिद्ध है। परिसंख्या में दो की नित्यप्राप्ति है, उनमें से एक की निवृत्ति करना ही है, यही विधिवाक्य का अर्थ है और फल भी है। अतः परिसंख्या= वर्जनबुद्धि को करानेवाली विधि, परिसंख्याविधि कही जाती है। उदाहरण है— पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः।

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शल्यकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः॥

यह वाल्मीकिरामायण का श्लोक है। भगवान् रामचन्द्रजी के प्रति बाली की उक्ति है। पञ्चनख वाले पाँच का भक्षण करना चाहिए। वे पाँच शल्यक आदि हैं। यह अपूर्वविधि नहीं हो सकती क्योंकि भक्षण रागतः प्राप्त है। शास्त्र प्रवृत्ति के पूर्व भी राग से भक्षण में प्रवृत्ति हो जाती है। यदि राग से पूर्व शास्त्र की प्रवृत्ति मानी जाय तो विशेषफल की कल्पना किये बिना शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। भक्षण का प्रत्यक्ष फल तृप्ति है। शास्त्र उस फल के भक्षण का विधान नहीं कर सकता। इसलिए विशेष फल की प्राप्ति के निमित्त विधायक मानना होगा। अतः यह अपूर्वविधि नहीं हो सकती। यह नियमविधि भी नहीं है। क्योंकि नियमविधि पक्ष में अप्राप्त अंश की पूर्ति करती है। जैसे वितुषीभाव के लिए नखविदलन, अश्मकुट्टन और अवहननरूप साधनों में एक के प्रवृत्त होने पर अन्य प्रवृत्त नहीं होता तब वहाँ अन्य जो अप्राप्त है उसको प्रवृत्त कराने पर नियमविधि बनती है। इस प्रकार प्रकृत स्थल में निर्दिष्ट पञ्चनखवाले पाँच प्राप्त हैं और इनसे अतिरिक्त भी पञ्चनखवाले प्राप्त हैं। इस विकल्प में एक (पंचक) प्राप्त होने पर अन्य (पंचक) की अप्राप्ति होती है। तब यह विधि अप्राप्त अंश की पूर्ति कर देती है। वही यहाँ नहीं है। निर्दिष्ट पञ्चनखवाले तथा इनसे अतिरिक्त पञ्चनखवाले इन दोनों का सहैव प्राप्ति से भक्षण हो सकता है। इस स्थिति में कोई अंश अप्राप्त ही नहीं है जिसका यह पूरण करें। अतः यहाँ नियम-विधि नहीं हो सकती। यद्यपि शल्यक आदि निर्दिष्ट पञ्चनखवालों से अतिरिक्त पञ्चनखवाले मात्र के भक्षणकाल में निर्दिष्ट पञ्चनखवालों की अप्राप्ति मिलती है, उसकी पूर्ति का विधान यह विधि कर सकती है, इस स्थिति से नियमविधि बन सकती है तथापि पूर्वोत्तर के संदर्भ को दृष्टि में रखते हुए विचार करने से यह नियम-विधि नहीं हो सकती। क्योंकि बाली की उक्ति निषेधपरक है। शिकार की

युगपत्प्राप्तेः पक्षेऽप्राप्त्यभावात्। अत इदं[1]पञ्चातिरिक्तपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमिति भवति परिसङ्ख्याविधिः।

(परिसंख्याभेदाः)

सा च परिसंख्या द्विविधा—श्रौती लाक्षणिकी चेति। तत्र 'अत्र ह्येवा-

---

दृष्टि से मुझे आप मारे हों तो यह उचित नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण-क्षत्रियों के भक्षण के योग्य शल्यक आदि पांचनखवाले पाँच हैं, तदतिरिक्त नहीं है। इस प्रकार यह प्रकरण अभक्ष्यनिरूपणपरक है, यदि इसे नियमविधि मानेंगे तो इसकी बाधा होगी। अतः नियमविधि का परित्याग कर परिसंख्याविधि मानना ही उचित है। अतः निर्दिष्ट पाँचों से अतिरिक्त पञ्चनखवालों को भक्षण नहीं करना चाहिए।

परिसंख्याभेद (श्रौती)

परिसंख्या दो प्रकार की होती है—श्रौती तथा लाक्षणिकी च। जहाँ निवृत्तिवाचक 'नञ्' अथवा 'एव' आदि शब्द श्रुत हैं, वहाँ श्रौती परिसंख्या होती है। जहाँ वाचक शब्द के न रहने पर लक्षणा से निवृत्ति अर्थ का बोध होता है वहाँ लाक्षणिकी परिसंख्या होती है। प्रथम का उदाहरण है—अत्र ह्येवावपन्ति। सम्पूर्ण वाक्य इस प्रकार है—'त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि गायत्री बृहत्यनुष्टुप् अत्र ह्येवावपन्ति अत एवोद्वपन्ति' इस वाक्य के अर्थ को जानने के पहले कई पदार्थ जानने हैं। सभी सोमयागों की प्रकृति ज्योतिष्टोम है। यह पीछे कई बार कहा जा चुका है। इस प्रकृतियाग में बारह स्तोत्र हैं—(प्रातस्सवन में) बहिष्पवमान १ आज्य स्तोत्र ४, (माध्यन्दिन सवन में) माध्यन्दिन पवमान १ पृष्ठस्तोत्र ४, (सायंसवन में) आर्भव पवमान १ यज्ञायज्ञियस्तोत्र १। तीनों सवनों में मिलकर १२ स्तोत्र हुए। स्तोत्र अर्थात् सामगान के साथ मन्त्रों के द्वारा देवता के गुणों का कीर्तन। पूर्वोक्त १२ स्तोत्रों में 'त्रिवृत् पञ्चदशः सप्तदशः एकविंशः' स्तोम विहित हैं। स्तोम का अर्थ है स्तोत्र में विद्यमान संख्या। त्रिवृत् शब्द का अर्थ है नौ संख्या। त्रिवृद्बहिष्पवमानः' बहिष्पवमान स्तोत्र नौ हैं। 'पञ्चदशान्याज्यानि' आज्य स्तोत्र १५ हैं, माध्यन्दिन पवमान में १५, पृष्ठस्तोत्र में १७ आर्भवपवमान में १७ और यज्ञायज्ञिय[2] में २१ स्तोम हैं। प्रत्येक स्तोत्र में भिन्न-भिन्न साम एवं भिन्न-भिन्न ऋचायें रहती हैं। 'ऋच्यध्यूढं साम गायति' विधि से ऋचा को अधिकरण रखकर साम का गान होता है। 'एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रियम्' इस विधि

---

१. अत्रापञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरमित्येव पाठः उपलभ्यते मुद्रितपुस्तकेषु प्रायशः तथापि अपञ्चनखेत्यस्य पञ्चातिरिक्तपञ्चनखेत्येव व्याख्यातव्यतया क्लिष्टकल्पनापत्तेः पञ्चातिरिक्तपञ्चनखेत्येव पाठं मैसूरपुरे तैलङ्गाक्षरेषु मुद्रितपुस्तके लिखितपुस्तकेषु चोपलब्धवद्भिरस्माभिः स एव पाठो मूले निवेशितः।

२. ताण्ड्य महाब्राह्मण १६.१.६. देखिये।

वपन्ति' इत्यत्र श्रौती परिसंख्या। एवकारेण[1]पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्या-वृत्तेरभिधानात् ।

"पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या" इत्यत्र तु लाक्षणिकी। इतरनिवृत्तिवाच-

से तीन ऋचाओं में एक साम के गान होने से वह एकस्तोत्र कहलाता है। इन तीन ऋचाओं की आवृत्ति से त्रिवृत् पञ्चदश आदि स्तोम बनाये जाते हैं। इसी स्तोम को स्तोत्रगत संख्या कहते हैं। यह प्रकृतिज्योतिष्टोम की स्थिति है। विकृतियों में स्तोम की वृद्धि का विधान है। त्रिणवः २७, त्रयस्त्रिंशः ३३, चतुर्विंशः २४, चतुश्चत्वारिंशः ४४, अष्टाचत्वारिंशः ४८। ये स्तोमविवृद्धियाँ विकृतियों में ही हैं, प्रकृति में पूर्वोक्त वे चार ही हैं। इन स्तोम साम और ऋचाओं के द्वारा प्रकृति से प्राप्त उनका बाध हो जाता है। अब विचार करना है कि जहाँ स्तोम की वृद्धि है वहाँ ऋचाओं की आवृत्ति के प्रकार से स्तोत्र संख्या बना ली जा सकती है, किन्तु साम की कमी पड़ जाने पर क्या करना होगा? और कैसे करना होगा? इस कमी को दूर करने के लिए सामों का आवाप=दूसरी जगह से साम को ला कर जोड़ना विहित है। उस साम का कहाँ आवाप करें, इस सन्देह को दूर करने के लिए यह वाक्य प्रवृत्त हुआ 'त्रीणि ह वै यज्ञस्योदराणि'। गायत्री बृहती और अनुष्टुप् ये तीन छन्द यज्ञ के उदर=मध्यस्थानीय हैं। ये तीनों छन्द पवमानस्तोत्रों से ही संबन्ध रखते हैं। इसलिए 'अत्र ह्येवावपन्ति' वाक्य में 'अत्र' शब्द पवमानस्तोत्र का परामर्शक होता है। विकृति में विवृद्धस्तोम सभी स्तोत्रों में यदि है तो साम का आवाप पवमान और तदतिरिक्त स्तोत्रों में प्राप्त होनेपर यहाँ का 'एव' शब्द पवमान के अतिरिक्त स्तोत्र में साम का आवाप नहीं करना चाहिए, बोधन करता है। एवं प्रकृति के समसंख्यावाला स्तोम या न्यूनसंख्या वाला स्तोम विकृति में यदि हो तो साम का उद्वाप-निरसन भी पवमान के अतिरिक्त स्तोत्रों से ही करना चाहिए, यह 'अत एवोद्वपन्ति' का अर्थ है। 'एव' शब्द से परिसंख्या का अभिधान होने से यह श्रौती परिसंख्या कहलाती है।

लाक्षणिकी परिसंख्या

इसका उदाहरण पञ्चपञ्चनखा भक्ष्याः है। इस वाक्य का पञ्चनखवाले पाँच का भक्षण करना चाहिए ऐसा अर्थ होने पर भी लक्षणा से निर्दिष्ट पंचनखवाले पाँच से अतिरिक्त पाँचनखवालों का भक्षण नहीं करना चाहिए ऐसे निवृत्तिरूप अर्थ को मानना पड़ता है। क्योंकि भक्षण में प्रवृत्ति राग से हो जाती है अतः उसके विधान की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए निवृत्तिरूप अर्थ लाक्षणिक है।

लाक्षणिक परिसंख्या में दोषत्रय

लाक्षणिक परिसंख्या स्थल में दोषत्रय बतलाते हैं—अत एवैषा त्रिदोष-

---

१. गायत्रीबृहत्यनुष्टुबितरव्यावृत्तेः इति कस्मिंश्चित् लिखितपुस्तके पाठः।

कस्य पदस्याभावात्। अत एवैषा त्रिदोषग्रस्ता। दोषत्रयं च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना प्राप्तबाधश्चेति। श्रुतस्य पञ्चनखभक्षणस्य हानादश्रुतपञ्चातिरिक्तपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिकल्पनात् प्राप्तस्य च पञ्चातिरिक्तपञ्चनखभक्षणस्य बाधादिति। अस्मिंश्च दोषत्रये दोषद्वयं शब्दनिष्ठम्, प्राप्तबाधस्तु दोषोऽर्थनिष्ठ इति दिक्।

तत्सिद्धं मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणान्न मन्त्राम्नानमनर्थकम्। अतश्च युक्तं मन्त्राणां प्रयोगसमवेतार्थस्मारकतयार्थवत्त्वम्।

तत्र ये मन्त्रा यत्र पठितास्तेषां तत्र यद्यर्थप्रकाशनं प्रयोजनं सम्भवति तदा तत्रैव विनियोगः। येषां तु न सम्भवति तेषां यत्र सम्भवति तत्रोत्कर्षः, यथा—पूषाद्यनुमन्त्रणमन्त्राणामित्युक्तम्। येषां क्वापि न सम्भवति तदुच्चारणस्य त्वगत्याऽदृष्टार्थत्वम्। सर्वथापि तु तेषां नानर्थक्यमिति।

ग्रस्ता। स्वार्थहानि, परार्थस्वीकार और प्राप्तबाध ये तीन दोष होते हैं। पञ्चनखवाले पाँच का भक्षण करना चाहिए, यह स्वार्थ है। उसका त्याग करना पड़ रहा है, एवं पंचातिरिक्त पंचनखवालों का भक्षण नहीं करना चाहिए इस परार्थ को स्वीकार करना पड़ रहा है, एवं रागतः जैसे निर्दिष्ट पंचनखवाले पाँच का भक्षण प्राप्त है उसी तरह तदतिरिक्तों का भी भक्षण प्राप्त होने पर इससे बाध मानना पड़ता है। अतः ये तीन दोष लाक्षणिक परिसंख्या में होते हैं। इन दोषों में स्वार्थहानि और परार्थस्वीकार दोष शब्द में रहनेवाले हैं और प्राप्तबाध अर्थ में रहनेवाला है।

प्रासंगिक तीन विधियों के स्वरूप को विचार कर उसका उपसंहार करते हैं—तत्सिद्धं मन्त्रैरेव आदि। कर्मानुष्ठान के समय अनुष्ठानसंबन्धी पदार्थों का स्मरण मन्त्रों के द्वारा ही करना चाहिए। अन्यथा यज्ञ फलप्रद नहीं होते। अतः मन्त्र अनुष्ठानसंबन्धी पदार्थों का स्मरण कराते हुए स्वयं प्रयोजनवान् होते हैं।

मन्त्रों के प्रयोजन को विशद रूप से बतलाते हैं—तत्र ये मन्त्रा यत्र पठिताः आदि। जिस प्रकरण में जो मन्त्र पठित हैं यदि उनका उस प्रकरण-संबन्धी अर्थों के प्रकाशन करने का सामर्थ्य हो तो विनियोग उस प्रकरण में ही करना चाहिये। प्रकरणसंबद्ध अर्थ के प्रकाशन में जिन मन्त्रों का सामर्थ्य नहीं है उनको जहाँ रखने से सामर्थ्य ठीक होता हो उसी जगह पर उन्हें कर लेना चाहिए। जैसे पूषानुमन्त्रण मन्त्रों का दर्शपूर्णमास प्रकरण में पाठ होने पर भी वहाँ उनका कार्य नहीं है। अतः जहाँ पूषदेवतावाला कर्म हो वहाँ उनका विनियोग माना जाता है। जिन मन्त्रों का विनियोग दृष्टविधया कहीं भी न बनता हो उनका उच्चारण अदृष्टफल के लिए मान लिया जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि मन्त्रों का आनर्थक्य सर्वथा नहीं होता।

(नामधेयनिरूपणम्)

नामधेयानां विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम् । तथा हि—'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यत्र उद्भिच्छब्दो यागनामधेयम् । तेन च विधेयार्थ-परिच्छेदः क्रियते । अनेन हि वाक्येनाप्राप्तत्वात्फलोद्देशेन यागो विधी-

---

नामधेय प्रकरण

इस ग्रन्थ के आरंभ में विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेध-अर्थवाद के रूप में वेद के पाँच विभाग प्रदर्शित किये गये हैं। उनमें विधि और मन्त्र का स्वरूप सांगोपांग निरूपित किया गया है। अब नामधेय का निरूपण हो रहा है। नामधेय का अर्थ है कर्म की संज्ञा। जैसे विधि=विधिरूप वेद अज्ञात अर्थ का विधान करते हुए, एवं अनुष्ठान से संबद्ध अर्थों का स्मरण कराते हुए मन्त्र प्रयोजनवान् एवं प्रमाण होता है वैसे नामधेय का क्या कार्य है? जिससे धर्म में उसका प्रामाण्य माना जाय।। पूर्वनिरूपित भावनाओं के अंशत्रय में नामधेयों का सम्बन्ध होता तो प्रामाण्य माना जा सकता था। भावना के भाव्य स्वर्गादि फल होते हैं, नामधेय फल के बोधक नहीं होते हैं। इससे भाव्यकोटि में इनका निवेश नहीं है। साधनकोटि में नामधेय नहीं लिया जा सकता क्योंकि भावना से संबद्ध धात्वर्थ से ही साधन की आकांक्षा पूरी होती है। इतिकर्तव्यता के रूप से भी नामधेय का सम्बन्ध असम्भव है क्योंकि भावना में क्रियात्मक इतिकर्तव्यता का ही रूप सम्बद्ध होता है, नामधेय क्रिया नहीं है। यदि नामपद द्रव्य का प्रतिपादक होता तो किसी न किसी क्रिया से सम्बद्ध होकर इतिकर्तव्यता से सम्बन्ध बन जा सकता था किन्तु नामधेय द्रव्य का अभिधायक नहीं है। इसलिए यह भी सम्भव नहीं है। नामधेयों के द्वारा अर्थवादों के समान स्तुतिबुद्धि भी नहीं होती है। जिससे उसको प्राशस्त्यज्ञानजनक मान कर शाब्दी भावना में इतिकर्तव्यता के रूप में अन्वय किया जाय। नामधेय मन्त्र भी नहीं है, जिसे अनुष्ठेय अर्थ का स्मारक मानकर प्रामाण्य सिद्ध किया जा सके। अतः नामधेयों का विचार सर्वथा सङ्गत नहीं है। इस प्रकार की शंका का निराकरण करते हुए प्रामाण्यप्रकार का निरूपण करते हैं—नामधेयानां विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्। विधि के द्वारा विहित अर्थयाग या होम के परिच्छेद=व्यावृत्ति अर्थात् वैलक्षण्य का बोधन करना नामधेयों का प्रयोजन है। नामधेय विधि के द्वारा विहितकर्म के वैलक्षण्य का प्रतिपादक है। 'ज्योतिष्टोम' नाम 'दर्शपूर्णमास' से विलक्षण कर्म का प्रतिपादन करता है। एवं 'दर्शपूर्णमास' नाम ज्योतिष्टोम से भेद का प्रतिपादक है। जैसे 'उद्भिदा यजेत पशु-कामः' उद्भित्पद याग नाम होकर दर्शपूर्णमास आदि यागों से भिन्न यागविशेष का प्रतिपादक है। शंका हो सकती है कि उद्भित्पद याग का ही नाम क्यों? व्युत्पत्ति से किसी द्रव्य का भी प्रतिपादक हो सकता है। समाधान के लिए जानना होगा कि यह वाक्य उत्पत्तिविधि है। पशुफल को उद्देश्य कर याग का

यते । यागसामान्यस्य चाविधेयत्वाद्यागविशेष एव विधीयते । तत्र कोऽसौ विशेषः ? इत्यपेक्षायां उद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति ज्ञायते । उद्भिदा यागेनेति सामानाधिकरण्येन नामधेयान्वयात् ॥

तस्य च यजिना सामानाधिकरण्यं न नीलोत्पलादिशब्दवत् । तत्र हि उत्पलशब्दस्यार्थादुत्पलादन्यो नीलशब्दस्य वाच्योऽर्थोऽस्ति नीलगुणः । लक्षणया तु नीलशब्दस्य द्रव्यपरत्वेन सामानाधिकरण्यम् । उद्भिच्छब्दस्य तु यज्यवगतयागविशेषान्नान्यो वाच्योऽर्थोऽस्ति, विशेषवाचित्वात्तस्य । अतश्चार्थान्तरवाचित्वाभावेन न नामधेयस्य नीलशब्दवत्

विधान करता है—'यागेन पशून् भावयेत्' अर्थात् पशुफल सम्पादन के लिए याग करो । इस प्रकार विधि को सुनकर मानव की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । कौन याग करना चाहिये ? इस आकांक्षा का जब तक शमन नहीं होता है, तब तक किसी की प्रवृत्ति सम्भव नहीं । विधि सामान्यकार्य में प्रवृत्ति नहीं करा सकती । इसलिये यागविशेष का नाम लेना होगा, तभी विधि वाक्यप्रवर्तक बन सकती है । अतः उद्भित्पद को यागविशेष का परिचायक मानना होगा । यह उत्पत्तिविधि है । अतः भावना में धात्वर्थ याग का करणत्वरूप से अन्वय होगा, तब उद्भिन्नामक याग से फल का सम्पादन करो ऐसा शाब्दबोध होता है । सामान्य-विशेष भाव रखनेवाले दो पद जब एक अर्थ के प्रतिपादक हो जाते हैं तब सामानाधिकरण्य=एकार्थवाचित्व बन जाता है—जैसे 'उद्भिदा यागेन पशून् भावयेत्' ।

एकार्थवाचित्वरूप सामानाधिकरण्य स्थल में दो पद भिन्न-भिन्न अर्थों के प्रतिपादक होते हैं । अर्थात् दोनों पदों के प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न होते हैं । 'उद्भिदा यजेत' में उद्भित् शब्द और धातु इन दोनों पदों का प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न नहीं है, क्योंकि सामान्य और विशेष रूप से प्रवृत्तिनिमित्त एक ही पड़ जाता है । अतः यहाँ पर एकार्थवाचित्वरूप सामानाधिकरण्य कैसे बनेगा ? इस शंका का समाधान—तस्य च यजिना सामानाधिकरण्यं इत्यादि ग्रन्थ से किया जाता है । उद्भिद् शब्द का धात्वर्थ के साथ सामानाधिकरण्य 'नीलमुत्पलं' के समान नहीं है । 'नीलमुत्पलम्' में आकृत्यधिकरण न्याय से नीलपद का प्रवृत्तिनिमित्त नीलगुण है । अतः उसका नीलगुण[1] अर्थ है । उत्पल शब्द का जाति प्रवृत्तिनिमित्त है, उत्पलत्व जाति अर्थ है । ये दोनों पद भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तक होकर लक्षणा से सामानाधिकरण्य को प्राप्त करते हैं ।

---

१. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यो यमर्थं न मुञ्चति ।
स एव तस्य वाचोऽर्थो गुणश्चैष न मुञ्चति ॥
इस वार्तिक प्रमाण से नील शब्द की शक्ति गुण ही में है, गुणयुक्त द्रव्य में नहीं । अतः उत्पन्न शब्द के अर्थ से भिन्न अर्थ का प्रतिपादक नील शब्द है ।

सामानाधिकरण्यम्, किं तर्हि ? 'वैश्वदेव्यामिक्षे'त्यत्रामिक्षाशब्दवत्। वैश्वदेवीशब्दस्य हि देवतातद्धितान्तत्वात्तद्धितस्य च 'सास्य देवता' इति सर्वनामार्थे स्मरणात्, सर्वनाम्नां चोपस्थितविशेषवाचित्वेन विशेषपरत्वम्। तत्र कोऽसौ वैश्वदेवीशब्दोपात्तो विशेषः ? इत्यपेक्षायां आमिक्षापदसान्निध्यादामिक्षारूपो विशेष इत्यवगम्यते। यथाहुः—

आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः।
आमिक्षापदसान्निध्यात्तस्यैव विषयार्पणम्। इति।

तद्धित और याग पद में ऐसा सामानाधिकरण्य नहीं है। यह ठीक है, किन्तु दूसरे प्रकार से सामानाधिकरण्य का उपपादन करते हैं—वैश्वदेव्यामिक्षेत्यत्रामिक्षाशब्दवत्। वैश्वदेवीशब्द तद्धितान्त है विश्वेदेव देवता है जिसका इस व्युत्पत्ति से वैश्वदेवीशब्द देवताविशिष्ट द्रव्य का वाचक है। जिस वाक्य में तद्धितान्त शब्द के द्वारा द्रव्य और देवता का संवन्ध प्रतिपादित है उसको याग विधायक माना जाता है। इससे 'यजेत' पद की कल्पना की जाती है। यजेत पद के आख्यात से प्रतिपादित भावना में याग करण हुआ तो यागेन भावयेत् बोध होता है। प्रथमान्त वैश्वदेवी और आमिक्षा शब्द को तृतीयान्तरूप से विपरिणाम करने पर वैश्वदेव्यामिक्षया यागेन इष्टं भावयेत् यह बोध होता है। फलतः यह वाक्य विश्वेदेव और आमिक्षा द्रव्यवाले याग का उत्पत्तिवाक्य हुआ। तद्धितान्त वैश्वदेवीशब्द की कुक्षि में विद्यमान 'अस्य' सर्वनाम शब्द प्रकृत और प्रधानरूप से स्थित आमिक्षा द्रव्य का परामर्श करता है क्योंकि 'सा अस्य देवता' इस सूत्र से देवतातद्धित का विधान है। इसका निष्कर्ष हुआ कि वैश्वदेवीशब्द देवताविशिष्ट द्रव्यविशेष का वाचक है। वह द्रव्यविशेष कोन है ? यह जिज्ञासा होने पर अपनी संनिधि में पठित 'आमिक्षा' पद द्रव्यविशेष का समर्पक बन जाता है। अतः यहाँ सामान्य और विशेषरूप अर्थों का सामानाधिकरण्य न होकर 'वैश्वदेवी' शब्द एवं 'आमिक्षा' शब्द का ही विशेष्यविशेषणभाव सिद्ध होता है। इस अंश में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—आमिक्षां देवतायुक्तां आदि। वार्तिक का अर्थ है कि एषः अण्-प्रत्ययरूप देवतातद्धित ही देवताविशिष्ट आमिक्षारूप द्रव्य का अभिधायक है। क्योंकि संनिहित विशेष अर्थ के वाचक तद्धित की सन्निधि में आमिक्षापद है। अतः इदंशब्द आमिक्षा का ही बोधक है। इसी का प्रतिपादन किया—आमिक्षापद-सान्निध्यात्। 'वैश्वदेवी' शब्द द्वारा प्रतिपादित विशेष अर्थ आमिक्षा है, इसका कारण आमिक्षापद का सान्निध्य है। निष्कर्ष यह हुआ कि तद्धित उपपद-आमिक्षापद और विग्रहवाक्य का 'अस्य' पद इन तीनों का एक ही आमिक्षा अर्थ

तथा—

श्रुत्यैवोपपदस्यार्थः सर्वनाम्ना[1]भिधीयते ।
तदर्थस्तद्धितेनैवं त्रयाणामेकवाच्य[2]ता । इति ।

तस्मात् यथा वैश्वदेवीशब्दोपात्तविशेषसमर्पकत्वेनामिक्षापदस्य वैश्वदेवीशब्देन सामानाधिकरण्यम्, एवं सामान्यस्याविधेयत्वाद्यज्यवगतयागविशेषसमर्पकत्वेन नामधेयस्य यजिना सामानाधिकरण्यम्। तत्सिद्धं नामधेयानां विधेयार्थपरिच्छेदकतयाऽर्थवत्त्वम्। यथाहुः—

'तदधीनत्वाद्यागविशेषसिद्धेः' इति ।

नामधेयत्वं च निमित्तचतुष्टयात्—मत्वर्थलक्षणाभयात्, वाक्यभेद-

है। इसी में वृद्धसंमति दी गई है—श्रुत्यैवोपपदस्यार्थः। श्रुत्यैव का अर्थ है अभिधावृत्ति से। उपपदस्य का अर्थ है आमिक्षापद। सर्वनाम्ना विग्रहवाक्य में विद्यमान 'अस्य' पद। अर्थात् उपपद-आमिक्षा पद का जो अर्थ है वही सर्वनाम शब्द से कहा गया है और तद्धित से भी वही अर्थ कहा गया है। इस प्रकार तीनों शब्दों का एक ही अर्थ सिद्ध होता है।

'आमिक्षा' दृष्टान्त को 'उद्भिदा यजेत' में समन्वय करते हैं—तस्मात् आदि। जैसे 'वैश्वदेवी' शब्द से कथित विशेष अर्थ के समर्पक आमिक्षा पद को मानकर वैश्वदेवी और आमिक्षापद के सामानाधिकरण्य-एकार्थवाचित्व का उपपादन होता है उसी प्रकार 'उद्भिदा यजेत' में विधि यागसामान्य का विधायक न बनने के कारण यागविशेष के समर्पण में पर्यवसन्न होता है। वह यागविशेष कौन है? ऐसी जिज्ञासा होने पर 'उद्भिदा' यह नामधेय आमिक्षा पद के समान-विशेष का समर्पक होकर 'उद्भिदा यागेन' ऐसा सामानाधिकरण्य-एकार्थवाचित्व को प्राप्त कर लेता है। इतने विचार से सिद्ध हुआ कि नामधेय; विधेय याग आदि की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए प्रयोजनवान् होते हैं। इसमें वार्तिक का प्रमाण देते हैं—तदधीनत्वाद्यागविशेषसिद्धेः। वार्तिक का तात्पर्य है कि सब जगह विधि को अप्रवृत्त की प्रवर्त्तिका माना जाता है। पुरुष की प्रवृत्ति विशेष अर्थ में ही होती है। विधि अपने प्रवर्तकत्व की सिद्धि के लिए प्रवृत्तिविषय याग आदि को विशेषरूप देती है। किन्तु वह विशेष कौन है? यह आकांक्षा होने पर तदधीनत्वात् नामधेयाधीन होने से यागविशेष की सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार नामधेयों की प्रयोजनवत्ता को प्रदर्शित कर अब नामधेय की सिद्धि हेतु चार निमित्तों का उल्लेख करते हैं—नामधेयत्वञ्च निमित्तचतुष्टयात्।

---

१. सर्वनाम्नाः, प्रतीयते । २. वाक्यता ।

भयात्, तत्प्रख्यशास्त्रात्, तद्व्यपदेशाच्चेति।

(मत्वर्थलक्षणाभयात् कर्मनामधेयत्वनिरूपणम्)

तत्र "उद्भिदा यजेत पशुकाम" इत्यत्र उद्भिच्छब्दस्य यागनामधेयत्वं मत्वर्थलक्षणाभयात्। तथा हि—

उद्भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे यागानुवादेन तावन्न [1]गुणविधानं

मत्वर्थलक्षणा की भाँति, वाक्यभेद भीति, तत्प्रख्यशास्त्र एवं तद्व्यपदेश ये चार नामधेय मानने में निमित्त होते हैं।

मत्वर्थलक्षणा की भीति से नामत्व

प्रथम निमित्त का उदाहरण है—उद्भिदा यजेत। यहाँ 'उद्भित्' शब्द को मत्वर्थलक्षणा की भीति से नामधेय माना जाता है। उद्भिन्नाम वाले याग से पशु-फल का सम्पादन करो। 'उद्भिन्नामकेन यागेन पशून् भावयेत्' ऐसा अर्थ सिद्ध होता है। उत् पूर्वक भिदिर् धातु से कर्मणि व्युत्पत्ति का आश्रयण करने पर उत्-ऊर्ध्वं भिद्यते=विदार्यतेऽनेनेति उद्भित् क्विप् प्रत्ययान्त शब्द का भूमि को विदारण करने वाला 'फरसा' 'रंभा' आदि अर्थ प्रतीत होता है। जैसे 'दध्ना जुहोति' 'व्रीहिभिर्यजेत' आदि स्थलों में याग को उद्देश्य कर दधि व्रीहि आदि गुणों का विधान माना जाता है, उसी प्रकार उद्भित्-फरसा आदि गुण का विधान नहीं मान सकते हैं, क्योंकि मत्वर्थलक्षणारूप दोष होगा। 'दध्ना जुहोति' आदि स्थलों में वाक्यान्तर से होम या याग अवगत है। उस अवगत को उद्देश्य कर दधि आदि गुण मात्र के विधान से मत्वर्थलक्षणा दोष नहीं है! यहाँ ऐसे वाक्यान्तर से कर्म की प्राप्ति नहीं है। इसी वाक्य से कर्म का भी विधान करना होगा। इस अवस्था में उद्भिद् गुण से विशिष्ट याग के विधान से मत्वर्थलक्षणा माननी पड़ेगी—'उद्भिद्वता यागेन पशून् भावयेत्'। इस मत्वर्थलक्षणा की भीति से उद्भिच्छब्द को नामधेय माना जाता है।

विशिष्टविधि मानने पर मत्वर्थलक्षणा होगी। यदि गुणविधि मानते हैं तो लक्षणा नहीं होगी। अतः यह वाक्य गुणविधायक हो ऐसी शंका का उत्तर देते हैं—उद्भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे आदि। उद्भिच्छब्द यदि गुणसमर्पक है तो किसी याग का अनुवाद कर उसका विधान होगा। वह याग कौन है जिसका 'उद्भिदा यजेत' में यजति पद अनुवाद करता है? कहना होगा कि सभी सोमयागों का प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोमयाग। यद्यपि तांड्य महाब्राह्मण के सत्रहवें अध्याय में 'उद्भिदा यजेत' पठित है, छठवें अध्याय में ज्योतिष्टोम का आम्नान है, इन दोनों के बीच में कई अन्यान्य क्रतुओं के विहित होने से प्रकरण विच्छिन्न हो जाता है, तथापि सोलहवें अध्याय में ज्योतिष्टोम के लिए दक्षिणाविधानहेतु ज्योतिष्टोम का उल्लेख किया गया

---

१. गुणो विधीयते. क।

युज्यते, फलपदानर्थक्यापत्तेः। न चानेन वाक्येन फलं प्रति यागविधानं [1]तस्मिंश्च गुणविधानं युज्यते, वाक्यभेदापत्तेः।

नापि गुणफलसम्बन्धविधानं सम्भवति, परपदार्थविधानेन विप्रकृष्टार्थविधानापत्तेः, धात्वर्थस्य स्वरूपेणाविधानात्तदुद्देशेन वान्यस्य कस्यचिदविधानाद्धातोरत्यन्तपारार्थ्यापत्तेश्च, यज्यानर्थक्यापत्तेश्च; न हि तदानेन

है। अतः ज्योतिष्टोम की अनुवृत्ति उद्भिद्यागपर्यन्त मानते हुए ज्योतिष्टोम का यजति पद से अनुवाद कर गुणविधान हो सकता है। इस प्रकार स्वीकार करने से 'पशुकामः' यह पद अनर्थक हो जायगा, क्योंकि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' वाक्य ज्योतिष्टोम का स्वर्गफल बतलाया है। अतः गुणविधि संभव नहीं है। यदि स्वर्गफल उपदिष्ट होते हुए भी उद्भिद्वाक्य द्वारा पशुफल को उद्देश्य कर याग का एवं याग को उद्देश्य कर गुण का विधान मानेंगे तो वाक्यभेद होगा। क्योंकि याग के फल के लिए साधन, और गुण के लिए साध्य इस प्रकार तन्त्रसंबन्ध से वाक्यभेद दुर्वार है। इसका निरूपण पहले किया जा चुका है।

यह पक्ष भी उचित नहीं होगा कि जैसे 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में फल को उद्देश्य कर दधि का विधान मानते हुए धात्वर्थ होम को आश्रय माना गया है वैसे ही उद्भित् का पशुफल के लिए विधान करते हुए धात्वर्थ को आश्रय माना जाय तो वाक्यभेद नहीं होगा। इस प्रकार मानने में दोष दिखा रहे हैं—परपदार्थविधानेन विप्रकृष्टार्थविधानापत्तेः। इस सन्दर्भ का तात्पर्य है कि सर्वत्र विधि-शाब्दीभावना समानाभिधानश्रुति से विधेय के रूप में भावना-आर्थीभावना को ग्रहण करती है। प्रवृत्तिरूप भावना निरवच्छिन्न-विशेषणरहित विधेय नहीं बन सकती, अतः किसी-न-किसी धात्वर्थ से सम्बन्ध करना होगा। अर्थात् धात्वर्थ के साथ भावना का विधान माना जाता है। जिस स्थल में धात्वर्थ प्रमाणान्तर से विहित हो जाता है वहाँ धात्वर्थ को उद्देश्य कोटि में रखकर विधि गुण का विधान करती है। इस प्रकार विधि धात्वर्थ के विधान में लाघव का अनुभव करती है और धात्वर्थ को छोड़कर उसको उद्देश्य मान कर अन्य पदार्थ के विधान में गौरव का अनुभव करती है। धात्वर्थ के विधेय या उद्देश्य न होने पर अत्यन्त ही गौरव का अनुभव करती है। इस स्थिति में 'उद्भिदा यजेत' वाक्य में 'उद्भित्' विधेय है और पशुफल उद्देश्य है, यहाँ धात्वर्थ न तो विधेय है और न तो उद्देश्य है। अतः अत्यन्त ही विप्रकृष्ट-धात्वर्थ सम्बन्धरहित विधि का प्रयोग मानना होगा। यह उचित नहीं है। क्योंकि 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः' इस न्याय से वैसा प्रयोग असाधु है। इसलिए किसी-न-किसी धातु के साथ विधि का प्रयोग करना है। प्रकृत 'उद्भिदा यजेत' में यज् धातु का प्रयोग इसी रूप से

१. तस्मिंश्च गुणविधानमिति नास्ति. क।

करणं समर्प्यते, गुणस्य करणत्वेनान्वयात्। नापि फलम्, पशोर्भाव्यत्वेनान्वयात्।

अथ गुणफलसम्बन्धविधाने यागस्याश्रयत्वेन सम्बन्ध इति चेत्—न; यजेतेत्यत्र आश्रयत्ववाचकपदाभावात्। अथ सिद्धान्ते करणत्वमिवाश्रय-

---

है। यही अत्यन्तविप्रकृष्टार्थविधानापत्तेः का तात्पर्य है। इस प्रकार धातु का उच्चारण अनर्थक हो जाता है क्योंकि धात्वर्थ भावना का करण नहीं बन पाता है। गुण 'उद्भित्' को करण माना गया है। इसी प्रकार धात्वर्थ उद्देश्य नहीं बनता है और उद्देश्य के रूप से पशुफल अन्वित होता है।

जैसे 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' वाक्य में धात्वर्थ होम करण एवं साध्य न होते हुए भी आश्रयत्वेन उसका अन्वय मानकर धात्वर्थ का सार्थक्य सिद्ध किया गया है उसी प्रकार उद्भिद्वाक्य में भी यज् धातु का अन्वय मानकर सार्थक्य क्यों नहीं सिद्ध किया जाता है? ऐसी शंका का उत्थापन करते हैं—अथ गुणफलसम्बन्धविधाने आदि। शंका का समाधानग्रन्थ है—न, यजेतेत्यत्राश्रयत्ववाचकपदाभावात्। 'यजति' में यज् धातु का अर्थ याग है, प्रत्यय का अर्थ भावना है। भावना में याग का करणत्व लक्षणा से माना जाता है। क्योंकि करणत्व की वाचिका तृतीया नहीं है। जैसे करणत्ववाचक तृतीया के न होने पर भी लक्षणा मानी जाती है उसी प्रकार आश्रयत्व की वाचिका विभक्ति के न रहने पर भी लक्षणा से आश्रयत्व की कल्पना की जा सकती है। किन्तु आश्रयत्व की कल्पना की अपेक्षा करणत्व की लक्षणा लघुभूत है। अतः करणत्व की लक्षणा समुचित है। पाणिनीय-अनुशासन कर्ता एवं करण अर्थ में तृतीया का विधान करता है। इससे सिद्ध है कि तृतीया की शक्ति करणरूप अर्थ में विद्यमान है। इस प्रकार आश्रयरूप अर्थ का बोधक प्रत्यय कोई नहीं है। फल को उद्देश्य कर विहित दध्यादि गुण, कारक होकर जिस क्रिया को सम्पन्न करता हुआ फल निष्पादन करता है वह क्रिया आश्रय कहलाती है। यज् धात्वर्व को करण बनाया जाय अथवा आश्रय, दोनों के लिए लक्षणा का आश्रयण तुल्य है। तथापि लक्षणा के लाघव और गौरव का विचार करना आवश्यक है। लक्षणा जघन्यवृत्ति होते हुए भी लाघव को ही सहन करेगी, गौरव को नहीं। मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार जैसे घटपद की शक्ति घटत्व में है घटत्वविशिष्ट द्रव्य में नहीं, वैसे ही तृतीया की शक्ति करणत्व में है शक्तिमद्द्रव्य में नहीं। करणत्व की लक्षणा में यह लाघव है। आश्रय के स्वरूप को देखने पर विदित होता है कि आश्रय पदार्थ को कुक्षि में 'फलोद्देश्यकगुणनिष्ठकरणतानिरूपकत्व' प्रविष्ट है। अर्थात् फल उद्देश्य है जिसका ऐसा जो गुण दधि आदि, उसमें रहने वाली करणता का निरूपक जो होगा वह आश्रय है। फल के लिए विहित गुण की करणता स्वरूपेण फलसाधक नहीं बन सकती है क्योंकि 'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्' इस पद्धति से व्यापारवत्ता

त्वमपि लक्ष्यमिति चेत्—न; आश्रयत्वापेक्षया करणत्वस्य लघुत्वेन तल्लक्षणाया एव युक्तत्वात्। फलाय विधीयमानो गुणो यत्र [1]कारकतामापद्यते स आश्रयः, तत्त्वं चाश्रयत्वम्। करणत्वं च निष्कृष्टा शक्तिरिति लाघवम्।

किञ्च गुणफलसम्बन्धविधाने करणीभूतो गुणः तन्निष्ठं वा करणत्वं फलोद्देशेन विधेयम्। तत्राद्ये पक्षे करणत्वस्य गुणोपसर्जनत्वेन प्रतीतिलं-

---

उसमें जब तक नहीं आयगी तब तक वह गुणनिष्ठ करणत्व क्या कर सकेगा? अतः आश्रय पदार्थ को जानने के लिए इतने अर्थों को समझना पड़ता है। इन्हीं कारणों से लक्षणा मानना गौरवावह होता है। इतने विचार से निष्कर्ष निकलता है कि 'उद्भिदा यजेत' वाक्य में यज् धातु के अनन्तर तृतीया-विभक्ति या आश्रयत्व बोधक सामग्री नहीं रहने पर लक्षणा का आश्रयण कर करणत्व या आश्रयत्वरूप अर्थ के बोध को प्राप्त करने के लिए करणत्व लक्षणा ही लघुभूत होने से उचित है, आश्रयत्व-लक्षणा उचित नहीं है।

'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इस गुणफल विधान स्थल में गुरुभूत होने पर भी आश्रयत्व की लक्षणा मानी जाती है क्योंकि वहाँ 'दध्ना जुहोति' वाक्य से होमसाधन नित्य दधि का विधान है और 'दध्नेन्द्रियकामस्य' वाक्य से काम्य दधि का भी विधान है। काम्यवाक्य फल को उद्देश्य कर दधि का विधान करता है और नित्यवाक्य होम को उद्देश्य कर दधि का विधान करता है। चतुर्थाध्याय तीसरे पाद के संयोगपृथक्त्वाधिकरण न्याय से नित्य दधि से अलग होम नहीं करते हुए काम्य दधि से ही नित्याग्निहोत्र कर्म को संपन्न मान लिया जाता है। 'काम्यं नित्यस्य बाधकम्' न्याय है। अतः काम्य दधिवाक्य में करण दधि और साध्य फल बन जाते हैं। फल संपन्न करने के लिए दधि स्वयं समर्थ नहीं है। इसलिए वह प्रकृत क्रिया को आश्रय बना लेती है, आश्रय के बिना वह फल की संपादिका नहीं बन सकती। अत एव यज धातु को लक्षणा गुरुभूत आश्रय में स्वीकार की जाती है। प्रकृत उद्भिद् वाक्य में वैसी स्थिति नहीं है।

दोषान्तर का भी उद्भावन करते हैं—किञ्च गुणफलसम्बन्धविधाने आदि। फल को उद्देश्य कर विधीयमान गुण का अन्वय दो प्रकार से हो सकता है। 'दध्ना' इस तृतीयान्त पद में दधि प्रकृत्यर्थ है और करणत्व प्रत्यय का अर्थ है। प्रत्ययार्थ करणत्व का प्रकृत्यर्थ दधि में अन्वय करने पर करणत्वविशिष्ट दधि और प्रकृत्यर्थ दधि को प्रत्ययार्थ करणत्व में अन्वय करने पर दधिनिष्ठ करणत्व ऐसे दो अर्थ भासित होते हैं। प्रथम पक्ष के अनुसार करणत्वविशिष्ट दधि का भावना में अन्वय करणत्व-संबन्ध से करना होगा। यह करणत्व लक्षणा से ही भासित होगा—'करणत्वविशिष्ट

---

१. प्रकारताम्, क।

क्षणयैव वाच्या। तस्य तृतीयाप्रत्ययार्थत्वात् प्राधान्येनोपस्थितेः।

यदापि गुणनिष्ठं करणत्वं फलोद्देशेन विधेयं तदापि फलभावनायां करणत्वेनान्वययोग्यगुणनिष्ठकरणत्वोपस्थितिर्लक्षणयैव वाच्या। तृतीयाभिहितस्य करणकारकस्य क्रियान्वययोग्यस्य करणत्वेनान्वयायोग्यत्वात्।

दधिकरणिका भावना'। इस पक्ष में 'दध्ना' यह तृतीया करणत्व को प्राधान्येन कहती है, गुण दधि के विशेषणरूप से नहीं। क्योंकि 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन' इस स्मृति से प्रत्ययार्थ करणत्व को प्रधान माना गया है। अतः यह पहला पक्ष ठीक नहीं है।

दूसरे पक्ष का उत्थापन करते हैं—यदापि गुणनिष्ठं करणत्वम् आदि। दूसरा पक्ष है 'दधिनिष्ठं करणत्वम्'। इस पक्ष में प्रकृत्यर्थ दधि उपसर्जन रूप से तथा प्रत्ययार्थ करणत्व प्रधान रूप से भासमान हैं। अतः 'प्रकृतिप्रत्ययौ' स्मृति का विरोध नहीं है। यद्यपि इस पक्ष में करणत्वगुण दधि का उपसर्जन नहीं है, तथापि तृतीया विभक्ति के द्वारा अभिहित कारक की साक्षात् क्रिया-भावना के साथ अन्वय की योग्यता है 'कारकाणां क्रिययैवान्वयनियमात्' 'कारके' (पा. सू.) इस अधिकार में 'साधकतमं करणम्' (पा. सू.) सूत्र से करणसंज्ञा का विधान कर 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' (पा. सू.) से तृतीया विभक्ति का विधान है। 'दध्ना' में तृतीया विभक्ति से करणकारक का अभिधान है। कारक का साक्षात् क्रिया से ही संबन्ध नियत है। इस स्थिति में करणत्वरूप से अन्वय के योग्य गुण-दधिनिष्ठ करणत्व की उपस्थिति लक्षणा से ही माननी पड़ेगी। श्रूयमाण तृतीया कारक सीधे भावना में अन्वित होने की योग्यता रखता है। तात्पर्य यह है कि दधिनिष्ठ करणत्व का फल के उद्देश्य से विधान किया जा रहा है। दधिनिष्ठ करणत्व का प्रतिपादन श्रूयमाण-तृतीया नहीं कर रही है, यह केवल तृतीया कारक में शक्ति रखती है। अतः गुणनिष्ठ करणत्व की उपस्थिति लक्षणा के बिना संभव नहीं है। यहाँ शंका हो सकती है कि श्रूयमाण तृतीयाविभक्ति के द्वारा अभिधावृत्ति (शक्ति) से प्रतिपादित करणत्व का भावना में अन्वय करने पर लक्षणा क्यों होगी? इसके उत्तर में कहते हैं—तृतीयाभिहितस्य करणकारकस्य आदि। पूर्व कहा जा चुका है कि 'कारके' इस अधिकार को लेकर तृतीया विहित है। वह कारक होने से साक्षात् क्रिया-भावना से संबन्ध रखता है। गुणनिष्ठ करणत्व का करणत्वरूप से भावना में अन्वय मानने पर गुणनिष्ठकरणत्व (जो तृतीया विभक्ति से बोधित है) का भावना से भिन्न करणत्व के साथ अन्वय मानना होगा—'दधिनिष्ठकरणत्वकरणिका भावना' दधिनिष्ठ करणत्व है करण जिसका ऐसे अर्थ में दधिनिष्ठ करणत्व का करणत्व में अन्वय (जो भावना से भिन्न है) मानना होगा, यह असंगत है। क्योंकि करण-कारक क्रिया से अन्वय करने की योग्यता रखता है और यहाँ क्रिया के साथ अन्वय न करते हुए क्रियाभिन्न के साथ अन्वय करना पड़ रहा है। यह ठीक नहीं है।

करणशब्देनाभिहितं हि करणकारकं तत्त्वेनान्वययोग्यं न तृतीयाभिहितम्। करणशब्दादिव तृतीयातस्तृतीयोत्पत्तिप्रसङ्गात्। अतश्च करणत्वेनान्वययोग्यगुणनिष्ठकरणत्वोपस्थितिर्लक्षणयैव वाच्या।

लक्षणया चोपस्थितकरणत्वस्य करणीभूतस्य वा गुणस्य फलभावनायां यत्करणत्वं तदपि लक्षणयैव वाच्यम्, श्रूयमाणया तृतीयया गुणमात्रस्य यागं प्रति करणत्वाभिधानात्।

अतएव [1]तन्त्ररत्ने चतुर्थे करणीभूतगोदोहनादेः पश्वर्थत्वं समभिव्याहा-

---

यहाँ शंका होती है कि 'बाणेन करणेन हन्यते' 'दध्ना करणेन होमस्सम्पाद्यते' 'दण्डेन करणेन घटः क्रियते' आदि प्रयोगों में 'बाणेन' 'दध्ना' 'दण्डेन' में तृतीया से अभिहित करणकारक का कृदन्त करणशब्दार्थ के साथ अन्वय देखा जाता है, जो क्रिया से भिन्न है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं—करणशब्देनाभिहितं हि करणकारकम् आदि। उत्तर का भाव है—कृदन्त करण शब्द का अर्थ करणत्व है एवं तृतीया विभक्ति का भी अर्थ करणत्व है, किन्तु इनमें भेद है। कृदन्त करण शब्द द्रव्य के उपसर्जनीभूत करणत्व का प्रतिपादक है। तृतीयाविभक्ति द्वारा प्रतिपादित करणत्व द्रव्य के उपसर्जनीभूत करणत्व का प्रतिपादक नहीं है, यह प्रधानभूत कारक का अभिधायक है। अत एव इस कारक का क्रिया के अतिरिक्त के साथ अन्वय नहीं होता है। कृदन्त करण शब्द से अभिहित करणत्व का अन्वय क्रियाभिन्न के साथ होने में कोई बाधा नही है। ऐसा यदि नहीं माना जाय तो जैसे—कृदन्त करण शब्द के ऊपर तृतीया विभक्ति लगती है वैसे ही तृतीया विभक्ति के ऊपर भी तृतीया विभक्ति लगानी पड़ेगी। इसलिए करणत्वरूप से अन्वययोग्य दध्यादिगुणनिष्ठ करणत्व की उपस्थिति लक्षणा से ही होगी।

इस प्रकार दध्यादि द्रव्य के उपसर्जनीभूत करणत्व एवं दधिनिष्ठ करणत्व की उपस्थिति लक्षणा से मान कर फलभावना में अन्वय करते हुए करणत्वरूप से अन्वय मानना है। क्योंकि फल को उद्देश्य कर करणीभूत दधि या दधिनिष्ठ करणत्व का विधान है। अन्वय के लिए करणत्व की उपस्थिति लक्षणा से ही करनी होगी। 'दध्ना' पद में श्रूयमाण तृतीया धात्वर्थ के प्रति गुण को करण बतलाने में एवं गुणनिष्ठकरणत्व के लक्षक होने में चरितार्थ हो जाती है।

इस प्रकार लक्षणा के भय से पार्थसारथि मिश्र अपने तन्त्ररत्न ग्रन्थ में कहते हैं कि—करणीभूतगोदोहनादेः पश्वर्थत्वं समभिव्याहारात्। गुणफलविधान स्थल में फल के प्रति दध्यादि गुण के अङ्ग होने का प्रमाण समभिव्याहाररूप वाक्य

---

१. *तन्त्ररत्नम्* श्रीपार्थसारथिमिश्रकृतो व्याख्यानविशेषः श्रीकुमारिलस्वामिकृतायाः टुप्टीकायाः।

रादित्युक्तम्। ततश्च गुणफलसम्बन्धविधाने धातोरत्यन्तपारार्थ्यादिबहुदोषवत्त्वादुद्भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे गुणविशिष्टकर्मविधानमेव स्वीकार्यम्। तथा सति हि यजिना लघुभूतं करणत्वमात्रं लक्ष्यम्। उद्भिच्छब्देन च प्रकृत्यंशेन मत्वर्थमात्रं लक्ष्यमिति गुणफलसम्बन्धविधानाल्लाघवं भवति। धातोरत्यन्तपारार्थ्यादिकं तु न भवत्येव। धात्वर्थस्यैव फलोद्देशेन विधानात्। अतश्चोद्भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे तेन मत्वर्थं लक्षयित्वा गुणविशिष्टकर्मविधानं स्वीकार्यम्—उद्भिद्वता यागेन पशून् भावयेदिति।

कर्मनामधेयत्वे तु उद्भिच्छब्दस्य न मत्वर्थलक्षणा। मुख्ययैव वृत्त्या यजिसामानाधिकरण्येन तस्यान्वयसम्भवात्—उद्भिदा यागेन पशून् भावयेदिति। सम्भवति च मुख्येऽर्थे न लक्षणा आश्रयितुं युक्ता। सन्निकृष्टविधानं तु समानमेव।

ही है, लक्षणा की आवश्यकता नहीं है। लक्षणा माने या समभिव्याहाररूप वाक्य हो दोनों पक्षों में 'उद्भिदा यजेत' वाक्य में उद्भिद् शब्द को गुण बोधक मानकर उस गुण का फलसंबन्ध कहने से अर्थात् गुणफलसंबन्ध विधान कहने से धातुपारार्थ्य-धातु के अत्यन्त पारार्थ्य आदि अनेक दोष होंगे। उसकी अपेक्षा फल को उद्देश्यकर गुणविशिष्ट याग का विधान स्वीकार करना होगा। इस प्रकार विधान मानने पर धातु के पारार्थ्य आदि दोष नहीं होंगे। धात्वर्थ याग का करणत्व में लक्षणा, जो लघुभूत है, एवं उद्भिद्शब्द के प्रकृत्यर्थ में मत्वर्थलक्षणा माननी पड़ती है। इस प्रकार की विधि में गुणफलसंबन्ध विधि की अपेक्षा लाघव का अनुभव होगा। धात्वर्थ याग को विधेय कोटि में आजाने से उसमें पारार्थ्य दोष नहीं आता जैसा दोष गुणफल-संबन्धविधान पक्ष में होता था। अतः उद्भिद्वाक्य का बोध 'उद्भिद्वता यागेन पशून् भावयेत्' होगा। यदि उद्भिद्शब्द को कर्मनामधेय माना जाय तो मत्वर्थ लक्षणा का भी दोष नहीं होगा। लक्षणा के बिना उद्भिद्याग से पशुफल का संपादन करो, ऐसा बोध सिद्ध होता है। इस रीति से मुख्य अर्थ के संभव होने पर जघन्य वृत्ति लक्षणा को स्वीकार कर उद्भिच्छब्द का गुणसमर्पकत्व मानना उचित नहीं हैं। पूर्वपक्ष और सिद्धान्त में विधि के संनिहित धात्वर्थविधान तो तुल्य हैं, किन्तु पूर्वपक्ष में मत्वर्थ लक्षणा करनी पड़ती है और सिद्धान्त में उक्त लक्षणा नहीं करनी पड़ती।

मत्वर्थ लक्षणा के भय से उद्भिद्शब्द को नामधेय मानने पर जहाँ-जहाँ मत्वर्थ लक्षणा मानी जाती है वहाँ-वहाँ लक्षणा के भय से नामधेय मानना होगा। जैसे 'सोमेन यजेत' आदि। इस वाक्य में 'सोमवता यागेन इष्टं भावयेत्' इस प्रकार मत्वर्थलक्षणाघटित बोध पहले सिद्ध किया गया है, इस प्रकार की शंका का

न चैवं 'सोमेन यजेत' इत्यत्रापि सोमपदस्य यागनामधेयत्वापातः, गुणविधित्वे मत्वर्थलक्षणापत्तेरिति वाच्यम्। सोमपदस्य लतायां रूढत्वेन यागनामधेयत्वानुपपत्तेरगत्या लक्षणाश्रयणात्। उद्भिच्छब्दस्य तु नैवं वाच्योऽर्थः कश्चित्प्रसिद्धः। उद्भिद्यतेऽनेनेति योगस्य तु गुण इव यागेऽपि फलोद्भेदनकारिण्युपपत्तेः। तत्सिद्धमुद्भिच्छब्दस्य मत्वर्थलक्षणाभयाद्यागनामधेयत्वम्।

(वाक्यभेदभयात् कर्मनामधेयत्वनिरूपणम्)

'चित्रया यजेत पशुकामः' इत्यत्र चित्राशब्दस्य वाक्यभेदभयात् कर्मनामधेयत्वम्। तथा हि—

न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं सम्भवति, 'दधि मधु घृतं पयो धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्' इत्यनेन विहितत्वाद्यागस्य विशिष्टविधा-

---

उत्थान कर निराकरण करते हैं—'न च सोमेन यजेत' आदि। समाधान है कि मत्वर्थलक्षणा के भय से नामधेय उन शब्दों को माना जाता है जो यौगिक होते हैं। 'सोमेन' यह सोम पद लताविशेष में रूढ है। रूढशब्द इस अधिकरण के उदाहरण नहीं हैं। लताविशेष में रूढ सोमशब्द नामधेय नहीं बन सकता। अत एव सोम शब्द में मत्वर्थ लक्षणा मानी गयी है। उद्भिद्शब्द सोम पद के समान किसी अर्थविशेष में प्रसिद्ध नहीं है। 'उत्-ऊर्ध्वं भिद्यतेऽनेन' व्युत्पत्ति से ही उद्भिच्छब्द गुण-खनित्र आदि का बोधक होता है। इसी व्युत्पत्ति से 'उत् ऊर्ध्वं भिद्यते प्रकाश्यते फलमनेन' फलप्रकाशकत्व निमित्त से उद्भिद् शब्द याग का नाम बन सकता है। अतः मत्वर्थ लक्षणा की भीति से उद्भिच्छब्द याग का नाम है, यह सिद्ध हुआ।

वाक्यभेद-भीति से नामधेय

वाक्यभेदभीति से नामधेय 'चित्रया यजेत पशुकामः' वाक्य में 'चित्रा' शब्द को नामधेय माना जाता है। इस अधिकरण में रूढ शब्द ही उदाहरण है। चित्राशब्द विचित्र गुण का वाचक है। जिस इष्टि में विचित्र द्रव्य हैं उस इष्टि का नाम है 'चित्रा'। वाक्य का अर्थ हुआ चित्रा नामक इष्टि से पशुफल का संपादन किया जाय। चित्रा पद को नामधेयत्व बनाने के लिए चित्रगुणविशिष्ट यागविधान रूप पक्ष का निराकरण करते हैं—न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानम्। इस वाक्य के द्वारा चित्रगुणवाले द्रव्यविशिष्ट कर्म का विधान या किसी याग के द्रव्य को उद्देश्य कर चित्रगुण का विधान संभव है। इन दो पक्षों में प्रथम पक्ष संभव नहीं है। क्योंकि 'दधि मधु घृतं पयोधाना उदकं तण्डुलाः प्राजापत्यम्' वाक्य से दधि आदि सात द्रव्यों से युक्त प्रजापतिदेवताक याग विहित हो चुका है।

नानुपपत्तेः। [1]प्राप्तस्य च यागस्य फलसम्बन्धे गुणसम्बन्धे च विधीयमाने वाक्यभेदः।

अथ चित्राशब्दात् चित्रत्वस्त्रीत्वयोः प्रतिपत्तेः स्त्रीत्वस्य च स्वभावतः प्राणिधर्मत्वात् प्रकृते दध्यादिद्रव्यके कर्मणि निवेशायोगान्नानेन वाक्येन

विहित याग का पुनर्विधान असंगत है। दध्यादि वाक्य से विहित यागमात्र का पुनर्विधान संगत नहीं है। किन्तु फल को उद्देश्य कर चित्रगुण विशिष्ट उस याग का विधान माना जाय तो क्या असंगति होगी? इस शंका का उत्तर दे रहे हैं—प्राप्तस्य च यागस्य आदि। चित्रागुणविशिष्ट याग का विधान मानने पर भी प्राप्ताप्राप्तविवेक न्याय से विधि का व्यापार चित्रागुण एवं फलसंबन्ध में पर्यवसित होगा। इस प्रकार उभय विधान करने से वाक्यभेद दोष होगा। यद्यपि 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' आदि कई स्थलों में विहित याग को ही पुनर्विधानरूप फल को उद्देश्य माना गया है, तथापि प्रकृतस्थल में पुनर्विधान संगत नहीं है। क्योंकि चित्रगुण प्रयोगान्वयी नहीं है। अर्थात् गुणों में प्रयोगान्वयी और उत्पत्त्यन्वयी के रूप से दो विभाग हैं। देश-काल-कर्ता आदि प्रयोगविध्यन्वयी गुण कहे जाते हैं। द्रव्य और देवता आदि उत्पत्तिविध्यन्वयी गुण कहे जाते हैं। जिस वाक्य में प्रयोगान्वयी गुण रहता है उसका प्रयोगविधि नाम से एवं जिसमें उत्पत्त्यन्वयी गुण होता है उसका उत्पत्तिविधि के नाम से मीमांसक लोग व्यवहार करते हैं। एक ही स्थल में कर्तृकालदेशरूपी गुणों से युक्त अलग-अलग वाक्य होने पर या समान गुणवाले दो वाक्यों के होने पर उस स्थल में विरोध न होने पर समुच्चय, तथा विरोध होने पर विकल्प स्वीकार किया जाता है। जहाँ उत्पत्त्यन्वयी गुणयुक्त अनेक वाक्य हो उनमें एक को ही विकल्प रूप से माना जाता है। प्रकृत राजसूय प्रकरण में भिन्न-भिन्न उत्पत्तिविधियों के द्वारा भिन्न-भिन्न कर्मों का विधान होकर 'राजा राजसूयेन' वाक्य पठित है। यहाँ 'राजा' यह कर्ता का बोधक है। उत्पत्तिवाक्यों से विहित कर्मों का ही कर्तृगुणविशिष्ट याग के रूप में पुनर्विधान संगत है। चित्रावाक्य में चित्रागुण प्रयोगान्वयी नहीं है, किन्तु उत्पत्त्यन्वयी है। अतः 'दधि मधु' आदि वाक्य से विहित याग का चित्रावाक्य के द्वारा पुनर्विधान नहीं होगा। चित्रगुण एवं फलसंबन्ध में विधि के व्यापार को मानने पर वाच्यभेद रूप दोष दूर नहीं किया जा सकता है।

उक्त वाक्यभेद दोष का परिहार करता हुआ पूर्वपक्षी अपने पक्ष का उपस्थापन करता है—अथ चित्राशब्दाच्चित्रत्वस्त्रीत्वयोः आदि। 'चित्रया' स्त्रीलिङ्ग तृतीयाविभक्त्यन्त शब्द है। प्रकृति से चित्रत्व, प्रत्यय से स्त्रीत्व बोधित है। चित्रत्व का अर्थ है चित्रगुणविशिष्टत्व,[2] यह चित्रगुण में ही पर्यवसित है।

---

१. 'प्राप्तस्य' नास्ति. क.

२. भट्टपाद के मत में नील शुक्ल आदि व्यक्ति एक और नित्य हैं। इदं नीलम् इदमपि

प्रकृते कर्मणि गुणविधानम्, किन्तु प्राणिद्रव्यके कर्मणि; तत्रास्य वाक्यस्यानारभ्याधीतत्वात्, अनारभ्याधीतानां च 'प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात्' इति न्यायेन प्रकृतिगामित्वात् प्राणिद्रव्यकाणां च यागानां[1] 'दैक्षस्य चेतरेषु' इति न्यायेनाग्नीषोमीयप्रकृतिकत्वात्तदनुवादेनानेन वाक्येन गुणो विधीयते। दैक्षस्य च ज्योतिष्टोमाङ्गत्वेन स्वतन्त्रफलाकाङ्क्षाया अभावात् पशुकामपदं न फलसमर्पकम्; किन्तु अग्नीषोमीयपश्वर्जनाङ्गतया प्राप्तकामनानुवादः। तथा च न वाक्यभेद इति चेत्—

चित्रत्व और स्त्रीत्व इन दोनों में स्त्रीत्व केवल प्राणिद्रव्यों में ही रह सकता है। अतएव प्रकृत दध्यादि यागों में स्त्रीत्व का रहना संभव नहीं है। अतः प्रकृत याग को छोड़कर प्राणिद्रव्यक याग के अन्वेषण में प्रवृत्त होकर यह वाक्य अनारभ्याधीत (आरंभ के बिना पढ़ा हुआ) होने से सर्वप्राणिद्रव्यक यागों का प्रकृतिभूत अग्निषोमीय पशुयाग का अवलंबन करता है। पहले कहा जा चुका है कि अनारभ्याधीत पदार्थ प्रकृतिगामी होते हैं। सर्वपशुयागों के प्रकृतिभूत अग्नीषोमीय पशुयाग का अवलंबन करने पर उस पशु को उद्देश्य कर चित्रगुणसंबन्ध एवं फलसंबन्ध दोनों के विधान होने से वाक्यभेद की शंका हो सकती है। किन्तु 'चित्रया यजेत पशुकामः' वाक्य में 'पशुकाम' शब्द फल का बोधक नहीं है, यह उस कामना का अनुवादक है, जो यजमान याग के पशुद्रव्यसाधन लक्षण से लक्षित के लिए अर्जन-कामना करता है। तात्पर्य यह है कि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' वाक्य में जैसे पशुकाम पद फलबोधक है वैसे चित्रावाक्य में वह पद फल का बोधक नहीं है। अग्नीषोमीय पशुयाग के अनुष्ठान में प्रवृत्त यजमान लक्षण से लक्षित पशु के अर्जन की कामना करता है—मुझे शास्त्रोक्त लक्षणों से युक्त पशु की प्राप्ति हो। इस कामना का अनुवादक चित्रावाक्य का 'पशुकाम' पद है। अग्नीषोमीय पशु, ज्योतिष्टोम याग का अंग होने से अंगी ज्योतिष्टोम के फल से ही फलवान् हो जाता है। इसलिए चित्रावाक्य के द्वारा फलसम्बन्धविधान की आवश्यकता नहीं है। चित्रावाक्य में चित्रगुण मात्र का विधान मानने से वाक्यभेद का प्रसङ्ग नहीं होता। अतः चित्रावाक्य चित्रगुण का विधायक है, चित्रापद नामधेय नहीं है।

नीलम् आदि भेदप्रतीति आश्रय के भेद से सिद्ध होती है। अतः रूपत्वातिरिक्त नीलत्व आदि जाति नहीं है। शब्दनित्यत्वाधिकरण में वार्तिककार कहते हैं कि

'एतयैव दिशा वाच्या शुक्लादेरपि नित्यता।
संसर्गमात्रभेदेन स्यात्तत्रापि हि भेदधीः॥
स्वरूपं तु तदेवेति को जातिं कल्पयिष्यति॥

नैयायिकों के मत में रूपत्वव्याप्य चित्रत्व-नीलत्व आदि जातियाँ विद्यमान हैं।

१. 'यागानां' नास्ति. क।

तथापि दैक्षानुवादेन चित्रत्वस्त्रीत्वविधाने वाक्यभेदः। विशिष्टकारकविधानेऽपि गौरवलक्षणो वाक्यभेद एव। कारकस्यापि प्राप्तत्वेन विशिष्टविधानानुपपत्तिश्च। [1]पशुकामपदस्यापि स्वरसतः फलपरस्य कामनानुवादत्वे आनर्थक्यापत्तेश्च। न च नियमतः पश्वर्जनकामना भवति, कामनातः प्रागेव केनचित् दत्ते पशौ तदभावात्। तथा च पशुकामपदस्य नित्यवच्छ्रवणबाधः।

इस शंका का समाधान करते हैं—तथापि दैक्षानुवादेन आदि। चित्रावाक्य को पशुकाम पद का अनुवादक मानने पर वाक्यभेद का परिहार हो जाता है तथापि प्रकारान्तर से वाक्यभेद होगा। प्रकृत्यर्थ चित्रत्व के साथ प्रत्ययार्थ स्त्रीत्व का भी दैक्ष अग्नीषोमीय पशु को उद्देश्य कर विधान करना होगा। और दो के विधान होने से वाक्यभेद दोष का परिहार करना कठिन होगा। यदि चित्रत्व और स्त्रीत्व का अलग-अलग विधान न मान कर चित्रत्वस्त्रीत्वविशिष्टकारक एक का ही विधान करेंगे, तो भी विशिष्टविधिप्रयुक्त गौरवरूप वाक्यभेद होगा ही। अनेक पदार्थों के विधान में विध्यावृत्तिकृत वाक्यभेद होता है, उसकी अपेक्षा गौरवरूप वाक्यभेद होने पर भी इसमें लाघव है ही। अतः चित्रत्वस्त्रीत्वविशिष्ट कारक विधान पक्ष ही माना जाय, चित्राशब्द को नामधेय क्यों माना जाय? इस शंका के उत्तर में कहते हैं—कारकस्यापि प्राप्तत्वेन। 'पशुना यजेत' इस उत्पत्तिवाक्य के द्वारा कारक-पशु प्राप्त है। प्राप्त का पुनः विधान उचित नहीं है। पूर्वपक्षी ने कहा था कि 'चित्रया यजेत पशुकामः' में 'पशुकाम' पद यजमान की पश्वर्जन कामना का अनुवादक है। यह असंगत इसलिए है कि सर्वत्र अधिकार वाक्यों में श्रुत कामिपद से युक्त शब्द जैसे 'पशुकामः', 'स्वर्गकामः', 'वृष्टिकामः', 'पुत्रकामः' आदि फलपरक माने गये हैं। यहाँ उस प्रकार के पद को अनुवादक ठहराना ठीक नहीं है, साथ ही यजमान की पश्वर्जनकामना नियत नहीं है। यदि कामना के पूर्व ही यागीयलक्षणलक्षित पशु की प्राप्ति हो जाय तो कामना कैसी होगी? अतः यह उचित नहीं है। वाक्य में पशुकाम पद नित्यवत् श्रुत है, अर्थात् पाक्षिक नहीं है, इसलिए यह इसका बाधक भी होगा। यह भी दोष है कि पशु के उत्पत्तिवाक्य में पुंस्त्व श्रुत है 'पशुना' या 'अग्नीषोमीयं पशुम्'। यह पुंस्त्व उत्पत्तिशिष्ट है। उत्पत्तिविशिष्ट गुण के रहते हुए उत्पन्न चित्रावाक्य के द्वारा स्त्रीत्व का विधान करना गुणाधिकरण न्याय का विरोध होगा। जैसा पहले कहा जा चुका है 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' वाक्य से विहित आमिक्षा द्रव्य रहते हुए 'वाजिभ्यो वाजिनम्' वाक्य से आमिक्षा याग में वाजिन का विधान नहीं होता है। उसी प्रकार पुंस्त्व से अवरुद्ध द्रव्य में स्त्रीत्व का विधान अनुचित है।

इस सन्दर्भ में शंका हो सकती है कि 'अग्नीषोमीयं पशुम्' वाक्य में पशुपद पठित है। इस पशुपद का पुंलिङ्ग के समान स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयोग

---

1. कामप.।

दैवस्योत्पत्तिशिष्टपुंस्त्वावरुद्धत्वेन तत्र स्त्रीत्वविधानानुपपत्तेश्च; आमिक्षा-यागानुवादेन वाजिनविधानवत्। 'कृष्णसारङ्गोऽग्नीषोमीयः' इति विशेषविहितेन स्वसन्निधिपठितेन च कृष्णसारङ्गवर्णेनावरुद्धे चित्रत्वस्यानारभ्याधीतेन सामान्यशास्त्रेण विधानानुपपत्तेश्च; पाञ्चदश्यावरुद्ध इव साप्तदश्यविधानम्।

अथ मा भूदग्नीषोमीयपश्वनुवादेन चित्रत्वस्त्रीत्वविधानम्।

हो सकता है। यद्यपि 'छागस्य वपायामेदसः' इस मन्त्र में छाग पद से पुंस्त्व अवगत है। अतः स्त्रीत्व को आने नहीं देगा। तथापि 'चित्रया यजेत' यह प्रत्यक्ष-विधि है। विधि से मन्त्र दुर्बल होता है। दुर्बलमन्त्रगत पुंस्त्व प्रबलविधिगत स्त्रीत्व का बाधक नहीं बन सकता है। अतः चित्रावाक्य स्त्रीत्व का विधान कर सकता है, इस शंका का उत्तर दे रहे हैं—कृष्णसारङ्गोऽग्नीषोमीयः आदि। यद्यपि केवल स्त्रीत्व का विधान हो सकता है तथापि 'चित्रया' में प्रातिपदिकार्थ चित्रत्व अप्राप्त होने से अनुवादक है यह कहना उचित नहीं है। उसका भी विधेय कोटि में सम्बन्ध करना चाहिये। प्रकरणगत 'कृष्णसारङ्ग' वर्ण रहते हुए चित्रत्व का विधान सम्भव नहीं है। किञ्च कृष्णसारङ्ग वाक्य प्रकरणगत होने से आरभ्याधीत है, और चित्रावाक्य तो अनारभ्याधीत है। पहले कहा जा चुका है कि अनारभ्यविधि सामान्य शास्त्र होता है, और आरभ्याधीत विशेषशास्त्र होता है। जैसे दर्शपूर्णमास में सामिधेनी के प्रकरणगत पांचदश्य के रहते हुए अनारभ्याधीत साप्तदश्य का निवेश सम्भव नहीं होता है उसी प्रकार प्राकरणिक कृष्णसारङ्ग के रहते हुए अनारभ्याधीत चित्रत्व का निवेश सम्भव नहीं होगा।

इतने विचारों का निष्कर्ष यह हुआ कि अग्नीषोमीय पशु को उद्देश्य कर चित्रावाक्य के द्वारा चित्रत्वस्त्रीत्वविशिष्ट कारक का विधान असम्भव है, क्योंकि वह 'पशुना यजेत' से प्राप्त है। सामान्य कारक के प्राप्त होने पर भी चित्रत्वस्त्रीत्व-विशिष्ट कारक के प्राप्त न होने से तद्विशिष्ट का विधान करना भी सङ्गत नहीं होगा। क्योंकि प्रयोगान्वयिगुण होने पर राजसूय वाक्य के समान पूर्वोक्त विशिष्ट विधान हो सकता है, परन्तु इस वाक्य में चित्रत्व उत्पत्त्यन्वयिगुण है। अतः विहित का विशिष्ट विधान सम्भव नहीं है। अग्नीषोमीय पशु में पुंस्त्व विद्यमान है। अतः स्त्रीत्वमात्र का विधान भी सम्भव नहीं है। कृष्णसारङ्ग वर्ण के अवरोध से चित्रत्व का भी विधान युक्त नहीं है। दोनों के विधान से वाक्यभेद है ही। अतः चित्रा-शब्द गुणसमर्पक नहीं हो सकता, वह नामसमर्पक ही है।

पुनः शंका की जाती है—अथ मा भूदग्नीषोमीयपश्वनुवादेन इत्यादि। अग्नीषोमीय पशु का अनुवाद कर चित्रत्व-स्त्रीत्व के विधान से इतने दोष होते हैं, किन्तु जिस पशुयाग के द्रव्य में स्त्रीत्व प्राप्त है उसका अनुवाद कर चित्रत्वमात्र

'सारस्वती मेषी' इति वाक्यविहितयागाङ्गमेष्यनुवादेन तु गुणविधानं स्यात्, चित्रयेति स्त्रीकारकानुवादेन चित्रत्वमात्रविधानात्। न च प्राकृतेन कृष्णसारङ्गवर्णेन नैराकाङ्क्ष्यान्न चित्रत्वविधानं युक्तमिति वाच्यम्। उपदिष्टेन चित्रत्वेनातिदिष्टस्य वर्णान्तरस्य बाधोपपत्तेरिति चेत्—

मैवम्; न हि चित्रयेत्येकेन[1] पदेन स्त्रीकारकस्योद्देशः चित्रत्वस्य च विधानं सम्भवति, एकप्रसरताभङ्गलक्षणवाक्यभेदापत्तेः। उद्देश्यविधेयभाव-

---

का विधान किया जाय तो वाक्यभेद आदि दोषों की सम्भावना नहीं होगी। अग्नीषोमीय पशुयाग का एक विकृति याग 'सारस्वती मेषी' वाक्य से विहित है। मेषी होने से स्त्रीत्व सिद्ध है। इस स्त्रीत्व को 'चित्रया' के प्रत्यय से अनुवाद कर प्रातिपदिकार्थ चित्रत्व का विधान माना जाय तो क्या दोष है? यद्यपि कृष्णसारङ्ग वर्ण प्रकृति से अतिदेश के द्वारा मेषी याग में प्राप्त हो सकता है, तथापि वह अतिदिष्ट है, चित्रत्व तो उपदिष्ट है। अतिदेश से उपदेश प्रबल है। अतः कृष्णसारङ्ग को चित्रत्व रोक देगा, अर्थात् बाध करेगा। चित्रावाक्य को अनारभ्याधीत माना गया है, कृष्णसारङ्गवाक्य आरभ्याधीत है और प्रकृति अग्नीषोमीयपशु प्रकरण का है। प्रकृति पशु के जितने अंग हैं वे विकृतिमेषी याग में अतिदेश से प्राप्त हैं, कृष्ण सारंग भी प्राप्त हैं। प्राप्त इस वर्ण का अनारभ्याधीत चित्रत्व कैसे बाध कर सकता है? बाध होने पर अनारभ्याधीत साप्तदश्य से प्राकृत पाञ्चदश्य का भी विकृति में बाध मानना होगा तो उस अधिकरण न्याय का विरोध होगा। इस शंका को पूर्वपक्षी यह कहकर दूर करता है कि साप्तदश्य मित्रविन्दादि यागों में सावकाश है, उस तरह चित्रत्व सावकाश नहीं है। यदि कृष्णसारंग का बाध नहीं करेगा तो चित्रावाक्य अनर्थक हो जाता है। अतः साप्तदश्य न्याय को स्वीकार नहीं करते हुए चित्रावाक्य की सार्थकता के निमित्त अतिदेशप्राप्त कृष्णसारंग का चित्रत्व बाधक हो जाता है। अतः मेषी द्रव्य का चित्रया के स्त्री प्रत्यय से अनुवाद कर चित्रत्व के विधान करने में कोई दोष नहीं है।

इस पूर्वपक्ष का निरसन करते हैं—मैवम् आदि से। एक ही पद के एक अंश को उद्देश्य मानना और दूसरे अंश का विधान करना एकप्रसरताभङ्ग दोष बनाना है अर्थात् 'चित्रया इस तृतीयाटाप्प्रत्ययान्त पद से मेषी द्रव्य का अनुवाद और प्रातिपदिकार्थ चित्रत्व का विधान करने से एकप्रसरताभङ्ग रूप दोष होगा। 'चित्रया' पद विशिष्ट एक अर्थ का प्रतिपादक है। भिन्नार्थक होने पर एकार्थीभावरूप सामर्थ्य नहीं बनेगा और एकार्थीभाव के न रहने पर उद्देश्यत्व और विधेयत्व-

---

१. येत्यनेन चित्रत्वकारकोद्देशः इति क।

स्यानेकपदसाध्यत्वात् । अत एव 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इत्यत्र विशिष्टभक्षविधिः, न तु भक्षानुवादेन प्राथम्यविधिरित्युक्तं तृतीये ।

मेष्यनुवादेन चित्रत्वविधाने फलपदानर्थक्यापत्तेश्च । उभयविधाने [1]वाक्यभेदः स्यात् । प्रकृतस्य च यागस्य फलाकाङ्क्षाया अनिवृत्तेः । विश्वजिन्न्यायेन फलकल्पने गौरवम् । 'दधिमधि' त्याद्युत्पत्तिवाक्येनैतस्याधिकारवाक्यस्य [2]प्रतिपन्नैकवाक्यताबाधेन वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च । चित्राशब्दस्य तु कर्मनामधेयत्वे प्रकृतस्य कर्मणः फलाकाङ्क्षस्य फलसम्बन्धमात्रकरणान्न वाक्यभेदः । प्रकृताया इष्टेरनेकद्रव्यकत्वेन चित्राशब्दस्य तत्रोपपत्तेः । तत्सिद्धं वाक्यभेदभयाच्चित्राशब्दः कर्मनामधेयमिति ।

रूप विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश करना असंगत होगा । इस असंगति को दूर करने के लिए वाक्यभेद मानना होगा। क्योंकि उद्देश्यविधेयभाव अनेकपदसाध्य होता है । इसीलिए 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' में विशिष्ट एक अर्थ के प्रतिपादन की दृष्टि से प्रमाणान्तर द्वारा भक्षण प्राप्त होने पर भी प्राथम्य से विशिष्ट भक्षण का विधान माना गया है । इसका विवरण पूर्व दिया जा चुका है ।

चित्राशब्द को नामधेय न मानते हुए गुणसमर्पकत्व कहा जाय तो एक और दोष होगा कि चित्रावाक्य में श्रुत 'पशुकाम' पद व्यर्थ होगा । यदि मेषी याग में यह फल समर्पक होगा तो चित्रत्व और फलसंबन्ध दो विधेय होंगे और इस प्रकार वाक्यभेद होगा । यदि चित्रावाक्य फल समर्पण नहीं करेगा तो प्रकृत 'दधि मधु' वाक्य से विहित याग की फलाकांक्षा शान्त न होगी । और यदि फल समर्पण करेगा तो वाक्यभेद होगा । प्रकृत दध्यादि याग की फलाकांक्षा की शान्ति विश्वजिन्न्याय से की जाय तो दध्यादिवाक्य और चित्रावाक्य की जो एकवाक्यता है उसका भंग होकर वाक्यभेद होगा। दध्यादिवाक्य को उत्पत्तिविधि और चित्रावाक्य को अधिकारविधि मानते हैं तो प्रतीत एकवाक्यता का भंग सुनिश्चित है। इसलिए यदि चित्रा शब्द को नामसमर्पक मान लेते हैं तो इन सभी दोषों का परिहार हो जायगा । चित्राशब्द से प्रकृत याग का अनुवाद कर फलसमर्पण करने से न केवल चित्राशब्द फलबोधक शब्द के आनर्थक्य का परिहार करता है किन्तु प्रकृत याग की फलाकांक्षा को शमन करने में सार्थक बन जाता है । इस प्रकार प्रकृत याग दधिमधु आदि नानाद्रव्यक होने के निमित्त 'चित्रा' पद उस इष्टि के नाम के बोधन में सार्थक हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि चित्रापद वाक्यभेद के भय से नामसमर्पक है ।

---

१. वाक्यभेदात् इति ख, ग, घ । २. प्रतीयमाने ।

(तत्प्रख्यशास्त्रात्कर्मनामधेयत्वनिरूपणम्)

"अग्निहोत्रं जुहोती" त्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तत्प्रख्यशास्त्रात्। तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वेनाग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयमिति यावत्। तथा हि—विधिना तावत्तदेव विधेयं यत्प्रकारान्तरेणाप्राप्तम्। "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवदि" ति न्यायात्। अग्निहोत्रशब्दस्य च गुणविधित्वे यो गुणस्तेन विधेयः स शास्त्रान्तरेण प्राप्तः। कथमिति चेत्—

शृणु—यदि तावदग्नौ होत्रमस्मिन्निति [1]सप्तमीसमासमाश्रित्य होमा-

तत्प्रख्यशास्त्र से नामधेय

नामधेय का यह तीसरा प्रमाण है। इसका उदाहरण देते हैं—अग्निहोत्रं जुहोति। इस वाक्य में अग्निहोत्रपद कर्म का नाम है। उसमें प्रमाण है—तत्प्रख्यशास्त्रात्। अग्निहोत्र पद के द्वारा पूर्वपक्षी जिस गुण का विधान करना चाहता है तस्य उस गुण के प्रख्य प्रख्यापक दूसरे शास्त्र के उपलब्ध होने पर इस अग्निहोत्र पद के द्वारा गुणसमर्पण नहीं हो सकता है। अत एव तत्प्रख्यशास्त्र से अग्निहोत्र पद नामसमर्पक है। विधि प्रकरण में यह कहा जा चुका है कि विधि प्रमाणान्तर से अप्राप्त-अज्ञात अर्थ का ही विधान करती है। अप्राप्त अर्थ के विधान से ही विधि प्रयोजनवती बनती है—अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत् न्याय है। अग्निहोत्र शब्द के द्वारा पूर्वपक्षी जिस गुण का विधान करना चाहता है, वह गुण यदि प्रमाणान्तर से प्राप्त हो जाता हो तो अग्निहोत्र शब्द के द्वारा जो प्राप्त है उसी का पुनः विधान करने से क्या प्रयोजन होगा।

पूर्वपक्षी किस गुण का समर्पण अग्निहोत्र शब्द से चाहता है? वह गुण किससे प्राप्त होता है? इसका निरूपण करते हैं—कथमिति चेत् शृणु आदि ग्रन्थ से। पूर्वपक्षी दो प्रकार से अग्निहोत्र शब्द का गुणसमर्पकत्व सिद्ध करता है। एक सप्तमीबहुव्रीहि समास के द्वारा दूसरा चतुर्थीबहुव्रीहि समास के द्वारा दो प्रकार के

---

१. अत्राग्निहोत्रपदे सप्तमीबहुव्रीहिं चतुर्थीबहुव्रीहिं वाऽऽश्रित्य होत्रशब्दस्य च कर्मव्युत्पत्त्या द्रव्यवाचकत्वमङ्गीकृत्य च अधिकरणभूतस्य देवताया अग्नेः प्राप्तिः प्राचीनैरुपपादिता। तदनुसृत्य व्याख्यातोऽयत्यो ग्रन्थः पूज्यपादैः। वस्तुतस्तु होत्रशब्दस्य भावव्युत्पत्त्या क्रियापरत्वम्, तत्पुरुषसमास एव चेष्टस्तेषाम्। अत एव तैः तन्त्रसिद्धान्तरत्नावल्यां तत्प्रख्यन्यायनिरूपणावसरे अग्निहोत्रपदस्य तत्पुरुषसमासो व्युदपादि। उपपादि च स्वाशयः—अत्र यद्यपि प्राचीनैः कर्मव्युत्पत्तिमाश्रित्य दध्यादिद्रव्यपरत्वमङ्गीकृत्य, अग्नये होत्रम् अग्न्युद्देश्यकहोमसाधनद्रव्यं यस्मिन्निति बहुव्रीह्याश्रयणेनाग्निहोत्रशब्दः प्रसाधितः, तथापि भावसाधनत्वाङ्गीकारेणैव निर्वाहे कर्मसाधनत्वाङ्गीकरणे फलाभावा-

[1]धारत्वेनाग्निर्विधेय इत्युच्येत तदा "यदाहवनीये जुहोती" त्यनेनैव प्राप्तत्वाद्विध्यानर्थक्यम् ।

अथ अग्नये होत्रमस्मिन्निति[2] चतुर्थीसमासमाश्रित्याग्निरूपा देवता

गुणों का विधान करना चाहता है। हूयतेऽनेनेति होत्रं होमीयं द्रव्यम् अग्नौ होत्रं यस्मिन् तत् अग्निहोत्रम् ऐसा प्रथमपक्ष है। अग्नि कर्मों में दो कार्य साधने के लिए उपयुक्त होती है। एक होम का आधार बनकर कर्म की साधक है, दूसरी कर्म की देवता बनकर साधक होती है। सप्तमीसमास से अधिकरणरूपी अग्नि का विधान अभिमत है। जहाँ-जहाँ होम विहित है वहाँ-वहाँ अधिकरणरूप अग्नि का विधान है। इस पक्ष में 'यदाहवनीये जुहोति' वाक्य के द्वारा अधिकरणरूप अग्नि की प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि 'आहवनीये' यह सप्तम्यन्त पद अधिकरणरूप आहवनीय अग्नि का विधान करता है। पूर्वपक्षी द्वारा अभिलपित अग्नि का यह प्रापक शास्त्र है। इस प्रापक शास्त्र से अग्नि की प्राप्ति हो जाने से 'अग्निहोत्र' उसका प्रापण निरर्थक हो जाता है। अतः इस तत्प्रख्यशास्त्र से अग्निहोत्र पद नामसमर्पक है।

इस प्रसंग में एक विषय पर ध्यान देना आवश्यक है—बहुव्रीहि समास का अवलंबन कर प्राचीन मीमांसक अधिकरणरूप अग्नि का प्रापण मानते हैं। 'होत्रं' का कर्मणि व्युत्पत्ति से हूयमान द्रव्य अर्थ है। अग्न्यधिकरण द्रव्य जिसमें हो वह अग्निहोत्र शब्द से कहलाता है। इस समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है—अग्निहोत्रम्। लेकिन तैत्तिरीय शाखा में 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'अग्निहोत्र यज्ञानाम्' 'तस्मादग्निहोत्रमुच्यते' इत्यादि स्थलों में 'अग्निहोत्र' शब्द अन्तोदात्त पठित है। इस स्वर के अनुसार होत्रशब्द की भावव्युत्पत्ति मानकर 'हूयत इति होत्रं होमः' अग्नौ होत्रम् अग्निहोत्रं ऐसा तत्पुरुष समास करने से अन्तोदात्त स्वर की उपपत्ति होती है। यह नवीन मीमांसकों का मत है। तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली में पूज्यपाद गुरुजी ने तत्प्रख्यप्रकरण में इसकी विवेचना की है।

अब पूर्वपक्षी चतुर्थीसमास के अवलंबन से अग्निहोत्र शब्द को देवतारूप अग्निसमर्पक सिद्ध करता है—अथ अग्नये होत्रमस्मिन्निति आदि। सप्तमी बहुव्रीहि के समान चतुर्थीसमास यद्यपि शास्त्रानुगत नहीं है, तथापि 'दृष्टानुविधिश्छन्दसि' अनुशासन से चतुर्थीसमास भी माना जा सकता है। ग्रन्थकार चतुर्थी

वेदे प्रायशः सर्वत्र "अग्निहोत्रं जुहोति" "अग्निहोत्रं यज्ञानां" "तस्मादग्निहोत्रमुच्यते" इत्यादावग्निहोत्रशब्दस्यान्तोदात्तत्वस्यैव श्रवणात्तस्य च स्वरस्य तत्पुरुषसमास एव संगतेस्तत्पुरुषस्वीकारे च धात्वर्थसामानाधिकरण्यसिद्ध्यर्थं भावसाधनत्वस्यैवाऽङ्गीकर्तव्यत्वादध्वरमीमांसाकुतूहलवृत्तिमीमांसाकौस्तुभाद्युक्तरीत्या अस्माभिर्भावसाधनत्वमेवाऽङ्गीकृतम्—इति ।

१. होमार्थत्वेन इति क । २. 'अस्मिन्' इति नास्ति क ।

विधीयते[1] इति चेत्—न, शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात्। किं तच्छास्त्रान्तरमिति चेत्—

अत्र केचित्—'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इति शास्त्रान्त-

---

विभक्ति के देवताबोधकत्व का उपपादन आगे करेंगे। अतः इस व्युत्पत्ति से अग्निरूप देवतासमर्पक अग्निहोत्र शब्द है नामसमर्पक नहीं है। इस पक्ष का भी खण्डन करते हैं—न, शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात्। जैसे सप्तमीसमास में शास्त्रान्तर 'यदाहवनीये जुहोति' था उसी प्रकार यहाँ भी शास्त्रान्तर से अग्निदेवता की प्राप्ति हो जाने से अग्निहोत्र शब्द गुणसमर्पक न होकर नामसमर्पक बन जाता है। मतभेद से वह शास्त्रान्तर दो प्रकार का है।

उनमें पहले प्रकार का निर्देश करते हैं—अत्र केचित् आदि। यह मत तन्त्रवार्तिक के न्यायसुधाटीकाकार भट्ट सोमेश्वर का है। इस मत के अनुसार प्रापकशास्त्र के ज्ञान के पूर्व कुछ बातों का ज्ञान आवश्यक है। वे ये हैं कि इस अग्निहोत्र प्रकरण में अग्निहोत्र संबन्धी विविध वाक्य हैं—'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'१ 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः'२ 'सायं जुहोति'३ 'प्रातर्जुहोति'४ 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति'५ 'यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातर्जुहोति'६ 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति सायं जुहोति'७ 'सूर्यो ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहेति प्रातर्जुहोति'८ 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहेतिप्रातर्जुहोति'९ 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति सायं जुहोति'१० आदि। इनमें पहला वाक्य नित्याग्निहोत्र, एवं दूसरा काम्य अग्निहोत्र का विधायक है। तीसरे और चौथे काल के विधायक हैं। पाँचवें और छठें देवता के विधायक हैं। सातवें और आठवें शुद्ध मन्त्र के विधायक हैं। नवम और दशम मिश्रलिंगक मन्त्रविधायक हैं। सायंकालिक अग्निहोत्र में अग्नि, एवं प्रातःकाल के अग्निहोत्र में सूर्य, तथा दोनों कालों के अग्निहोत्रों में प्रजापति देवता हैं।

इस स्थिति में न्यायसुधाकार का कहना है कि पाँचवें वाक्य से सायंकालिक अग्निहोत्र में 'अग्नये' इस निर्देश से अग्निदेवता की प्राप्ति हो जाती है। अतः 'अग्निहोत्र' शब्द अग्निदेवतासमर्पक न होकर कर्मनामसमर्पक है[2]। 'यदग्नये च

---

१. अनेन समर्प्यते इति ख।

२. पांचवें और छठवें वाक्यों का विधायकत्व ही कैसे हो सकता है? इन दोनों वाक्यों में विधिप्रतिबन्धक 'यत्' शब्द का उल्लेख है। द्वितीयाध्याय प्रथमपाद के विधिमंत्राधिकरण में 'यत् तत्' आदि शब्दों को विधिशक्तिप्रतिबन्धक माना गया हैं। इस प्रश्न का उत्तर है कि 'यत् तत्' आदि शब्द अवश्य विधिशक्ति को कुण्ठित करने का सामर्थ्य रखते हैं: किन्तु अग्नि की दाहकत्व शक्ति को जैसे प्रतिबन्धक मणि कुण्ठित करता है वैसा यहाँ नहीं है। प्रतिबन्धक मणि अपनी सत्ता से ही दाहकशक्ति

रेण होमानुवादेनाग्निप्रजापत्याविधानान्नाग्निहोत्रपदं देवतासमर्पकम्। नं चोभयविधाने वाक्यभेदः। परस्परनिरपेक्षविधाने हि वाक्यभेदः स्यात् 'अग्नये जुहोति' 'प्रजापतये जुहोती'ति प्रत्येकं विधिव्यापारात्। चशब्दश्रवणात्तु परस्परसापेक्षस्यैव पदद्वयस्याख्यातान्वयान्न वाक्यभेदः।

अत एव "ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाती"ति वाक्यविहितदक्षिणानुवादेन

प्रजापतये च सायं जुहोति' वाक्य का 'जुहोति' पद 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य से विहित होम का अनुवाद है एवं सायं पद 'सायं जुहोति' वाक्य से विहित सायंकाल का अनुवादक है। बचे हुए 'अग्नये' और 'प्रजापतये' दो पद विधेयदेवतासमर्पक हैं। इसमें शंका होती है कि सायंकालिक होम को उद्देश्य कर अग्नि और प्रजापति दो देवताओं के विधान से वाक्यभेद क्यों नहीं होता ? उत्तर में कहते हैं—परस्पर-निरपेक्षविधाने हि वाक्यभेदः। तात्पर्य यह है कि दो पदार्थों का सापेक्षस्थल-में दोनों का वैशिष्ट्य बन जाता है। निरपेक्ष स्थल में विशिष्ट-वैशिष्ट्य भाव न होकर अलग-अलग रहकर विधेय होते हों तो विध्यावृत्ति से वाक्यभेद होता है। प्रकृत स्थल में अग्नि और प्रजापति इस निमित्त सापेक्ष हैं कि यहाँ 'च' शब्द है। 'च' शब्द दो पदार्थों को मिलाने का सामर्थ्य रखता है। 'च' शब्द निपात है। निपातार्थ के साथ सुबन्तार्थ का अन्वय शास्त्रसम्मत है। अतः 'च' शब्दार्थ समुच्चय से अग्नि और प्रजापति जो सुबन्तार्थ हैं उनका अन्वय मानकर सापेक्ष दोनों का आख्यातार्थ भावना में अन्वय होता है। अतः विधि की आवृत्ति का प्रसंग नहीं है।

इस विषय का उदाहरण दिखलाकर समन्वय करते हैं—अत एव ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति आदि। ज्योतिष्टोम में ऋत्विग्वरण एवं ऋत्विक्प्रचार का विधान कर 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' वाक्य से ऋत्विजों को उद्देश्य कर दक्षिणादान का

को कुण्ठित करता है वैसा यहाँ नहीं है। किन्तु विधेय पदार्थ की प्राप्ति को द्योतित करती हुई विधि शक्ति को कुण्ठित करती है। अर्थात् सर्वत्र विधि 'अप्राप्ते शास्त्र-मर्थवत्' न्याय से अप्राप्त अर्थ के विधान में शक्ति रखती है। जहाँ विधिशब्द के साथ यत् शब्द का योग है वहाँ वह देखती है कि विधेय पदार्थ प्रमाणान्तर से प्राप्त है या नहीं। यदि प्राप्त है तो विधि शक्ति की प्रतिबन्धक बनती है। यदि वह प्राप्त नहीं तो प्रतिबन्धक नहीं बनती है। अत एव 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावा-स्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति' 'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुम्' 'योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते' आदि वाक्यों में यच्छब्द के रहते हुए भी विधि प्रतिबंधक नहीं मानी गई है। क्योंकि विधेय पदार्थ प्राप्त नहीं हैं। इसी प्रकार 'य एवं विद्वानमावास्यां यजते' 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' आदि में कर्म के प्राप्त होने से यच्छब्द का प्रतिबंधकत्व है। प्रकृत वाक्य में देवता अप्राप्त है। अतः प्रतिबन्धक नहीं है।

"गौश्चाश्वश्चाश्वतरश्च गर्दभश्चाजाश्चावयश्च व्रीहयश्च यवाश्च तिलाश्च माषाश्च तस्य द्वादशशतं दक्षिणा' इति वाक्येन गवादीनां विधानं दशमोक्तं सङ्ग-

---

विधान किया जाता है। विहित इस दक्षिणा का अनुवाद कर 'गौश्चाश्वश्चाश्वतरश्च' इत्यादि वाक्य से गो आदि अनेक द्रव्यों का विधान किया गया है। द्वादशशतम् बारह उत्तर है जिस शत का वह द्वादशशत है। अर्थात् एक सौ बारह। दक्षिणा का अर्थ ऋत्विजों की आनति-क्रयसाधन द्रव्य है। 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' इस वाक्य से प्राप्त दक्षिणा का अनुवाद कर अनेक द्रव्यों का विधान मानने पर भी 'च' शब्द के बल से वाक्यभेद दोष नहीं है। यह विषय दशम अध्याय के तृतीय पाद के तेरहवें अधिकरण में सिद्ध किया गया है। उस अधिकरण का भाव यह है कि 'च' आदि निपात पदकोटि में परिगणित हैं। अतः उनका पृथक् प्रयोग नहीं होता है। अत एव चकार आदि के अर्थ स्वतन्त्ररूप से भावना में अन्वित नहीं होते, किन्तु अपने साथ प्रयुक्त पदों के द्वारा उपस्थित अर्थों के विशेषण बन कर भावना में अन्वित होते हैं। इस क्रम से वाक्यभेद नहीं है। यदि इस क्रम के विपरीत होता है तो दक्षिणा को उद्देश्य कर अनेक द्रव्यों का विधान कर वाक्यभेद दोष का आपादक हो जायगा, यह उचित नहीं है।

इस सन्दर्भ में शंका की जा सकती है कि 'च' कार के बल से अग्नि और प्रजापति का समुच्चय मान कर वाक्यभेद से मुक्ति होने पर अग्नि और प्रजापति को परस्पर सहित देवता मानना पड़ेगा। जैसे 'अग्नीषोमीयम्' 'ऐन्द्राग्नम्' 'मैत्रावरुणम्' आदि स्थलों में देवतात्व को व्यासज्यवृत्ति माना जाता है, अर्थात् इन स्थलों में अग्नि और सोम, इन्द्र और अग्नि, मित्र और वरुणों में देवतात्व धर्म मिलकर रहता है, प्रत्येक में देवतात्व नहीं रहता। क्योंकि ये परस्पर सापेक्ष हैं। अतः यहाँ देवतात्व को व्यासज्यवृत्ति माना जाता है। अत एव उद्देश्य त्याग के समय 'अग्नीषोमाभ्याम्' 'इन्द्राग्निभ्याम्' 'मित्रावरुणाभ्याम्' 'इदं न मम' कहकर त्याग=याग किया जाता है, 'अग्नय इदं न मम' 'सोमाय इदं न मम' 'इन्द्राय इदं न मम' 'मित्राय इदं न मम' 'वरुणाय इदं न मम' ऐसे त्याग मन्त्र का उच्चारण नहीं किया जाता। क्योंकि इनमें देवतात्व पृथक्-पृथक् पर्याप्त[1] नहीं है। है। यदि व्यासज्यवृत्ति को माने और पर्याप्तिसम्बन्ध से देवतात्व को मान लें तब 'अग्नय इदं न मम' 'सोमायेदं न मम' इस प्रकार त्यागमन्त्र का उच्चारण प्राप्त हो

---

१. ज्ञातव्य है कि 'अयमेकः अयमेकः इमौ द्वौ' प्रयोग में एकद्वित्व धर्म को व्यासज्यवृत्ति माना गया है अर्थात् एक-एक में अलग-अलग द्वित्व की सत्ता नहीं है। ऐसा होने पर 'द्वौ' से चार संख्या का बोध हो जायगा। यह एक मार्ग है। दूसरा मार्ग है कि 'अयं द्वित्ववान्' प्रयोग से द्वित्व प्रत्येक में परिसमाप्त है=पर्याप्त है। इन दोनों मार्गों में से प्रथम मार्ग का अनुसरण कर 'अग्नीषोमीयम्' आदि में देवतात्व को व्यासज्यवृत्ति माना जाता है।

च्छते। परस्परसापेक्षाणां गवादीनां विधानेन वाक्यभेदाभावात्। अन्यथा दक्षिणानुवादेनानेकेषां गवादीनां विधानं नैव सङ्गच्छेतेति।

अग्निप्रजापत्योश्च देवतयोः सतोः समुच्चयः, न तु समुच्चितयोर्देवतात्वम्; पृथक्कारकविभक्तिश्रवणात्। चकारार्थस्य [1]विभक्त्यर्थेनान्वयात्तस्य प्राधा-

---

जायगा। किन्तु 'अग्नीषोमाभ्याम्' 'इन्द्राग्निभ्याम्' 'मित्रावरुणाभ्याम्' ही कह कर त्याग किया जाता है। क्योंकि देवतात्व अग्नि और सोम में एक माना गया है। इसी को व्यासज्यवृत्ति कहते हैं। यदि पर्याप्ति सम्बन्ध से 'अयं द्वित्ववान्' के समान माना जाय तो एक-एक में देवतात्व सिद्ध हो सकता है। किन्तु 'इमौ द्वौ' इस व्यवहार के आधार पर देवतात्व माना गया है। इस न्याय से प्रकृत स्थल में अग्नि और प्रजापति का परस्पर साहित्य मान कर भावना में अन्वय मानने से अग्नीषोम के समान 'अग्निप्रजापतिभ्यां इदं न मम' इस प्रकार उद्देश्यत्याग प्राप्त होगा। अस्तु, इससे क्या हानि होगी, यह पूछने पर यह समाधान होगा कि 'अग्निहोत्र' शब्द नामसमर्पक होकर गुणसमर्पक बन जायगा। क्योंकि 'यदग्नये च प्रजापतये च' यह प्रापकशास्त्र अग्निसमुच्चितप्रजापति का प्रापक है केवल अग्निमात्र का प्रापक नहीं है। इस अवस्था में अग्निमात्र गुण का समर्पण करता हुआ 'अग्निहोत्र' पद चरितार्थ हो जायगा तो तत्प्रख्यशास्त्र से नामधेय नहीं बन सकता है। इस शंका का समाधान अग्निप्रजापत्योश्च आदि ग्रन्थ से किया जाता है।

समाधान ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि ग्रन्थकार देवता के परिचय के लिए वार्तिककार भट्टपाद के पद्य को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करेंगे। देवता के परिचायक तद्धितान्त पद 'आग्नेयम्' 'अग्नीषोमीयम्' आदि हैं। एवं चतुर्थी विभक्ति भी देवता की परिचायक है—जैसे—'अग्नये' 'सोमाय' 'अग्नीषोमाभ्याम्' आदि। इसीप्रकार मन्त्र भी देवता का परिचायक है जैसे 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' आदि। तद्धितान्त पद यदि 'आग्नेयम्' होगा तो अग्नि मात्र देवता है यदि 'अग्नीषोमीयम्' होगा तो अग्नीषोम देवता है। इसी प्रकार 'अग्नये' 'सोमाय' हो तो अग्नि और सोम पृथक्-पृथक् देवता हैं। यदि 'अग्नीषोमाभ्याम्' होगा तो अग्निसहित सोम देवता है। यह स्थिति है। इस स्थिति को लेकर 'यदग्नये च प्रजापतये च' वाक्य में चतुर्थ्यन्त पद के द्वारा अग्नि और प्रजापति अलग अलग देवता हैं, ऐसा बोध होता है। अर्थात् अग्निसापेक्ष प्रजापति के देवतात्व का बोध नहीं होता। समुच्चित देवतात्व का बोधन होकर 'च' कार के बल से दो देवताओं के समुच्चय का बोध होता है। चतुर्थी कारक विभक्ति अग्नि और सोम पदों में पृथक्-पृथक् श्रूयमाण हैं तो देवता भी पृथक्-पृथक् होंगे। एवं देवता का बोध होने के पश्चात्

---

१. कारकार्थेनान्वयात् तस्य प्राधान्यात् इति क।

न्यात् । अतश्च [1]नाग्नीषोमादिवदग्निप्रजापत्योर्देवतात्वमिति ।

अन्ये त्वाचार्या आहुः—"यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती' ति वाक्यं नाग्नेः [2]प्रापकम्, होमानुवादेन प्रजापतिविधानात् । न च विनिगमनाविरहादुभयविधानं युक्तमिति वाच्यम् । विधिना हि तदेव विधीयते

उनका समुच्चय 'च' से कहा जाता है । इस सन्दर्भ का यह निष्कर्ष निकला है कि 'अग्नये' 'प्रजापतये' में प्रकृति का अर्थ अग्नि और प्रत्यय का अर्थ संप्रदान-अर्थात् देवता है । 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन' न्याय से प्रत्ययार्थ संप्रदान-अर्थात् देवता में प्रकृत्यर्थ अग्नि का अन्वय निष्ठत्व संबन्ध से करने पर अग्निनिष्ठ देवता की अवगति होती है । एवं 'अग्नीषोमाभ्याम्' में अग्नीषोमनिष्ठ देवता की अवगति है । यहाँ अग्नि की पृथक् सत्ता नहीं है । इस प्रकार 'प्रजापतये' से प्रजापतिनिष्ठ देवता का ज्ञान होता है अर्थात् अग्नीषोम के समान विशेषणविशेष्य भाव न होकर अग्निदेवता तथा प्रजापति देवता के पृथक्-पृथक् ज्ञान होने के पश्चात् इन दोनों का 'च' के अर्थ-समुच्चय में अन्वय है । इस स्थिति में अग्नि का प्रापकशास्त्र 'यदग्नये च' आदि से अग्नि की प्राप्ति हो जाने पर 'अग्निहोत्र' शब्द नामधेय बन सकता हैं । यह न्यायसुधाकार भट्टसोमेश्वर का मत है ।

तत्प्रख्यशास्त्र में शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथिमिश्र का वैमत्य है । उसका निरूपण करते हैं—अन्ये त्वाचार्या आहुः आदि से । पार्थसारथिमिश्र का यह मत है कि 'यदग्नये च' इत्यादि वाक्य तत्प्रख्यशास्त्र नहीं बन सकता है । प्रापकशास्त्र वही हो सकता है जो प्रमाणान्तर-वाक्यान्तर से अप्राप्त-अज्ञात अर्थ का प्रापण करता हो । 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' अर्थात् अप्राप्त-अज्ञात अर्थ के विधान करने में शास्त्र-विधायक शास्त्र सार्थक होता है । प्रकृत 'यदग्नये च' शास्त्र वैसा नहीं है । क्योंकि अग्निहोत्र कर्म में अग्नि की प्राप्ति 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' इस मन्त्र से अग्नि देवता के ज्ञान से हो जाती है । अर्थात् जब अग्निहोत्र होम 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' मन्त्र से किया जाता है तब इस कर्म का देवता अग्नि है यह ज्ञान हो जाता है । ज्ञात अग्नि का ही 'यदग्नये च' शास्त्र से विधान मानना होगा, तब विहित के विधान करने से शास्त्र अर्थवान् नहीं होगा । इसलिए 'यदग्नये च' शास्त्र अग्नि का प्रापक न होकर 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' इस मन्त्र को ही तत्प्रख्यशास्त्र=अग्निप्रापक शास्त्र मानना चाहिए । 'यदग्नये च' वाक्य अग्नि का अनुवादक होकर होम के उद्देश्य से प्रजापतिदेवतामात्र का विधायक है । यह पहले कहा जा चुका है कि विधि उसी की विधायिका होती है जो अप्राप्त हो । अग्नि के विषय में मन्त्र से उसकी प्राप्ति हो जाती है । अतः अग्नि और प्रजापति दोनों का विधान संगत नहीं

---

१. क पुस्तके नञ् नास्ति ।

२. नाग्निप्रापकम् इति क ।

यत् प्रकारान्तरेणाप्राप्तम् । तत्र यथानेन वाक्येन सायंकालो न विधीयते "सायं जुहोती"ति वचनान्तरेण प्राप्तत्वात्, तथा अग्निरपि न विधीयते, "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहे"ति मन्त्रवर्णादेव प्राप्तत्वात् । मन्त्रवर्णस्यापि देवतासमर्पकत्व[1]मस्त्येव । अत एवोपांशुयाजे विष्ण्वादीनां मान्त्रवर्णिकं देवतात्वमित्युक्तम् ।

है । इस अंश में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—तत्र यथानेन आदि । यह ज्ञातव्य है कि 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'दध्ना जुहोति' 'पयसा जुहोति' 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' 'सायं जुहोति' 'प्रातर्जुहोति' 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति सायं जुहोति' सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहेति प्रातर्जुहोति' इत्यादि वाक्य पठित हैं । इनमें 'सायं जुहोति' 'प्रातर्जुहोति' वाक्यों से सायंकाल में एवं प्रातः काल में अग्निहोत्र करना है । तब 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति सायं जुहोति' में सायं का विधान न होकर सायंकाल में कर्तव्य अग्निहोत्र का अनुवाद कर जैसे केवल मन्त्र का विधान करता है वैसे ही 'यदग्नये च प्रजापतये च' वाक्य·मन्त्र से प्राप्त अग्नि को अनुवाद कोटि में रखते हुए प्रजापतिमात्र का विधान किया जाता है । जैसे तद्धित एवं चतुर्थी का देवताप्रापकत्व है वैसे मन्त्र का भी देवताप्रापकत्व माना गया है । मन्त्र देवताप्रापक होने में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं– अतएवोपांशुयाजे आदि ।

पौर्णमासेष्टि में तीन प्रधान याग हैं—आग्नेय, उपांशुयाज एवं अग्नीषोमीय । इनमें उपांशुयाज का 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' वाक्य विधायक है—आग्नेय और अग्नीषोमीय यागों के बीच उपांशुयाज का अनुष्ठान बतलाता है । इस वाक्य में द्रव्य और देवता का निर्देश नहीं है । जैसे—'आग्नेयम्' 'अग्नीषोमीयम्' इस तद्धितान्त शब्दों से अग्नि और अग्नीषोम एवं पुरोडाश द्रव्य की अवगति है वैसे उपांशुयाज वाक्य में नहीं है । किन्तु 'सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते यद् ध्रुवायामाज्यम्' इस साधारण वाक्य से विहित ध्रौव-ध्रुवापात्रस्थ आज्य को उपांशुयाज द्रव्य माना जाता है । एवं देवता तैत्तिरीयशाखा एवं ऐतरेयशाखाओं में पठित याज्यापुरोनुवाक्या युगलों के द्वारा विष्णु, प्रजापति और अग्नीषोम देवताओं में विकल्प से एक देवता को माना जाता है । इसका विचार द्वितीय अध्याय द्वितीयपाद के उपांशुयाजाधिकरण में किया गया है । निष्कर्ष यह है कि तद्धित और चतुर्थी के समान मन्त्र का भी देवताबोधकत्व है । जैसे तद्धित एवं चतुर्थी का देवताबोधकत्व में प्रमाण है 'सास्य देवता' सूत्र से देवतातद्धित विहित है । एवं चतुर्थी का प्रमाण न होते हुए भी संप्रदान में चतुर्थी का विधान है सम्प्रदान का एकदेश ही देवता है, अतः चतुर्थी भी देवताबोधक हो सकती है, वैसे मन्त्र का कोई प्रमाण नहीं है, तथापि मन्त्र के विनियोजक वाक्य को प्रमाण मानकर मन्त्र देवताबोधक हो जाता है ।

---

१. कत्वात् ।

नन्वेवं प्रजापतिदेवतया अग्नेर्बाधः स्यात्। चतुर्थ्या हि प्रजापतेर्देवतात्वमवगम्यते, अग्नेस्तु मान्त्रवर्णिकम्। [1]तत्र 'साऽस्य देवता' इति देवतात्वे तद्धितस्मरणवत् यद्यपि देवतात्वे चतुर्थीस्मरणं नास्ति, [2]'सम्प्रदाने चतुर्थी'ति सम्प्रदाने तस्याः स्मरणात्, तथापि त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वं तावद्देवतात्वम्। तच्च सम्प्रदानस्वरूपान्तर्गतम्, त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वे सति प्रतिग्रहीतृत्वस्य सम्प्रदानत्वात्। अतश्चतुर्थीतः सम्प्रदानैकदेशतया देवतात्वप्रतीतिरस्त्येव। मन्त्रवर्णात्तु न देवतात्वं प्रतीयते, किन्त्वधिष्ठानमात्रम्। अतश्च मन्त्रवर्णश्चतुर्थीतो दुर्बलः। यथाहुः—

तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः।
देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परम्॥ इति॥

अतश्च प्रबलप्रमाणबोधितप्रजापतिदेवतया दुर्बलप्रमाणबोधिताग्नेर्बाधः स्यादिति चेत्—

इस सन्दर्भ में शंका होती है कि यदि मन्त्र को तत्प्रख्य मानकर अग्निहोत्र में अग्नि देवता की प्राप्ति मानी जाय तो 'यदग्नये च प्रजापतये च' वाक्य से विहित प्रजापति देवता के द्वारा अग्नि का बाध क्यों न हो? क्योंकि मन्त्र से चतुर्थी प्रबल है। क्योंकि चतुर्थी का 'सम्प्रदाने चतुर्थी' पाणिनीय सूत्र से संप्रदान अर्थ में विधान है—'ब्राह्मणाय गां ददाति' में गोदान का संप्रदान ब्राह्मण है—'ब्राह्मणाय तुभ्यमहं सम्प्रददे' कहकर ब्राह्मण को दान किया जाता है। यहाँ त्यज्यमान गो द्रव्य का उद्देश्य ब्राह्मण है। उसी प्रकार यागों में भी त्यज्यमान पुरोडाश आदि द्रव्य का जो उद्देश्य है वही देवता है। अतः चतुर्थी, संप्रदान के एकदेश देवता का बोधन करती है। इसलिए तद्धित के समान चतुर्थी भी देवताबोधक है। मन्त्र को देवताबोधन में इस प्रकार प्रमाण नहीं है। मन्त्रों में देवता के नाम पढ़े होंगे किन्तु वे नाम देवता के अधिष्ठान मात्र हैं। जैसे गोशब्द के व्यवहार से गोद्रव्य का ही बोध होता है, वह भले ही देवता का अधिष्ठान हो, किन्तु गोद्रव्य देवता नहीं है, उसी प्रकार अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि शब्द देवतावाची नहीं है किन्तु अधिष्ठानमात्र हैं। इसलिए चतुर्थी से मन्त्र दुर्बल है। दौर्बल्य में वार्तिक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—तद्धितेन चतुर्थ्या वा आदि। शंका का उपसंहार करते हैं—अतश्च आदि।

---

१. यद्यपि 'सास्य देवता' इति देवतात्वे तद्धितस्मरणवत् तत्र चतुर्थीस्मरणं नास्ति इति क।

२. यद्यपीदं सूत्रं "चतुर्थी सम्प्रदाने" इत्येवोपलभ्यतेऽष्टाध्याय्याम्। तथाप्यत्र सर्वेष्वप्यादर्शपुस्तकेषु "सम्प्रदाने चतुर्थी" इत्येव पाठस्योपलम्भात् तदन्यथाकरणभीतेन मया स एव पाठो मूले निवेशितः।

सत्यम्; स्याद्बाधो यदि "प्रजापतये जुहोती"ति केवलप्रजापतिविधानं स्यात्। विधीयमानस्तु प्रजापतिर्मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितो होमोद्देशेन विधीयते। समुच्चितोभयविधानापेक्षया अन्यतः प्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतिमात्रविधाने लाघवात्। अतश्च न बाधकत्वम्, निरपेक्षविधानाभावात्। यथा च त्वन्मतेऽग्निप्रजापत्योरेकहोमोद्देशेन विधानात्तुल्यार्थत्वेन विकल्पे प्रसक्ते प्रजापतेर्न पाक्षिकमग्निबाधकत्वम्, समुच्चयविधानात्; एवं मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतिविधानेऽपि न बाधकत्वमिति तुल्यम्।

यत्तु—अग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहे" ति मिश्र-

---

समाधान ग्रन्थ है—सत्यम् आदि। बार्तिक प्रमाण से मन्त्रवर्ण चतुर्थी से अवश्य दुर्वल है, किन्तु दुर्वल होने से ही प्रवल के द्वारा बाधित हो जाते हैं ऐसी बात नहीं है। प्रवल निरपेक्ष होकर रहनेवाला हो तो दुर्वल का वह बाधक बन सकता है वह भी विरोध होने पर। यदि प्रवल सापेक्ष रहेगा तो दुर्वल का बाधक नहीं होगा। इस परिवेष में चतुर्थ्यन्त 'प्रजापतये जुहोति' वाक्य होता तो अपने विधेय स्थल में दुर्वल प्रमाण से आये हुए देवता का बाध बन सकेगा। प्रकृत-स्थल में 'अग्नये च प्रजापतये च' वाक्य है। इससे प्रजापति मात्र का विधान अभिमत है किन्तु वह 'अग्नये' से भी समभिव्याहृत है। समभिव्याहृत 'अग्नये' पद 'अग्निर्ज्योतिः' इस मन्त्र से प्राप्त अग्नि का अनुवादक है। अग्नि का प्रापक प्रमाण मन्त्र की अपेक्षा रखता है, अन्यथा 'अग्नये' पद अनुवादक कैसे बन सकेगा? अतः अग्निसमुच्चित प्रजापति को होमोद्देश्येन विधान करता है। विधि वाक्य अपने विधान व्यापार में लाघव को ही चाहता है। समुच्चित अग्नि और प्रजापति दोनों के विधान की अपेक्षा दूसरे प्रमाण से प्राप्त अग्नि का अनुवाद कर तत्समुच्चित प्रजापति के विधान में विधि का लाघव है। अतः अग्नि सापेक्ष प्रजापति का विधायक होने से मन्त्र से प्राप्त अग्नि का बाधक नहीं होगा। जैसे 'यदग्नये च प्रजापतये च' को तत्प्रख्य शास्त्र माननेवालों के पक्ष में अग्नि और प्रजापति का विकल्प नहीं होता है क्योंकि दोनों का समुच्चय विधेय है, अन्यथा 'तुल्यार्थानां विकल्पः' न्याय से विकल्प की प्रसक्ति हो जाती, और विकल्प से पाक्षिक बाधकत्व प्राप्त हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं माना जाता है, अग्नि और प्रजापति को समुच्चय के विधान से विकल्प की प्रसक्ति ही नहीं है वैसे ही मन्त्र को तत्प्रख्य शास्त्र माननेवालों के पक्ष में भी मन्त्र से प्राप्त अग्नि का अनुवाद कर उससे समुच्चित प्रजापति का विधान है। अत एव प्रजापति से अग्नि का बाध नहीं होता। अर्थात् अग्नि का बाधक प्रजापति नहीं होगा।

इस सन्दर्भ में एक शंका का उत्थापन करते हैं—यत्तु अग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे

लिङ्गमन्त्रवर्णबलात् सायं होमस्य द्विदैव[1]त्यत्वापत्तिरिति—

तन्न; अग्निसमुच्चितप्रजापतिविधानवत् सूर्यसमुच्चितस्याविधानात्; प्रबल-प्रमाणबोधितेन प्रजापतिना मन्त्रवर्णप्राप्तस्य सूर्यस्य बाधितत्वात्।

यत्तु—अग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिविधेरेकेनैव वाक्येन सिद्धेः 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति, "यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातः" इति वाक्यद्वयं व्यर्थमिति—

आदि। तात्पर्य यह है कि चार प्रकार के यहाँ मन्त्र हैं—'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहा' 'सूर्योज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहा' 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहा' 'सूर्योज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहा' इन मन्त्रों में प्रथम दो शुद्ध लिंगक मन्त्र, एवं द्वितीय दो मन्त्र मिश्रलिंगक मन्त्र कहे जाते हैं। प्रथम दो मन्त्र के विनियोजक वाक्य हैं—'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति सायंजुहोति' 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहेति प्रातर्जुहोति' द्वितीय दो मिश्रलिंगक मन्त्रों के विनियोजक वाक्य हैं—'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहेति सायं जुहोति' 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति प्रातः जुहोति' इन चार प्रकार के वाक्यों में शुद्धलिंगक मन्त्र से सायंकाल के अग्निहोत्र में अग्नि की प्राप्ति जैसे होती है वैसे मिश्रलिंगक मन्त्र से सूर्य की भी प्राप्ति माननी होगी, क्योंकि 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहेति सायं जुहोति' वाक्य से सायंकालिक होम में सूर्य का भी निर्देश है। इस प्रकार सायं होम द्विदैवत्यक हो जायगा—अर्थात् सायंकालिक होम दो देवताओं का होगा। इसलिए मन्त्र को तत्प्रख्यशास्त्र न मानकर 'यदग्नयेच' वाक्य को ही तत्प्रख्य मानना उचित है।

इस शंका का निराकरण करते हैं—तन्न। जैसा कि 'यदग्नये च' वाक्य मन्त्र से प्राप्त अग्नि का अनुवाद कर तत्समुच्चित प्रजापति का विधान करता है उस प्रकार सायं होम में सूर्य समुच्चित प्रजापति का विधान नहीं करता है। मिश्रलिङ्ग-मन्त्र से सूर्य की प्राप्ति भले हो किन्तु प्रबल प्रमाण से अवगत प्रजापति के द्वारा सूर्य का बाध हो जाता है तो सायं होम में द्विदेवता का आपादन नहीं सङ्गत है। तात्पर्य है कि सायं होम में मिश्रलिङ्ग मन्त्र से सूर्य की भी प्राप्ति है ही, किन्तु 'यदग्ने च' इस ब्राह्मणवाक्य से सूर्यसमुच्चित प्रजापति का विधान नहीं है, वह तो शुद्ध मन्त्र द्वारा प्राप्त अग्नि का अनुवाद करते हुये अग्नि समुच्चित प्रजापति को विधान करने के लिए प्रवृत्त है। इस स्थिति में मिश्रलिङ्गक मन्त्र द्वारा प्राप्त सूर्य को प्रजापति से बाध होने में कोई अन्तराय नहीं है, क्योंकि प्रजापति का प्रापक प्रमाण प्रबल है। वार्तिककार ने 'तद्धतेन चतुर्थ्या वा' आदि कारिका से चतुर्थी का प्राबल्य बतलाया ही है। अतः सायं होम में दो देवता का आपादन ठीक नहीं है।

एक और शङ्का को प्रस्तुत करते हैं—यत्तु अग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे आदि।

---

१. द्विदेवतात्वापात्तिः इति क।

तन्न; भवेद्व्यर्थं यदि प्रजापतिमात्रविधानं विवक्षितं स्यात्, सायंहोमेऽग्निसमुच्चितप्रजापतिविधानम्, प्रातर्होमे 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहे'ति मन्त्रवर्णप्राप्तसूर्यसमुच्चितप्रजापतिविधानं च विवक्षितम्। न चैतदेकेन वाक्येन सिध्यति; अतोऽर्थवद्वाक्यद्वयम्।

यत्तु—अग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे मन्त्रवर्णस्य "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोती"ति वाक्येन सायंहोमे विनियुक्तत्वात् तत्प्रकाश्यस्याग्नेरपि प्रजापतिसमुच्चितस्य तत्रैव देवतात्वावगतेः 'यदग्नये चे'ति वाक्ये सायंशब्दो

'यदग्नये च' इस ब्राह्मणवाक्य को तत्प्रख्यशास्त्र मानने वालों की शङ्का है कि यदि अग्नि देवता को मन्त्रवर्ण से प्राप्ति मान लेते हैं तब—अर्थात् मन्त्र को तत्प्रख्यशास्त्र मानने से 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' एवं 'यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातजुहोति' ये दो वाक्यों की आवश्यकता क्या रह जाती? क्योंकि मन्त्र को तत्प्रख्यशास्त्र माननेवाले आपको प्रजापति मात्र का विधान अभिप्रेत है। वह एक वाक्य से ही सिद्ध हो सकता है। जैसे अग्निहोत्र होम का साधन द्रव्य 'दध्ना जुहोति' वाक्य से विहित है। 'सायमारभ्य प्रातरपवर्गः' न्याय से अग्निहोत्र होम सायंकाल से आरम्भ कर प्रातःकाल में समाप्त किया जाता है। यह एक अग्निहोत्र होम कहलाता है। सायंकाल के होम में 'दध्नाजुहोति' से दधि विहित है। इसी वाक्य को आवृत्ति कर प्रातःकालिक अग्नि होत्र होम के लिए दधि साधन माना जाता है, उसी प्रकार 'यदग्नये च प्रजापतये च' यह एक वाक्य ही आवृत्ति के द्वारा प्रातःकालिक अग्नि होत्र होम में प्रजापति का प्रापक हो सकता है तो 'यत्सूर्याय च प्रजापतये च' वाक्य की क्या आवश्यकता? इतना ही नहीं? आपको सायं प्रातः अग्निहोत्र होम में प्रजापति मात्र के विधान में जो तात्पर्य है, इसको सिद्धि 'प्रजापतये जुहोति' इतने से ही हो जाती है तो 'यदग्नये च' वाक्य में 'सायं' 'अग्नये' पद व्यर्थ हैं।

इस शङ्का का परिहार करते हैं—तन्न, भवेद्व्यर्थम् आदि से। वाक्यद्वय तब व्यर्थ होगा जब प्रजापति मात्र का विधान अभिप्रेत हो। मुझे अग्नि समुचित प्रजापति एवं 'सूर्यो ज्योतिः' मन्त्र से प्राप्त सूर्य का अनुवाद कर प्रातःकालिक होम में सूर्य समुचित प्रजापति का विधान करना है। अतः दो वाक्यों की आवश्यकता है ही।

पूर्व शंका में 'यदग्वये च' वाक्य में 'सायं' पद की व्यर्थता की बात जो कही गई है उसका अनुवाद करते हैं—यत्तु अग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे आदि। 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहा' इस मन्त्र के विनियोजक-अर्थात् अंगत्व-बोधन करने वाला 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति सायं जुहोति' वाक्य में 'सायं' शब्द के कीर्तन से सायंकालिक अग्निहोत्र में 'अग्नि' देवता है ऐसा ज्ञान हो जाता है तत्पश्चात् 'यदग्नये

व्यर्थ इति, एवं 'तत्सूर्याय चे'ति वाक्ये प्रातःशब्दो व्यर्थ इति। किञ्च मन्त्रवर्णेन [1]ज्योतिष्ट्वगुणविशिष्टस्याग्नेः प्रकाशनात् विशिष्टस्यैव देवतात्वापात इति।

तदपि न, होमानुवादेन देवताद्वयविधानेऽपि मन्त्रवर्णयोर्लिङ्गादेव

च' वाक्य में 'सायं' शब्द की क्या आवश्यकता ? एवं 'सूर्योज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहा' इस मन्त्र को विनियोग करने के निमित्त प्रवृत्त 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहेति प्रातर्जुहोति' वाक्य से प्रातः कालिक अग्निहोत्र में सूर्य की प्राप्ति हो जाती है तो 'यत्सूर्याय च प्रजापतये च' वाक्य में 'प्रातः पद की क्या आवश्यकता ? जबकि व्यवस्थित 'सायं' 'प्रातः' अग्निहोत्र होम में दोनों मात्रों के विनियोग अवगत हो जाने पर अग्नि ओर सूर्य समुच्चित प्रजापति का विधान ही अभिमत है। सायंकालिक अग्निहोत्र में अग्नि समुच्चित प्रजापति एवं प्रातःकालिक अग्निहोत्र होम में सूर्य समुच्चितप्रजापति का विधान हो जा सकता है, फिर इन दोनों वाक्यों में 'सायं' 'प्रातः' शब्दों का उपादान व्यर्थ ही है।

ज्ञातव्य है कि देवताओं का निर्देश दो प्रकार होता है—एक शुद्ध देवता जैसे 'अग्नये' विष्णवे आदि दूसरा गुण विशिष्ट देवता, जैसे—'अग्नये पावकाय' 'अग्नये शुचये' विष्णवे शिपिविष्टाय' आदि। जहाँ गुणरहित शुद्धदेवता का निर्देश है वहाँ 'अग्नय इदं न मम' 'विष्णव इदं न मम' इस प्रकार त्याग मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। गुण विशिष्ट देवता के निर्देशस्थलों में 'अग्नये पावकायेदं न मम 'अग्नये शुचय इदं न मम' 'विष्णवे शिपिविष्टायेदं न मभ' इत्यादि त्याग मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये। अर्थात् गुणविशिष्ट स्थल में गुण विशिष्ट ही देवता है। प्रकृत मन्त्र 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' में ज्योतिर्गुण विशिष्ट अग्नि का निर्देश है, अतः गुणविशिष्ट ही अग्नि देवता होगा। इस प्रकार मन्त्र को तत्प्रख्यशास्त्र मानने पर 'सायं'' 'प्रातः' शब्दों के आनर्थक्य एवं गुणविशिष्ट अग्नि का देवतात्व के आपादन होने से 'यदग्नये च प्रजापतये च' यह ब्राह्मण वाक्य ही तत्प्रख्यशास्त्र है यह सिद्ध हुआ।

इस शंका का खण्डन करते हैं—तदपि न। ब्राह्मण वाक्य को तत्प्रख्यशास्त्र मानने वालों के पक्ष में भी प्रकृत अग्निहोत्र होम को अनुवाद कर अग्नि और प्रजापति को विधान करने पर मन्त्र विनियोजक 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति सायं 'सूर्योज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहेति' प्रातः ये दोनों वाक्य व्यर्थ होते हैं। क्योंकि अग्निहोत्र होम की मन्त्राकांक्षा होने पर ये दोनों मन्त्र लिङ्गप्रमाण से ही सायं प्रातः कालों में व्यवस्थित प्राप्त हो सकते हैं। मन्त्र के विनियोग करने में लिङ्ग-सामर्थ्य प्रमाण है ही। जबकि अग्निहोत्र कर्म में अग्नि और सूर्य देवता है तो

---

१. ज्योतिर्गुण इति क।

प्राप्तिसम्भवात्तद्विध्यानर्थक्यात् । मिश्रलिङ्गमन्त्रविधिपर्युद[1]स्तयोः प्रतिप्रसवार्थं विधानेऽपि तद्विधिगतयोः सायंप्रातःशब्दयोरानर्थक्यम्, विधीयमानयोर्मन्त्रयोर्व्यवस्थयैव प्राप्तिसम्भवात्तत्प्रकाश्ययोर्देवतयोर्व्यवस्थितत्वात् । अनुवादत्वोक्तिस्तूभयत्र तुल्येति ।

मान्त्रवर्णिकत्वेऽपि अग्नेः केवलस्यैव देवतात्वं न गुणविशिष्टस्य ।

सामर्थ्य से मन्त्र की प्राप्ति में आपत्ति क्या है ? इसके लिए विनियोग करने वाले 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निःस्वाहेति सायं जुहोति' एवं 'प्रातर्जुहोति' वाक्यों की आवश्यकता क्यों ? अतः ये दोनों व्यर्थ ही हैं । मन्त्र को तत्प्रख्य मानने वालों के मत में 'सायं' 'प्रातः' शब्दों की ही व्यर्थता है विधि वाक्यों को तत्प्रख्य मानने वालों के मत में दोनों वाक्य ही व्यर्थ होते हैं । तद्विध्यानर्थक्यात् का यही अर्थ है । अर्थात् 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति सायं जुहोति' इन दोनों की व्यर्थता है । ब्राह्मण वाक्य को तत्प्रख्य मानने वाले यदि इस प्रकार शंका करें कि मिश्रलिङ्गक दो मन्त्रों का ('अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहा' 'सूर्योज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहा') बाध हो सकता है, क्योंकि ये मन्त्र लिङ्ग प्रमाण या प्रकरण प्रमाण से प्राप्त होते हैं, लिङ्ग एवं प्रकरण प्रमाण से मिश्रलिङ्गक मन्त्रों का विधायक वाक्य प्रबल होता है, तो शुद्ध लिङ्गक मन्त्रों को बाध कर सकता है । अतः 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति सायं जुहोति' एवं 'प्रतर्जुहोति' इन दोनों वाक्यों की सार्थकता है । इस शंका का अनुवाद करते हैं—मिश्रलिङ्गमन्त्रविधि पर्युदस्तयोः प्रतिप्रसवार्थं तद्विधानेऽपि । प्रदर्शित मिश्रलिङ्गमन्त्रविधि के द्वारा पर्युदस्त-बाधित शुद्धलिङ्गक मन्त्रों का प्रतिप्रसव-लिङ्ग आदि प्रमाण से प्राप्त मन्त्र का किसी कारण से बाध-निवृत्ति होनेपर उसकी प्राप्ति के निमित्त पुनः विधि को प्रतिप्रसव कहते हैं । अर्थात्—'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' यह मन्त्र लिङ्गप्रमाणसे सायंकालिक अग्निहोत्र में प्राप्त हुआ, अनन्तर मिश्रलिङ्गमन्त्र के विनियोजक 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिस्सूर्यस्स्वाहेति सायं जुहोति' एवं 'प्रातजुहोति' वाक्यों के द्वारा वह निवृत्त-बाधित हुआ । बाधित उन मन्त्रों की प्राप्ति के लिए पुनर्विधान 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निस्स्वाहेति सायं जुहोति' एवं 'प्रातर्जुहोति' के द्वारा होता है । अतः ये प्रतिप्रसव विधि हैं । इस प्रकार मानने पर भी इन विधिवाक्यों में 'सायं' 'प्रातः' पदों की व्यर्थता को उत्तर के रूप में कहते हैं— तद्विधिगतयोः । यदि सायं प्रातः पद अनुवादक हैं तो मन्त्र को तत्प्रख्यशास्त्र मानने वालों के पक्ष में भी वह समान है । अतः मन्त्र ही तत्प्रख्य शास्त्र है ।

शंका कर्ता के दूसरे आक्षेप का समाधान करते हैं—मान्त्रवर्णिकत्वेऽप्यग्नेः केवलस्यैव आदि । तात्पर्य यह है कि मन्त्र, अनुरूप गुणों के साथ देवता का कीर्तन करेंगे, एवं उद्देश्यत्याग में गुणसहित देवता का उल्लेख हो सकता है परन्तु विधिगत

---

१. दस्यायोः ।

"यदग्नये चे"ति वाक्ये "अग्नेः पूर्वाहुति"रित्यत्र च केवलस्यैवाग्नेः सङ्कीर्तनात् केवलस्यैव देवतात्वावगतेः। यथा ह्युपांशुयाजे विष्ण्वादेर्मान्त्रवर्णिकत्वेऽपि न गुणविशिष्टस्य देवतात्वं "विष्णुरुपांशु यष्टव्य" इत्यर्थवादे केवलस्यैव सङ्कीर्तनात्तद्वदिति।

अतश्च मान्त्रवर्णिकत्वे दोषाभावाद्देवताद्वयविधाने च गौरवापत्तेरन्यतः

शब्द को ही देवता माना जाता है। इस विषय की चर्चा महर्षि जैमिनि ने दशमाध्याय चतुर्थपाद के चौदहवें विधिशब्दाधिकरण, एवं सोलहवें सगुणाभिधानाधिकरण में की है। दोनों अधिकरणों का सार यह है कि मन्त्रों में गुणविशिष्ट या गुणरहित देवता का उल्लेख जैसा चाहे वैसा रहे किन्तु विधिवाक्य में उल्लिखित शब्द को ही त्याग में प्रयोग करना चाहिए। यदि विधिवाक्य में सगुण देवता का निर्देश हो तो सगुणशब्द का ही त्याग में प्रयोग करना चाहिए। प्रकृत में ज्योतिर्गुण सहित अग्नि का मन्त्र में निर्देश होने पर भी विधिवाक्य में 'अग्नये' 'अग्नेः' ही उल्लिखित है। अतः गुणविशिष्ट अग्निदेवता नहीं है केवल अग्नि ही देवता है। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—यथाह्युपांशु याजे। पौर्णमास के उपांशुयाज में देवता की प्राप्ति मन्त्रवर्ण से मानी जाती है। शाखाभेद से विष्णु प्रजापति अग्नीषोम देवता के मन्त्र आम्नात हैं। इनका विकल्प माना गया है। मन्त्रों में देवता का गुणकीर्तन रहता है। किन्तु 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' 'प्रजापतिरुपांशु यष्टव्यः' 'अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यौ' इन वाक्यों में केवल विष्णु प्रजापति एवं अग्नीषोम का ही निर्देश है। अतः उपांशुयाज में 'गुणविशिष्ट का देवतात्व' विष्णु आदि को नहीं माना गया है। इस दृष्टान्त से प्रकृत में केवल अग्नि ही देवता है गुणविशिष्ट अग्नि नहीं। अतः मन्त्र को तत्प्रख्यशास्त्र स्वीकार करने में कोई दोष नहीं होता है। प्रत्युत 'यदग्नये च' को तत्प्रख्य मानने वालों के पक्ष में ही दो देवताओं को विधान से गौरव होता है। यही कहते हैं—अतश्च मान्त्रवर्णिकत्वे आदि। देवताद्वय-अग्नि और प्रजापति।

विषयशोधन के निमित्त पहले प्रतिपादित विषयों को यहाँ स्मरण करना आवश्यक है। पहले कहा जा चुका है कि 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतम्' आदि पृथक् तद्धितान्त स्थलों में 'सास्यदेवता' इस पाणिनि सूत्र के द्वारा विहिततद्धितप्रत्ययार्थ देवता है, यह दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता, इसमें प्रकृत्यर्थ का अन्वय होता है। जहाँ एक ही तद्धित प्रत्यय है और प्रकृत्यर्थ दो हैं जैसे 'अग्नीषोमीयम्' 'ऐन्द्राग्नम्' आदि वहाँ प्रकृत्यर्थ दो का समुचित रूपेण अन्वय है। इसी प्रकार 'अग्नये पावकाय' 'अग्नये शुचये' आदि पृथक् पृथक् दो चतुर्थी के श्रवण होने पर भी प्रकृत्यर्थ अग्नि और पावक दो का प्रमाणान्तर से विशेष्य विशेषण भाव होने से दो देवता नहीं माने जाते हैं। जहाँ इस प्रकार विशेष्य विशेषण भाव नहीं है वहाँ देवता पृथक् पृथक्

प्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुचितः प्रजापतिरेवात्र विधीयते। होमानुवादेनोभयविधाने वाक्यभेदप्रसङ्गाच ।

न च चकारश्रवणान्न वाक्यभेद इति वाच्यम्। चकारार्थो हि समुच्चयः। तं च समुच्चयं यदि चकारः प्राधान्येन ब्रूयात् तदा प्रधानस्यानेकविशेषणसङ्ग्राहकत्वादारुण्यादिविशिष्टक्रयविधान इव कारकद्वयसमुच्चयविधाने

ही होते हैं। उनको पदार्थान्तर से अन्वय किया जाता है। जैसे 'यदग्नये च प्रजापतये च'। यहाँ 'च' कार निपात है। निपातों का अर्थद्योतकत्व एक पक्ष है और दूसरा पक्ष है अर्थवाचकत्व। चकार से बोधित समुच्चय अर्थ में अग्नि का पृथग् अन्वय है प्रजापति का पृथक्। इस प्रकार अग्नि देवता की पृथक् प्राप्ति मानकर 'यदग्नये च' वाक्य को तत्प्रख्यशास्त्र पूर्व कहा गया था। एक अग्निदेवता का 'च' से बोधित समुच्चय में अन्वय करने पर वह अग्निपद अन्यविशिष्ट अर्थ का बोधक होता है तो पदान्तर उसका तात्पर्य ग्राहक बन जाता है। अत एव वाक्य भेद का प्रसंग नहीं होता। यह 'यदग्नये च' को तत्प्रख्य मानने वालों का आशय है। किन्तु इस पक्ष में यद्यपि वाक्य भेद का प्रसंग नहीं है तथापि एक पद का विशिष्टार्थ बोधकत्व शक्ति की कल्पना अन्य पदों की तात्पर्यग्राहकत्व की कल्पना रूप गौरव है ही। यही विषय देवताद्वयविधाने गौरवापत्तेः इस वाक्य से कहा गया है। मन्त्र को तत्प्रख्य मानने में लाघव दर्शित करते हैं—अन्यतः प्राप्तमग्निनूद्य। अन्यतः-मन्त्र से प्राप्त अग्नि को 'अग्नये' पद से अनुवाद कर 'प्रजापति' के समुचित विधान में लाघव है। यदि निपातों का वाचकत्व पक्ष स्वीकार किया जाय तो तत्तत्पदों का विशिष्टार्थबोधकत्व कल्पना, निपातों का द्योतकत्व शक्तिकल्पनारूप अनेक शक्तिकल्पनाओं से मुक्ति मिल जाती है। अतः वाचकत्व पक्ष उचित है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि अग्नि और सूर्य भिन्न भिन्न पदों से प्रतिपादित और कारक होने से परस्पर वैशिष्ट्य असंभव है। अत एव वाक्यभेद अपरिहार्य है। इसलिए मन्त्रों से प्राप्त अग्नि और सूर्य को 'अग्नये' और 'सूर्याय' पदों से अनुवाद कर प्रजापति देवता का विधान करना निष्कण्टक मार्ग है।

दो देवताओं का पृथक् पृथक् विधान करने से अवश्य वाक्यभेद होता है किन्तु ऐसा विधान हम नहीं करते, चकारार्थ समुच्चय में दोनों को विशेषण मानकर समुच्चय मात्र का विधान कर रहे हैं तो वाक्यभेद क्यों होगा। इस पक्ष का अनुवाद कर खण्डन करते हैं—न च चकारश्रवणान्न वाक्यभेद इति वाच्यम्। तब वाक्य भेद का संभव नहीं होगा जबकि चकार प्रधानतः समुच्चय अर्थ का प्रतिपादक हो। प्रधानतः प्रतिपादन करने पर विशेषणों का सङ्ग्राहक होकर विशेषणविशिष्ट वह भावना में अन्वित हो सकता है। जैसे 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' वाक्य में आख्यात प्रतिपाद्य भावना प्रधान होने से आरुण्य

वाक्यभेदो न भवेत् । न च चकारः समुच्चयं प्राधान्येन ब्रूते, परोपसर्जनत्वेनैवाभिधानात् ।

अत एव दशमे भाष्यकारैश्चकारस्य समुच्चयशब्दाद्वैलक्षण्यं प्रतिपादितम्—समुच्चयशब्दो हि तं प्राधान्येन ब्रूते, न चकारः । यदि प्राधान्येन ब्रूयात् तदा तत्प्रतिपन्नः समुच्चयः क्रियागुणैः सम्बध्येत । समुच्चयः शोभनः समुच्चयो द्रष्टव्य इतिवत् च शोभनः च द्रष्टव्य इति प्रयोगः स्यात् । समुच्चय-

---

गुण पिङ्गाक्षी एवं एकहायनी द्रव्य रूप विशेषणों को संग्रह कर तद्विशिष्ट भावना के विधान से वाक्यभेद नहीं होता है कारकद्वयविशिष्ट समुच्चय के विधान में वाक्य भेद नहीं होगा, किन्तु चकार प्रधानतः समुच्चय अर्थ का प्रतिपादक नहीं है यह इतर के प्रति उपसर्जन-गुणीभूत अर्थ के प्रतिपादन ही में समर्थ है। निपातों का यह स्वभावसिद्ध सामर्थ्य है कि अन्योपसर्जन अर्थ का प्रतिपादन करना ।

इस प्रकार चकार के अर्थ प्रतिपादन में भाष्य संमति प्रस्तुत करते हैं—अतएव दशमे आदि । दशमाध्याय तृतीय पाद के चौदहवें अधिकरण में ज्योतिष्टोम की विकृति 'भू' नामक एकदिन साध्य सोमयाग के 'धेनुर्दक्षिणा' इस वाक्य को उदाहृत कर विचार किया गया कि प्रकृति ज्योतिष्टम में श्रुत दक्षिणा के गो आदि दश द्रव्यों के अतिदेश के द्वारा भू याग में आने पर क्या इस याग का धेनु द्रव्य, गो आदि दशों द्रव्यों का बाधक है ? अथवा गोमात्र का ? इस सन्देह को उत्थापित कर पूर्वपक्ष किया—प्रकृति ज्योतिष्टोम में 'गौश्चाश्वश्चाश्वतरश्च गर्दभश्चाजाश्चावयश्च व्रीहयश्च यवाश्च तिलाश्च माषाश्च तस्य द्वादशशतं (एक सौ बारह) दक्षिणा' इस श्रुत वाक्य का दक्षिणाशब्द प्रत्येक गो आदि दश द्रव्यों से संबद्ध होता है—गौर्दक्षिणा अश्वो दक्षिणा आदि । च शब्द के द्वारा प्रतिपादित समुदाय से गो आदि के अन्वयानन्तर दक्षिणाशब्द का अन्वय करने पर गो आदि के समुदाय की दक्षिणा ऐसा अर्थ निकल सकता है किन्तु च शब्द प्रधानतः समुदाय अर्थ का प्रतिपादक नहीं होता । अतः प्रत्येक गो आदि के साथ ही दक्षिणा का अन्वय होना उचित है । विकृति की धेनुदक्षिणा अपने सादृश्य से गोदक्षिणा का ही निवर्तक होगा अश्व आदि दक्षिणा का नहीं । इस पूर्वपक्ष का उपपादन करते हुए [1]भाष्यकार ने जो कहा

---

१. भाष्यकार के वचन हैं—'चशब्दस्समुच्चयार्थो भवति, न तु समुच्चयस्य निर्देशकः। परपद विशेषणार्थन्तु समुच्चयमुपादत्ते । यदि हि निर्दिशेत् क्रियागुणैस्समुच्चयस्सम्बध्येत—समुच्चयः शोभनः समुच्चयो द्रष्टव्य इति यथा भवति । तथा च शोभनः च द्रष्टव्य इति वा भविष्यति यथेह समुच्चेययोः षष्ठी भवति धवखदिरयोस्समुच्च इति एवं धवः खदिरश्चेत्यत्राभविष्यत्, न तु भवति' । तस्मान्न च शब्दस्समुच्चयं निर्दिशति ।

शब्दवच्चकारस्य प्राधान्येन समुच्चयवाचित्वे धवखदिरयोः समुच्चय इतिवत् धवखदिरयोश्चेत्यपि प्रयोगः स्यात् । अतश्चकारः समुच्चयं प्राधान्येन न ब्रूते, येन प्रधानस्यैकस्य विधानान्न वाक्यभेदो भवेत् । किन्तु कारकद्वयोपसर्जनत्वेनैव स तं ब्रूते समुच्चितौ अग्निप्रजापती—इति । प्रधानद्वयविधाने च वाक्यभेदः स्यादेव, यथा ग्रहोद्देशेन संमार्गैकत्वविधाने ।

यद्यपि चकारः समुच्चयं प्राधान्येन ब्रूयात्, तथापि तस्य कारकद्वयं प्रति प्राधान्यमनुपपन्नम्, विभक्त्यभिहितस्य कारकद्वयस्य क्रियोपसर्जनत्वेन समुच्चयोपसर्जनत्वाभावात् । कृदन्तादिशब्दैरुपस्थितं हि कारकं क्रियातोऽन्येन सम्बध्यते—कारकसमुच्चयः करणसमुच्चय इति । विभक्त्यभिहितं तु क्रिययैव, कारकाणां तयैवान्वयात् । अतश्चकारेणोच्यमानः स कारकोपसर्जनत्वेनैवोच्यते । कारकद्वयं च प्रधानम् । एकोद्देशेन च प्रधानद्वयविधाने

उसका ग्रन्थकार अर्थतः अनुवाद करते हैं—समुच्चय शब्दो हि आदि । समुच्चय शब्द जैसे समुच्चय अर्थ का वाचक है वैसे 'च' शब्द समुच्चय अर्थ का वाचक नहीं हैं । घट और कलश शब्द समान अर्थ के वाचक होने से दोनों शब्द पर्याय कहे जाते हैं वैसे समुच्चय और च शब्द भी पर्याय होंगे । 'समुच्चयो द्रष्टव्यः' में समुच्चय शब्द के वाक्य में समुच्चय का दर्शन क्रिया में अन्वय है । उसी प्रकार च द्रष्टव्य होना चाहिए था, ऐसा होता नहीं समुच्चय शब्द के समान 'च' शब्द प्रधानतः समुच्चय प्रतिपादक हो तो 'धवखदियोस्समुच्चयः' के जगह 'धवखदिरयोश्च' प्रयोग होना चाहिए । इन कारणों से च शब्द प्रधानतः समुच्चय का प्रतिपादक नहीं है । अत एव अग्नि और प्रजापति के विधान से वाक्य भेद को दूर करना कठिन है । इस लिए दो कारकों के उपसर्जन के रूप से ही च शब्द सच्चय का प्रतिपादन करता है अर्थात् समुच्चित अग्नि और प्रजापति का प्रतिपादक है यह कहना होगा । तब दो प्रधानों के विधान से वाक्य भेद है ही ।

प्रधानतः च शब्द समुच्चय अर्थ का प्रतिपादक है यह मानकर भी चलें तब भी इष्टसिद्धि नहीं होगी । अग्नये प्रजापतये ये दोनों कारक हैं, कारकों का अन्वय क्रिया के साथ ही नियत है । च शब्दार्थ समुच्चय में कारकों का अन्वय कैसे होगा ? क्योंकि कारक दो प्रकार के हैं—एक विभक्ति के द्वारा अभिहित कारक और दूसरा कृदन्त शब्द जैसे कारकं करणं आदि शब्दों से अभिहित कारक इन दोनों में बड़ा भेद है । कृदन्त शब्द से कथित कारक अन्य के प्रति उपसर्जन बनकर अन्वित होता है, जैसे—कारकसमुच्चय करणसमुच्चय आदि । विभक्ति के द्वारा अभिहित कारक तो क्रिया के साथ ही अन्वित होगा अतः चकार से प्रतिपादित समुच्चय को कारक के प्रति गुणीभूत होकर ही रहना होगा । तब कारक के प्रधान्य होने से दो

वाक्यभेद एव। यथाहुः—

अनेकपदसम्बद्धं यद्येकमपि कारकम्।
तथापि तदनावृत्तैः प्रत्ययैर्न विधीयते ॥ इति ॥

यच्च—यथा दक्षिणानुवादेन गवादीनामनेकेषां विधाने न वाक्यभेदः तथा कारकद्वयविधानेऽपीति। तन्न; नहि 'गौश्चाश्वश्च' इत्यस्मिन् वाक्ये दक्षिणानुवादेन गवादयो विधीयन्ते, उक्तरीत्या वाक्यभेदापत्तेः। चकारश्रवणेन[1] कथञ्चित्परिहारेऽपि गवादीनामनेकेषां द्वादशशतसङ्ख्यायाश्च विधाने वाक्यभेद एव। आध्वर्यवशाखायां 'गौश्चे' त्यादेः 'तस्य द्वादशशत' मित्यन्तस्य सहश्रुतत्वेन चास्यैकवाक्यत्वमित्युक्तं दशमे। अतोऽनेन वाक्येनोभयविशिष्टा दक्षिणैव विधीयते विशिष्टविधानाच्च न वाक्यभेदः। अत एव

प्रधानों के विधान से वाक्य भेद होगा ही इस सन्दर्भ में वार्तिक प्रमाण प्रदर्शित करते हैं—यथाहुः। विभिन्नार्थक विभिन्न प्रातिपदिकों से संबद्ध कारक एक होने पर भी प्रत्यय आवृत्ति के द्वारा उसका विधान है तब प्रकृत स्थल में 'अग्नये' 'प्रजापतये' में कारक भी अनेक हैं तो प्रत्ययावृत्ति अवश्यंभावी है।

जैसे गौश्चाश्वश्च वाक्य से दक्षिणा का अनुवाद कर अनेक गो आदि के विधान में वाक्यभेद नहीं माना जाता है उसी प्रकार कारक द्वय के विधान में वाक्यभेद क्यों होगा। इस शंका का खण्डन करते हैं—तन्न; 'गौश्चाश्वश्च' वाक्य से दक्षिणा का अनुवाद कर गो आदि का विधान नहीं है। अतः अनेक गो आदि का विधान नहीं है। अतः अनेक गो आदियों के विधान से वाक्य भेद क्यों होगा। चकार के योग से वाक्य भेद का परिहार हो सकता है। क्योंकि पूर्व प्रदर्शित स्थलों के अनुसार यहाँ कारक नहीं है। कारक होने पर उसका अन्वय क्रिया के साथ ही नियत है। अतः चकारार्थ के साथ अन्वय नहीं होगा। किन्तु यहाँ सभी प्रथमान्त हैं, अतः चकारार्थ से अन्वय कराकर वाक्यभेद दोष से मुक्त हो सकते हैं। तथापि दक्षिणा का अनुवाद कर गो आदि समुच्चय एवं द्वादशशत संख्या इन दोनों के विधान से वाक्य भेद होगा ही।

यद्यपि ताण्ड्य महाब्राह्मण के अनुसार 'गौश्चाश्वश्च' एवं 'तस्य द्वादशशतं दक्षिणा' ये दो वाक्य हैं, एक वाक्य नहीं है। इससे वाक्यभेद की प्रसक्ति नहीं तथापि भाष्यकार के उल्लेखानुसार यह वाक्य आध्वर्यवशाखा-यजुश्शाखा में एक वाक्य के रूप में आम्नात है। इससे गो आदि द्रव्य एवं द्वादशशत संख्या से विशिष्ट दक्षिणा के विधान से वाक्यभेद की प्रसक्ति नहीं है। इस विशिष्टविधि

---

१. चकारेण इति ख

पार्थसारथिमिश्रैर्दशमे तत्र तत्र–'सोभयविशिष्टा विधीयते' इति, अनेकगवाद्यात्मिकैका दक्षिणा विधीयत'–इति चोक्तम् ।

न चैवं "ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाती" त्यस्यानर्थक्यम्, तस्यानुवादत्वात्, ऋत्विक्सम्बन्धपरत्वाद्वा । दक्षिणाशब्दसामर्थ्याद्धि ऋत्विजां चमसाध्वर्य्वादीनां च तत्सम्बन्धः स्यात् । एतद्वाक्यसत्त्वे च न भवति, ऋत्विक्-

---

पक्ष में पार्थसारथिमिश्र की संमति प्रदर्शित करते हैं—पार्थसारथिमिश्रैर्दशमे । दशमाध्याय के तृतीयपाद के दक्षिणाधिकरण में और धेन्वधिकरण में 'सोभयविशिष्टा विधीयते' गो आदिद्रव्य एवं संख्याविशिष्ट दक्षिणा का विधान है । एवं 'अनेकगवाद्यात्मिकैका दक्षिणा विधीयते' गो आदि अनेक द्रव्यों से विशिष्ट एक का विधान है । निष्कर्ष यह निकला कि "गौश्चाश्वश्च' इन दोनों वाक्यों में चाहे विभक्त रहें चाहे एक ही वाक्य हो दोनों पक्षों में वाक्यभेद का प्रसंग नहीं है । प्रथमपक्ष में चकारार्थ में गवादि के अन्वय में कोई वाधा नहीं है । क्योंकि ये सभी पद प्रथमान्त हैं, कारक नहीं है । द्वादशशत संख्या का विधान दूसरे वाक्य से है ही अतः वाक्यभेद नहीं होता है । द्वितीय पक्ष में तो विशिष्ट विधान से वाक्यभेद होगा ही नहीं । अतः इस दृष्टान्त से 'यदग्नये च प्रजापतये च' वाक्य में वाक्यभेद दोष का उद्धार नहीं हो सकता ।

'गौश्चाश्वश्च' वाक्य से दक्षिणा के विधान करने से 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' वाक्य का आनर्थक्य क्यों नहीं होगा । क्योंकि क्रतुओं में दक्षिणा इसलिए दी जाती है कि इससे ऋत्विजों की आनति-वशीभाव प्राप्त हो । तो 'दक्षिणा' से ही ऋत्विजों का संवन्ध प्रतीत हो ही जाता है फिर 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' वाक्य की क्या जरूरत है ? इस शंका को वारण करते हैं—तस्यानुवादत्वात् ऋत्विक्सम्बन्धपरत्वाद्वा । 'गौश्चाश्वश्च' इस विशिष्टविधि से प्राप्त दक्षिणा का यह वाक्य अनुवादक हैं क्योंकि 'ददाति' यह वर्तमान काल का है अतः विधायक नहीं है । 'वादमात्रं ह्यनर्थकम्' न्याय से यह वाक्य अनर्थक ही हो जायगा, इसलिए दूसरा हेतु देते हैं—ऋत्विक्सम्बन्धपरत्वात्—अर्थात् विहित दक्षिणा का संवन्ध ऋत्विजों से है 'चमसाध्वर्युओं' से नहीं । इस विषय को जानने के निमित्त यह वाक्य प्रवृत्त हुआ । ज्योतिष्टोम सोमयाग में अध्वर्यु ब्रह्मा आदि सोलह ऋत्विजों से अतिरिक्त 'चमसाध्वर्यु' नाम से दश होते हैं । ये ऋत्विज नहीं है । इनका वरण आदि संस्कार नहीं होते हैं । दर्शक के रूप से जो आये हैं उन्हीं में दश को बुला लिया जाता है । इनकी व्यावृत्ति के लिए ऋत्विक्संबन्ध का विधान आवश्यक है । अतः 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' यह वाक्य सार्थक है । ऋत्विक् शब्द 'ऋतौ यजति' इस व्युत्पत्ति से क्विप् प्रत्ययान्त निपातित अध्वर्यु ब्रह्मा आदि को बोधित करता है । चमसाध्वर्युओं में यह निमित्त नहीं है वे ऋत्विक् नहीं कहलाते हैं यह

शब्दस्य ब्रह्मादिगतऋतुयजननिमित्तत्वेन चमसाध्वर्यूणामृत्विक्त्वाभावस्य तृतीये उक्तत्वात् ।

अतश्च 'गौश्चाश्वश्चे' त्यस्मिन् वाक्ये विशिष्टविधानाच्च न वाक्यभेदः । 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' इति तु न विशिष्टविधानम्, होमस्या'ग्निहोत्रं जुहोती'त्यनेन प्राप्तत्वात् । अतश्च होमानुवादेन समुच्चितोभयविधाने वाक्यभेदात् गौरवापत्तेश्च नानेन वाक्येन देवताद्वयं विधीयते । किन्तु मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितः प्रजापतिर्होमोद्देशेन विधीयते ।

अतश्च नेदमग्नेः प्रापकम्, किन्तु मन्त्रवर्ण एव । अतश्च तेनाग्नेः प्राप्तत्वान्नाग्निहोत्रपदं देवतासमर्पकम् । किं तर्हि ? नामधेयमेव । तत्सि-

---

विषय तृतीयाध्याय के सातवें पाद के सोलहवें अधिकरण में विवेचित है । अतः 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' वाक्य अनर्थक नहीं है । ज्ञातव्य है कि ज्योतिष्टोम याग में 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' इस वाक्य के न होने पर 'तस्य द्वादशशतं दक्षिणा' वाक्य का 'दक्षिणा' शब्द सार्थक नहीं होगा । उत्साहार्थक दक्ष धातु से दक्षिणाशब्द निष्पन्न है और उसका अर्थ है—भृति-पारिश्रमिक । भृति काम करने वालों के उत्साह के बढ़ाने के लिए दी जाती है । काम करने वाले जैसे अध्वर्यु ब्रह्मा होता उद्गाता आदि होते हैं वैसे चमसाध्वर्यु भी होते हैं । चमसाध्वर्यु वे होते है जो चमस-चतुष्कोण काष्ठमय पात्रों से संबन्ध रखते हैं । वे दो प्रकार से विभक्त है— मध्यतः कारी एवं होत्रक । मध्यतःकारी - ब्रह्मा होता यजमान उद्गाता सदस्य ये पांच है । होत्रक—मैत्रावरुण ब्राह्मणाच्छंसी नेष्टा अच्छावाक एवं आग्नीध्र ये पाँच है । इन दश ऋत्विजों से चमसों का संबन्ध है । चमसों के द्वारा सोमरस की आहुतियाँ होती है । ये आहुतियाँ अध्वर्यु को करनी पड़ती है । किन्तु अध्वर्यु यदि कार्यान्तर में व्यापृत रहेगा तो दर्शक मण्डली से दस पुरुषों को इस होम के निमित्त बुला लिया जाता है । इन चमसाध्वुंओं का भी कर्म कर्तृत्व अध्वर्यु ब्रह्मा आदि के समान है ही, अतः इनकी व्यावृत्ति के निमित्त 'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' वाक्य में ऋत्विक् पद है । अतः चमसाध्वर्यु ऋत्विक् नहीं कहलाते हैं ।

मन्त्र को तत्प्रख्य मानने वाले अपने वक्तव्य का उपसंहार करते हैं—अतश्च 'गौश्चाश्वश्चेति आदि । 'गौश्चाश्वश्च' यह वाक्य विशिष्ट विधि है । विशिष्ट विधि में वाक्य भेद नहीं होगा । 'यदग्नये च' वाक्य को तत्प्रख्य मानने वालों के पक्ष में तो वाक्य भेद होगा । इस लिए मन्त्र से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करते हुए प्रजापति मात्र का विधान निर्दुष्ट पक्ष है । अत एव ब्राह्मण वाक्य तत्प्रख्य नहीं है, मन्त्र को ही तत्प्रख्य मानना उचित पक्ष है । इस लिए अग्नि की प्राप्ति मन्त्र से हो जाने पर 'अग्निहोत्रं जुहोति' में अग्निहोत्र पद नामधेय है । तत्प्रख्यशास्त्र से नामधेय निरूपण समाप्त हुआ ।

द्धमेतत्तत्प्रख्यशास्त्रादग्निहोत्रशब्दस्य कर्मनामधेयत्वमिति ।

एवं प्रयाजादिषु समिदादिदेवतानां "समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्त्वि" त्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः प्राप्तत्वात् 'समिधो यजती'त्यादिषु समिदादिशब्दास्तत्प्रख्यशास्त्रात् कर्मनामधेयानि । यथाहुः—

विधित्सितगुणप्राप्ति शास्त्रमन्यद्यतस्त्विह ।
तस्मात्तत्प्रापणं व्यर्थमिति नामत्वमिष्यते ।। इति दिक् ।।

(तद्व्यपदेशात् नामधेयनिरूपणम्)

"श्येनेनाभिचरन् यजेते" त्यत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तद्व्यपदेशात् । तेन व्यपदेशः उपमानम्, तदन्यथानुपपत्त्येति यावत् । तथा हि—यद्विधेयं तस्य स्तुतिर्भवति । तत् यद्यत्र श्येनो विधेयः स्यात् तदार्थवादैस्तस्यैव स्तुतिः कार्या । न च "यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते

इसी न्याय से प्रयाज विधायकवाक्यों में समित् तनूनपात् इड वर्हि और स्वाहा पद 'समित्समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु' इत्यादि मन्त्रों से समित् आदि देवताओं के प्राप्त हो जाने से नामधेय बोधक होते हैं। इस सन्दर्भ में वार्तिक प्रमाण प्रदर्शित करते हैं—यथाहुः ।

अग्निहोत्र समित् आदि पदों के द्वारा जिन देवता रूपी गुणों का विधान करना पूर्वपक्षी चाहता है, उन गुणों का विधान करने से ये व्यर्थ हो जायेंगे। अतः नामधेय मानना ही समुचित है ।

तद्व्यपदेश शास्त्र

कर्म नामधेय का यह चौथा निमित्त है। इस निमित्त का उदाहरण है—श्येनेनाभिचरन् यजेत । अभि उपसर्गक चर धातु का शत्रुमरणानुकूल व्यापार अर्थ है। शतृ प्रत्यय का अर्थ हेतु है। 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' यह उसका अनुशासन है। हेतु भी फल परक है। अर्थात् हेतु का अर्थ फल है। श्येनपद कर्म का नाम है। वाक्य का अर्थ यह संपन्न हुआ कि श्येन नामक याग से अभिचार रूप फल को संपादन करना चाहिए। तद्व्यपदेश शब्द का अर्थ करते है—तेन व्यपदेशः उपमानम्। पूर्वपक्षी यहाँ श्येन-बाज द्रव्य को विधान करना चाहता है। श्येन पक्षी से यागकर अभिचार फल को संपादन करें। इस प्रकार पक्षी द्रव्य के विधान से उसके साथ व्यपदेश-विभिन्न अर्थ का कथन अनुपपन्न होगा। इसलिए श्येन पद कर्म का नाम है। इसका उपपादन करते हैं—यद्विधेयं तस्य स्तुतिर्भवति। विधि और अर्थवाद का समानविषयता होनी चाहिए। विधि का विषय अन्य है और स्तुति दूसरी की, की जाती है यह संगत नहीं है। जिसका

एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते" इत्यनेनात्रत्येनार्थवादेन श्येनः स्तोतुं शक्यः। श्येनोपमानेनार्थान्तरस्तुतेः क्रियमाणत्वात्। न च श्येनोपमानेन स एव स्तोतुं शक्यते। उपमानोपमेयभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात्। यदा तु श्येनसंज्ञको यागो विधीयते तदा अर्थवादेन श्येनोपमानेन तस्य स्तुतिः कर्तुं शक्यत इति श्येनशब्दस्य तद्व्यपदेशाद्यागनामधेयत्वम्।

तत्सिद्धं निमित्तचतुष्टयात् कर्मनामधेयत्वम्।

(नामधेयत्वे पञ्चमप्रकारनिरूपणम्)

उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमपि पञ्चमं केचिन्नामधेयत्वे निमित्तमाहुः। "वैश्वदेवेन यजेते"त्यत्र वैश्वदेवशब्दस्य कर्मनामधेयत्वमुत्पत्तिशिष्टगुणब-

---

विधान है उसी की स्तुति उचित है। यहाँ यदि श्येन पक्षी का विधान हो तो उसी की स्तुति होनी चाहिए। अर्थवाद को देखने से यह विदित नहीं होता है कि श्येन पक्षी स्तूयमान है। 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते इस अर्थवाद वाक्य में 'यथा' 'एवमयं' से उपमान उपमेयभाव का निर्देश मिलता है जैसे—श्येन पक्षी आकाश से निपतन कर मत्स्य कृमि कीट आदि को ले जाता है वैसे यह द्वेष करने वाले शत्रु को ले जाता है। श्येन उपमान है 'अयं' शब्द का अर्थ याग उपमेय 'यथा' उपमावाचक, निपत्यादान साधारण धर्म, इनके उपपादन से उपमालंकार स्पष्ट अवगत होता है। यदि श्येन पक्षी विधेय हो तो वह उपमेय होगा उसका उपमान वही स्वयं नहीं हो सकता। उपमान और उपमेय भिन्न भिन्न होते हैं। श्येन को उपमान करके यह वाक्य याग की स्तुति करता है। विधेयश्येन के साथ यह उपमानोपमेयभाव नहीं बनता है। उपमानोपमेयभाव की उपपत्ति तभी होगी जब श्येन संज्ञक याग विधेय हो। अतः इस उपमानोपमेयभाव की उपपत्ति के लिए श्येन पद को नाम मानना ही समुचित है। अतः मत्वर्थ लक्षणा भीति, वाक्यभेद भीति, तत्प्रख्यशास्त्र एवं तद्व्यपदेशों से नामधेय का निरूपण हुआ।

कर्म नाम का पांचवां निमित्त

पूर्वोक्त चार निमित्तों से अतिरिक्त पांचवाँ भी निमित्त कतिपय लोगों ने माना है। जिसका निरूपण प्रस्तुत करते हैं—उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमपि आदि। उत्पत्ति वाक्य में शिष्ट-उपदिष्ट गुण-द्रव्य आदि का प्राबल्य भी नामधेय का पाँचवाँ निमित्त है। उदाहरण है—वैश्वदेवेन यजेत। यह वाक्य चातुर्मास्य प्रकरण का है। चातुर्मास्य में चार पर्व हैं—वैश्वदेव वरुणप्रघास साकमेध और शुनासीरीय। इनमें वैश्वदेव नामक पहले पर्व में आठ प्रधान याग विहित हैं—

लीयस्त्वात्। उक्तमत्वर्थलक्षणादिप्रकारचतुष्टयासम्भवात्।

तथा हि—न तावन्मत्वर्थलक्षणाभयान्नामधेयत्वं[1] वक्तुं युक्तम्, 'वैश्वदेवेने'ति तद्धितेनैव मत्वर्थस्य यागस्योक्तत्वात्। 'सास्य देवते' त्यस्मिन्नर्थे हि तद्धितस्मरणम्। तत्रास्यशब्दस्य तद्धितान्तर्गतस्य यद्यपि 'सूक्तहविषो'रिति स्मृतेः सूक्ते हविषि वा मुख्यत्वमवगतम्, तथापि सर्वनाम्नामुपस्थितवाचित्वात् सूक्तहविषोश्चात्रानुपस्थितत्वात् यजेतेत्युपस्थितं यागमेवास्यशब्दोऽभिधत्त इति न यागे मत्वर्थलक्षणा। विश्वदेवरूपैकदेवताविधानाच्च न वाक्यभेदः।

नापि तत्प्रख्यशास्त्रान्नामत्वम्। यत्र हि विधित्सितो गुणोऽन्यतः

१—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति, २—सौम्यं चरुम्, ३—सावित्रं द्वादशकपालम् सारस्वतं चरुम् ५—पौष्णं चरुम् ६—मारुतं सप्तकपालम् ७—वैश्वदेवीमामिक्षाम् ८—द्यावपृथिव्यमेककपालम्। इनमें ४ पुरोडाश द्रव्य वाले है तीन चरु द्रव्य वाले एवं एक आमिक्षा द्रव्य वाला है। इन यागों का विधान कर 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य पठित है। इस वाक्य का 'वैश्वदेव' पद पूर्वोक्त आठ यागों के नामधेय में उत्पत्तिशिष्ट-गुणबलीयस्त्व निमित्त है। इसका उपपादन करते हैं—तथाहि आदि। पूर्वोक्त चार निमित्तों से वैश्वदेव शब्द का नामधेय सिद्ध नहीं होता है। इस अधिकरण का पूर्वपक्षी वैश्वदेव शब्द को नाम न मानकर विश्वेदेव रूप देवता का समर्पक कहता है। पूर्वोक्त आठों यागों में वैश्वदेव वाच्य देवतारूप गुण का विधान करता है : गुण का विधान करते हुए यदि मत्वर्थलक्षणा होती हो तो उसके भय से नामधेय माना जाता। जैसा उद्भिदा यजेत। यहाँ वैश्वदेव शब्द तद्धित प्रत्ययान्त है—'विश्वेदेवाः देवताः अस्य' इस व्युत्पत्ति से 'सास्य देवता' इस अनुशासन के द्वारा देवता तद्धित प्राप्त हुआ। यद्यपि देवता तद्धित सूक्त और हवि अर्थ में ही विहित है—जैसे आग्नेयं सूक्तम् आग्नेयं हविः। 'वैश्वदेवेन' पद में न सूक्त है न तो हवि, तथापि व्युत्पत्ति वाक्य में 'अस्य' पद सर्वनाम और सर्वनाम प्रकृत संनिहित पदार्थ के परामर्शक होने से उपस्थित प्रकृत याग ही 'अस्य' पद से बोधित होता है। प्रकृत यागों को अनुवाद कर विश्वेदेव देवता के विधान में मत्वर्थ लक्षणा नहीं होगी। अतः मत्वर्थ लक्षणा के भय से वैश्वदेव शब्द का नामत्व सिद्ध नहीं होता है। एवं देवतारूप एक गुण के समर्पक होने से 'चित्रा' न्याय के समान यहां वाक्य भेद का भय भी नहीं है।

तीसरा निमित्त तत्प्रख्य भी नहीं है। पूर्वपक्षी जिस गुण का विधान चाहता

---

[1] मिति वक्तुं शक्यम्।

प्राप्तः, तत्र तत्प्रख्यशास्त्रान्नामत्वम्। यथा—अग्निहोत्रशब्दे। अत्र चाऽऽग्नेयादयोऽष्टौ यागाः प्रकृताः। तत्राऽऽमिक्षायागे यद्यपि विश्वेदेवाः प्राप्ताः—वैश्वदेव्यामिक्षेति, तथापि सप्तसु तेषामप्राप्तत्वात् 'वैश्वदेवेन यजेते'त्यनेन तत्र तद्विधाने न तत्प्रख्यशास्त्रमन्यत् येन तद्वशान्नामत्वं स्यात्।

न चाऽऽमिक्षायागस्यैवैतन्नामेति वाच्यम्। "वैश्वदेवेन यजेते"ति वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः। वैश्वदेवशब्दस्यामिक्षायागमात्रनामत्वे स एव यागोऽनेनानूद्यते इति वाच्यम्। न च तदनुवादेनाऽस्ति किञ्चित् कृत्यम्। "प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेते"ति विधीयमानस्य प्राचीनप्रवणदेशस्य विनाप्येतद्वाक्यमामिक्षायाग एव सम्बन्धोपपत्तेः, विश्वदेवसम्बन्धात्तस्य।

है उसकी प्राप्ति जिस प्रमाण से होती हो वह तत्प्रख्य है। उससे नामधेय सिद्ध होता है जैसे अग्निहोत्र शब्द नामधेय है। पूर्वोक्त आठ यागों में सातवाँ याग विश्वेदेव देवता का है, 'वैश्वदेव्यामिक्षा' में विश्वदेव देव हैं। इस याग में विश्वे दे व विहित हैं। इसको छोड़कर अन्य सात यागों का वैश्वदेव शब्द नाम हो सकता है। किन्तु तत्प्रख्यशास्त्र दूसरा नहीं है अतः वैश्वदेव गुण समर्पक है।

अन्य सात यागों के नाम न होने पर भी सातवे 'वैश्वदेव्यामिक्षा' से विहित याग के नाम होने में क्या आपत्ति है ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं - वैश्वदेवेन यजेतेति वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः। वाक्य की व्यर्थता इस प्रकार है किसी कर्म का नामधेय मानने में कई प्रयोजन होते हैं—संकल्प के समय में कर्म का नाम लेकर संकल्प करना, एवं ऋत्विग्वरण में अमुक कर्म में आपको अध्वर्यु के रूप से वरण करता हूँ ऐसा निर्देश करना, अमुक कर्म का निर्दिष्ट देश में विधान करना आदि। इन प्रयोजनों में 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य में वैश्वदेव शब्द वैश्वदेव नामक याग का अनुवाद कर प्राचीन प्रवण देश का विधान करता है। अर्थात् जिस देश में पश्चिम की अपेक्षा पूर्वभाग निम्न-नीचा हो उस देश में वैश्वदेव याग का अनुष्ठान यह वाक्य बोधित करता है। सातवें 'वैश्वदेव्यामिक्षा' याग का यह वैश्वदेव पद नाम न होने पर भी आमिक्षा याग का विश्वेदेव देवता संवन्ध जो तद्धितांत शब्द से बोधित है उसको लेकर उस याग का प्राचीन प्रवण देश का विधान कर सकता है। अन्य सात यागों का वैश्वदेव शब्द नाम नहीं है, क्योंकि उसके लिए तत्प्रख्य शास्त्र नहीं है। तब 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य का क्या प्रयोजन होगा ? यदि यह 'वैश्वदेव्यामिक्षा' याग मात्र का नाम होता है तो अनर्थक होगा। इस वाक्य के विना ही आमिक्षा याग का प्राचीन प्रवण देश संबन्ध इस लिए प्राप्त हो सकता है

आग्नेयाद्यशेषप्रकृतयागनामत्वे तु न 'वैश्वदेवेन यजेते'ति वाक्यानर्थक्यम्। तदा ह्यनेनाष्टौ यागा अनूद्यन्ते। अनुवादेन चैकप्रतीत्यारूढत्वात् समुदितानामष्टानामपि वैश्वदेवशब्दो नामधेयं सिध्यति। एवं च 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेते'त्यत्र वैश्वदेवशब्देनाष्टौ यागाननूद्य प्राचीनप्रवणविधानं तत्र सिद्धं भवति। तद्वाक्यस्याऽसत्त्वे त्वनेन वाक्येनामिक्षायाग एव प्राचीनप्रवणदेशसम्बन्धः स्यात्। अतश्चाष्टसु यागेषु प्राचीनप्रवणदेशसम्बन्ध एव तद्वाक्यप्रयोजनम्। एवञ्च वैश्वदेवशब्दोऽष्टानां नामधेयम्। न च तत्र तत्प्रख्यशास्त्रं निमित्तं सम्भवति। सप्तसु विश्वदेवाप्राप्तेः। अतो न वैश्वदेवशब्दस्य तत्प्रख्यशास्त्रान्नामधेयत्वमिति।

नापि [1]तद्व्यपदेशात्। तादृशस्य व्यपदेशस्यानुपलम्भात्। अतश्च वैश्वदेवशब्दस्य नामधेयत्वे उक्तप्रकारचतुष्टयस्याऽनिमित्तत्वादुत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमेव निमित्तम्। तथा हि—

"वैश्वदेवेन यजेते"त्यत्र न तावदप्रकृतकर्मानुवादेन देवताविधानं

कि विश्वेदेव देवताओं से उसका संबन्ध है। अतः प्रयोजन न मिलने से यह वाक्य अनर्थक हो जायगा।

यदि आठों यागों का वैश्वदेव शब्द नाम हो जाता है तो प्राचीन प्रवण वाक्य के 'वैश्वदेवेन' इस पद के द्वारा वैश्वदेवनाम के इन आठों यागों का अनुवाद कर प्राचीन प्रवण देश के विधान करने में 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य सहायता करता हुआ सार्थक हो सकता है। किन्तु आठों यागों के नामधेय होने में निमित्त नहीं है। इसलिए तत्प्रख्यन्याय से यह गतार्थ नहीं हो सकता।

इसी प्रकार तद्व्यपदेश न्याय से भी वैश्वदेवशब्द का नाम सिद्ध नहीं होता है। श्येन शब्द के नाम में उपमानोपमेय भाव बोधक जैसा अर्थवाद था उस प्रकार यहां वाक्य नहीं है। एवञ्च उक्त चार निमित्तों से नामधेय न बनने के निमित्त पांचवाँ निमित्त उत्पत्तिशिष्टगुण-बलीयस्त्व को मानना चाहिए।

इसके उपपादन के लिए भूमिका बना रहे हैं—वैश्वदेवेन यजेतेत्यत्र न आदि। वैश्वदेव वाक्य इस चातुर्मास्य प्रकरण को छोड़कर अप्रकृत कर्म में देवता विधायक नहीं बन सकता, क्योंकि अप्रकृत कर्म का उपस्थापक प्रमाण नहीं है। किसी याग को उद्देश्य कर देवता का विधान करना है। उद्देश्य याग की प्राप्ति होनी चाहिए। उस प्रापक प्रमाण के अभाव से यजति पद अनुवादक नहीं बन

---

१. श्येनवन्नामत्वम्।

सम्भवति, तेषामत्रानुपस्थितेः। नापि देवताविशिष्टकर्मान्तरविधानं सम्भवति, गौरवापत्तेः। 'अष्टौ हवींषी'त्यनन्यगतिकलिङ्गविरोधाच्च। अतोऽनेन प्रकृतकर्मानुवादेन देवता विधीयत इति वक्तव्यम्। तत्रामिक्षायागे विश्वदेवप्राप्तेः सप्तसु यागेष्वनेन वाक्येन विश्वे देवा विधीयन्त इति वक्तव्यम्। न च तत्सम्भवति, तेषामुत्पत्तिशिष्टाग्न्याद्यवरोधात्। आकाङ्क्षया हि सम्बन्धो भवति। आग्नेयादियागानां हि देवताकाङ्क्षा उत्पत्तिशिष्टैरग्न्यादिभिरेव निवृत्तेति न तत्र विश्वदेवविधानं युक्तम्। अतश्चोत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वाद्वैश्वदेवशब्दस्य कर्मनामधेयत्वम्। यथाहुः—

सकता है। अतः अप्रकृत याग में यह देवता समर्पक नहीं होगा। देवता विशिष्ट कर्म का यह विधायक हो सकता है। जैसा 'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति' आदि आठ वाक्य द्रव्य और देवताविशिष्ट कर्म के विधायक हैं वैसा यह वैश्वदेव वाक्य भी विशिष्ट नवम कर्म को विधान कर सकेगा। इस प्रकार के विधान मानने से वैश्व देव पर्व में 'अष्टौ हवींषि' वाक्य से आठ हवियों का निर्देश असंगत होगा। इस प्रकरण में प्रधान एवं अङ्ग यागों की गणना की गयी है—'नव प्रयाजा इज्यन्ते, नवानूयाजाः, अष्टौ हवींषि, द्वावाघारौ, द्वावाज्यभागौ, त्रिंशत्सम्पद्यन्ते'। यदि वैश्वदेव वाक्य भी विशिष्ट कर्म विधायक होता है तो त्रिंशत्संख्या से बढकर एकतीस संख्या हो जायगी। तब उस गणनापरक वाक्य का विरोध होगा। इसलिए विशिष्ट कर्म विधायक वैश्वदेव वाक्य नहीं है।

अतः वैश्वदेव वाक्य को प्रकृत आठ यागों में देवता विधायक मानना होगा। उनमें सातवें याग में विश्वेदेव देवता के उल्लेख होने उसे छोड़कर अवशिष्ट सात यागों में देवता का विधान मानना होगा। यह संभव नहीं है। क्योंकि सभी उत्पत्ति वाक्य में अग्नि सोम आदि देवता उपदिष्ट हैं। उन देवताओं के रहते हुए वैश्वदेव वाक्य से विहित विश्वेदेवों को वे नहीं आने देंगे। उन यागों में देवता विषयक आकांक्षा ही नहीं है। क्योंकि प्रत्येक याग के लिए देवता वाक्य में निर्दिष्ट ही है। ऐसी स्थिति में विश्वेदेवों का वहाँ निवेश कैसे संभव होगा? इस वाक्य से विहित विश्वेदेव अग्निसोम आदि देवताओं का बाधक भी नहीं बन सकता, क्योंकि वे उत्पत्ति वाक्य हैं वैश्वदेव वाक्य उत्पन्न वाक्य है। उत्पत्ति एवं तद्भिन्न उत्पन्न वाक्यों में उत्पत्ति वाक्य प्रबल होता है और उत्पन्न वाक्य दुर्बल। दुर्बल प्रमाण से बोधित देवता प्रबल प्रमाण बोधित देवताओं का बाधक कैसा बन सकेगा? अतः उत्पत्ति वाक्यों में शिष्ट गुण का बलीयस्त्व होने के निमित्त वैश्वदेव शब्द नामधेय है।

गुणान्तरावरुद्धत्वान्नाऽवकाश्यो गुणोऽपरः।
विकल्पोऽपि न वैषम्यात्तस्मान्नामैव युज्यते ॥ इति ॥

(पञ्चमप्रकारखण्डनम्)

अन्ये त्वाचार्या आहुः—यः शब्दो यत्र कर्मणि यद्गुणसम्बन्धं बोधयति स चेत् सम्बन्धः शास्त्रान्तरप्रतिपन्नः तदा तस्य शब्दस्य तन्नामधेयत्वं तत्प्रख्यशास्त्रात्। तच्च शास्त्रान्तरं विधिर्वा अर्थवादो वेत्यत्राऽनादरः। तत्राग्निहोत्रशब्देऽग्निसम्बन्धबोधकं शास्त्रान्तरं विधिरेव। वैश्वदेवशब्दश्च विश्वदेवसम्बन्धं कर्मणि बोधयति। विश्वदेवसंबन्धश्चाऽष्टसु यागेषु "यद्विश्वेदेवास्समयजन्त, तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्" इत्यर्थवादादवगतः।

इसमें वार्तिक प्रमाण को प्रस्तुत करते हैं—गुणान्तरावरुद्धत्वात् आदि। आग्नेय सौम्य आदि कर्म के विधायक वाक्यों में अग्नि सोम आदि गुणों (देवतारूपी) से अवरुद्ध होने से दूसरे गुण वैश्वदेव वाक्य से विहित देवता का निर्देश संभव नहीं है। अग्नि आदि से विश्वेदेवों का विकल्प भी संगत नहीं है। क्योंकि तुल्य बलों का ही विकल्प होता है। अग्नि आदि उत्पत्ति शिष्ट हैं, विश्वेदेव तो तदन्य उत्पन्नशिष्ट है। अतः प्रमाणों में विषमता के कारण विकल्प नहीं होगा। अन्ततः विश्वेदेव शब्द नाम का ही बोधक है।

एक और वैषम्य भी यहां विद्यमान है—आग्नेय आदि वाक्यों में तद्धितान्त शब्दों से द्रव्य पुरोडाश चरु आदि से संबन्ध रखने वाला देवता का बोध है। 'वैश्वदेवेन' इस तद्धितान्त पद से तो याग के साथ सम्बन्ध रखनेवाला देवता का बोध होता है। यहाँ द्रव्यका बोध आक्षेपजन्य है। अर्थात् द्रव्य के बिना याग सिद्ध नहीं होता है, अतः किसी-न-किसी द्रव्य का आक्षेप कर उसके साथ देवता का सम्बन्ध कहना होगा। इस वैषम्य से भी वैश्वदेव शब्द को नामधेय ही मानना होगा।

अन्ये त्वाचार्या आहुः। आचार्य शब्द से पार्थसारथिमिश्र अभिप्रेत हैं। ये भी वैश्वदेव शब्द को नामधेय मानते हैं। किन्तु उसका निमित्त तत्प्रख्यशास्त्र को कहते हैं। इसके लिए वे पाँचवें निमित्त को स्वीकार नहीं करते हैं। इनका तात्पर्य है कि जो शब्द जिस कर्म में जिस गुण का सम्बन्ध कहता हो वह सम्बन्ध दूसरे शास्त्र से अवगत हो जाता है तो उस शब्द का नामधेयत्व तत्प्रख्यशास्त्र से होता है। यह आवश्यक नहीं है कि वह शास्त्र ब्राह्मणवाक्य या मन्त्र ही हो। अग्निहोत्र शब्द के नामधेय में अग्नि सम्बन्ध प्रतिपादक विधि ही है। वैश्वदेव शब्द किसी कर्म में विश्वदेवों का सम्बन्ध प्रतिपादन करता है, यह तद्धितान्त से स्पष्ट अवगत है। 'यद्विश्वेदेवास्समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्' यह अर्थवाद वाक्य आग्नेय

न च विधिरेव तत्प्रख्यशास्त्रं नार्थवाद इत्यत्र किञ्चित् प्रमाणमस्ति। अत एव "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"त्यत्र ज्योतिष्टोमशब्दः "एतानि वाव तानि ज्योतींषि य एतस्य स्तोमाः" इत्यर्थवादावगतं ज्योतिस्सम्बन्धं निमित्तीकृत्य सोमयागे प्रवर्तमानस्तत्प्रख्यशास्त्रान्नामधेयं भवति। एवं प्रकृतेऽपि द्रष्टव्यम्। पञ्चमप्रकारकल्पने प्रमाणाभावात्। अत एव वैश्वदेवाधिकरणे वार्तिककारैरेवमुपसंहृतम्—'तत्प्रख्यतयैव सर्वेषां नामधेयत्वम्' इति। यच्चोत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमुक्तं तत् गुणविध्यसम्भवे

आदि आठ यागों का अनुष्ठान जिस कारण से विश्वेदेव देवताओं ने किया है उस कारण से वे वैश्वदेव शब्द से कहलाते हैं, इस प्रकार नाम निर्वचन करता है। यागों के साथ विश्वेदेवों का कर्तृत्व सम्बन्ध यह अर्थवाद प्रतिपादन करता है। यह कहीं नियम नहीं है कि विधि ही इस प्रकार का सम्बन्ध बतला सकता है अर्थवाद नहीं, ऐसा कहने में कोई प्रमाण नहीं है। इस विषय में ज्योतिष्टोम शब्द का उदाहरण देते हैं—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत। यहाँ ज्योतिष्टोम शब्द का नामत्व सर्वसम्मत है, उसमें निमित्त तत्प्रख्यशास्त्र है। वह शास्त्र विधिरूप नहीं, किन्तु अर्थवाद है। 'एतानि वाव तानि ज्योतींषि य एतस्य स्तोमाः' इस अर्थवाद से बोधित ज्योतिस्सम्बन्ध को लेकर ज्योतिष्टोम शब्द नामधेय माना गया है। यह अर्थवाद ज्योतिष्टोम नाम का निर्वचन परक है—ज्योति और स्तोम शब्दों के योग से 'ज्योतिष्टोम' नाम बनता है। ज्योति क्या है, और स्तोम क्या है? इस प्रश्न को उत्थापित कर प्रश्न का समाधान वेदों में किया गया है—'यदाहुः—कतमानि तानि ज्योतींषि य एतस्य स्तोमाः'? यह प्रश्न है। 'त्रिवृत् पञ्चदशस्सप्तदश एकविंशः, एतानि वाव तानि ज्योतींषि य एतस्य स्तोमः' यह उत्तर है।

सन्दर्भ की स्थिति यह है कि ज्योतिष्टोम याग में प्रातस्सवन माध्यन्दिनसवन सायंसवन इन तीनों सवनों[1] में सोम रस का 'ग्रह' पात्रों से ग्रहण करने के पश्चात् स्तोत्र और शस्त्र मन्त्र पढ़े जाते हैं। स्तोत्र उसे कहते हैं जो मन्त्र गान के साथ पढ़े जाते हों, शस्त्र उसे कहते हैं जो मन्त्र विना गान से पढ़े जाते हों। ये स्तोत्र तीनों सवनों में मिलकर बारह होते हैं—प्रातस्सवन में बहिष्पवमान स्तोत्र १, आज्य स्तोत्र ४, मध्यन्दिन सवन में माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र १, पृष्ठस्तोत्र ४, सायंसवन में आर्भवमान स्तोत्र १, और यज्ञायज्ञीय (अग्निष्टोम) स्तोत्र १। इस प्रकार १२ स्तोत्र हैं। हर एक स्तोत्र में स्तोत्र की संख्या होती है जिसे 'स्तोम' कहते हैं। स्तोम अर्थात् स्तोत्र गत संख्या। ये स्तोम-त्रिवृत् नौ संख्या, यह बहिष्पवमान

---

१. सवन शब्द षूञ् धातु से ल्युट् प्रत्ययान्त है। सोमलता का अभिषव—रस निकालना अर्थ है। प्रातः मध्यान्ह और सायं रस निकाला जाता है। अतः प्रातःस्सवन माध्यन्दिनसवन एवं सायंसवन होते हैं।

युक्त्यभ्युच्चयमात्रम् । तत्सिद्धं तत्प्रख्यशास्त्रादेव[1] वैश्वदेवशब्दस्य कर्मनामधेयत्वमिति ।

ननु पशुसोमाधिकरणे "ऐन्द्रवायवं गृह्णाती" त्यादौ न यजिकल्पनम्, 'सोमेन यजेते'ति प्रत्यक्षयजिश्रुतेरित्युक्तम् । तेन न्यायेन 'वैश्वदेव्यामिक्षे' त्यत्रापि यजिकल्पनं मास्तु, वैश्वदेवेन यजेते'त्यत्र प्रत्यक्षयजिश्रुतेः । एवं चानेनैव वाक्येन देवताविशिष्टकर्मविधानमस्तु । एवञ्च न वाक्यद्वयस्याऽप्यनुवादत्वम् । ना'प्यष्टौ हवींषी' त्यनन्यगतिकलिङ्गविरोधो भवेदिति चेत्—

मैवम्; "वैश्वदेव्यामिक्षे"त्यत्र यज्यकल्पने आमिक्षा किमनुवादेन

स्तोत्र की है। 'त्रिवृद्बहिष्पवमानम्' यह उसका विधान है। आज्यस्तोत्र की संख्या पन्द्रह है। 'पञ्चदशान्याज्यानि' यह उसका विधान है। माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र पञ्चदश १५ संख्याक है। एवं पृष्ठ स्तोत्र का सप्तदश स्तोम है। आर्भव पवमान सप्तदश १७ स्तोमक है एवं यज्ञायज्ञिय स्तोत्र एकविंशस्तोमक २१ है। इन्ही स्तोमों की 'त्रिवृत् पञ्चदशः सप्तदश एकविंशः' इस प्रकार निर्देश कर 'एतानि वाव तानि ज्योतींषि य एतस्य स्तोमाः' सन्दर्भ से 'ज्योतिष्टोम' कहलाता है। ज्योतिष्टोम नाम का निमित्त तत्प्रख्यशास्त्र जैसे यहाँ अर्थवाद है वैसे 'वैश्वदेव' शब्द का निमित्त भी अर्थवाद है। अतः तत्प्रख्यशास्त्र से ही वैश्वदेव शब्द नामधेय बन सकता है तो पाँचवें निमित्त की आवश्यकता नहीं है।

द्वितीयाध्याय द्वितीय पाद के पशुसोमाधिकरण न्याय से पूर्वपक्षी शंका करते हैं—ननु पशुसोमाधिकरणे आदि। उस अधिकरण में 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' 'मैत्रावरुणं गृह्णाति' आदि ग्रहण वाक्य एवं 'सोमेन यजेत' वाक्य को उदाहृत कर विचार किया गया है। 'ऐद्रवायवं गृह्णाति' आदि ग्रहण विधायक वाक्यों में तद्धितान्त शब्दों के द्वारा द्रव्यदेवता संबन्ध प्रतिपादित है। द्रव्यदेवता संबन्ध ही याग है। अतः 'गृह्णाति' शब्द याग परक है। इन यागों के समुदाय का 'सोमेन यजेत' वाक्य अनुवादक है ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थापित कर सिद्धान्त किया है कि प्रत्यक्ष यजि श्रवण 'सोमेन यजेत' वाक्य में ही है ग्रहणवाक्यों में नहीं। अतः 'सोमेन यजेत' ही द्रव्यविशिष्ट याग का विधायक हैं। इस न्याय से 'वैश्वदेवेन यजेत' में देवतायुक्त यजिश्रवण होने से यही याग विधायक है, 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' वाक्य वैश्वदेव वाक्यविहित याग को द्रव्याकांक्षा का पूरक है। इस प्रकार को स्वीकार करने पर यह किसी का अनुवादकत्व नहीं होता और 'अष्टौ हवींषि' का भी विरोध नहीं है। अतः वैश्वदेव शब्द को नामधेय मानने की क्या आवश्यकता है?

शंका का खण्डन करते हैं—मैवम्। खण्डन का आशय यह है कि 'वैश्व-

---

१. तत्प्रख्यतयैव इति. क.

विधीयत इति वक्तव्यम् । विश्वदेवानुवादेन द्रव्यविधाने द्रव्यस्य देवताङ्गत्वमेव स्यात्, न यागाङ्गत्वम् ।

किञ्च वैश्वदेवीशब्दो देवतातद्धितत्वादामिक्षां[1] तत्वेन ब्रूत इत्युक्तम् । तत्र विश्वदेवानुवादेन द्रव्यविधानं वैश्वदेवीशब्देनैव कर्तव्यं पदश्रुतेः । यथा भावनायां करणसमर्पणं धातुनैव क्रियते पदश्रुतेः, न तूपपदेनेत्युक्तं भावार्थाधिकरणे तद्वत् । तत्र च "वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष" इतिवदेकप्रसरताविरोधः । अतो यागानुवादेनापि[2] द्रव्यविधानार्थं 'वैश्वदेव्यामिक्षे'त्यत्र यजिकल्पनं

देव्यामिक्षा' वाक्य आमिक्षा द्रव्य का विधायक माना जाता है तो इस विधेय का उद्देश्य क्या हो सकता है ? उद्देश्य के विना विधेय का विधान संभव नहीं। 'वैश्वदेवी' यह तद्धितान्त पद विश्वेदेवता और द्रव्य का संबन्ध बतलाता है। विश्वेदेव देवता को उद्देश्य कर आमिक्षा द्रव्य का विधान मानने पर द्रव्य, देवता का अंग सिद्ध होता है, याग का अंग नहीं। पूर्व बतला चुके हैं कि देवता विधिगम्य होता है। आमिक्षा वाक्य में विधि नहीं है। विधि के विना उद्देश्य तथा विधेय वाचकशब्द श्रवण मात्र से उद्देश्यता विधेयता अवगति संभव नहीं। अतः विधि की कल्पना करनी होगी। केवल विधि प्रत्यय का प्रयोग असाधु होता है, अतः किसी धातु की भी कल्पना करनी होगी। प्रत्ययार्थ से अविरुद्ध किसी धातु का प्रयोग हो सकता है तो यजि धातु की ही कल्पना आवश्यक नहीं है। यही कहा गया है—न यागाङ्गत्वम् ।

'वैश्वदेव्यामिक्षा' वाक्य में देवता को उद्देश्य कर द्रव्य के विधान होनेपर भी द्रव्य को देवता संबद्ध योग्य क्रिया से घटित होना चाहिए। योग्य क्रिया याग को छोड़कर अन्य क्रिया हो नहीं सकती अतः याग की ही कल्पना होगी। वह याग 'वैश्वदेवेन यजेत' से विहित है। इस रूप से आमिक्षा द्रव्य का याग के साथ संबन्ध हो जाता है तो याग की कल्पना क्यों ? ऐसी शंका होने पर दोषान्तर प्रस्तुत करते हैं—किञ्च वैश्वदेवो शब्दः आदि। तद्धितान्त वैश्वदेवी शब्द देवता विशिष्ट आमिक्षा को बोधित करता है। इसका परिणाम यह होगा कि वैश्वदेवीशब्द ही देवता का उद्देश्य कर द्रव्य का विधायक है। अर्थात् प्रकृति से देवता को अनुवाद प्रत्यय से द्रव्य समर्पण करता है। क्योंकि भावार्थाधिकरण न्याय से जैसा 'यजेत' में आख्यातार्थ भावना में समानपदोपात्त धात्वर्थ याग का करणत्व से अन्वय में पदश्रुति प्रमाण है। ऐसा मानने पर जैसा—'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' में एकप्रसरता भङ्ग भीति से प्राथम्य विशिष्ट भक्षण का विधान माना गया है वैसे 'वैश्वदेव्यामिक्षा वाक्य में भी एक प्रसरता भंग भीति से यागविशिष्ट द्रव्य का विधान मानना होगा

---

१. 'आमिक्षान्तर्गतत्वेन ब्रू०; आमिक्षान्तर्गतार्थः' । २. कपुस्तके अपिर्नास्ति ।

तावदवश्यं कर्त्तव्यम् । अतश्च[1] पशुसोमाधिकरणान्यायवैषम्यम् । 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाती'त्यत्र देवताविशिष्टग्रहणविधानेन यज्यकल्पनात् । यजिकल्पने च 'वैश्वदेव्यामिक्षे' त्यत्रैव द्रव्यदेवताविशिष्टकर्मविधानं युक्तम्, रूपद्वयश्रवणात् ।

एवञ्च "आग्नेयोऽष्टाकपालः सौम्यश्चरु" रित्यादिवाक्यैर्वैश्वदेव्यामिक्षे'ति[2] वाक्यस्य प्रायपाठो रक्षितो भवति । अन्यथा हि तेषु सर्वेषु द्रव्यदेवतासम्बन्धकल्पितयागविधानमत्र च द्रव्यमात्रविधानमिति वैरूप्यं प्रसज्येत ।

ऐसी दशा में यजि की कल्पना अनिवार्य है। इतने सन्दर्भ से निश्चय हुआ कि पशुसोमाधिकरण न्याय से इसका महान् वैषम्य है। वहाँ 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' आदिवाक्यों में निर्दिष्ट देवताओं को उद्देश्य कर ग्रहण मात्र का विधान है, 'सोमेन यजेत' वाक्य याग विधायक है। प्रकृत 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' वाक्य को याग कल्पना द्वारा द्रव्य और देवता से विशिष्ट याग विधायकत्व एवं 'वैश्वदेवेन यजेत' को उन आठों यागों का नाम समर्पकत्व है। पूर्व कहा जा चुका है कि कर्म के द्रव्य और देवता दो रूप होते हैं। ये रूप जिस वाक्य में श्रुत हैं उसी को कर्मोत्पत्ति विधि मानना चाहिए। तदनुसार 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' वाक्य में दोनों रूप श्रुत हैं, अतः इस वाक्य में ही द्रव्य और देवता विशिष्ट कर्म विधायकत्व समुचित है। 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' वाक्य में देवता से विशिष्ट ग्रहणमात्र के विधान से वाक्य चरितार्थ हो जाता है।

इस अंश में युक्त्यन्तर प्रदर्शित करते हैं—एवञ्च आग्नेयोऽष्टाकपालः सौम्यश्चरुः आदि। यह लौकिक रीति है कि प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण स्नातकों की सूची में जिनके नाम हैं वे प्रथम श्रेणी के समझे जाते हैं, एवं द्वितीयश्रेणी की सूची में आम्नात स्नातक द्वितीयश्रेणी के परिगणित किये जाते हैं उसी प्रकार 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' वाक्य के पूर्व और पर वाक्य सभी द्रव्य और देवता विशिष्ट कर्म के विधायक हैं, और तन्मध्य पठित आमिक्षा वाक्य द्रव्य का विधायक है यह मानना सङ्गत नहीं होगा। अतः इस वाक्य को भी और वाक्यों के समान द्रव्य देवता विशिष्ट कर्म का विधायक मानना ही समुचित है। यदि यह प्रकार नहीं माना जाय तो यहाँ पठित सभी वाक्य कर्म विधायक होंगे एवं आमिक्षा वाक्य मात्र द्रव्यविधायक होगा ऐसा वैरूप्य होगा। पूर्व और उत्तर वाक्यों का कर्म विधायकता, मध्य में एक वाक्य मात्र का गुणविधायकत्व संगत नहीं है।

---

१. ततः । २. इत्यस्य इति क०

किञ्च 'वैश्वदेवेन यजेते'त्यत्र वैश्वदेवशब्दस्य देवतासमर्पकत्वे 'यद्विश्वे देवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्' इत्येतस्यार्थवादस्यात्यन्तमेव निरालम्बनत्वं[1] स्यात्। एतदर्थवादाद्धि वैश्वदेवशब्दो विश्वदेवकर्तृकत्वेन

प्राय पाठ-सह पाठ का वैरूप्य कोई बड़ा दोष नहीं माना जाता है क्योंकि प्रयाजों के पाँच याग आरादुपकारक माने जाते हैं, किन्तु समित्, तनूनपात् इड् तथा बर्हि ये चार याग आरादुपकारक, पांचवाँ स्वाहाकार याग सन्निपत्योपकारक माना जाता है। एवं 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नोनादधीत' 'ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः' 'वर्षासु रथकारः' इन वाक्यों से विहित ब्राह्मण आदि कर्तृक आधान गुणकर्म हैं, इनके साथ पठित रथकार कर्तृक आधान को प्रधान कर्म माना गया है। अतः प्रायपाठ से वैरूप्य होना दोषप्रद नहीं है। अतः यजि कल्पना की भीति एवं एकप्रसरताभङ्ग भीति के हेतु 'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' वाक्य द्रव्य का विधायक माना जाय ऐसी शंका होने पर दोषान्तर प्रदर्शित करते हैं—किञ्च वैश्वदेवेन यजेत इत्यत्र आदि। 'यद्विश्वेदेवाऽसमयन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्' यह अर्थवाद वाक्य प्रतिपादन करता है कि जिस कारण से विश्वेदेव देवताओं ने इस कर्म का अनुष्ठान किया उस कारण से इस कर्म का वैश्वदेव नाम पड़ा। यह अर्थवाद विषय रहित हो जायेगा, क्योंकि आमिक्षा वाक्य केवल आमिक्षा द्रव्य का विधान करता है और 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य विश्वेदेव देवताक कर्म का विधान करता है ऐसा मानने पर विश्वेदेव देव उद्देश्य कोटि में पड़ जाते हैं अर्थात् विश्वेदेवोद्देश्यक कर्म में आमिक्षा वाक्य द्रव्य समर्पक होगा। इस स्थिति में विश्वेदेव देवों का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होगा, तो विश्वेदेवों का कर्तृत्व प्रतिपादक अर्थवाद की संगति क्या होगी ? इसलिए आमिक्षा वाक्य द्रव्य देवता विशिष्ट कर्म विधायक है और 'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य छत्रिन्याय से आठों का अनुवादक है। वैश्वदेव शब्द से आठों का अनुवाद करने में अर्थवाद वाक्य से प्रतिपादित विश्वेदेव कर्तृकत्व, निमित्त बन सकता है, तो अर्थवाद का निर्विषयत्व नहीं होगा।

ये सभी विषय तब उपपन्न होंगे जबकि विश्वेदेव देवताओं का याग कर्तृत्व की उपपत्ति हो। छठे अध्याय का तिर्यगधिकरण एवं नवमाध्याय के देवताधिकरण के न्यायों पर दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि इन्द्र मित्र वरुण आदि देवताओं का अधिकार उपनयन और आधान आदि संस्कारों में नहीं है। तिर्यगधिकरण में देवताओं के उपनयन आदि संस्कारों का निषेध किया गया है। उपनयन आदि संस्कारों से संस्कृत व्यक्तियों का ही दर्शपूर्णमास अदि कर्मों के अनुष्ठान में अधिकार है। इन्द्र मित्र वरुण आदि का उपनयन इसलिए नहीं है कि वे वर्ण और आश्रमों से अतीत हैं। इस स्थिति में देवताओं का याग कर्तृत्व कैसा ? एवं नवम अध्याय

---

१. निरालम्बः स्यात् इति क०

कर्मणि प्रवृत्त इति ज्ञायते। [1]तत् दैवतासमर्पकत्वे विरुध्यते।

किञ्च 'वैश्वदेवेन यजेते'त्यस्य यागविधित्वे आमिक्षाया नोत्पत्तिशिष्टत्वम्। तथा च तया न वाजिनं बाधितुं शक्यत इत्युभयोरपि आमिक्षा-वाजिनयोर्यागाङ्गत्वं स्यात्। तथा च विकल्पः। स चाष्टदोष[2]दुष्ट इति। तस्मा''द्वैश्वदेव्यामिक्षे''त्यत्रैव यागविधानम्। इतरस्य त्वनुवादत्वम्। अनुवादत्वे च यथा नानर्थक्यं तथोक्तमित्यास्तां तावत्। तत्सिद्धम् वैश्वदेव-शब्दस्य कर्मनामधेयत्वम्।

के देवताधिकरण में देवताओं के विग्रह आदि पञ्चक का निषेध किया है। विग्रह आदि पञ्चक ये हैं—

'विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यञ्च प्रसन्नता।
फलप्रदानमित्येतत् पञ्चकं विग्रहादिकम्'॥

अर्थात् देवताओं का विग्रह-आकार, हविषां भोग-यजमान द्वारा दिये गये हवियों का खाना, ऐश्वर्य-प्रभुत्व, प्रसन्नता-यजमान के ऊपर प्रसन्न होना, एवं फल प्रदान-कर्म के अनुरूप फल देना, ये पाँच विग्रहादिक हैं। देवताधिकरण में इनका निषेध किया गया है। इस स्थिति में देवताओं का कर्तृत्व किस प्रकार माना जाय? अतः यह अर्थवाद केवल स्तुति मात्र परक है, कर्तृत्व प्रतिपादक नहीं है। अतः वैश्वदेव वाक्य देवता विधायक हो, ऐसी शंका होने से दोषान्तर प्रदर्शित करते हैं—किञ्च आदि। आमिक्षावाक्य के द्वारा वैश्वदेववाक्य से विहित अर्थ में गुणसमर्पकत्व मानने पर आमिक्षा द्रव्य उत्पत्तिशिष्ट गुण नहीं होगा, क्योंकि आमिक्षा यागविधायक उत्पत्ति वाक्य नहीं है। उत्पत्तिवाक्य से विहित गुण ही उत्पत्तिशिष्ट कहलाता है। जब वैश्वदेव वाक्य को यागविधायक माना जाता है तो आमिक्षावाक्य उत्पत्ति वाक्य कैसे होगा। इसी प्रकार 'वाजिभ्यो वाजिनम्' इस वाक्य को वैश्वदेवयाग में वाजिन गुण का विधायक मानना होगा। आमिक्षा गुण उत्पत्तिशिष्ट होनेपर ही वह उत्पन्नशिष्ट वाजिन का बाधक बन सकेगा। दोनों उत्पन्न शिष्ट गुणों का विकल्प ही सिद्ध होगा। एक ही कार्य की सिद्धि के लिए विहित अनेक गुणों का 'एकार्थास्तु विकल्पेरन्' न्याय से द्वादशाध्यय में विकल्प ही सिद्ध किया गया है। विकल्प मानने पर वह आठ दोषों से दुष्ट समझा जाता है। आठ दोषों का विवरण इस प्रकार है—दर्शपूर्णमास प्रकरण में 'व्रीहिभिर्यजेत' एवं 'यवैर्यजेत' दो द्रव्यविधायक शास्त्र हैं। दोनों शास्त्र तुल्य बल प्रामाणिक हैं, जबकि एक व्रीहिद्रव्य से याग का संपादन हो जाता हो, या यव द्रव्य से उसका संपादन सिद्ध हो जाता हो तो दोनों का समुच्चय न हो कर विकल्प स्वीकार करना होगा। विकल्प में चाहें व्रीहि का ग्रहण करें या यव का यह यजमान का ऐच्छिक है। ऐच्छिक होते हुए भी दोनों

---

१. 'तद्दैवतासमर्पकत्वेन' २. 'अष्टदोष इति' इति क०

तदेवं निरूपितं मत्वर्थलक्षणादिप्रकारचतुष्टयनिरूपणेन नामधेयस्य विधेयार्थपरिच्छेदकत्वेनार्थवत्त्वम् ।

(निषेधानां पुरुषार्थानुबन्धित्वनिरूपणम्)

अनर्थहेतोः कर्मणः सकाशात् पुरुषस्य निवृत्तिकरत्वेन निषेधानां पुरु-

---

शास्त्रों में प्रामाण्य बुद्धि तुल्य है। इस स्थिति में यजमान एक प्रयोग में प्रथम व्रीहि का ग्रहण कर लेता है तो यव शास्त्र में पूर्व स्वीकृत प्रामाण्य का परित्याग एवं अस्वीकृत अप्रामाण्य का स्वीकार ये दो दोष होंगे। क्योंकि व्रीहिशास्त्र में जो प्रामाण्य बुद्धि थी वही यवशास्त्र में भी थी। इसी प्रकार अविशेष रूप से प्रामाण्य बुद्धि होते हुए प्रथम व्रीहिशास्त्र के ग्रहण से यवशास्त्र गत प्रामाण्य का त्यागना और अस्वीकृत अप्रामाण्य का स्वीकार करना दो दोष होंगे ही। पुनः यवशास्त्र के प्रामाण्य सिद्धि के लिए प्रयोगान्तर में यव का ग्रहण करने पर त्यक्त प्रामाण्य का स्वीकार करना और स्वीकृत अप्रमाण्य का परित्याग करना ये दो दोष होंगे। इस प्रकार प्रथम व्रीहि तदनन्तर यव शास्त्र के ग्रहण में चार दोष होते हैं। यदि यजमान प्रथम यव शास्त्र को ग्रहणकर अनन्तर व्रीहिशास्त्र का ग्रहण करेगा तो वे ही चार दोष लगेंगे। यह ही अष्टदोष दुष्ट कहलाता है। ये ही दोष आमिक्षा और वाजिन द्रव्य के विधान में भी होंगे। अतः आमिक्षा वाक्य को यागविधायक मानना ही संगत है। इस स्थिति में वैश्वदेव वाक्य समुदाय का अनुवादक होकर तत्प्रख्यशास्त्र से अथवा उत्पत्तिशिष्टगुणवलीयस्त्व निमित्त से वैश्वदेव शब्द नामधेय होगा और इस प्रकार वैश्वदेववाक्य सार्थक हो जाता है। इस रीति से विधेय याग के परिच्छेद करते हुए नामधेयों का सार्थक्य सिद्ध हुआ।

निषेध प्रकरण

विधि-मन्त्र-नामधेयों के निरूपण के वाद अव निषेध स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए निषेधों का प्रयोजनवत्त्व वतलाते हैं—अनर्थहेतोः कर्मणः आदि। अनर्थ पाप के हेतु कलञ्ज भक्षण चौर्य आदि कर्मों से मानव को निवृत्त कराते हुए 'न कलञ्जं भक्षयेत्' 'न स्तेयात्' इत्यादि निषेध वाक्य पुरुषार्थ संवन्धि होते हैं। जैसे 'यजेत' 'दद्यात्' 'जुहुयात्' इत्यादि विधियाँ मानव को इष्ट साधन याग-दान-होम आदि कर्मों में प्रवर्त्तक होते हुए पुरुषार्थ स्वर्ग आदि फलों के साधक होती हैं, उसी प्रकार अनिष्ट के साधन अभक्ष्य-भक्षण, चौर्य, अनृतवदन, व्यभिचार आदि कर्मों में प्रवृत्त हुए मानवों को उन कर्मों से निवृत्ति कराते हुए अर्थात् निवर्तक होकर अनिष्ट नरक पाप आदि से वचाती हैं। अतएव निषेध पुरुषार्थानुबन्धी हैं। मानव सुख चाहते हुए भी उसके साधन के अज्ञान से प्रवृत्त नहीं हो पाता है उस स्थिति में उस अज्ञान को दूर करते हुई विधियां पुरुष को प्रवर्तित करती है। उसी प्रकार दुःख को न चाहते हुए भी कलञ्जभक्षण, चौर्य आदि में दुःख जनकत्व को न जानने वाला उन

षार्थानुबन्धित्वम्। तथा हि—यथा विधयः प्रवर्तनामभिदधतः स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थं विधेयस्य यागादेः श्रेयःसाधनत्वमाक्षिपन्तः पुरुषं तत्र प्रवर्तयन्ति, एवं 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादयो निषेधा अपि निवर्तनामभिदधतः

कर्मो से निवृत्त नहो हो पाता उस अवस्था में जैसे विधियाँ सुख साधनत्व का अवबोधन कराती हुई प्रवर्तक होती हैं वैसे ही कलञ्ज भक्षण चौर्य आदि के दुःखजनकत्व जो अज्ञात है उसका ज्ञान पुरुष को कराती हुए निषेध उन कर्मों से पुरुष के निवर्तक हो जाते हैं [विधियां प्रवर्तक होती हैं तो निषेध निवर्तक होते हैं। प्रवर्तकत्वेन विधियां सार्थक हैं तो निवर्तकत्वेन निषेध भी सार्थक होते हैं।] इसी का उपपादन करते हैं—तथाहि आदि से। जैसे विधियाँ लिङ् लोट् लेट् तव्य प्रत्यय प्रवर्तना-प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार को कहते हुए अपने में विद्यमान प्रवर्तकत्व सिद्धि के लिए विधेय याग-दान-होम आदि के श्रेयस्साधनत्व-अर्थादिष्टसाधनत्व का आक्षेपक होकर प्रवर्तक होते हैं। उसी प्रकार [नञ् से युक्त 'न भक्षयेत्' 'न स्तेयात्' 'नानृतं वदेत्' आदि निषेध भी निवर्तना-निवृत्त्यनुकूल व्यापार को कहते हुए अपने में निवर्तकत्व की सिद्धि के लिए निषेध्य कलञ्ज भक्षण-चौर्य-अनृतवदन आदियों के अनिष्टसाधनत्व का आक्षेपक होकर पुरुषों का निवर्तक बनते हैं।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' इस पाणिनिसूत्र से लिङ् आदि की शक्ति प्रवर्तना अर्थ में गृहीत होती है। प्रवर्तना उस व्यापार को कहा जाता है जिससे पुरुष की प्रवृत्ति होती हो। अर्थात् प्रवृत्ति के प्रति जनक व्यापार प्रवर्तना है। प्रवृत्ति के प्रति यह व्यापार साक्षात् जनक नहीं है। किन्तु प्रवृत्ति विषय याग आदि में इष्टसाधनत्व ज्ञान को कराता हुआ अनुकूल-जनक होता है। प्रवृत्ति विषय याग आदि में पुरुष को जबतक इष्ट साधनत्व बुद्धि अर्थात् 'इदं मदिष्टसाधनम्' ऐसी बुद्धि नहीं होती है तबतक पुरुष उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होगा। 'चैत्रः पचेत्' 'चैत्र गामानाय' इत्यादि लौकिक वाक्यों में इसका अनुभव किया जाता है। लोक में 'चैत्रः पचेत्' आदि वाक्यों को सुनकर पदपदार्थ संगति को जानने वालों का पाक में मुझे यह प्रवृत्त करा रहा है पाक में मेरी प्रवृत्ति हो इसकी इच्छा यह रखता है ऐसा शाब्द बोध हो जाता है। इसके साथ प्रवर्तक पुरुष में आप्तत्व का ग्रहण भी होता है। इस हेतु से पाक आदि में इष्टसाधनत्व ज्ञान का अनुमान कर प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार वेद के लिङ् आदि वाक्यों को सुनकर प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार रूपी शाब्दबोध हो जाने पर वेद अपौरुषेय होने के कारण लिङ् आदि शब्द से ही याग आदि में इष्टसाधनत्व का अनुमान कर प्रवृत्त होता है। इस न्याय को निषेध वाक्यों में अतिदेश कर दिखाते हैं—एवम् आदि। ['न कलञ्जं भक्षयेत्' आदि वाक्यों में निषेध (नञ् समभिव्याहृत विधि) निवर्तना-निवृत्ति के अनुकूल व्यापार का अभिधायक है। जैसे प्रवर्तना स्थलों में प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार प्रवृत्ति के जनक-उत्पादन करने वाले

स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेध्यस्य कलञ्जभक्षणादेरनर्थहेतुत्वमाक्षिपन्तः पुरुषं ततो निवर्तयन्ति ।

ननु कथं निषेधानां निवर्तनाप्रतिपादकत्वम् ? यावता 'न भक्षयेत्' 'न हन्तव्य' इत्येवमादावव्यवधानेन नञर्थस्याभावस्य धात्वर्थेनान्वये धात्वर्थ-वर्जनकर्तव्यतैव सर्वत्र [1]वाक्यार्थः प्रतीयते । ततश्च यथा 'यजेते'त्यादौ याग-कर्तव्यता वाक्यार्थः, एवं [2]निषेधेषु [3]तत्तद्धात्वर्थवर्जनकर्तव्यता वाक्यार्थः, न निवर्तनेति चेत्—

मैवम्— अव्यवधानेऽपि धात्वर्थस्य प्रत्ययार्थोपसर्जनत्वेनोपस्थितस्य

इष्टसाधनत्व, बलवदनिष्टाननुबन्धित्व आदि ज्ञान का जनक-उत्पादक है, वैसे निवर्तना स्थलों में निवृत्त्यनुकूल व्यापार निवृत्ति के जनकरूप नहीं है, क्योंकि निवृत्ति-प्रवृत्तिप्रागभावरूप है, प्रागभाव नित्य माना जाता है । अतः प्रवृत्ति के प्रति जो सामग्री इष्टसाधनत्व आदि ज्ञान उसका विघटन मात्र करता है । प्रवृत्ति सामग्री के विघटन से पुरुष को प्रवृत्त न करा कर अनिष्टसाधनत्व बलवदनिष्टानु-बन्धित्व आदि ज्ञान का अनुमान कराता हुआ निषेध, निषेध्य कलञ्ज भक्षण आदि से पुरुष को निवृत्त कराता है ।

इस सन्दर्भ में पूर्वपक्षी की शंका का उत्थापन करते हैं—ननु कथं निषेधानाम् आदि । शंका का यह स्वरूप है कि 'न कलञ्जं भक्षयेत्' 'नानृतं वदेत्' इत्यादि निषेधवाक्यों में लिङ् की शक्ति प्रवर्तना में है और नञ् की शक्ति अभाव में है । नञ् जिसके साथ संबद्ध होता है उसके अभाव का बोधक होता है । यदि 'भक्ष' धात्वर्थ के साथ संबद्ध हो तो उसका अभाव-भक्षणाभाव, यदि वा लिङर्थ प्रवर्तना के साथ संबद्ध हो तो प्रवर्त्तनाभाव का बोध होगा । निषेधवाक्यों में निवर्तना का बोधक कौन है ? उसका बोधक कोई पद न होने से नञ् से युक्त विधि का अर्थ निवर्त्तना कैसे स्वीकार किया जाता है ? प्रत्युत 'यजेत' स्थल में भक्षणवर्जन कर्तव्यता का ही बोध होगा । निवर्तना का बोध नहीं होगा ।

शंका का समाधान ग्रन्थ हैं—मैवम् । पूर्वपक्षी नञर्थ का धात्वर्थ के साथ अन्वय करने में अव्यवधान-व्यवधान का अभाव हेतु बतलाता है । यह ठीक नहीं है । एक पदार्थ का अन्य पदार्थ के साथ अन्वय करने में अव्यवधान मात्र प्रयोजक नहीं है अपितु जिसमें अन्वय करना हो उसका विशेष्य होकर रहना अवश्यक है । अर्थात् वह अन्य के प्रति विशेषण होकर नहीं रहना चाहिए । 'न भक्षयेत्' में भक्ष धात्वर्थ भक्षण आख्यातार्थ भावना का विशेषण है । आख्यातार्थ भावना में धात्वर्थ भक्षण का करणत्व रूप से अन्वय करना आवश्यक है तो धात्वर्थ विशेषण हो जाता

---

१. क पुस्तके 'सर्वत्र' इति नास्ति । २. निषेधेऽपि. ३. 'द्वाक्यार्थव'

नञर्थेनान्वयायोगात् । न ह्यन्योपसर्जनमन्येनान्वेति । यतः मा भूद्राजपुरुषमानयेत्यत्र राज्ञ आनयनान्वयित्वम् । ततश्चाव्यवधानेऽपि नञर्थस्य न धात्वर्थेनान्वयः; आरुण्यस्येवैकहायन्या । नापि कलञ्जादिपदार्थैरन्वयः। तेषामपि कारकोपसर्जनतयोपस्थितत्वेन भिन्नपदस्य नञोऽर्थेनान्वयायोगात्, एकहायन्या इवारुण्येन ।

है। अन्य के प्रति विशेषण बनकर दूसरे पदार्थ में उसका अन्वय नहीं हो सकता है क्योंकि 'न ह्यन्योपसर्जनमन्येनान्वेति' न्याय है ।

यह ज्ञातव्य है कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ अन्वय-संबन्ध करने में उस संबन्ध का जिसका अन्वय करते हैं वह अनुयोगी एवं जिसमें अन्वय करते हैं वह प्रतियोगी कहलाता है। नञर्थ अभाव का भक्ष धात्वर्थ में सम्बन्ध करने पर उस सम्बन्ध का अनुयोगी नञर्थ एवं भक्ष धात्वर्थ प्रतियोगी होता है। यहाँ प्रतियोगी भक्ष धात्वर्थ भक्षण, अन्य भावना का उपसर्जन-विशेषण है। अतः इसमें नञर्थ का अन्वय अनुचित है। इस न्याय का उदाहरण देते हैं—'मा भूद्राजपुरुषमानय' राज पदार्थ पुरुष पदार्थ का विशेषण है, अतः उसका आनयन क्रिया के साथ अन्वय नहीं होता है । अतः 'कलञ्जं न भक्षयेत्' वाक्य में नञर्थ का संबन्ध अव्यवहित होते हुए भी भक्ष धात्वर्थ के साथ नहीं होगा। इसका दृष्टान्त है—अरुण्यस्येवैकहायन्या। 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति' इस सोमलता-क्रय विधायक वाक्य में 'अरुणया' शब्द बोधित आरुण्य गुण का अन्वय संनिहित 'एक हायन्या' के साथ हो सकता है, क्योंकि 'एकं हायनं यस्यास्सा एकहायनी तया' व्युत्पत्ति से यह शब्द एक साल की गाय रूपी द्रव्य का वाचक है। द्रव्य के साथ गुण का अन्वय सहज है । किन्तु आरुण्य का उसके साथ अन्वय नहीं होता क्योंकि 'प्रकृति प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन' इस महाभाष्य के प्रमाण से प्रकृति और प्रत्ययों में प्रत्ययार्थ के प्रधान होने के कारण प्रकृत्यर्थ उसमें अन्वित हो जाता है। अतश्च वह अन्य प्रत्ययार्थ का उपसर्जन-विशेषण है। 'नह्यन्योपसर्जनमन्येनान्वेति' न्याय से आरुण्य का संबन्ध एकहायनी के साथ नहीं होता है। इस दृष्टान्त के अनुसार भक्षधात्वर्थ के साथ नञर्थ अभाव का संबन्ध नहीं होगा। धात्वर्थ भक्षण को छोड़कर कलञ्ज पदार्थ के साथ भी अन्वय नही होगा—नापि कलञ्जादिपदार्थैरन्वयः। इसमें हेतु देते हैं—तेषामपि। कलञ्जादि पदार्थ भी प्रत्ययार्थ कारक-द्वितीयाकारक के प्रति उपसर्जन है। इसमें दृष्टान्त है—एकहायन्या इवारुण्येन। पूर्व कह जा चुके है कि एकहायनी रूप प्रकृत्यर्थ प्रत्ययार्थ कारक का उपसर्जन होने से उसका आरुण्य के साथ अन्वय नहीं होता। इस दृष्टान्त से भिन्न पद-नञ् पद से उपस्थित पदार्थ और कलञ्ज पदार्थ का संबन्ध नहीं होगा।

अतश्चान्येनान्वयायोगान्नञर्थः प्रत्ययार्थेन सम्बध्यते, तस्य प्राधान्यात्, क्रयभावनयेवारुण्यादीनि। तत्रापि नाख्यातांशवाच्यार्थभावनया, तस्या अपि लिङ्त्वांशवाच्यप्रवर्तनोपसर्जनत्वेनोपस्थितत्वात्। अतो लिङ्त्वांशेन नञ् सम्बध्यते, तस्य सर्वापेक्षया प्राधान्यात्। नञश्चैष स्वभावो यत्स्वसम्बन्धि-प्रतिपक्षबोधकत्वम्। 'नास्ती'त्यत्र ह्यस्तीति सत्त्वशब्देन संबध्यमानो नञ् सत्त्वप्रतिपक्षमसत्त्वं गमयति। तदिह लिङर्थस्तावत्प्रवर्तना। अतस्तेन सम्ब-ध्यमानो नञ् प्रवर्तनाप्रतिपक्षां निवर्तनां गमयति। विधिवाक्यश्रवणे अयं मां प्रवर्तयतीति प्रवर्तनाप्रतीतिवत् निषेधवाक्यश्रवणे अयं मां निवर्तयतीति

'न कलञ्जं भक्षयेत्' वाक्य में नञर्थ का धात्वर्थ और कलञ्ज पदार्थ के साथ अन्वय नहीं होगा तो किसके साथ उसका अन्वय? इसका उत्तर देते हैं— अतश्चान्येनान्वयायोगात् इत्यादि। नञर्थ अभाव का प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय कर सकते हैं, क्योंकि प्रत्ययार्थ सबसे प्रधान है। पूर्व कहा जा चुका है कि प्रत्ययार्थ भी दो हैं—एक आख्यातार्थ आर्थी भावना, दूसरा लिङर्थ शाब्दी भावना। इनमें आख्यातार्थ आर्थी भावना में नञर्थ का संबन्ध नहीं होगा, क्योंकि यह शाब्दी भावना का उपसर्जन है तथा शाब्दी भावना की साध्याकांक्षा का यह पूरक है। अतः नञर्थ आर्थीभावना में अन्वित न होकर लिङर्थ=शाब्दी भावना के साथ अन्वित होगा।

तात्पर्य है कि 'भक्षयेत्' में 'त' प्रत्ययार्थ दोनों के प्रधान होने पर भी शाब्दी-भावना को मुख्य विशेष्य मानकर चलनेवाले मीमांसकों के मत में आख्यातार्थ आर्थीभावना शाब्दीभावना के प्रति उपसर्जन, और अन्य कारकों के प्रति प्रधान है। अतः सबसे प्रधान लिङर्थ शाब्दीभावना के साथ नञर्थ का अन्वय होता है। इस सन्दर्भ से यह सिद्ध हुआ है कि नञर्थ का शाब्दी भावना के साथ संबन्ध है। इससे निषेध वाक्यों में निवर्तना का बोध किस प्रकार से है, उसका निरूपण किया जाता है—नञश्चैष स्वभावः आदि से। नञर्थ जिसके साथ संबन्ध रखता है उसके प्रतिपक्षी विरुद्ध का बोधक होता है, केवल अभावमात्र का बोधक नहीं है। 'नास्ति' कहने पर सत्ता के प्रतिपक्षी असत्ता का बोध होता है। प्रकृत स्थल 'न भक्षयेत्' में लिङ् का अर्थ प्रवर्तना है, उसके साथ नञर्थ का संबन्ध होनेपर प्रवर्तना के प्रतिपक्षी निवर्तना का बोधक बन जाता है। एवञ्च निषेध वाक्यों में नञ् ही निवर्तना का बोधक और इसमें लिङ् तात्पर्यग्राहक है, यह सिद्ध हुआ। इस अंश में प्रमाण दिखलाते हैं—विधिवाक्यश्रवणे आदि। जैसा कि विधि वाक्यों के श्रवण से 'यह मुझे प्रवृत्त करा रहा है' बोध होता है उसी प्रकार निषेध वाक्यों के श्रवण से 'यह मुझे इस कार्य से निवृत्त होने को कह रहा है' अर्थात् मेरे

निवृत्त्यनुकूलव्यापाररूपनिवर्तनायाः प्रतीतेः[1]।

अतश्च सर्वत्र निषेधेषु निवर्तनैव वाक्यार्थः। एवं च विधिनिषेधयोर्भिन्नार्थत्वं सिद्धं भवति[2]। हननादि [3]वर्जनकर्तव्यतावाक्यार्थपक्षे तु कर्तव्यताया एवोभयत्र प्रतिपाद्यत्वात्तयोरेकार्थत्वं स्यात्। तच्च न युक्तम्। यदाहुः—

अन्तरं यादृशं लोके ब्रह्महत्याऽश्वमेधयोः।
दृश्यते तादृगे[4]वेदं विधानप्रतिषेधयोः॥ इति।

तथा—

फलबुद्धिप्रमेयाधिकारिबोधकभेदतः।
पञ्चधात्यन्तभिन्नत्वाद्भेदो विधिनिषेधयोः॥ इति।

निवृत्त्यनुकूल व्यापार को बोधित कर रहा है ऐसा बोध होता है। अतः सर्वत्र निषेध स्थलों में निवर्तना का बोध स्वभावसिद्ध है। इससे यह सिद्ध हुआ है कि विधि एवं निषेध भिन्न-भिन्न अर्थवाले हैं। पूर्वपक्षी के मतानुसार 'धात्वर्थवर्जन-कर्तव्यता' अर्थ मानने से विधि और निषेध स्थलों में एक ही वाक्यार्थ हो जायगा। यह उचित नहीं है, क्योंकि विधि और निषेध अत्यन्त विरुद्ध पदार्थ हैं। इस विषय में बृहट्टीका का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं– यदाहुः—अन्तरं यादृशं लोके।

[ब्रह्महत्या सभी पापों में उत्कट है और अश्वमेध सभी पुण्यों में उत्कृष्ट है। इन दोनों का जितना विरोध लोक में देखा जाता है उतना ही विरोध विधि और निषेध का भी है।]

विधि और निषेध की फलबुद्धि आदि में परस्पर भेद के कारण से भी विधि-प्रतिषेधों का भेद न्यायसुधाकार की उक्ति से सिद्ध करते हैं—तथा, फलबुद्धि आदि। विधि का फल स्वर्ग पशु पुत्र आदि और निषेध का फल नरक आदि अनिष्ट का निवारण है। विधिवाक्य के श्रवण से 'इसके द्वारा मैं इस कार्य में प्रवर्तित हुआ हूँ, यह बुद्धि होती है, निषेध वाक्य के श्रवण से 'इसके द्वारा मैं इस कार्य से निवर्तित हूँ' यह बुद्धि होती है। विधि का प्रमेय याग, दान आदिगत इष्ट-साधनत्व है तो निषेध का प्रमेय कलञ्जभक्षणादिगत अनिष्टसाधनत्व है। विधेय याग आदि में वह अधिकारी है जो स्वर्ग आदि फल की कामना रखता है तो निषेध्य कलञ्जभक्षण आदि में वह अधिकारी है जो रागतः प्रवृत्त होता है। [लिङ् लोट् लेट् और तव्यप्रत्यय विधि के बोधक हैं तो नञ्सहित लिङ् लोट् आदि निषेध के बोधक हैं।] इन पाँच प्रकारों से विधि और निषेध का भेद सिद्ध होता है।

---

१. प्रतिपत्तेः इति क,।
२. सम्भवति।
३. निवर्तन।
४. वेह विधानप्रतिपक्षयोः।

यन्मते इष्टसाधनत्वं लिङर्थस्तन्मतेऽपि लिङ्संसृष्टो नञ् इष्टसाधनत्वप्रतिपक्षमनिष्टसाधनत्वं गमयति। सर्वथापि तु नञः प्राधान्यात् प्रत्ययेनान्वयः।

(पर्युदासनिरूपणम्)

यदा तु तदन्वये किंचित् बाधकं तदाऽगत्या धात्वर्थेनान्वयः। तच्च बाधकं द्विविधम्—'तस्य व्रत'मित्युपक्रमो विकल्पप्रसक्तिश्चेति। [1]अनेन च बाधकद्वयेन नञ्युक्तेषु वाक्येषु पर्युदासाश्रयणं भवति। तदभावे निषेध एव।

पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्। इति,

विध्यर्थ प्रवर्तना माननेवालों के मत में यह स्थिति है। किन्तु जिनके मत में विध्यर्थ इष्टसाधनत्व है उनके मत में किस प्रकार की व्यवस्था होगी इस विषय को प्रस्तुत करते हैं—यन्मते इष्टसाधनत्वं लिङर्थः आदि। मण्डनमिश्र के मत में इष्टसाधनत्व विध्यर्थ है। पुरुष का प्रवर्तक इष्टसाधनत्व ज्ञान ही है। अतः इष्टसाधनत्व ही प्रवर्तनारूप है। इनके मतमें नञ्युक्त विधि अनिष्टसाधनत्व की बोधक है तो पुरुष अनिष्टसाधनत्व ज्ञान से निवृत्त होता है। इष्टसाधनत्व का प्रतिपक्षी अनिष्टसाधनत्व है। पुरुष जैसे इष्टसाधनत्व ज्ञान से प्रवृत्त होता है वैसे ही अनिष्टसाधनत्व ज्ञान से निवृत्त भी होता है। अतः इनके मतमें भी निवर्तना की सिद्धि होती ही है। इनके मत में भी नञर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ ही अन्वय है, क्योंकि प्रत्ययार्थ प्रधान है। इसी विषय का प्रतिपादक ग्रन्थ है—सर्वथापि तु नञः प्राधान्यात् प्रत्ययेनान्वयः। प्रत्ययार्थ के प्रधान होने के कारण नञ् का प्रत्यय के साथ अन्वय है अर्थात् प्रत्ययार्थ के साथ नञर्थ का अन्वय है।

पर्युदासनिरूपण

सर्वत्र नञर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ ही अन्वय है यह निरूपित कर सम्प्रति उसका अपवाद प्रस्तुत करते हैं—यदा तु तदन्वये किञ्चित् इत्यादि। प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय होने में यदि कोई बाधक हो तो अन्य गति न होने से नञर्थ का धात्वर्थ के साथ अन्वय माना जाता है। यह बाधक दो प्रकार का है—तस्य व्रतम् उपक्रम और दूसरा विकल्पप्रसक्ति। इन दो प्रकार के बाधकों से नञ्युक्त वाक्यों में पर्युदास का आश्रयण किया जाता है। यदि ये बाधक न हों तो निषेध ही माना जाता है।

पर्युदास और निषेध के परिचायक प्राचीनों के पद्यार्थ को उद्धृत कर दिखलाते हैं—पर्युदासस्स विज्ञेयः आदि। समग्र पद इस प्रकार है कि—

---

१. तेन।

[1]प्रतिषेधः स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ् ॥

इति च तयोर्लक्षणम् । तत्र "नेक्षेतोद्यन्तमादित्य"मित्यादौ पर्युदासाश्रयणम्, 'तस्य व्रत'मित्युपक्रमात् ।

(उपक्रमबलात्पर्युदासाङ्गीकारः)

तथा हि-व्रतशब्देन कर्तव्योऽर्थ उच्यते । अतश्च स्नातकस्य कर्तव्या-

---

प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासस्स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥
अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं क्रियया सह यत्र नञ् ॥

उस निषेध वाक्य में पर्युदास का व्यवहार है जहाँ नञ् उत्तरपद के साथ अन्वित होता है। उत्तरपद शब्द से आख्यातार्थ क्रियाभिन्न पद अभिमत है । 'न कलञ्जं भक्षयेत्' वाक्य में आख्यातार्थक्रिया वाचक पद 'त' पद, उससे भिन्न पद भक्षधातु, एवं कलञ्ज । इनके साथ नञ् का अन्वय होने पर पर्युदास होता है । एवं प्रतिषेध वह कहलाता है जहाँ नञ् का क्रिया के साथ अन्वय होता है, जैसे 'नानृतं वदेत्' 'न स्तेयात्' आदि ।

पर्युदास का प्रथम उदाहरण प्रदर्शित करते हैं नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम् । इस वाक्य का अर्थ है उगते हुए सूर्य को नहीं देखना चाहिए । अर्थात् प्रतिषेधपरक अर्थ है । इस प्रतिषेध अर्थ में बाधक है—तस्य व्रतमित्युपक्रमः । तद् शब्द स्नातक का परामर्शक है। व्रतशब्द अनुष्ठेय अर्थ का वाचक है। अर्थात् उस स्नातक के अनुष्ठेय पदार्थ ये हैं ऐसा उपक्रम कर—

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन ।
नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥

ये निषेधवाक्य पठित हैं । उपक्रम में कर्तव्य पदार्थ का उल्लेख कर अनन्तर अकर्तव्य पदार्थों का निर्देश करना संगत नहीं है । इसका अनुष्ठान करना चाहिए, यह आरंभ कर आगे यह नहीं करना चाहिए, यह कहना कैसे संगत होगा ? उपक्रम में अभिहित अनुष्ठेय पदार्थ कौन हैं इस आकांक्षा के पूरक वे ही होंगे कि 'यह करना चाहिए' 'यह करना चाहिए' यह कहना । 'यह नहीं करना चाहिये' कहने से उस आकांक्षा की पूर्ति किस प्रकार होगा ? उपक्रम के अनुसार उपसंहार करना न्याय्य है, आकांक्षा के अनुसार पदार्थ का सम्बन्ध उचित है । इन्हीं विषयों का उपपादन किया गया है—तथाहि से आकांक्षिताभिधानात् तक । इस प्रकार कर्तव्य पदार्थों

---

१. अयमेव पाठस्साधीयान् शास्त्रानुगतस्सम्प्रदायागतश्च । सति चैवं अत्र निर्णयसागरमुद्रितपुस्तके कलिकत्तामुद्रितपुस्तके च शोधयित्रा व्याख्यात्रा च स्वस्वमनीषानुसारेण

र्थानां वक्तव्यत्वेनोपक्रमात् किं तत् कर्तव्यमित्यपेक्षायां अग्रे 'नेक्षेतोद्यन्त' मित्यादौ कर्तव्य एवार्थो वक्तव्यः, आकाङ्क्षिताभिधानात् । अर्थान्तरोक्तौ च पूर्ववाक्यस्य साकाङ्क्षत्वेनाप्रामाण्यं [2]स्यात् । न हि कर्तव्यार्थस्य वक्तव्यत्वेनोपक्रमे अग्रे च तदनभिधाने पूर्ववाक्यस्य निराकाङ्क्षत्वं सम्भवति । न च साकाङ्क्षस्य प्रामाण्यम्, गौरश्वः पुरुषः इत्यादावपि तत्प्रसङ्गात् ।

किञ्च 'नेक्षेते' त्यस्योपक्रमेण प्रतीयमाना एकवाक्यता च न स्यात्,

---

को न कहकर अन्य अर्थों को कहने पर दोष दिखलाते हैं-अर्थान्तरोक्तौ च । उपक्रम की आकांक्षा के अनुसार पदार्थों को न कहने पर पूर्ववाक्य का अप्रामाण्य सिद्ध हो जायगा । 'साकांक्षं वाक्यमप्रमाणम्' न्याय है । उपक्रम में कर्तव्य अर्थ का उल्लेख कर अनन्तर उसको न कहकर अन्य अर्थ को कहने पर पूर्व में उत्थित आकांक्षा का शमन नहीं होगा तो साकांक्ष वाक्य का प्रामाण्य कैसे सिद्ध होगा अर्थात् नहीं सिद्ध होगा । यदि साकांक्ष वाक्य प्रमाण हो तो गौरश्वः पुरुषः इत्यादि वाक्य भी प्रमाण हो जायँगे ।

'तस्य व्रतम्' यह उपक्रमवाक्य कर्त्तव्य अर्थ का प्रतिपादन करे, उसके अनन्तर वाक्यों का पर्युदास प्रतिपादन क्यों स्वीकार किया जाता है । क्योंकि पर्युदास अर्थ के लिए लक्षणा माननी होगी । लक्षणा जघन्य वृत्ति है । इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—किञ्च 'नेक्षेते'त्यस्योपक्रमेण इत्यादि । आशय है कि उपक्रम में स्नातक के लिये अनुष्ठेय पदार्थ सामान्यतः निर्दिष्ट हैं, स्नातक के लिए कर्तव्य पदार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए । वे अनुष्ठेय पदार्थ कौन हैं, यह आकांक्षा होनेपर उत्तर वाक्यों के द्वारा उसका निर्देश होना आवश्यक हैं । यदि उत्तर वाक्य इसका निर्देश करते हैं तो उपक्रम वाक्य के साथ उत्तर वाक्यों की एकवाक्यता सिद्ध होगी । अन्यथा उपक्रम वाक्य कर्तव्य अर्थ का प्रतिपादक एवं अनन्तर वाक्य अकर्तव्य अर्थ का प्रतिपादक होकर सभी वाक्य असंबद्ध अर्थ के प्रतिपादक हो जायँगे । अतः पूर्व तथा उत्तर वाक्यों की एकवाक्यता को स्वीकार करना होगा । पूर्व-उत्तर वाक्यों की एकवाक्यता इसलिए प्रतीत होती है कि सामान्य कर्तव्य अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ उपक्रम वाक्य आकांक्षा रखता है—वे अनुष्ठेय अर्थ कौन हैं जिनका स्नातक अनुष्ठान करे ? इस आकांक्षा का शमन तभी होगा जब उत्तर वाक्य कर्तव्य अर्थ का प्रतिपादन करेंगे । जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' वाक्य स्वर्ग को चाहने वाला पुरुष दर्शपूर्णमास याग से फल का संपादन करे, इस अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ किस प्रकार से याग के द्वारा फल का संपादन करना चाहिए, आकांक्षा होने पर प्रयाज तथा अनूयाज आदि अंग वाक्यों के साथ एकवाक्यता को प्राप्त कर

पाठभेदं प्रकल्प्य तदनुसारेण चार्थो यो वर्णितः स सर्वोऽप्यभित्तिचित्रायित इत्युपेक्षणीयं प्रेक्षावद्भिः । २. ण्यप्रसङ्गात् ।

अर्थान्तरोक्तेः। अतश्चास्मिन् वाक्ये कश्चित् कर्तव्य एवार्थो वक्तव्यः। तदुक्तौ च न नञः प्रत्ययेन सम्बन्धो घटते। तत्सम्बन्धे कर्तव्यार्थोक्तेरनुपपत्तेः। प्रत्ययाच्च उत्सारितो[1] नञ् धातुना सम्बध्यते। तत्सम्बन्धे च न नञः प्रतिषेधकत्वम्। विधायकसम्बन्धेनैव तस्य प्रतिषेधकत्वात्। प्रतिषेधकत्वस्य विधायकत्वप्रतिपन्नत्वात्।

नामधातु[2] योगे तु न नञः प्रतिषेधकत्वम्। तयोरविधायकत्वात्। यदाहुः—

[3]नामधात्वर्थयोगी तु नैव नञ् प्रतिषेधकः।
वदत्यब्राह्मणाधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ ॥ इति। 87

प्रयाज तथा अनूयाज आदि अंगों का अनुष्ठान करते हुए दर्शपूर्णमास याग करने पर स्वर्गफल की प्राप्ति होगी, इस एकवाक्यता से निराकांक्ष होता है उसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी एकवाक्यता होने से ही उपक्रम वाक्य निराकांक्ष होकर सार्थक बन सकता है। अन्यथा उत्तर वाक्य अर्थान्तर-असंबद्धार्थ प्रतिपादक हो जायेंगे, और प्रतीयमान एकवाक्यता का भङ्ग हो जायगा। इसी विषय का प्रतिपादक ग्रन्थ है—अतश्चास्मिन् वाक्ये आदि। उपक्रम वाक्य के द्वारा आकांक्षित अर्थ की सिद्धि एवं प्रतीयमान एकवाक्यता की सिद्धि के लिए 'नेक्षेतोद्यन्तम्' इत्यादि वाक्यों में कर्तव्य अर्थ का प्रतिपादन मानना होगा। इस निष्कर्ष का फल बतलाते हैं—तदुक्तौ। कर्तव्य अर्थ का प्रतिपादक होने पर 'नेक्षेत' में श्रूयमाण नञ् का लिङर्थ के साथ संबन्ध घटेगा नहीं क्योंकि वह कर्तव्य अर्थ का प्रतिपादक नहीं होगा। पूर्व कहा जा चुका है कि नञ् जिसके साथ संबन्ध रखता है उसके विपरीत अर्थ का प्रतिपादन करता है। अर्थात् कर्तव्य का विपरीत अर्थ अकर्तव्य है। अकर्तव्यरूप अर्थ के प्रतिपादन से उपक्रम की संगति नहीं होगी। इसलिए प्रत्यय के संबन्ध को हटाकर नञ् का धातु के साथ संबन्ध करना है। धातु के साथ संबन्ध होनेपर प्रतिषेध अर्थ नहीं होगा, विधायक प्रत्यय के साथ संबन्ध होनेपर ही नञ् का प्रतिषेधकत्व है। क्योंकि विधायक का प्रतिपक्षी प्रतिषेधक ही होता है। 'विधायकैरसंयुक्तो नैव नञ् प्रतिषेधकः' यह वार्तिककार ने कहा है।

नाम—नामार्थ अर्थात् प्रातिपदिकार्थ, धातु धात्वर्थ इनके साथ संबद्ध नञ् प्रतिषेधक नहीं होगा, क्योंकि नाम और धातु विधायक नहीं होते। इसमें प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—नामधात्वर्थयोगी तु। क्योंकि ब्राह्मण शब्द से नञ् का संबन्ध होनेपर अब्राह्मण एवं धर्म शब्द से नञ् का संबन्ध होने पर अधर्म अर्थ का बोध होगा। अब्राह्मण और अधर्म ब्राह्मण और धर्म के विरोधी हैं। अर्थात् नञ्

---

१. अवतारितो इति क.। २. धात्वर्थयो। ३. नामधात्वर्थयोर्योगि।

अतश्च 'नेक्षेते' त्यत्र नञो धातुयोगात् नञीक्षतिभ्यामीक्षणविरोधी कश्चनार्थः प्रतिपाद्यते ।

ननु—'तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु नञि' ति सत्यपि स्मरणे नञः स्वसंसृष्टाभाव एव शक्तिः, लाघवात् । न तु तदन्यतद्विरुद्धयोः । तयोरभावघटितत्वेन गौरवात् । अनेकार्थत्वस्य चान्याय्यत्वात् । अतो नञो धातुयोगे धात्वर्थाभावबोधकत्वमेव, न तु तदन्यतद्विरुद्धार्थबोधकत्वमिति चेत्—

सत्यम् , नञोऽभाव एव शक्तिः, स्मरणं तु प्रतीत्यभिप्रायम् , न शक्त्य-

---

विरोधी अर्थ का ही प्रतिपादक होगा प्रतिषेधरूप अर्थ का नहीं। इसी का परिणाम प्रकृत में समन्वित करते हैं—अतश्च नेक्षेतेत्यत्र। नञर्थ का ईक्षति धात्वर्थ के साथ संबन्ध करने पर नञ और ईक्षति धातु मिलकर ईक्षणविरोधी किसी अर्थ के लक्षक हो जाते हैं। अर्थात् दोनों पद ईक्षणविरोधी संकल्प के लक्षक बन जाते हैं।

इस अर्थ की पुष्टि के निमित्त एक शंका को प्रस्तुत करते हैं—ननु तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु नञ् इत्यादि। यह सूत्र अन्योन्याभाव आदि तीन अर्थों में नञ् का विधान करता है तथापि नञ् की शक्ति अभाव में ही मानना उचित है, क्योंकि लाघव है। तदन्य तद्विरुद्ध ये भी अभावघटित हैं, इनमें भी शक्ति मानेंगे तो गौरव होगा। नञ् की स्वसंसृष्टाभाव—अर्थात् संसर्गाभाव में शक्ति मानने में लाघव है। संभव होने पर एक शब्द की एक ही अर्थ में शक्ति मानना न्याय्य है—'अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वात्' न्याय है। इस परिस्थिति में 'नेक्षेत' में नञ् का ईक्षति धातु के साथ संबन्ध करने पर ईक्षणाभाव का ही बोध होता है, तदन्य तद्विरुद्ध अर्थ का बोध नहीं होता है तो ईक्षणविरोधी अर्थ की कल्पना क्यों की जाती है ?

अर्धाङ्गीकार करते हुए शंका का समाधान करते हैं—सत्यं नञोऽभाव एव शक्तिः इत्यादि। 'नञ्' सूत्र के महाभाष्यकार ने 'निवृत्तपदार्थकः' कहते हुए नञ् को अभावार्थक ही माना है। अतः नञ् की शक्ति अभाव में ही है। स्मरणन्तु प्रतीत्यभिप्रायम् 'तदन्य' इत्यादिसूत्र का तात्पर्य है कि नञ् को सुनने से जितने अर्थों की प्रतीति होती है, नञ् उतने अर्थों का प्रतिपादन करता है। प्रतिपादन शक्ति और लक्षणा से हो सकती है। इसका परिज्ञान लाघवादि से युक्त न्याय से होता है। 'नामधात्वर्थयोगी तु' इस पद्य की व्याख्या करते हुये न्यायरत्नाकर में पार्थसारथि मिश्र ने अपने आशय को अभिव्यक्ति किया है कि अभावार्थक नञ् अन्य और विरुद्ध अर्थ में भी प्रवृत्त होता है, लेकिन अभाव में ही नञ् की शक्ति एवं अन्य और विरुद्ध अर्थ में लक्षणा से नञ की प्रवृत्ति है। इस परिस्थिति में 'नेक्षेत' की ईक्षणविरोधी संकल्परूप अर्थ की उपपत्ति किस प्रकार होगी ? इसका उत्तर देते

भिप्रायम्, नामधात्वर्थयोगीत्यपि प्रतीत्यभिप्रायम्, तथापि 'नेक्षेत' त्यत्र प्रत्ययस्य नञाऽसम्बन्धात् तेन तावत् कश्चिदर्थो विधेयः। तत्र न तावद्धात्वर्थो विधातुं शक्यते, नञा तदभावबोधनात्। नापि तदभावो विधातुं शक्यते, अभावस्याविधेयत्वात्। अतश्च नञीक्षतिभ्यां विधानयोग्यः कश्चनेक्षणविरोधी अर्थो लक्षणया प्रतिपाद्यते। स चेक्षणविरोधी लक्ष्यमाणः पदार्थो 'नेक्षे'[1] इत्यनीक्षणसङ्कल्पः, तस्येक्षणविरोधित्वात्। सत्यपि पदार्थान्तरस्येक्षणविरोधित्वे सर्वक्रियाऽविनाभूतत्वेन सङ्कल्पस्यैव [2]लक्षणात् स एव 'नेक्षेते' त्यत्र कर्तव्यतया विधीयते—अनीक्षणसङ्कल्पेन भावयेदिति। भाव्या-

---

हैं—तथापि नेक्षेतेत्यत्र आदि। तात्पर्य है कि 'तस्य व्रतम्' इस उपक्रम के अनुसार 'नेक्षेत' में नञ् का अन्वय प्रत्ययार्थ प्रवर्तना के साथ नहीं हो सकता है तो विधि वाक्य किसका विधायक होगा? धात्वर्थ ईक्षण का वह विधान नहीं कर सकता क्योंकि नञ् उसके साथ संबद्ध होकर ईक्षणाभाव का बोधन करेगा। ईक्षणाभाव का विधान संभव नहीं है, क्योंकि अभाव विधेय नहीं बन सकेगा। अभाव में विधेयत्व स्वीकार करने पर उसमें उपादेयत्व भी स्वीकार करना होगा। उपादेयत्व का मतलब कृतिसाध्यत्व है। अभाव कृतिसाध्य नहीं है। यही कहा गया है—अभावस्याविधेयत्वात्। विधि से विधीयमान पदार्थ यदि कृतिसाध्य नहीं है तो विधेयता उसमें किस प्रकार मानी जा सकती है, और वह विधायक किस प्रकार हो सकता है? अतः विधायकत्व की अनुपपत्ति से नञ् और ईक्षति धातु दोनों ही विधानयोग्य ईक्षणविरोधी एक अर्थ का प्रतिपादन लक्षणा से करते हैं। लक्षणा से प्रतिपाद्यमान अर्थ का आकार दिखाते हैं—नेक्षे इत्यनीक्षणसङ्कल्पः। ईक्षण का विरोधी यही हो सकता है। ईक्षणविरोधी पदार्थ अनेक हो सकेंगे। उनमें पूर्वोक्त संकल्प को ही क्यों लक्ष्य माना जाता है? इसका उत्तरपरक ग्रन्थ है—सत्यपि पदार्थान्तरस्येक्षणविरोधित्वे आदि। ईक्षणविरोधी अनेक पदार्थ क्यों न हो? किन्तु कर्तव्य पदार्थ के अनुरूप और उससे नियतसंबद्ध जो हो उसी को लक्षणा से माना जाना चाहिए। वह है संकल्प। सभी पुरुष कर्तव्य पदार्थों के अनुष्ठान से पूर्व मानसिक संकल्प कर प्रवृत्त होते हैं। संकल्प के बिना कोई भी कर्तव्य क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं होता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति में यह संकल्प अनिवार्य है। अतः नञ् और ईक्षति धातु संकल्प के ही लक्षक हैं, इसी संकल्प को स्नातक के लिए विधिवाक्य विधान करता है—अनीक्षण संकल्प से फल का संपादन करना चाहिए—अनीक्षणसङ्कल्पेन भावयेदिति। कौन सा वह फल है जिसका अनीक्षण संकल्प से सम्पादन करना चाहिए? जब तक इस आकांक्षा का शमन नहीं किया जाता है तबतक विधि का प्रवर्तकत्व सिद्ध नहीं होगा। भाव्याकांक्षा के शमन के लिए सामग्री प्रस्तुत

---

१. कलिकत्तामुद्रितपुस्तके तु नास्तीयं पंक्तिः। २. लक्षणा।

कांक्षायां च "एतावता हैनसा विमुक्तो भवती"ति वाक्यशेषावगतः पापक्षयो भाव्यतया सम्बध्यते।

एवञ्चात्र पापक्षयार्थं सङ्कल्पस्य कर्तव्यतया विधानात् 'तस्य व्रत'मित्यनेनैकवाक्यता सिद्धा भवति।

तत्सिद्धं 'नेक्षेते' त्यत्र 'तस्य व्रत' मित्युपक्रमात् पर्युदासाश्रयणमिति॥

(विकल्पभयात् पर्युदासाङ्गीकरणम्)

'नानूयाजेषु येयजामहं करोती' त्यत्र विकल्पप्रसक्त्या तदाश्रयणम्।

करते हैं—एतावता हैनसा विमुक्तो भवति। पूर्व बतला चुके हैं कि जिन स्थलों में फल श्रूयमाण नहीं है उन स्थलों में विश्वजिन्न्याय एवं रात्रिसत्रन्याय से फल की कल्पना होती है। प्रकृत स्थल में रात्रिसत्रन्याय से अर्थवाद के द्वारा बोधित पापक्षय फल है। स्नातक उद्यद् आदि आदित्य के अनीक्षण संकल्प से पापक्षयरूप फल को प्राप्त करें, यह वाक्यार्थ सिद्ध हुआ। इस प्रकार वाक्यार्थ को मानने पर 'तस्य व्रतम्' और 'नेक्षेतादित्यम्' की एक वाक्यता सिद्ध हो जाती है। प्रकृत पर्युदास का उपसंहार करते हैं—तत्सिद्धम् इत्यादि।

विकल्पभय से पर्युदास

द्वितीय बाधक का उदाहरण है—नानूयाजेषु येयजामहं करोति। दर्शपूर्णमास में तीन अनूयाज याग विहित हैं—'त्रयो अनूयाजाः'। अनूयाज यागों में 'येयजामहे' शब्द का याज्यामन्त्रो में उच्चारण नहीं करना चाहिए, यह वाक्य का अर्थ है। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि दर्शपूर्णमास याग में चार ऋत्विज होते हैं—अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता और आग्नीध्र। तत्तद्याग के लिए बनाये हुए द्रव्य को जुहू पात्र में अवदान-समुदित द्रव्य से पृथक् कर अग्नि में हवन करने का मुख्यकार्य अध्वर्यु का है। ब्रह्मा का कार्य यज्ञ सम्बन्धी सभी कार्यों का निरीक्षण करना है। अध्वर्यु से प्रेरित होकर तत्तद्यागसंबन्धी मन्त्रों को पढ़ना होता का कार्य है। अध्वर्यु के कार्यों में सहायता करना आग्नीध्र का कर्तव्य है। जुहूपात्र में हवि को लेते हुए अध्वर्यु आग्नीध्र को प्रेरित करता है 'आश्रावय' अर्थात् मैं देवता के लिए हवि का ग्रहण करता हूँ, तुम देवता को सुनाओ, ऐसा इसका अर्थ है। आग्नीध्र इसके अनुसार उत्तर देता है—अस्तु श्रौषट्। हाँ! मैं सुना रहा हूँ—हे देव! आपके लिए हवि दी जाती है सुने, ऐसा इसका अर्थ है। अनन्तर जिस देवता के निमित्त हवि दी जाने वाली है, अध्वर्यु उस देवता के नाम द्वितीयान्त 'अग्निं' 'सोमं' 'अग्नीषोमौ' इत्यादि पढ़कर होता को प्रेरित करता है—अग्निं यज सोमं यज इत्यादि। अर्थात् अग्निदेवतावाले याज्यामन्त्र को पढ़ो, सोमदेवतावाले याज्यामन्त्र को पढ़ो। तदनुसार होता तत्तद्देवतावाले मन्त्र के उच्चारण के पूर्व येयजामहे शब्द का

तथा हि—यद्यत्र प्रधानसम्बन्धलोभान्नञः प्रत्ययसम्बन्धः स्वीक्रियते तथा सत्यनेन वाक्येनानूयाजेषु येयजामहः प्रतिषिध्यते इति वक्तव्यम्—अनूयाजेषु येयजामहं न कुर्यादिति। न च तत्र तस्य प्रतिषेधः प्राप्तिं विना सम्भवति, प्राप्तिसापेक्षत्वात् प्रतिषेधस्य।

उच्चारण कर मन्त्र को पढ़ता है। अध्वर्यु से प्रेरित हम याज्यामन्त्र को पढ़ रहे हैं, ऐसा अर्थ है। याज्यामन्त्र को पढ़कर होता मन्त्र के अन्त में वौषट् शब्द का उच्चारण करता है, इसी क्षण में अध्वर्यु हवि का अग्नि में प्रक्षेप करता है और इसी क्षण में यजमान भी तत्तद्देवता की हवि का त्याग-स्वस्वनिवृत्ति 'अग्नय इदं न मम' इत्यादि करता है। वौषट् को ही वषट्कार कहते हैं। हवि दी जा रही है, इसका अर्थ है। यही क्रम अङ्ग और प्रधान यागों में है। 'आश्रावय' 'अस्तु श्रौषट्' 'यज' 'येयजामहे' 'वौषट्' इनमें १७ अक्षर होते हैं। ये १७ अक्षर 'यज' धातु से विहित सभी यागों में उच्चरित होते हैं। इनमें 'येयजामहे' का विधायक वाक्य है—'यजतिषु ये यजामहं करोति'। याग सामान्य में 'येयजामहे' का उच्चारण के विधान से अनूयाज याग में भी वह प्राप्त हुआ। इसी सन्दर्भ में 'नानूयाजेषु ये यजामहं करोति' यह निषेध प्राप्त होता है। शास्त्रविहित का निषेध करने पर विकल्प प्राप्त होता है। विकल्प की भीति से प्रकृत स्थल में पर्युदास माना जाता है। यही कहा गया है—विकल्पप्रसक्त्या तदाश्रयणम्।

विकल्पप्रसक्ति का ही उपपादक ग्रन्थ है—तथाहि इत्यादि। 'नानूयाजेषु येयजामहं करोति' इस स्थल में नञ् का प्रधानसंबन्ध प्रत्ययार्थ प्रवर्तना के साथ मानने पर 'अनूयाज यागों में येयजामहे नहीं करना चाहिए' ऐसा बोध होता है, तभी 'ये यजामहे' का प्रतिषेध बनता है। अर्थात् अनूयाज यागों में याज्या 'देवं बर्हिर्वसुवने वसुधेयस्य वेतू वौषट्' मन्त्र के आरंभ में 'येयजामहे' शब्द को नहीं जोड़कर मन्त्रमात्र को पढ़ना चाहिए। निषेध मात्र प्राप्ति की अपेक्षा रखता है। विना प्राप्ति के निषेध की उपपत्ति नहीं होती। निषेध स्थल में अभाव का एक प्रतियोगी और एक अनुयोगी होता है। जिसका निषेध हो वह प्रतियोगी और जिसमें निषेध हो वह अनुयोगी कहलाता है। अर्थात् प्रतियोगी विशेषण और अनुयोगी विशेष्य होता है। 'भूतले घटो नास्ति' कहने पर अभाव का विशेषण घट एवं अनुयोगी भूतल 'घटाभाववद् भूतलम्' यह बोध होता है। इसी प्रकार 'अनूयाजेषु येयजामहं न कुर्यात्' इस निषेध में 'ये यजामहप्रतियोगिकाभाववन्तोऽनूयाजाः' ऐसा बोध होता है। इस अभाव का प्रतियोगी 'येयजामह' और अनुयोगी 'अनूज'। अनुयोगी अनूयाजों में येयजामह की प्राप्ति होने पर ही यह निषेध उपपन्न होगा, क्योंकि निषेध प्राप्तिसापेक्ष होता है—प्राप्तिसापेक्षत्वात् प्रतिषेधस्य। अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगिज्ञान कारण माना जाता है। वह भी प्रतियोगिज्ञान उस अधिकरण में अपेक्षित होता है जहाँ निषेध प्रवृत्त

अत एव "नान्तरिक्षे न दिवी" त्यस्य न प्रतिषेधत्वम्, अन्तरिक्षे चयनाप्राप्तेः। अत एव "ब्राह्मणो न हन्तव्य" इत्यस्य नित्यवद्धननिवर्तकत्वमुपपद्यते। सर्वो हि पुरुषः कदाचिद्धननादौ प्रवर्तते; कदाचिच्च राग[1]।

है। प्राप्ति अधिकरणान्तर में और निषेध दूसरे अधिकरण में, यह सङ्गत नहीं है। 'जैसे 'जलाशये वह्निर्नास्ति' जलाशय में वह्नि नहीं है, इस निषेध में गोष्ठ-महानस आदि अधिकरणों में प्रसिद्ध वह्नि का जलाशय अधिकरण में निषेध किया जाता है, उसी प्रकार अन्य यागों में प्राप्त येयजामहे का निषेध अनूयाजों में करने पर एक ही अधिकरण में प्रतियोगी ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, तथापि जलाशयवाले निषेध से अनूयाज स्थल के निषेध में महान् भेद है, अतः यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। जलाशय दृष्टान्त में बाध है, अनूयाजों में येयजामहे का बाध नहीं है। बाधस्थल में गति न होने के कारण वह्निप्रतियोगिक अभाव का अनुयोगी जलाशय में बोधन हो जाता है। प्रकृत स्थल में वैसा नहीं है। यहाँ निषेध का प्रयोजन निवृत्ति माना गया है। निखिलकारकों से विशिष्ट आख्यातार्थ कृति-भावना में प्रतियोगितासम्बन्ध से नञर्थ का अन्वय करने पर अनूयाजाधिकरण-अनूयाजों में येयजामहानुकूल कृति से निवृत्त हों, ऐसा बोध होता है। इस प्रकार बोध के लिए अनूयाजों में येयजामहे की प्राप्ति आवश्यक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि निषेधस्थलों में अनुयोगी में निषेध्य पदार्थ की प्राप्ति को अवश्य मानना चाहिए।

अनुयोगी में निषेध्य पदार्थ की प्राप्ति न होते हुए जहाँ नञ्-निषेध श्रुत है वहाँ प्रतिषेध ही नहीं माना जाता है। इसका उदाहरण दिखाते हैं—अतएव नान्तरिक्षे आदि। अतएव=प्रतिषेधप्राप्तिसापेक्ष होने के कारण। चयन प्रकरण में यह वाक्य श्रुत है। आहवनीय आदि अग्नि स्थापन के लिए ईंटों से बनाये गये स्थण्डिल को चयन कहते हैं। यह चयन अन्तरिक्ष-आकाश, एवं द्युलोक में संभव नहीं है, तथापि नान्तरिक्षे न दिवि निषेध श्रूयमाण है। यहाँ निषेध न मानकर 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' इस विधि का स्तावक माना गया है। भूमि में हिरण्य रखकर चयन करना चाहिए। इस प्रकार चयन करने पर अन्तरिक्ष-द्यु-एवं हिरण्यरहित पृथ्वी में चयन नहीं करते हुए हिरण्य रखकर उसके ऊपर चयन करना प्रशस्त है, ऐसी स्तुति है। क्योंकि अन्तरिक्ष और द्यु में चयन की प्राप्ति नहीं है। अतएव निषेध की प्रवृत्ति, प्राप्तविषयक होने से ब्राह्मणो न हन्तव्यः यह निषेध नियमतः हनन का निवर्तक होता है। इसका उपपादक ग्रन्थ है—सर्वो हि पुरुषः आदि। हनन आदि निषिद्ध व्यापार में पुरुष की प्रवृत्ति कादाचित्क है—अर्थात् इच्छा नहीं रहने से प्रवृत्त नहीं होता है और इच्छा होने पर प्रवृत्त होता है। यदि निषेध प्राप्तिसापेक्ष न होता तो इच्छा को रोक कर जो पुरुष हनन कार्य में प्रवृत्त नहीं है उसी को लक्ष्य कर न हन्तव्यः यह निषेध चरितार्थ होकर उस पुरुष को हनन आदि

१. रागाद्यभावेन निवर्त्तते।

द्यभावे न प्रवर्तते। तत्र यदि निषेधस्य प्राप्तिसापेक्षत्वं न स्यात् तदा रागादि[1] तिरोधाय हननादावप्रवृत्तं प्रत्येव शास्त्रप्रामाण्योपपत्तौ रागादिना हननादौ प्रवृत्तेन पुंसा न ततो निवर्तितव्यम्।

प्राप्तिसापेक्षत्वे तु स्वयमप्रवृत्तं प्रति प्रसक्त्यभावेन निषेधशास्त्राप्रवृत्तेः रागादिना प्रवृत्तं प्रत्येव भ्रान्तिनिमित्तरागबाधेन निषेधशास्त्रप्रवृत्तेर्युक्ता प्रवृत्तस्य ततो निवृत्तिः।

व्यापार से रोक नहीं सकता, जो राग से उस कर्म में प्रवृत्त हुआ है। निषेधशास्त्र की चरितार्थता अप्रवृत्त पुरुष को लेकर हो जाने से राग से प्रवृत्त पुरुष को रोक नहीं सकता। भाव यह है कि निषेध-शास्त्र का नियमतः हनननिवर्तकत्व उपपन्न नहीं होगा।

निषेधशास्त्र प्राप्तिसापेक्ष हो तो जो पुरुष स्वयं हनन में प्रवृत्त नहीं हुआ है उसके प्रति प्रसक्ति न होने से लागू नहीं होता है। जो पुरुष राग आदि कारण से प्रवृत्त है उस पुरुष के राग को बाधित करते हुए उस कर्म से पुरुष को निवृत्त करने के लिए शास्त्र संगत होता है।

तात्पर्य यह है कि—निषेधशास्त्र की प्रवृत्ति राग के द्वारा प्रवृत्त पुरुष को लेकर ही होती है किन्तु वह शास्त्र पुरुष का हनन आदि दुष्ट कर्मों से नियमतः निवारण कैसे करेगा? पुरुष के राग को उपजीवित करते हुए ही उस शास्त्र की प्रवृत्ति माननी होगी, तो पुरुष का राग होने से शास्त्र प्रवृत्त होता है, राग न रहने पर प्रवृत्त नहीं होता है, इस प्रकार शास्त्र की प्रवृत्ति पाक्षिक ही अवगत होती है, यह प्रश्न अपने स्थान में रहेगा ही। इसका समाधान यह है—जैसे शुक्तिका को देख कर उत्पन्न 'इदं रजतम्' ज्ञान का उत्तरकालिक 'नेदं रजतम्' ज्ञान बाधक बन जाता है अर्थात् भ्रमज्ञान को हटाता है, उसी प्रकार कलञ्जभक्षण, हनन आदि मेरे लिए बलवत् अनिष्ट से अनुबन्धी-सम्बन्धी नहीं हैं और मेरे इष्ट के साधन हैं, समझ कर पुरुष उन कर्मों में प्रवृत्त होता है। इस भ्रमात्मक ज्ञान को हटाकर निषेधशास्त्र नियमतः उस पुरुष को उन कर्मों से निवृत्त करता है। निषेधशास्त्र की प्रवृत्ति में सचमुच पुरुष का राग-इच्छा उपजीव्य है तथापि वह भ्रमात्मक होने से उसका बाधक होकर निषेधशास्त्र पुरुष का नियमतः निवर्त्तक बन जाता है। इसी आशय से ग्रन्थकार लिखते हैं—भ्रान्तिनिमित्तरागबाधेन। यद्यपि कलञ्जभक्षण, हनन आदि में पुरुष का इष्टसाधनत्वज्ञान भ्रमात्मक नहीं है, तथापि उस ज्ञान का विशेषण बलवदनिष्टाननुबन्धित्व दिया जाता है, अर्थात् बलवत् अनिष्ट से अनुबन्धी न होकर इष्टसाधनत्वज्ञान को प्रवृत्ति के प्रति कारण माना गया है। निषेधशास्त्र विशेषणांश में भ्रमात्मकत्व को सिद्ध करने पर 'विशेषणाभावप्रयुक्त

---

१. 'रागाविरोधाय' इति तु पाठो न साधीयान्।

अतश्च 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' इत्यस्य निषेधस्य निवृत्तिनियमबोधकत्वम्, 'व्रीहीनवहन्या' दित्यस्येवावघातनियमबोधकत्वम्। यथा खलु 'व्रीहीनवहन्या' दिति शास्त्रं वैतुष्यार्थमवघाते स्वतः प्रवृत्तं पुरुषं प्रति न प्रवर्त्तते, वैयर्थ्यात्, किन्तु दलनादौ प्रवृत्तं प्रति, एवं 'न हन्या' दिति शास्त्रं हननात् स्वयं निवृत्तं पुरुषं प्रति न प्रवर्तते, वैयर्थ्यात्; किन्तु हनने प्रवृत्तं पुरुषं प्रति कर्तव्यत्वेन प्रसक्तस्य प्रतिषेधात्–यत् कर्तव्यं तन्नेति।

अतश्च प्राप्तिसापेक्षत्वात् प्रतिषेधानामनूयाजेषु येयजामहप्रतिषेधे तस्य तत्र प्राप्तिर्वक्तव्या। सा च न तावद्धननादाविव रागतः सम्भवति। अतो

विशिष्टाभाव' न्याय से समूचे ज्ञान का भ्रमात्मकत्व सिद्ध करने में समर्थ हो जाता है।

जैसा पहले कहा जा चुका है– विधि अपूर्व-नियम-परिसंख्यारूप तीन प्रकार की होती है, उसी तरह निषेध भी तीन प्रकार के होते हैं। उनमें 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इस निषेधशास्त्र को नियमनिषेध शास्त्र बतलाते हैं—अतश्च इत्यादि। जैसे प्रवृत्ति नियमबोधक शास्त्र होता है वैसे यह शास्त्र नियमबोधक है। जैसे 'व्रीहीनवहन्यात्' अवघात नियम का बोधक है वैसे 'ब्राह्मणं न हन्यात्' यह वाक्य निवृत्तिनियम का बोधक है। इसका समन्वय कर दिखलाते हैं—यथा खलु आदि से। धान से तुषा को अलग करने के लिए जो पुरुष स्वयं अवहनन में प्रवृत्त है उस पुरुष को अवहनन में प्रवृत्त कराने के लिए 'व्रीहानवहन्यात्' विधि उपयुक्त नहीं है क्योंकि वह विधि अप्राप्तप्रापक नहीं है। किन्तु जो पुरुष नखविदलन द्वारा तुषविमोचननिमित्त प्रवृत्त होता हो वहाँ अवहनन की अप्राप्ति देखकर 'व्रीहीनवहन्यात्' विधि उस अप्राप्तांश की पूरक होकर नियमविधि कहलाती है। उसी प्रकार 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' निषेध स्वयं ब्राह्मण हनन से निवृत्त पुरुष के विषय में प्रवृत्त नहीं होता है, अर्थात् उस पुरुष को हनन कार्य से निवृत्त नहीं कराता है। क्योंकि वह स्वयं ही निवृत्त है। वहाँ निषेधशास्त्र का प्रयोजन नहीं है। निषेध शास्त्र से ही बुरे कर्मों से पुरुष की निवृत्ति होती है, यह नियम नहीं है। इच्छा नहीं रहने पर प्रवृत्त नहीं होता है और इच्छा होने पर प्रवृत्त होता है। जब इच्छा रहने पर बुरे कर्मों में प्रवृत्त होता तब निवृत्ति पाक्षिक बन जाती है, उस अप्राप्त अंश का पूरक होकर निषेधशास्त्र प्रवृत्त होता है। अतः अप्राप्त अंश की पूरक होकर जैसे नियम विधि है उसी तरह नियमनिषेधस्थल में भी अप्राप्त अंश पूरक होकर निषेधशास्त्र निवृत्तिनियमपरक होता है।

निषेध प्राप्तिसापेक्ष होता है, इस विषय को निरूपित कर प्रकृत पर्युदास स्थल में घटाते हैं—अतश्च प्राप्तिसापेक्षत्वात् आदि। निषेध प्राप्तिसापेक्ष होनेके कारण अनूयाजों में येयजामहे का प्रतिषेध भी प्राप्तिसापेक्ष ही है। प्राप्ति के

'यजतिषु येयजामहं करोती' ति शास्त्रात् सा वक्तव्या। शास्त्रप्राप्तस्य च प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्, शास्त्रेण भ्रान्तिनिमित्तरागस्येव शास्त्रान्तरस्यात्यन्तबाधायोगात्।

न च पदशास्त्रेणाहवनीयशास्त्रस्येव 'नानूयाजेष्वि'ति विशेषशास्त्रेण 'यजतिषु येयजामहं करोती'ति सामान्यशास्त्रस्य बाधः स्यादिति वाच्यम्।

बिना अनूयाजों में येयजामहे का निषेध नहीं किया जा सकता। अतः इन यागों में उसकी प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह दिखलाना होगा। जैसे हनन, कलञ्ज-भक्षण आदि में पुरुष की प्रवृत्ति राग से होती है वैसे अनूयाजों में येयजामहे के उच्चारण में राग से प्रवृत्ति होती है, यह नहीं कह सकते। क्योंकि क्लेशसाध्य याग आदि क्रियायें और नियमपालनपूर्वक मन्त्रों के उच्चारण में पुरुष की प्रवृत्ति वचन के बिना राग से नहीं होती है। अतः किसी वचन-शास्त्र के द्वारा प्राप्ति बतलानी होगी। शास्त्र के द्वारा प्राप्त पदार्थ का निषेध होने पर विकल्प ही होगा, आत्यन्तिक बाध नहीं होगा क्योंकि दोनों शास्त्र हैं और वे दोनों तुल्यबल के हैं। राग से प्राप्ति होने पर शास्त्र के सामने राग दुर्बल होता है। अतः शास्त्र के द्वारा राग का आत्यन्तिक बाध संगत है, क्योंकि राग भ्रान्तिमूलक है। शास्त्र के द्वारा प्राप्ति-स्थल में दोनों का प्रबल-दुर्बलभाव नहीं है। अतः विकल्प ही होगा।

इस सन्दर्भ में एक शंका का समाधान करते हैं—न च पदशास्त्रेणाहवनीय-शास्त्रस्येव आदि। ज्योतिष्टोम याग में सोमलता को खरीदने के लिए एकहायनी का विधान है—'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति'। लालरङ्ग पिङ्गलवर्ण नेत्रवाली एक साल की गो से सोमलता को खरीदो। इस गाय को यजमान के गोष्ठ से क्रयस्थान तक ले जाना पड़ता है। ले जाने के समय गाय के सातवें पद में एक होम विहित है—'सप्तमे पदे जुहोति'। यह पदशास्त्र कहलाता है। होम-सामान्य को उद्देश्य कर आहवनीय नाम की अग्नि का विधायक वाक्य है 'यदाहवनीये जुहोति'। यह आहवनीय शास्त्र है। पदशास्त्र का विजातीय होम उद्देश्य है तो आहवनीय शास्त्र का होम सामान्य उद्देश्य है। वहाँ पदशास्त्र से आहवनीय शास्त्र का आत्यन्तिक बाध माना गया है क्योंकि विजातीय पद होम को छोड़ कर आहवनीय शास्त्र अन्य होमों को लेकर चरितार्थ हो सकता है। अतः पदशास्त्र से आहवनीय शास्त्र का आत्यन्तिक बाध सम्भव है। अतः पदहोम से अतिरिक्त होम स्थलों में आहवनीय शास्त्र की प्रवृत्ति मानी गयी है, इस न्याय से यागसामान्य को उद्देश्य कर याज्यामन्त्रों में विहित 'येयजामहे' की अनूयाजयागातिरिक्त स्थलों में प्रवृत्ति क्यों न मानी जाय? विकल्प किसलिए माना जाता है? अर्थात् विशेष शास्त्र से सामान्य शास्त्र का जैसे आत्यन्तिक बाध होता है उसी प्रकार 'यजतिषु येयजामहं करोति' इस सामान्यशास्त्र का 'नानूयाजेषु येयजामहं करोति' इस विशेषशास्त्र से आत्यन्तिक बाध क्यों नहीं माना जाता है? इस शङ्का के

शास्त्रयोर्हि तत्र बाध्यबाधकभावो यत्र परस्परनिरपेक्षता। न हि पदशास्त्रस्य स्वार्थविधानार्थमाहवनीयशास्त्रापेक्षास्ति। निषेधशास्त्रस्य तु प्रसक्त्यर्थं 'यजतिषु येयजामहं करोती'ति विधेरस्त्यपेक्षा।

समाधान में कहते हैं कि दो शास्त्रों का बाध्यबाधकभाव वहाँ सम्भव है जहाँ दोनों की आपस में निरपेक्षता हो। 'पदे जुहोति' यह शास्त्र पद अधिकरण में होम-विधान के निमित्त आहवनीय शास्त्र की अपेक्षा रखता है एवं 'यदाहवनीये जुहोति' शास्त्र पदशास्त्र की अपेक्षा रखता है, ऐसी बात नहीं है। दोनों स्वतन्त्र होकर अपने विधेय कार्य को करते हैं। यहाँ पदशास्त्र निरवकाश होने से सावकाश आहवनीय शास्त्र का बाधक बन जाता है। इस सन्दर्भ में शङ्का हो सकती है कि 'यदाहवनीये जुहोति' यह सामान्यशास्त्र होमसामान्य अर्थात् होमत्वावच्छिन्न होमों को उद्देश्य कर आहवनीय अग्नि को होमों के आधाररूप से विधान करने हेतु प्रवृत्त है। यहाँ आधार है आहवनीय, आधेय है होमसामान्य। तब तक आहवनीय आधार नहीं बन सकता जब तक विशेष आधेय की सिद्धि न हो। क्योंकि आधार और आधेय का निरूप्य-निरूपकभाव संबन्ध है। इस आधेय के लिए यह आधार है, ऐसा निर्देश करना अनिवार्य है। होम सामान्य के लिए यह आधार है, यह कहने पर आकांक्षा उत्थित होगी कि किस होम का यह आधार है? अतः होम-विशेष का उल्लेख करना होगा। होमविशेषों में पदहोम भी है। इस पदहोम में भी सामान्यशास्त्र की प्रवृत्ति होगी। किसी प्रकार से प्रवृत्त क्यों न हो? शास्त्र का आत्यन्तिक बाध अनुचित है। अतः यहाँ पर भी विकल्प की ही शरण लेनी होगी। यह शंका है। इसका उत्तर है कि 'यदाहवनीये जुहोति' में जुहोतिपद होमसामान्य का वाचक है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। होमविशेष का जबतक उल्लेख नहीं होगा तबतक अधिकरण का अन्वय भी नहीं होगा, इसमें भी संदेह नहीं है। अतः जुहोतिपद में लक्षणा के द्वारा होमविशेष की उपस्थिति कर लेनी होगी। होमविशेष तो अनन्तानन्त हैं। इन अनन्तानन्त होमविशेषों को लक्षणा से जुहोति पद उपस्थित करा सकता है। एवं सब होमविशेषों को उपस्थित कराते हुए पद अधिकरणक होम को भी उपस्थित करा सकता है। अमुक होमविशेष को ही प्रथमतः उपस्थित करायेगा, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि यदाहवनीय शास्त्र अनारभ्याधीत है, अतः प्रकरण-समाख्या आदि नियामक प्रमाण नहीं हैं। जबतक अन्य होमविशेषों को लक्षणा से उपस्थित कराने में आहवनीय शास्त्र व्यापृत रहेगा, तत्पूर्व ही ज्योतिष्टोम प्रकरण की सहायता से पदशास्त्र का जुहोतिपद विजातीय होमव्यक्ति को लक्षणा से उपस्थित कराकर शीघ्र पद अधिकरण का विधान कर निराकांक्ष हो जाता है। इस परिस्थिति में आहवनीय शास्त्र की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। अतएव आहवनीय शास्त्र को पदहोमातिरिक्त सकल होमविषयक मानना ही होगा। अतः आत्यन्तिक बाध ही है विकल्प नहीं। प्रकृत निषेध-

एवञ्च निषेधशास्त्रस्य विशेषविषयत्वेन प्राबल्यवत् विधिशास्त्रस्याप्युपजीव्यत्वेन प्राबल्यमस्तीति न निषेधेन विधेरत्यन्तबाधो युक्त इति विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः स्यात् । स च न युक्तः । विकल्पे हि पक्षे शास्त्रस्याप्रामाण्यं भवति । न ह्यनूयाजेषु येयजामहकरणे 'नानूयाजेष्वि' त्यस्य प्रामाण्यं सम्भवति, व्रीह्यनुष्ठानसमय इव यवशास्त्रस्य ।

द्विरदृष्टकल्पना च स्यात् । विधेर्हि एवं ज्ञायते—यदनूयाजेषु येयजामहकरणे कश्चनोपकारो भवतीति । निषेधाच्च तदकरणादिति ज्ञायते, अनृतवदनाकरणादिव[1] दर्शपूर्णमासयोः । स चोपकारोऽदृष्टरूप इति द्विरदृष्ट-

---

शास्त्र में इस प्रकार की स्थिति नहीं है । यहाँ दोनों शास्त्र निरपेक्ष नहीं हैं किन्तु सापेक्ष हैं । 'नानूयाजेषु येयजामहं करोति' यह निषेधशास्त्र अपनी प्रवृत्ति के हेतु अनूयाजों में येयजामहे की प्राप्ति की अपेक्षा रखता है । वह भी भ्रमात्मक प्राप्ति की नहीं किन्तु प्रमात्मक प्राप्ति की अपेक्षा है । अतः निषेधसिद्धि के लिए प्रमात्मक प्राप्ति अर्थात् वैध प्राप्ति की आवश्यकता है । विधि से प्राप्त का निषेध होने से विकल्प होगा । इस सन्दर्भ में शंका हो सकती है कि तुल्यबल शास्त्रों का विकल्प संगत है । यहाँ दोनों शास्त्र तुल्यबल नहीं है । क्योंकि निषेधशास्त्र यागविषयक है, वह सामान्यशास्त्र का बाधक क्यों नहीं होगा । इस शंका के निवारण के लिए ग्रन्थकार लिखते हैं—एवञ्च निषेधशास्त्रस्य आदि । जैसे विशेषविषयक होने से निषेधशास्त्र प्रबल होता है, वैसे ही विधिशास्त्र भी प्रबल है । क्योंकि निषेध का विधिशास्त्र उपजीव्य है अर्थात् विधि के बिना निषेध का स्वरूपलाभ ही संभव नहीं है । अतः विहित के प्रतिषेध से विकल्प ही होगा । विकल्प मानना उचित नहीं है । विकल्प मानने पर व्रीहि यव शास्त्रों के समान पाक्षिक अप्रामाण्य होगा । अनूयाजों में येयजामहे का उच्चारण करने पर 'नानूयाजेषु' इस शास्त्र का प्रामाण्य नहीं होगा । (व्रीहिशास्त्र के आधार पर व्रीहियों से याग के अनुष्ठान से यवशास्त्र का एवं यवशास्त्र के बल से यव से अनुष्ठान के समय व्रीहिशास्त्र का जैसे अप्रामाण्य होता है वैसे यहाँ पर भी अप्रामाण्य होगा)। अतः विकल्प समुचित नहीं है ।

दोषान्तर प्रस्तुत करते हैं—द्विरदृष्टकल्पना च स्यात् । 'यजतिषु येयजामहं करोति' विधि से यह अवगत होता है कि अनूयाज यागों के याज्यामन्त्रों में येयजामहे का उच्चारण करने से एक उपकार होगा, वह अदृष्टरूप रहेगा, एवं 'नानूयाजेषु येयजामहं कुर्यात्' इस निषेध से अनूयाज यागों के याज्याओं में येयजामहे का उच्चारण न करने पर एक अदृष्ट उपकार होगा । इस प्रकार विकल्प पक्ष में दो अदृष्टों की कल्पना होगी । इसमें दृष्टान्त है—अनृतवदनाकरणादिव दर्शपूर्णमासयोः दर्शपूर्णमास प्रकरण में 'नानृतं वदेत्' निषेध श्रुत है । इस निषेध का उद्देश्य दर्श-

---

1. दिवत् ।

कल्पनाप्रसङ्गः। अतश्च विकल्पो न युक्तः। प्रतिषेधाश्रयणे च तदापत्तेर्न तदाश्रयणम्।

किन्तु नञः अनूयाजशब्देन सम्बन्धमाश्रित्य पर्युदास आश्रीयते, नञनूयाजशब्दाभ्यामनूयाजव्यतिरिक्तलक्षणात्—अनूयाजव्यतिरिक्तेषु येयजामहं करोतीति। अत्र च वाक्ये येयजामहः कर्तव्यतया न विधीयते, 'यजतिषु येयजामहं करोती'त्यनेनैव विहितत्वात्। किन्तु सामान्यशास्त्रविहितयेयजामहानुवादेन तस्यानूयाजव्यतिरिक्तविषयता विधीयते—यत् यजतिषु येयजामहं करोति तदनूयाजव्यतिरिक्तेष्विति। एवञ्च सामान्यशास्त्रस्य विशेषशा-

---

पूर्णमासयागजन्य अपूर्व है। अर्थात् अनृतवर्जन, याग का उपकारक है। वह उपकार अदृष्टरूप है, उसी प्रकार अनूयाजयागजन्य अपूर्व को उद्देश्य कर येयजामहे के उच्चारण का निषेध किया गया है। अर्थात् अनूयाजों में येयजामहे अकरण यागों का उपकारक है। यह उपकार अदृष्टरूप है। क्योंकि इससे दृष्ट फल उत्पन्न नहीं होता। इसलिए 'नानूयाजेषु' वाक्य को निषेधरूप मानने पर विकल्प होगा, वह युक्त नहीं है।

सिद्धान्ती के अभिमत पक्ष को प्रस्तुत करते हैं—किन्तु नञोऽनूयाजशब्देन आदि। 'नानूयाजेषु' इस वाक्य में नञ् का अन्वय विधि के साथ न करके अनूयाज के साथ करना चाहिए। इसका अनूयाजभिन्न-अनूयाजव्यतिरिक्त अर्थ निकलेगा। अर्थात् अनूयाजव्यतिरिक्त यजतियों में येयजामहे करना चाहिए, ऐसा वाक्यार्थ निष्पन्न होगा। यही पर्युदास है। पर्युदास के आश्रयण से ही यह अर्थ निष्पन्न होता है। अर्थात् नञ् और अनूयाज शब्द मिलकर लक्षणा से इस अर्थ का बोधन करते हैं। लक्षणा का कारण पूर्व कहा जा चुका है। इस प्रकार के अर्थ से यह निकलता है कि इस वाक्य में येयजामहे का विधान नहीं है, क्योंकि वह 'यजतिषु येयजामहं' वाक्य से विहित है, और अनूयाजों में येयजामहे का निषेध भी नहीं है। क्योंकि नञ् का अन्वय अनूयाज के साथ किया गया है, विधि के साथ नञ् का अन्वय करने पर ही निषेध का बोधन होता है। तब इस वाक्य का क्या प्रयोजन रह गया? विधिप्रत्यय रहते हुए भी यह येयजामहे का विधान नहीं कर सकता, क्योंकि वह सामान्य वाक्य से विहित हो गया है। विहित का पुनः विधान संगत नहीं है। इसलिए कहते हैं—किन्तु सामान्यशास्त्रविहित आदि। सामान्यशास्त्र-'यजतिषु येयजामहं करोति' से विहित येयजामहे का अनुवाद कर येयजामहे की अनूयाजव्यतिरिक्तविषयता का बोध कराना ही इस वाक्य का प्रयोजन है। अर्थात् यजतियों में जो येयजामहे किया जाता है वह अनूयाजव्यतिरिक्तों में करना चाहिए। यह निर्गलित हुआ कि—सामान्यशास्त्र एवं विशेषशास्त्र की एकवाक्यता के बिना किसी नतीज़े पर नहीं पहुँच सकते हैं।

स्त्रा[1]पेक्षिणः 'नानूयाजे' ष्वित्यनेनानूयाजव्यतिरिक्तविषयसमर्पणादनूयाज-व्यतिरिक्तेषु येयजामहः कर्तव्यतया प्राप्तः। अनूयाजेषु तु स न कर्तव्यतया प्राप्तो न वा प्रतिषिद्ध इति न विकल्पः। लक्षणया चानूयाजव्यतिरिक्त-विषयसमर्पणा'न्नानूयाजेष्वि'ति वाक्यस्य नाप्रामाण्यम्। अतश्च पर्युदासा-श्रयणे न किञ्चिद्बाधकम्।

तत्सिद्धं नानूयाजेष्विति वाक्ये विकल्पभयात् पर्युदासाश्रयणमिति।

ननु—पर्युदासाश्रयणे 'यजतिषु येयजामहं करोती'ति शास्त्रेण यागसा-मान्ये प्राप्तस्य येयजामहस्य "नानूयाजेष्वि" त्यनेनानूयाजव्यतिरिक्ते सङ्को-चकल्पनात् पर्युदासस्योपसंहाराद्भेदः स्यात्। उपसंहारे हि सामान्ये प्राप्त-स्य विशेषे सङ्कोचो भवति। यथा "पुरोडाशं चतुर्धा करोती"ति पुरोडाश-सामान्ये प्राप्तं चतुर्धाकरणं "आग्नेयं चतुर्धा करोती"त्याग्नेये सङ्कोच्यत इति चेत्—

क्योंकि सामान्यशास्त्र विशेषशास्त्र की अपेक्षा रखता है। एकवाक्यता करने पर विशेषशास्त्र का जो विषय है उससे भिन्न विषय में सामान्यशास्त्र की प्रवृत्ति सिद्ध हो जाती है। 'नानूयाजेषु' इस विशेषशास्त्र के द्वारा येयजामहे का अनूयाजव्य-तिरिक्तविषयकत्व समर्पित होता है तो अनूयाजव्यतिरिक्त यागों में येयजामहे का कर्तव्यत्व प्राप्त है। अनूयाजों में तो येयजामहे का न तो कर्तव्यत्व प्राप्त है, और न तो उसका निषेध ही प्राप्त है। अतः विकल्प का प्रसंग ही नहीं है। इसी प्रकार अनूयाजव्यतिरिक्त यागों में वैध-विधिसम्मत होने से येयजामहे का नित्या-नुष्ठान और प्रापकप्रमाण के अभाव से अनूयाजों में उसका नित्य अनुष्ठान, ये दोनों सिद्ध हुए। इससे इस वाक्य का अप्रामाण्य भी नहीं हुआ, क्योंकि यह वाक्य लक्षणा से सामान्यशास्त्र का अनूयाजव्यतिरिक्तविषयकत्व बतलाता है। अतः विकल्प के भय से पर्युदास का आश्रयण किया गया।

पर्युदास और उपसंहार का भेद

'नानूयाजेषु' वाक्य में पर्युदास स्वीकार करने पर उपसंहार से पर्युदास का भेद नहीं होगा। इस शंका को प्रस्तुत करते हैं—ननु पर्युदासाश्रयणे इत्यादि। तात्पर्य यह है कि दर्शपूर्णमास में 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' वाक्य से प्रधान होम के अनन्तर बचे हुए पुरोडाश के कुछ अंश को ४ भागों में अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता और आग्नीध्र के लिए अलग किया जाता है। वे इसका भक्षण करेंगे। पौर्णमासी में दो पुरोडाश हैं—आग्नेय और अग्नीषोमीय। इन दोनों पुरोडाशों का चतुर्धाकरण इस

---

१. विशेषापेक्षिणः।

(पर्युदासोपसंहारयोर्भेदनिरूपणम्)

न, तन्मात्रसङ्कोचार्थत्वादुपसंहारस्य, तदन्यमात्रसङ्कोचार्थत्वात् पर्युदासस्येति–केचित् ।

अन्ये तु—उपसंहारो नाम सामान्यतः प्राप्तस्य विशेषे सङ्कोचनरूपो व्यापारविशेषो विधेः । पर्युदासस्तु—

पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् ।

इत्यभियुक्तोक्त्या प्रत्ययातिरिक्तेन धातुना नाम्ना वा नञः सम्बन्धः ।

वाक्य से प्राप्त है । क्योंकि वाक्य में 'पुरोडाशं' सामान्यरूप से निर्दिष्ट है । इस प्रकार सामान्यतः प्राप्त चतुर्धाकरण को 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' वाक्य, विशेष आग्नेय पुरोडाश में संकोच करता है । अर्थात् सभी पुरोडाशों का चतुर्धाकरण न होकर केवल आग्नेय पुरोडाश का ही हो । यही संकोच उपसंहार कहलाता है। सामान्यतः प्रात पदार्थ को विशेषरूप देना ही उपसंहार है । यही स्थिति 'नानूयाजेषु' में भी है । यागसामान्य में प्राप्त येयजामहे का अनूयाजव्यतिरिक्त यागों में 'नानूयाजेषु' वाक्य से संकोच किया गया है । अतः पर्युदास संकोचरूप उपसंहार से भेद नहीं रखता । यह शंका है ।

इसका उत्तर है—न, तन्मात्रसङ्कोचार्थत्वादुपसंहारस्य । यह उत्तर भट्ट सोमेश्वर के मत के अनुसार है । उनका तात्पर्य यह है कि अपने में और अपने से इतर में भी प्राप्त पदार्थ को अपने इतर से हटा कर अपने में ही समेट लेना उपसंहार है । जैसे पुरोडाश का चतुर्धाकरण अपने में—आग्नेय में अपने से इतर-अग्नीषोमीय पुरोडाश में भी 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' से प्राप्त है; उसको 'आग्नेयं चतुर्धाकरोति' यह वाक्य आग्नेय में ही समेट लेता है । यह उपसंहार कहलाता है । पर्युदास में इसका वैपरीत्य है—अपने में प्राप्त विषय को अपने से हटाकर अपने इतर में समेटना या प्राप्त करना पर्युदास है । जैसे 'नानूयाजेषु' वाक्य येयजामहे को अपने से व्यावृत्त कराकर अपने से इतर यागों में येयजामहे का व्यवस्थापन करता है । यह पर्युदास है ।

पार्थसारथिमिश्र का मत प्रदर्शित करते हैं—अन्ये तु । इनके मत में पर्युदास और उपसंहार विधि का व्यापार है । विधि का वह व्यापार उपसंहार कहलाता है जो सामान्यरूप से प्राप्त का विशेष में संकोच करता है । पर्युदासस्स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ् इस प्रमाण से पर्युदास वह है जहाँ प्रत्ययार्थ क्रिया को छोड़कर तदन्य धातु या नाम-प्रातिपदिक के साथ नञ् का अन्वय होता हो । 'नेक्षेतोद्यन्तम्' में धातु के साथ तथा 'नानूयाजेषु' में प्रातिपदिक के साथ नञ् का अन्वय होता है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि विधिव्यापार उपसंहार एवं नञ् का धातु आदि से संबन्ध

अतश्चानयोस्तावत् स्वरूपतः स्पष्ट एव भेदः।

एवं सत्यप्यभेद आशङ्क्येत, यदि यत्र पर्युदासस्तत्रावश्यमुपसंहारः स्यात्। न चैतदस्ति। 'नेक्षेतोद्यन्त'मित्यादौ सत्यपि तस्मिन्नुपसंहाराभावात्। नहि तत्राग्नेयचतुर्द्धाकरणमिव सामान्ये प्राप्तं किञ्चिद्विशेषे सङ्कोच्यते। पापक्षयोद्देशेनानीक्षणसंकल्पमात्रविधानात्।

प्रकृतोदाहरणे तु यजिसामान्ये प्राप्तस्य येयजामहस्यानूयाजव्यतिरिक्तेषु सङ्कोचनात् यदि विधेरुपसंहारविधित्वं संभवति, नैतावता किञ्चिद्विरुध्यते। विध्यभावे हि कथं विधिकार्यमुपसंहारः पर्युदासेन क्रियत इति भवति विरोधः। न चात्र विधिर्नास्ति, नञोऽनूयाजपदसम्बन्धेन विधेर्विधायकत्वस्याव्याघातात्। अत्र हि पर्युदासोऽनूयाजव्यतिरिक्तविषयसमर्पकः आग्नेयपदवत्। उपसंहारकस्तु विधिरेव।

पर्युदास है। इस रीति से दोनों का स्वरूपतः भेद स्पष्ट है। अर्थात्—बोधक के भेद से बोध्य का भी भेद सिद्ध होता है।

इस प्रकार भेद होते हुए भी फलांश में अभेद ही है, यदि ऐसी शंका हो तो कहते हैं—यत्र। अभेद मानने पर जहाँ-जहाँ पर्युदास है वहाँ-वहाँ उपसंहार का व्यवहार होना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं। जैसे 'नेक्षेतोद्यन्तं' में पर्युदास है उपसंहार नहीं है, और 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' में उपसंहार है पर्युदास नहीं। 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' में जैसे सामान्य पुरोडाश का चतुर्धाकरण प्राप्त होने पर विशेषसंकोच व्यापार है वैसे प्रकृत में संकोच नहीं है। क्योंकि पापक्षय को उद्देश्य कर अनीक्षण संकल्प का ही विधान है। अर्थात् उपसंहार नहीं है।

'नानूयाजेषु' इस प्रकृत स्थल में उपसंहार और पर्युदास का सामानाधिकरण्य =एक स्थल में रहने से यदि इसका उपसंहार-विधि का व्यवहार होता हो तो इससे कोई विरोध नहीं है। विरोध तब होता है जब विधि के न रहने पर विधिकार्य पर्युदास के द्वारा किया जाता हो। 'नानूयाजेषु येयजामहं करोति' में विधि है ही, नञ् का अनूयाज के साथ अन्वय हो जाने से विधि का विधायकत्व भङ्ग नहीं होता। दो अलग-अलग कार्य हैं—१-पर्युदास अनूयाजातिरिक्त विषय का समर्पक होता है, जैसे 'आग्नेयं चतुर्धा' वाक्य का आग्नेय पद अग्निसम्बन्ध रखनेवाले पुरोडाश के चतुर्धाकरणविशेष का समर्पक है। २-विधि ही उपसंहारक है, अर्थात् विधि के द्वारा उपसंहार का बोधन करना। इस प्रकार अलग-अलग कार्य एकत्र होने से कोई विरोध नहीं है।

'नानूयाजेषु' वाक्य में उपसंहार मानने पर भी भट्टसोमेश्वर के अनुयायियों

न च अत्र तन्मात्रसङ्कोचाभावान्नोपसंहार इति वाच्यम्। तन्मात्रसङ्कोच इति कोऽर्थः? आग्नेयमात्रे सङ्कोचो वा? सामान्यप्राप्तस्य विशेषमात्रे सङ्कोचो वा? आद्ये अनारभ्याधीतसाप्तदश्यस्य मित्रविन्दादिप्रकरणस्थेन वाक्येनोपसंहारो न स्यात्, आग्नेये सङ्कोचाभावात्। द्वितीये चतुर्धाकरणस्य पुरोडाशमात्रे प्राप्तस्याग्नेये सङ्कोचवदनूयाजाननूयाजसाधारण्येन प्राप्तस्याननूयाजेषु सङ्कोचादुपसंहारः स्यादेव।

एतावांस्तु विशेषः—आग्नेयादिवाक्येषु आग्नेयादयो विशेषाः स्वपदोपस्थापिताः प्रकृते तु पर्युदासेन तस्योपस्थितिरिति। उपसंहारन्यायस्त्वविशिष्ट एव।

यच्च तदन्यमात्रसङ्कोचनार्थत्वात्पर्युदासस्येति। तन्न, 'नेक्षेते'त्यत्र सत्यपि पर्युदासे सङ्कोचाभावात्। नह्यत्र सामान्ये प्राप्तं तदन्यमात्रे सङ्कोच्यते, संकल्पमात्रविधानादित्युक्तमित्यास्तां तावत्। तत्सिद्धं 'नानूयाजेष्वि'-

---

की शंका का उत्थापन करते हैं—न चात्र। इस वाक्य में तन्मात्र संकोच नहीं है। अर्थात् अनूयाज मात्र में येयजामहे का संकोच नहीं किया जा रहा है जैसे कि आग्नेय पद करता है। किन्तु तदन्य-अनूयाजान्य में येयजामहे का संबन्ध करा रहा है तो यह उपसंहार कैसे? इस शंका के उत्तर में दो विकल्प कर प्रश्न करते हैं—क्या तन्मात्र शब्द से आग्नेय मात्र में संकोच अभिप्रेत है? अथवा सामान्यतः प्राप्त का विशेष में संकोच अभिप्रेत है? पहले पक्ष में—'तन्मात्र' के तत् शब्द आग्नेय को परामर्शक मानने के पक्ष में अनारभ्याधीत साप्तदश्य का उपसंहार सिद्ध नहीं होगा। यह विषय पहले कहा जा चुका है। दूसरे पक्ष में तो उपसंहार बन जाता है। क्योंकि पुरोडाशसामान्य में प्राप्त चतुर्धाकरण का आग्नेय पुरोडाश में उपसंहार जैसे होता है वैसे अनूयाज और तदतिरिक्त यागों में प्राप्त येयजामहे का अनूयाजों अर्थात् अनूयाजातिरिक्त यागों में संकोच है ही।

'नानूयाजेषु' वाक्य में उपसंहार मानने पर भी 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' एवं 'नानूयाजेषु' इन दोनों में विशेषता का उल्लेख करते हैं—एतावांस्तु विशेषः। आग्नेय वाक्य में विशेष पदार्थ आग्नेयपद के द्वारा बोधित है, नानूयाज वाक्य में वह विशेष पर्युदास के द्वारा उपस्थित है। उपसंहारव्यापार तो दोनों में विद्यमान है।

न्यायसुधाकर के पर्युदासलक्षण का खण्डन करते हैं—यच्च तदन्यमात्र इत्यादि। 'नेक्षेत' वाक्य में पर्युदास होते हुए भी संकोचरूप उपसंहार नहीं है। नेक्षेत वाक्य सङ्कल्प मात्र का विधायक है, सामान्यप्राप्त का तदन्य में सङ्कोच नहीं

त्यत्र विकल्पप्रसक्त्या पर्युदासाश्रयणमिति।

यत्र तु स आश्रयितुं न शक्यते तत्र तत्प्रसक्तावपि निषेध एवाश्रीयते, यथा—"नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती"त्यत्र। [1]अत्र हि "अतिरात्रे षोडशिनं

करता है। अतः नानूयाजेषु वाक्य में विकल्पप्रसक्ति के कारण पर्युदास का आश्रयण किया जाता है।

इस पर्युदास का अपवाद प्रदर्शित करते हैं—**यत्र तु स आश्रयितुं न शक्यते** आदि। निषेध की अपेक्षा पर्युदास गुरुभूत है। क्योंकि लक्षणावृत्ति का आश्रयण कर विकल्पप्रसक्ति से ही पर्युदास स्वीकार किया गया है। किन्तु ऐसे भी स्थल हैं जहाँ विकल्प की प्रसक्ति होने पर भी पर्युदास के आश्रयण में बाध होने से उसका आश्रयण न करते हुए निषेध को ही स्वीकार किया जाता है। उसी का उदाहरण है—**यथा नातिरात्रे** आदि। अतिरात्रसंस्थावाले ज्योतिष्टोम में षोडशिसंज्ञक ग्रह का ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा वाक्य का अर्थ है। ज्योतिष्टोम में चार संस्थाएँ होती हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र। संस्थाशब्द का समाप्ति अर्थ है। सम्पूर्वक ष्ठाधातु का रूप है—संस्था। संतिष्ठत इति संस्था। यह समाप्ति केवल क्रतु की नहीं किन्तु स्तोत्र से क्रतु की समाप्ति में संस्थाशब्द का प्रयोग है। अग्निष्टोम स्तोत्र से समाप्ति हो अर्थात् तदुपरि कोई स्तोत्र न हो तो उसे अग्निष्टोम संस्थावाला ज्योतिष्टोम कहते हैं। अग्निष्टोम स्तोत्र के अनन्तर उक्थ्य स्तोत्र कर क्रतु की समाप्ति हो तो वह उक्थ्य संस्थावाला ज्योतिष्टोम, उक्थ्यस्तोत्र के अनन्तर षोडशिस्तोत्र कर क्रतु की समाप्ति हो तो वह षोडशिसंस्थावाला ज्योतिष्टोम, तदुपरि अतिरात्र स्तोत्र से क्रतु की समाप्ति हो तो वह अतिरात्रसंस्थाक ज्योतिष्टोम कहलाता है। स्तोत्र उसे कहते हैं जहाँ साम गान के साथ मन्त्र पढ़े जाते हैं। इन संस्थाओं में अग्निष्टोम-संस्थाक ज्योतिष्टोम अन्य संस्थावाले ज्योतिष्टोम का प्रकृति याग है। अग्निष्टोम नित्य और काम्य है। उक्थ्य आदि काम्य ही हैं। अन्य जितने सोमयाग हैं वे इन्हीं चार संस्थाओं में से किसी एक के विकृति होते हैं। विधिवाक्य में जिस संस्था का निर्देश हो उस संस्था के ज्योतिष्टोम विकृति होते हैं। अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र इन चार पदों का प्रचुर प्रयोग संस्था में है। अतः अभिधावृत्ति से संस्था अर्थ है। निरूढ लक्षणा से संस्थावाला ज्योतिष्टोम अर्थ है। इन संस्था-वाले अन्य सोमयागों में साम्प्रतिकी लक्षणा है। ग्रहग्रहण और स्तोत्र में गौणी है। इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि इन चार संस्थाओं के अतिरिक्त तीन और भी संस्थायें हैं—अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और अप्तोर्याम। ये पूर्वोक्त चार में ही अन्तर्भूत हैं। अत एव इन तीनों को लेकर सप्तसंस्थाक ज्योतिष्टोम कहलाता है।

---

१. नह्यतिरात्रे

गृह्णाती''ति शास्त्रप्राप्तमतिरात्रे षोडशिग्रहणं प्रतिषिध्यत इति विहितप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पप्रसक्तावपि पर्युदासो[1] नाश्रीयते, अशक्यत्वात् । यदि ह्यत्र नञः षोडशिपदेन सम्बन्धः स्वीक्रियेत तदाऽतिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गृह्णातीति वाक्यार्थः स्यात्, तत्र चा'तिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'ति प्रत्यक्षविधिविरोधः । अत एवातिरात्रपदेन न नञः सम्बन्धः, अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'ति प्रत्यक्षविधिविरोधात् ।

अतश्चात्र पर्युदासस्यानुपपत्तेर्निषेध एव स्वीक्रियते, विकल्पोऽपि स्वीक्रियते । अनन्यगतेः । अतश्चैतत्सिद्धम्—यत्र 'तस्य व्रत'मित्याद्युपक्रमः विकल्पप्रसक्तिश्च नास्ति तत्र प्रतिषेधः, यथा न कलञ्जं भक्षयेदिति, यत्र

इतने विवरण से दर्शपूर्णमास प्रकरण में अधीत 'नातिरात्रे' वाक्य का अर्थ निकलता है कि अतिरात्रे-अतिरात्र संस्थावाले ज्योतिष्टोम में षोडशिनं-षोडशिनामक ग्रह को न गृह्णीयात्-ग्रहण नहीं करना चाहिए। नञ् का विधि के साथ संबन्ध करने पर निषेध अर्थ होता है। इसी प्रकरण में 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' वाक्य पठित है। यह अतिरात्र संस्थावाले ज्योतिष्टोम में षोडशिनामक ग्रह का ग्रहणविधान करता है अर्थात् अतिरात्र में षोडशिग्रह का ग्रहण करना चाहिए। विहित षोडशिग्रहग्रहण का 'नातिरात्रे' वाक्य से निषेध होने पर विकल्प होता है। क्योंकि दोनों तुल्यबल हैं। षोडशिग्रहग्रहण का प्रापक भी शास्त्र है और निषेधक भी शास्त्र है। अतः विकल्प होना अनिवार्य है। विकल्प के भय से 'नानूयाजेषु' में जैसे पर्युदास स्वीकार किया गया है वैसे यहाँ पर्युदास नहीं माना जा सकता। इसमें हेतु प्रदर्शित करते हैं—अशक्यत्वात्। अशक्य इसलिए है कि 'नातिरात्रे' वाक्य में नञ् का संबंध विधि से न करके अतिरात्रे अथवा षोडशिनं के साथ करना चाहिए। संनिहित अतिरात्रे के साथ नञ् का अन्वय करने पर अतिरात्रातिरिक्त अतिभिन्न में षोडशिग्रह का ग्रहण करना चाहिए, यह अर्थ निष्पन्न होता है। यदि षोडशिपद के साथ संबन्ध करें तो अतिरात्र में षोडशिभिन्न ग्रह ग्रहण करना चाहिए, ऐसा अर्थ निष्पन्न होगा। दोनों पक्षों में 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' शास्त्र का विरोध होगा। जब यह वाक्य अतिरात्रसंस्थाक ज्योतिष्टोम में षोडशिग्रहण का विधान कर रहा है तब तद्भिन्न में ग्रहण करना और तद्भिन्न का ग्रहण करना, यह कैसे संगत होगा ? अतः विकल्प की प्रसक्ति होने पर भी पर्युदास का आश्रयण नहीं कर सकते। इसलिए निषेध ही स्वीकार किया जाता है। इसी का निगमन करते हैं—अतश्चात्र पर्युदासस्यानुपपत्तेः। निष्कर्ष यह हुआ कि 'तस्य व्रतम्' उपक्रम एवं विकल्पप्रसक्तिरूप कारण के न होने पर पर्युदास नहीं किन्तु निषेध ही है। जैसे 'न कलञ्जं भक्षयेत्' यहाँ प्रतिषेध

१, दास भा

वा विकल्पप्रसक्तावपि पर्युदास आश्रयितुं न शक्यते तत्र प्रतिषेधः, यथा नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति।

एतावांस्तु विशेषः—यत्र विकल्पापादकः प्रतिषेधः, तत्र प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम्, उभयोरपि विधिप्रतिषेधयोः क्रत्वर्थत्वात्। यत्र

है। जहाँ विकल्प प्राप्त होते हुए भी पर्युदास का आश्रयण अशक्य है, वहाँ—'नातिरात्रे' में प्रतिषेध ही है।

यहाँ शंका होती है कि 'न कलञ्ज' एवं 'नातिरात्रे' इन दोनों में क्या भेद है। जैसे 'न कलञ्ज' में निषेध्य पदार्थ का अनुष्ठान करने पर प्रत्यवाय होगा, उसी प्रकार अतिरात्र में षोडशिग्रह के ग्रहण करने पर प्रत्यवाय होगा। क्या यह उचित है? इस शंका के उत्तर में लिखते हैं—एतावांस्तु विशेषः। निषेध स्थलों में अर्थनिश्चय के पूर्व 'क्रत्वर्थ' और 'पुरुषार्थ' का अर्थनिश्चय कर लेना आवश्यक है। क्योंकि विधि और निषेध इन अर्थों को लेकर ही प्रवृत्त होते हैं। 'क्रत्वर्थ' वह कहलाता है जो क्रतु या तज्जन्य अपूर्वसिद्धि के लिए विहित हो। इसका परिष्कृत लक्षण यह है—'स्वयंप्रार्थितभिन्नवृत्त्युद्देश्यतानिरूपितविधेयताकत्वम्'। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादि स्थलों में प्रोक्षण एवं अवहनन विधेय हैं; उद्देश्य है व्रीहि। पुरुष के द्वारा स्वयंप्रार्थित फल या तत्साधन होता है। फल या तत्साधन उद्देश्य न होकर तद्भिन्न व्रीहियाँ उद्देश्य हैं। उद्देश्यता व्रीहियों में है, तन्निरूपितविधेयता प्रोक्षण और अवहनन में है। अतः प्रोक्षण एवं अवहनन क्रत्वर्थ हैं। पुरुष की उद्देश्यसिद्धि के निमित्त विहित पदार्थ पुरुषार्थ कहलाता है। इसका भी परिष्कृत रूप है कि स्वयंप्रार्थितवृत्त्युद्देश्यतानिरूपितविधेयताकत्वम्'। स्वयंप्रार्थित फल या तत्साधन को उद्देश्य कर विहित याग, दान, होम आदि विधेय हैं। एवं 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' 'गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्' आदि स्थलों में स्वयंप्रार्थित इन्द्रिय, पशु आदि को उद्देश्यकर विहित दधि, गोदोहन आदि पुरुषार्थ हैं। इन दो लक्षणों में 'उद्देश्यता एवं 'विधेयता' स्वरूपसंबन्धविशेष हैं, साध्यत्व या साधनत्वरूप नहीं है। अर्थात् उद्देश्यता में साध्यत्व एवं विधेयता में साधनत्व रहने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणों से इसको स्पष्ट किया जायगा।

अब देखना चाहिए कि 'न कलञ्जं' और 'नातिरात्रे' इन दोनों निषेधों में भेद प्रतीत होता है या नहीं? 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' ये दोनों एकार्थ-एक प्रयोजनवाले हैं। अर्थात् दोनों क्रत्वर्थ हैं। विधि और निषेध दोनों एकप्रयोजनक हैं तो विहित पदार्थ का निषेध होने पर वह निषेध अनर्थमूलक नहीं होगा। दोनों क्रतु के लिए विहित भी हैं और प्रतिषिद्ध भी हैं। अतिरात्र में षोडशिग्रहण से क्रतु का उपकार होगा, और अतिरात्र में षोडशिग्रहण न करने पर भी वह उपकार होगा। अन्तर इतना है कि षोडशिग्रह का ग्रहण करना

तु न विकल्पः, प्राप्तिश्च रागतः, प्रतिषेधश्च पुरुषार्थः, तत्र निषिध्यमान-स्यानर्थहेतुत्वम्, यथा-कलञ्जभक्षणस्य।

'दीक्षितो न ददाति, न जुहोती'त्यादिषु तु दानहोमादीनां शास्त्र-प्राप्तावपि पुरुषार्थत्वेन प्राप्तत्वात् क्रत्वर्थत्वेन च प्रतिषेधात् तुल्यार्थत्वा-भावेन विकल्पाप्रसक्तावपि न तेषामनर्थहेतुत्वम्, रागतः प्राप्त्यभावात्।

अभ्युदयकर है। इस वाक्य में उद्देश्यता षोडशिग्रह में एवं विधेयता धात्वर्थग्रहण में है। उद्देश्यता और विधेयता साध्यत्व-साधनत्वरूप नहीं हैं, किन्तु विधि की उद्देश्यताख्या विषयता षोडशी में और विधेयताख्या विषयता ग्रहण में है। इतना ही तात्पर्य है। एवञ्च अतिरात्र में षोडशी का ग्रहण करना एवं ग्रहण नहीं करना, दोनों क्रत्वर्थ होने से और ग्रहण करने के पक्ष में उसका अनर्थहेतुत्व सिद्ध नहीं होता है। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' में यह स्थिति नहीं है। यहाँ कलञ्जभक्षण में पुरुष की प्रवृत्ति रागतः होती है और शास्त्रतः निषेध की प्रवृत्ति है। तुल्यबल न होने से विकल्प का प्रसंग नहीं है। यहाँ निषेध पुरुषार्थ है। अतः यहाँ निषेध्य कलञ्जभक्षण अनर्थ का हेतु बन जाता है। निषेधों का पुरुषार्थत्व यही है कि कलञ्जभक्षण आदि से जायमान प्रत्यवाय के परिहार करने के उद्देश्य से प्रवृत्ति हो। जब प्रतिषेध प्रत्यवायपरिहार के उद्देश्य से प्रवृत्त होता है तो निषेध्य पदार्थ का अनर्थहेतुत्व बोधित होता है। यही 'न कलञ्जं', 'नातिरात्रे' इन प्रतिषेधों का भेद है।

'न कलञ्जं भक्षयेत्' में रागतः कलञ्जभक्षण में पुरुष की प्रवृत्ति होने पर पुरुषार्थ निषेध-निषेध्य का अनर्थहेतुत्व बतलाता है, किन्तु पुरुषार्थत्वरूप से प्राप्त पदार्थ का क्रत्वर्थत्वरूप से निषेध होनेपर निषेध्य का अनर्थ हेतुत्व नहीं है। इसका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—दीक्षितो न ददाति न जुहोति। ज्योति-ष्टोम में दीक्षाप्राप्त यजमान पुरुषार्थ दान, होम एवं पाक आदि न करे, यह निषेध है। दान आदि पुरुषार्थ के रूप से विहित हैं, अर्थात् तत्तत्फल की इच्छा होने पर यजमान दान, होम आदि कर सकता है। किन्तु ज्योतिष्टोम की दीक्षा में विद्यमान यजमान के लिए ये दान आदि निषिद्ध हैं। निषिद्ध होते हुए भी निषेध्य दान आदि का अनर्थहेतुत्व नहीं माना जाता है, क्योंकि ये पुरुषार्थरूप से विहित हैं और क्रत्वर्थरूप से निषिद्ध हैं। साथ ही ये तुल्यार्थ न होने से विकल्प भी नहीं हैं। विकल्पप्रसक्ति न होने पर भी निषेध्य दान-होम आदि का अनर्थ-हेतुत्व नहीं है, क्योंकि राग से दान आदि की प्राप्ति नहीं है, किन्तु शास्त्र से प्राप्ति है। कलञ्जभक्षण आदि बुरे कर्मों में रागकारण से ये अनिष्टजनक नहीं हैं, इस भ्रम से पुरुष प्रवृत्त होता है तो निषेध शास्त्र उस पुरुष को उस कर्म से हटाता है। प्रकृत स्थल में दान-होम आदि में पुरुष की प्रवृत्ति राग से नहीं बल्कि शास्त्र के द्वारा होती है। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि क्लेशसाध्य कर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति राग से नहीं होती है। शास्त्र कहता है अतः मुझे करना है, अथवा स्वर्ग-

रागतः प्राप्तस्यापि क्रत्वर्थत्वेन प्रतिषेधे तदनुष्ठानात् क्रतोर्वैगुण्यम्, नानर्थोत्पत्तिः, यथा—स्वस्त्र्युपगमनादिप्रतिषेधे। रागतः प्राप्तस्य पुरुषार्थत्वेन प्रतिषेधे निषिद्ध्यमानस्यानर्थहेतुत्वमिति दिक्। तत्सिद्धं निषेधानां पुरुषार्थानुबन्धित्वम्।

एवं सर्वस्यापि वेदस्य पुरुषार्थानुबन्धित्वम्।

पशु आदि फलप्राप्ति के लिए शास्त्र साधन बतला रहा है, अतः मुझे अनुष्ठान करना है, इस रूप से पुरुष प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति को 'दीक्षितो न ददाति' आदि वाक्य दीक्षा के समय इनका अनुष्ठान न करो, केवल इतना कहकर चरितार्थ हो जाता है। निषेध्य दान-होम आदि का अनर्थहेतुत्व नहीं बतलाता है, जैसे कलञ्जभक्षण निषेध बतलाता है।

शास्त्रप्राप्त पुरुषार्थ के क्रत्वर्थनिषेध की स्थिति बतलाकर रागतः प्राप्त पुरुषार्थ के क्रत्वर्थ रूप से निषेध की स्थिति बतलाते हैं—रागतः प्राप्तस्यापि आदि। उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—यथा स्वस्त्र्युपगमनादिप्रतिषेधे। स्वस्त्र्युपगमन रागतः प्राप्त है, किन्तु दर्शपूर्णमासप्रकरणगत 'न स्त्रियमुपेयात्' इस वाक्य से उसका निषेध किया जाता है। अर्थात् रागतः प्राप्त पदार्थ का क्रत्वर्थत्वरूप से निषेध है। क्रतुमध्य में यह निषेध प्रवृत्त होता है, क्रतु के बाहर यह निषेध प्रवृत्त नहीं होगा। अतः यदि क्रतुमध्य में निषेध्य स्वस्त्र्युपगमन संभव हो जाता हो तो क्रतु का वैगुण्य नहीं होगा किन्तु निषेध के अतिक्रमण से पुरुष प्रत्यवायभागी बनेगा। तात्पर्य यह है कि पुरुष स्वस्त्र्युपगमन में रागतः प्रवृत्त होता हुआ भी निषिद्ध दिनों में उसका वर्जन करता है। यहाँ निषेध के अतिक्रमण से पुरुष प्रत्यवायभागी बनेगा ही। निषेध का अतिक्रमण अनर्थहेतु है ही, किन्तु वह अनर्थ नरकरूप नहीं है। किन्तु प्रत्यवायरूप है, समुचित प्रायश्चित के द्वारा प्रत्यवाय से मुक्त हो सकता है। रागतः प्राप्त स्वस्त्र्युपगमन क्रतुकाल में होने पर क्रतु का वैगुण्य इसलिए नहीं है कि सर्वाङ्गोपेत क्रतु का यथावद् अनुष्ठान संपन्न हो चुका हो तो यह प्रत्यवाय क्रतु के फलसंपादन कार्य में बाधक नहीं होता। क्योंकि विहित अंगों के अननुष्ठान या विपरीत अनुष्ठान से ही क्रतु विगुण होकर फल-संपादन में असमर्थ बनता है। अतः रागतः प्राप्त का पुरुषार्थरूप से निषेध होने पर निषेध्य अनर्थ नरकहेतु है, वहीं क्रत्वर्थरूप से निषिद्ध होने पर अनर्थ-नरक आदि का हेतु नहीं है। एवञ्च जैसे विधिवाक्य प्रवर्तक होते हुए पुरुषार्थानुबन्धी होते हैं वैसे ही निषेध निवर्तक होते हुए पुरुषार्थानुबन्धी होते हैं।

अर्थवादप्रामाण्य

इतना तक विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधों की प्रयोजनवत्ता बतलायी गयी, अब

प्रकृतमनुसरामः। तदेवं यथा विध्यादीनामध्ययनविध्युपात्तानां नानर्थक्यम्, एवमर्थवादानामपि तदुपात्तत्वेनानर्थक्यानुपपत्तेः स्वार्थप्रतिपादने च प्रयोजनाभावाल्लक्षणया प्रयोजनवदर्थपर्यवसानं वक्तव्यम्।

(अर्थवादनिरूपणम्)

ते चार्थवादा द्विविधाः—विधिशेषा निषेधशेषाश्च। तत्र "वायव्यं श्वेतमालभेते"त्यादिविधिशेषाणां "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते"त्यादीनामर्थवादानां

अर्थवादों की प्रयोजनवत्ता बतलाते हैं—प्रकृतमनुसरामः। ग्रन्थ के आरम्भ में शाब्दीभावना की इतिकर्तव्यताकांक्षा का शमन अर्थवादलक्षित प्राशस्त्यज्ञान के द्वारा होता है, बतला कर अर्थवादों की आनर्थक्यशंका का परिहार स्वाध्यायाध्ययनविधिबल से किया गया। जैसे विधि-मन्त्र आदि भाग अध्ययनविधि से गृहीत होने से अनर्थक नहीं हैं वैसे ही अर्थवाद भाग भी गृहीत होने से अनर्थक नहीं है। यदि अर्थवाद अनर्थक होते तो अध्ययनविधि के द्वारा उनका अध्ययन नहीं होता। विधि-मन्त्र आदि भागों के समान अर्थवाद भाग भी प्रयोजनवान् है। अध्ययनविधि से गृहीत होकर अर्थवाद भाग प्रयोजनवान् हो किन्तु लक्षणा क्यों मानी जाती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—स्वार्थप्रतिपादने च आदि। अर्थवाद वाक्य शक्यार्थ के प्रतिपादन के द्वारा अनधिगत अर्थ के प्रतिपादक नहीं होते और इसीलिए प्रवृत्ति या निवृत्ति के प्रति अर्थवाद उपयोगी नहीं होते। अतः अर्थवाद लक्षणा से प्रवृत्ति या निवृत्ति के उपयोगी प्राशस्त्यज्ञान या अप्राशस्त्यज्ञान को कराते हुए सप्रयोजन अर्थ के प्रतिपादक होते हैं। अत एव धर्म में अर्थवाद प्रमाण हैं।

अर्थवाद का विभाग

अर्थवाद दो प्रकार के हैं—विधिशेष और निषेधशेष। इनमें विधिशेष अर्थवाद 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' आदि है। यह अर्थवाद 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इस विधिवाक्य का शेष है। विधिवाक्य में 'आलभति' शब्द का लक्षणया अर्थ है याग। वायव्यं श्वेतं ये दोनों उसके विशेषण हैं। वायु देवता है जिसका वह वायव्य है। श्वेत का श्वेत गुणवाला पशु अर्थ है। श्वेत गुणवाले पशुद्रव्यक वायुदेवताक याग से भूति-धनरूप फल का सम्पादन करना चाहिए—'वायुदेवताक-श्वेतगुणक-द्रव्यकयागेन भूतिं भावयेत्'। यह विधि वाक्य का अर्थ है। वायुर्वै-वायु देवता तो क्षेपिष्ठा—शीघ्रगतिवाला देवता है। जो यजमान स्वेन भागधेयेन—अपनी हवि से वायुमुपधावति—वायु के समीप जाता है अर्थात् अपने हवि से यजन कराता है, एनं—उस यजमान को सः—वायु भूतिं—धन को गमयति—प्राप्त कराता है, यह अर्थवाद का अर्थ है। वायु में विद्यमान शीघ्रगतिशीलतारूपी अर्थ के प्रतिपादन से प्रकृत में कोई उपयोग सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि वह अर्थ ज्ञात है। अतः विधेय

विधेयार्थस्तावकतयार्थवत्त्वम् । "बर्हिषि रजतं न देय"मित्यादिनिषेधशेषाणां 'सोऽरोदी' दित्यादीनामर्थवादानां तु निषेध्यनिन्दकतयेति । [1]अतश्च लक्षणया प्राशस्त्यमर्थवादैर्बोध्यते, तच्च प्राशस्त्यज्ञानं शब्दभावनायामितिकर्तव्यतात्वेन संबध्यते ।

[2]परमप्रकृतम्—तत्सिद्धं वक्ष्यमाणार्थभावनाभाव्यिका लिङादिज्ञानकरणिका प्राशस्त्यज्ञानेतिकर्तव्यताका शाब्दी भावना लिङ्त्वांशेनोच्यत इति ।

अर्थ-याग की स्तुति लक्षणा से प्रकृत याग के स्तावक को मानकर प्रयोजनवत्ता मानी जाती है—अर्थात् यह वायव्ययाग प्रशस्त है। अतः इसका अनुष्ठान करना चाहिए।

निषेधशेष का उदाहरण है—बर्हिषि रजतं न देयम्। बर्हिःशब्द याग का लक्षक है। याग में दक्षिणा के रूप में रजत देना नहीं चाहिए, यह निषेध वाक्य का अर्थ है। इसका शेष है—सोऽरोदीद् यदरोदीत् इत्यादि। रोदनजन्य होने से रजत निन्दित या अप्रशस्त है, अतः यागों में दक्षिणा के रूप में उसको देना नहीं चाहिए। तैत्तिरीयसंहिता के द्वितीय काण्ड में रजत का रोदनजन्यत्व प्रतिपादित है। एक समय देवासुरसंग्राम होने लगा। देवताओं ने अपनी सारी सम्पत्ति एकत्रित कर उसके संरक्षण के लिए अग्निदेव को नियुक्त किया। प्राज्य और सुन्दर इस धन को देखकर अग्नि को लोभ हुआ और वे उस सम्पति को लेकर गुप्तस्थान के अन्वेषण में भागने लगे। इतने में ही सब देवता असुरों को जीतकर लौट आये और उन्होंने धन-सम्पत्ति लेकर भागते हुए अग्नि को देख पकड़ कर पीटा और धन को छीन लिया। तब अग्निदेव अश्रु गिराते हुए रोने लगे। वही अश्रुजल ही रजत हुआ। अतः अश्रुज होने के कारण रजत अप्रशस्त है, उसे यागों में नहीं देना चाहिए। इस प्रकार निषेध्य रजत के दान की निन्दा का प्रतिपादन करता हुआ यह अर्थवाद निषेधवाक्य के साथ एकवाक्यता को प्राप्त कर रजतदान के अप्राशस्त्य में तात्पर्य रखता है। अत एव इसकी प्रयोजनवत्ता है।

ये प्राशस्त्य तथा अप्राशस्त्य ज्ञान शाब्दीभावना की इतिकर्तव्यताकांक्षा के पूरक हैं। परम प्रकृत शाब्दीभावना के विषय का उपसंहार करते हैं—परमप्रकृतम्। शाब्दीभावना के तीनों अंशों-आकांक्षाओं को प्रदर्शित करते हैं—वक्ष्यमाण इत्यादि।

---

१. "अतश्च लक्षणया प्राशस्त्यमप्राशस्त्यं च स्वसन्निधिपठितविधिनिषेधापेक्षितत्वात् स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनमलभमानैरर्थवादैर्बोध्यते" इति क्वचित्पाठः। परं स न ग्रन्थकृदभिमत इति भाति ।

२. एतच्च क्वचित् मुद्रितपुस्तके नास्ति ।

(शाब्दीभावनानिरूपणम्)

ननु–केयं शाब्दी भावना ? उच्यते–पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारविशेषः। स एव [1]विध्यर्थः। लिङादिश्रवणे अयं मां प्रवर्तयतीति नियमेन प्रतीतेः।

शाब्दीभावना का निरूपण

'स च वेदो विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधार्थ-वादात्मकः पञ्चविधः' प्रतिज्ञात इस विधि आदि का स्वरूप साङ्गोपाङ्ग निरूपित हुआ। इससे ग्रन्थ की भी समाप्ति हो गई। किन्तु शाब्दी और आर्थी भावनाओं का यथावत् स्वरूप-निरूपण न करने से ग्रन्थ की न्यूनता समझकर प्रथम शाब्दीभावना के स्वरूप-विषयक प्रश्न उपस्थित करते हैं—ननु केयं शाब्दी भावना। न्यायसुधाकार के मत से उत्तर देते हैं—उच्यते। जिस व्यापार से पुरुष की प्रवृत्ति सिद्ध होती हो वह व्यापार-विशेष शाब्दीभावना है। वही विधिबोधक लिङ् आदि का अर्थ है। इसी का उपपादक ग्रन्थ है—लिङादिश्रवणे आदि। लिङ्, लोट्, लेट् तथा तव्य प्रत्ययों के श्रवण से यह लिङ् आदि का उच्चारयिता मुझे प्रेरित कर रहा है, ऐसा नियमित बोध होता है। 'यच्च यस्मात्प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्' न्याय से प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापारविशेष जिससे प्रतीत होता हो, वह उसका अर्थ है। लट्, लङ् तथा लृट् आदिघटित वाक्यों के श्रवण से 'मुझे यह प्रेरित करता है' ऐसा बोध नहीं होता है। अतः अन्वय-व्यतिरेक से विध्यर्थ प्रवृत्त्यनुकूल व्यापारविशेष है और वह शाब्दीभावना है।

---

१. विविधं लिङर्थभूतं विधिस्वरूपं शास्त्रकारैरेवं निरूपितम्—

(१) वैयाकरणेषु—विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनारूपाः षडर्था लिङः इति भगवान्पाणिनिः।

(२) विध्यादिषु चतुर्ष्वनुगतं प्रवर्तनात्वम्, संप्रश्नप्रार्थने च लिङर्थ इति वाक्यपदीय-काराः।

(३) इष्टसाधनत्वमेव लिङर्थ इति ततोऽर्वाचीना वैयाकरणाः।

(४) नैयायिकेषु—इष्टसाधनत्वं बलवदनिष्टाजनकत्वं कृतिसाध्यत्वं चेति त्रितयमपि लिङर्थ इति नैयायिकाः। तत्र विशेषणविशेष्यभावापन्नेषु त्रिष्वप्येकैव शक्तिरिति प्राचीनाः। तत्र पृथक्-पृथगेव शक्तित्रयमिति नवीनाः।

(५) कृतिसाध्यत्वमेव लिङर्थ इति रत्नकोशकृतः।

(६) लिङ्घटितवाक्योच्चारयितुरहमेनं प्रवर्तयामीत्यभिप्रायविशेषो लोके वेदे च लिङर्थ इत्युदयनाचार्याः।

(७) वेदान्तिषु—वेदे भगवदाज्ञैव लिङर्थ इति श्रीभाष्यकाराः, तदनुयायिनस्सेश्वर-मीमांसाकृदादयश्च।

(८) इष्टसाधनत्वमेव लिङर्थ इति श्रीसुरेश्वराचार्याः, तदनुसारिणश्चित्सुखाचार्यादयश्च।

(९) इष्टसाधनत्वं कृतिसाध्यत्वमित्युभयं लिङर्थ इति भामत्यां वाचस्पतिमिश्राः।

यत्तु इष्टसाधनत्वं विध्यर्थ[1] इति, तन्न। तथा सति इष्टसाधनमितिशब्दस्य विधिशब्दः पर्यायः स्यात्। न च पर्यायत्वं युज्यते। सन्ध्योपासनं ते इष्टसाधनम्, तस्मात्तत् त्वं कुर्विति सह प्रयोगात्, पर्यायाणां च सह प्रयोगाभावात्। अतश्च व्यापारविशेष एव विध्यर्थः। स च लोके पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः। वेदे तु पुरुषाभावाच्छब्दनिष्ठ एव प्रेरणापरपर्याय इत्युक्तम्।

विध्यर्थ इष्टसाधनत्व माननेवालों के मत को पहले ही खण्डन कर चुके हैं तथापि पुनः उसका स्मरण करा रहे हैं—यत्तु इष्टसाधनत्वं विध्यर्थ इति तन्न। यदि इष्टसाधन विधिबोधक लिङ् आदि का अर्थ है तो विधिशब्द और इष्टसाधनशब्द घट-कलशशब्द के समान पर्यायशब्द हो जायँगे। यह अनुचित है क्योंकि पर्याय शब्दों का सहप्रयोग नहीं होता है। किन्तु 'सन्ध्योपासन तेरा इष्टसाधन है, अतः तुम करो' यहाँ 'इष्टसाधन' और 'करो' लोट् का सहप्रयोग देखा जाता है। यदि ये दोनों पर्याय हैं तो यह प्रयोग नहीं होता और इस प्रकार का प्रयोग होता है। अतः विध्यर्थ इष्टसाधन नहीं हो सकता। अतः पूर्वोक्त प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापारविशेष ही विध्यर्थ है। यह व्यापारविशेष लोक में पुरुषगत है क्योंकि पुरुष यह समझकर कि 'देवदत्त इस कार्य में प्रवृत्त हो' लिङादिघटित वाक्य का प्रयोग करता है और कार्यसंपन्न होने के अनन्तर 'मेरे से प्रवृत्त होकर इसने इस कार्य को किया' कहता है। अतः लोक में यह व्यापार पुरुषगत है। वेद में तो पुरुष का संबन्ध है नहीं, अतः वहाँ यह उक्त व्यापार लिङ् आदि शब्दगत ही माना जाता है। इसी व्यापार का प्रेरणा, प्रवर्तना, तथा शाब्दीभावना आदि शब्दों से व्यवहार करते हैं। यह पूर्व कहा जा चुका है।

---

(१०) मीमांसकेषु—इष्टसाधनत्वं कृतिसाध्यत्वमित्युभयं लिङर्थं इति मण्डनमिश्राः।

(११) भाट्टेषु—तत्तद्धात्वर्थगतं कार्यत्वं लिङर्थं इति भाट्टेष्वप्येकं मतम्।

(१२) लिङादिशब्दगतस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यस्याऽभिधाख्यव्यापारस्य लिङर्थत्वमित्यप्येकदेशिमतम्।

(१३) इष्टसाधनत्वमेव प्रवर्तनात्वेन रूपेण लिङर्थ इति पार्थसारथिमिश्रप्रभृतयः।

(१४) इष्टसाधनत्वाद्यतिरिक्तः प्रवर्तनाख्योऽलौकिकः कश्चिद्धर्मविशेषो लिङादिवाच्य इति भट्टसोमेश्वरः खण्डदेवप्रभृतयश्च।

प्राभाकरेषु—अपूर्वापरपर्यायः कार्यात्मा नियोगो लिङर्थं इति प्राभाकराः। तत्र लोके कार्यत्वेन क्रियायाः, वेदे च नियोगस्य लिङर्थत्वमिति विवेकः॥

एतेषां स्फुटतया विवरणं पूज्यपादैः श्रीगुरुवर्यैरेव स्वकृते विधितत्त्वसङ्ग्रहाख्ये लघु कृतम्। तत् तत एवावगन्तव्यम्।

१. लिङर्थः।

ननु—लोके वा शब्दनिष्ठे प्रेरणापरपर्याये व्यापारे शब्दप्रयोगाभावेन शक्तिग्रहाभावात् कथं तस्य विधिशब्दात्प्रतिपत्ति[1]रिति चेत्—

सत्यमेतत्। तथापि बालस्तावत् स्तन्यदानादौ स्वकृतरोदनादिजनित-मातृप्रवृत्तेः स्वाभिप्रायरूपप्रवर्तनाज्ञानजन्यत्वावधारणात् सविधिकप्रयोजक-वाक्यश्रवणसमनन्तरभाविनीं प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तिमुपलभ्य तत्कारणत्वेन तस्य

वैदिक लिङ् आदि शब्दों के शब्दनिष्ठ व्यापाररूप अर्थ में शक्तिग्रह का उपाय क्या है ? शक्तिग्रहोपायों में व्यवहार का प्राधान्य है। अतः लोक में लौकिक व्यवहार से लिङ् आदि का पुरुषगत प्रवर्तनाव्यापार अर्थ में शक्तिग्रह हो जाता है। उत्तम वृद्ध से प्रेरित मध्यम वृद्ध के कार्य को देखकर व्युत्पित्सु बालक आवापोद्वाप से अर्थग्रहण कर लेता है। किन्तु शब्दगत उस व्यापार का लोक में व्यवहार नहीं है। अतः वेद के लिङ् आदि शब्दों के शब्दगत व्यापार अर्थ के ग्रहण में शक्तिग्रहोपाय क्या है ? इस शंका का उत्थापक ग्रन्थ है—ननु लोके शब्द-निष्ठे आदि।

शंका का उत्तर देते हैं—सत्यम्। लोक में पुरुषगत प्रवर्तनाव्यापार में ही लिङ् आदि विधिशब्दों का प्रयोग होता है यह सत्य है, तथापि लिङ् आदि का शब्दगत उस व्यापाररूप अर्थ का बोधकत्व नहीं है, यह संगत नहीं। इसी में दृष्टान्त देते हैं—बालस्तावत् आदि। शिशु-बालक के रोदन से माता बालक को स्तन्य पिलाती है। स्तन्य पिलाने में प्रवृत्ति बालक के रोदनजन्य है। माता पुनः-पुनः इस अनुभव से समझती है कि स्तन्य पीने के लिए बालक रो रहा है। दर्शकों का भी यह अनुभव होता है कि बालक का रोदन प्रवर्तक है। बालक भी कुछ प्रबुद्ध होकर समझने लगता है कि मेरे रोदन के समनन्तर माता स्तन्य दान में प्रवृत्त होती है, इसका क्या कारण होगा ? यह विचार करते हुए अन्ततः अपने रोदनश्रवण के अनन्तर ही माता की प्रवृत्ति के प्रति स्वाभिप्राय-रूप प्रवर्तनाज्ञान ही कारण है। शैशवावस्था के अनन्तर प्रयोजक प्रयोज्यवृद्धों के व्यवहार को देखकर लिङादिविधि शब्द ही प्रवर्तना के वाचक हैं, ऐसा निश्चय कर लेता है। यह प्रवर्तना लोक में इच्छारूप है, और यह पुरुषसंबन्धरहित वेद के लिङ् आदि में नहीं हो सकती है, फिर भी लोकविलक्षण लिङ्गत धर्मविशेष को मान सकते हैं। क्योंकि वे ही लिङ्, लोट आदि वेद में भी पाये जाते हैं। लोक में वे लिङादि प्रवर्तना के अभि-धायक हैं तो वेद में क्यों नहीं होते। वेद में इसका समाधान यह है कि पुरुष का संबन्ध नहीं है। अतः वेद में शब्दगत ही मानना पड़ता है। इसलिए शक्तिग्रह का अभाव नहीं है। यह लोकवेदाधिकरणसिद्ध न्याय से सिद्ध कर सकते हैं। तत्कारणत्वेन प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्ति के प्रति कारणरूप से। तस्य प्रयोज्य वृद्ध का।

---

१. प्रतीतिरि०।

प्रवर्तनाज्ञानमनुमिमीते ।

यद्यपि भोजनादौ स्वप्रवृत्तेः समीहितसाधनताज्ञानपूर्वकत्वावधारणात् प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तेरपि तत्पूर्वकत्वाध्यवसानं युक्तम्, तथाप्यन्यप्रेरितप्रवृत्तौ प्रवर्तनाज्ञानजन्यत्वस्योक्तमातृप्रवृत्तौ दर्शनेन प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तेरप्यन्यप्रेरितप्रवृत्तित्वात्तत्कारणत्वेन प्रवर्तनाज्ञानस्यैवाध्यवसानम् । तच्च प्रवर्तनाज्ञानमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रयोजकवाक्यजन्यमित्यवधारयति । तत्र चावापोद्वापाभ्यां प्रवर्तनायां विधिशक्तिमवधारयति । प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारः प्रवर्तना । स च

प्रवर्तनाज्ञानम् प्रयोजकवृद्धगत आशयविशेष का ज्ञान । प्रयोजक वृद्ध की प्रवृत्ति, प्रवर्तनाज्ञानजन्य है क्योंकि लिङ् आदि श्रवण के अनन्तर उत्पन्न होनेवाला है, जैसे मेरे रोदन के अनन्तर होनेवाली माता की प्रवृत्ति, इस प्रकार अनुमान कर लेता है ।

सब जगह प्रवृत्ति प्रेरणाज्ञान से उत्पन्न होती है, यह नियम ठीक नहीं है। क्योंकि प्रेरणाज्ञान के अभाव में भोजन आदि में प्रवृत्ति देखी जाती है। स्वयमेव पुरुष भोजन में इष्टसाधनत्व को जानकर प्रवृत्त हो जाता है। प्रेरणाज्ञान से जहाँ प्रवृत्ति होती है वहाँ पर भी इष्टसाधनत्वज्ञान के अभाव में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः भोजन आदि में प्रेरणाज्ञान व्यभिचरित है अर्थात् प्रेरणाज्ञान के अभाव में प्रवृत्ति होती है और इष्टसाधनत्वज्ञान भोजन और तदन्य स्थल में आवश्यक होने से सर्वत्र इष्टसाधनत्वज्ञान को ही कारण क्यों नहीं माना जाता है? प्रवृत्तिविशेष के प्रति इष्टसाधनत्वज्ञान और प्रवृत्तिविशेष के प्रति प्रेरणाज्ञान का कारणत्व कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यभिचार तभी होगा। अतः सर्वत्र प्रवृत्ति के प्रति प्रेरणाज्ञान को कारण कहना संगत नहीं। इस शंका का उपस्थापक ग्रन्थ है—यद्यपि भोजनादौ स्वप्रवृत्तेः। शंका का समाधानग्रन्थ है—तथापि इत्यादि। यह ठीक है कि लोक में पुरुष की प्रवृत्ति इष्टसाधनत्व ज्ञान को लेकर होती है। किन्तु जिस स्थल में दूसरे से प्रेरित होकर कार्य करता है वहाँ लोग कहा करते हैं कि मैं दूसरे से प्रेरित होकर इस कार्य को करता हूँ, अपनी इच्छा स नहीं। इस प्रकार के स्थल में प्रवृत्ति के प्रति प्रेरणाज्ञान को ही कारण मानना होगा। पूर्वोक्त माता की प्रवृत्ति रोदन के द्वारा शिशु की प्रेरणा से ही देखी गई है। अतः प्रयोज्य वृद्ध की प्रवृत्ति भी अन्यप्रेरित है और वह प्रेरणाज्ञान से जन्य है। अतएव प्रयोज्य वृद्ध कहता है कि आचार्य के द्वारा प्रेरित होकर मैंने इस कार्य को किया, अपनी इच्छा से नहीं। इसलिए अन्यप्रेरित प्रवृत्ति के प्रति प्रेरणाज्ञान को ही कारण मानना चाहिए। इसी का उपपादक ग्रन्थ है—तच्च प्रवर्तनाज्ञानम् आदि। प्रयोज्य वृद्ध का यह प्रवर्तनाज्ञान प्रयोजक आचार्य आदि के वाक्य से जन्य है, यह भी निश्चय कर लेता है। इस प्रवृत्ति के अनुकूल-जनक व्यापार को ही प्रवर्तना कहा

प्रैषादिरूपों विविध इति प्रत्येकं व्यभिचारित्वाद्विधिशब्दवाच्यत्वानुपपत्तेः प्रवर्तना[1]सामान्यमेव विधिशब्दवाच्यमिति कल्पयति। एवं च विधिश्रवणे प्रैषादिरूपस्य वक्त्रभिप्रायस्य प्रवर्तनात्वेन एकरूपेण प्रतीतिर्न विशेषरूपेण, तथैव शक्तिग्रहात्। विशेषरूपेण तु प्रतीतिर्लक्षणयैव।

एवं च वैदिकलिङादिश्रवणेऽपि प्रवर्तनासामान्यमेव प्रतीयते। तत्र कोऽसौ व्यापारः? इत्यपेक्षायां प्रैषादिरूपस्य वक्त्रभिप्रायस्यापौरुषेये वेदेऽनुपपत्तेः शब्दनिष्ठ एव प्रेरणापरपर्यायः कश्चिद्व्यापार इति कल्प्यते। अतश्च शब्दनिष्ठ एव प्रेरणापरपर्यायो व्यापारः शाब्दी भावना। सैव च प्रवर्तनात्वेन रूपेण विध्यर्थ इति। अयमेव चार्थः—

'अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः'

जाता है। यह प्रवृत्ति के अनुकूल व्यापार प्रैष-संप्रश्न आदि प्रवर्तनाविशेषों में विविध-अनेक प्रकार है। इनमें लिङ् आदि की शक्ति नहीं है, क्योंकि प्रैष में सम्प्रश्न नहीं है और सम्प्रश्न में प्रैष नहीं है। इस प्रकार व्यभिचार होने से सभी में अनुगत प्रवर्तनात्व धर्म को शक्यतावच्छेदक मानकर तदवच्छिन्न प्रवर्तना में शक्ति की कल्पना कर लेता है। निष्कर्ष यह हुआ कि विधि-लिङ् आदि के श्रवण से प्रैष-सम्प्रश्न आदि अर्थ का भान प्रवर्तनात्वरूप से होता है और प्रैषत्व-सम्प्रश्नत्व-रूप विशेष का भान नहीं होता। क्योंकि प्रवर्तनात्वरूप सामान्यधर्मयुक्त ही शक्तिग्रह है। विशेष धर्मों की अवगति लक्षणा से होगी। आकृत्यधिकरण न्याय से सामान्यवाचक शब्द का विशेषार्थबोधकत्व लक्षणा से माना गया है।

लोक में इस प्रकार लिङ् आदि की शक्ति निश्चित होने पर वेद के भी लिङ् आदि का शक्तिग्रह सुलभ है, इसको बतलाते हैं—एवञ्च वैदिकलिङादिश्रवणेऽपि। जैसे लोक में लिङ् श्रवण से प्रवर्तनासामान्य का भान होता है वैसे वेद में भी होता है, यह लोक और वेद में समान है। इतना भेद अवश्य सिद्ध होता है कि लोक में विशेष जिज्ञासा होने पर लिङ् आदि का विशेषलक्षकत्व माना जाता है। जिससे प्रैष अतिसर्जन आदि विशेष का भान होता है। वेद में विशेष जिज्ञासा होने पर प्रैष आदि बाधित है, केवल लक्षणा से शब्दनिष्ठ धर्मविशेष को मानना पड़ता है। इसी विषय का प्रतिपादक ग्रन्थ है— तत्र कोऽसौ व्यापारः? इत्यपेक्षायाम् आदि।

इस अर्थ के अनुकूल वार्तिक का नयन करते हैं—अयमेव चार्थः—अभिधाभावनामाहुः इति वार्तिकस्य। वार्तिक का स्वरूप—'अभिधाभावनामाहुरन्यामेव

---

१. प्रवर्तनायास्सा।

इति वार्तिकस्य। अभिधीयते अनेनेति व्युत्पत्त्या अभिधाशब्देन विधि-शब्द उच्यते। तद्व्यापारात्मिका भावना लिङादिवाच्येति—[1]केचिदाहुः।

अन्ये तु—सत्यं प्रवर्तनासामान्यं विध्यर्थः, तथैव शक्तिग्रहात्। प्रवृत्त्य-नुकूलो व्यापारः प्रवर्तना। अपौरुषेये च वेदे प्रैषादेरसंभवात् कश्चित् पुरुषप्र-वृत्त्यनुकूलो व्यापारविशेषः कल्पनीयः। विधिशब्दाभिधेयप्रवर्तनासामान्यस्य विशेषमन्तरेणापर्यवसानात्। तत्र कोऽसौ व्यापारविशेषः? इत्यपेक्षायां

लिङादयः' यह है। अभिदधातीत्यभिधा तथा अभिधीयतेऽनेनेत्यभिधा दोनों प्रकार की व्युत्पत्ति से 'अभिधा' का अर्थ है—'शब्द'। लिङादयः-लिङ्, लोट् और लेट् प्रत्यय, अन्यामेव—आर्थी भावना से भिन्न अभिधाभावनां-शब्द भावना को कहते हैं, यह वार्तिक का अर्थ है। अभिधाया भावना = अभिधाभावना अर्थात् शब्दभावना अर्थ है। अभिधाशब्द से विधिशब्द का ग्रहण होता है। विधिशब्द का व्यापाररूप भावना लिङ् आदि प्रत्ययों का अर्थ है। लिङ् आदि का शक्यार्थ व्यापार है और शक्यता का अवच्छेदक व्यापारत्व है। प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार को शक्य मान कर प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्व को शक्यतावच्छेदक मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुरुभूत धर्म को शक्यतावच्छेदक मानने की अपेक्षा लघुभूत धर्म व्यापारत्व को ही शक्यतावच्छेदक मानना उचित है। 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' न्याय से प्रवृत्ति एवं तदनुकूलत्व दोनों अन्यलभ्य हो जाते हैं, अतः व्यापार मात्र को शक्य मानकर व्यापारत्व को शक्यतावच्छेदक मानना उचित है। आख्यात से प्रवृत्ति एवं संसर्गबल से अनुकूलत्व का बोध हो जाता है तो ये दोनों अन्यलभ्य हो जाते हैं। एवञ्च अभिधा-विधिशब्द की भावना-व्यापारात्मिका लिङ् आदि शब्द का वाच्य-शक्य है। यह न्यायसुधाकार भट्टसोमेश्वर का मत है।

पार्थसारथिमिश्र के मत को प्रदर्शित करते हैं—अन्ये तु आदि। पार्थसारथि-मिश्र 'कोऽसौ व्यापारविशेषः' इस विशेषाकांक्षा तक भट्टसोमेश्वर के मत से सहमत हैं। प्रवर्तनासामान्य ही विध्यर्थ है और शक्तिग्रह भी उसी रूप से होता है। प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार ही प्रवर्तना है। अपौरुषेय वेद में प्रैष आदि की सम्भावना न होने से पुरुषप्रवृत्त्यनुकूल एक व्यापारविशेष की कल्पना करनी पड़ती है। क्योंकि विधिशब्द के द्वारा अभिहित प्रवर्तनासामान्य का तबतक प्रवर्तकत्व संभव नहीं है जबतक विशेष की कल्पना नहीं की जाती है। इतना तक दोनों मतों में साम्य है। वह व्यापारविशेष कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में भट्टसोमेश्वर ने माना है कि शब्दनिष्ठ प्रेरणा का अपरपर्याय कोई अलौकिकव्यापार शब्दभावना शब्द से शब्दित है। धात्वर्थ याग आदिगत इष्टसाधनत्व ही वह है, ऐसा पार्थसारथि मानते हैं। धात्वर्थ इष्टसाधन हो सकता है, किन्तु उसका प्रवर्तनात्व कैसे हो सकता

---

१. केचिदाचार्याः।

धात्वर्थगतं समीहितसाधनत्वमेवेति कल्प्यते। तस्यापि प्रवृत्त्यनुकूलत्वात्। सर्वोऽपि हि समीहितसाधनतां ज्ञात्वा प्रवर्तते। अन्यप्रेरितोऽपि यदीष्टसाधनतां न जानाति तदा नैव प्रवर्तते।

स्वतन्त्रप्रेरणावादेऽपि तदाक्षिप्तसमीहितसाधनताज्ञानं स्वीक्रियत एव। अन्यथा विधेः प्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। अतश्चावश्यकत्वात् समीहितसाधनतैव

है ? इसके उत्तर में कहते हैं—तस्यापि प्रवृत्त्यनुकूलत्वात्। तात्पर्य यह है कि चाहे स्वयंप्रवृत्त हो या आचार्य आदि की प्रेरणा से प्रवृत्त हो सर्वत्र इष्टसाधनत्व-बुद्धि प्रवृत्ति के प्रति आवश्यक है। राजा या आचार्य इच्छारहित भृत्य या शिष्य को आवश्यक कार्यों में प्रेरित करते हैं। उन स्थलों में भृत्य या शिष्य उन क्रियाओं में इष्टसाधनत्व ज्ञान भले ही नहीं रखता हो किन्तु उन क्रियाओं के अनुष्ठान के द्वारा राजा एवं आचार्य को तृप्त कराना चाहता ही है। अतः इष्टसाधनत्वज्ञान सर्वत्र अनिवार्य है। इसी विषय का प्रतिपादन करते हैं—सर्वो हि समीहितसाधनतां ज्ञात्वा प्रवर्तते। स्वतन्त्रप्रवृत्तिस्थल में इष्टसाधनत्वज्ञान से पुरुष प्रवृत्त होता है यह निर्विवाद है। यदि अन्य की प्रेरणा से प्रवृत्ति होती हो तो उस स्थल में भी आचार्य के द्वारा इष्टसाधनत्वज्ञान कराया जाता है। अतः प्रवृत्तिसामान्य में इष्ट-साधनत्वज्ञान को कारण कहने में कोई बाधक नहीं है।

लिङर्थ को प्रेरणा-प्रवर्तना माननेवालों के मत में भी इसी स्थिति का निरूपण करते हैं—स्वतन्त्रप्रेरणावादेऽपि। लिङर्थ को प्रेरणा होने पर भी उसका प्रवृत्तिजन-कत्व इष्टसाधनज्ञान के द्वारा ही आपको भी मानना होगा। किन्तु प्रेरणा के प्रवर्तकत्व की सिद्धि के लिए प्रेरणा के विषय याग आदि में इष्टसाधनत्व का आक्षेप करना होता है। अतः आपको भी किसी रूप से इष्टसाधनत्वज्ञान अपेक्षित है ही। इष्टसाधनत्वज्ञान का आक्षेप न करने पर दोष बतलाते हैं—अन्यथा। यदि आक्षेप नहीं किया जाय तो विधि का प्रवर्तकत्व ही सिद्ध नहीं होगा। दोनों मतों में इष्टसाधनत्वज्ञान आवश्यक होने से इष्टसाधनत्व ही प्रवर्तनात्वरूप से विध्यर्थ है।

पार्थसारथिमिश्र के मत में 'आचार्य के द्वारा प्रेरित होकर मैं गवानयन करता हूँ स्वतः नहीं' इस प्रयोग की उपपत्ति नहीं होती हैं। यह कहना कि प्रवृत्तिकारण इष्टसाधनताज्ञान के जनक लिङ् का उच्चारण करना ही आचार्य का प्रेरकत्व है, उचित नहीं है। क्योंकि राजा अपने भृत्य के द्वारा किसी को बुलाता है, लिङ् का उच्चारण करनेवाला भृत्य है फिर भी 'राजा मुझे बुलाता है भृत्य नहीं' यह व्यवहार होता है। किन्तु अब यह व्यवहार उपपन्न नहीं होगा। लिङ् का उच्चारयिता यहाँ भृत्य है राजा नहीं। अतः पूर्वोक्त व्यवहार मिश्रजी के मत में उपपन्न नहीं हो पाता है, तथापि आचार्यप्रेरित शिष्य के इस कार्य को सम्पन्न करने पर आचार्य सन्तुष्ट

प्रवर्तनात्वेन रूपेण विध्यर्थः। एवं च विधिशब्दस्यान्यनिष्ठव्यापारबोधकत्वं लोकसिद्धं सिद्धं भवति।

किञ्च शब्दे एको व्यापारः स्पन्दाद्यतिरिक्तः कल्पनीयः। तस्य च स्वप्रवृत्तौ पराधीनप्रवृत्तौ वा कारणत्वेनाक्लृप्तस्य प्रवर्तनात्वेन रूपेण ज्ञातस्य

होकर मेरे हित करेंगे, अथवा अनिष्ट नहीं करेंगे, समझकर कार्य में प्रवृत्त होता है। अतः प्रवृत्ति के प्रति इष्टसाधनत्वज्ञान सर्वथा आवश्यक है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि इष्टसाधनत्व ही प्रवर्तनारूप से विध्यर्थ है।

पार्थसारथि मिश्र के पक्ष में इष्टसाधनत्वरूप प्रवर्तना विध्यर्थ है, यह मानने में लोकसिद्ध पदार्थ का अनुसरण सिद्ध होता है, प्रवर्तनाविध्यर्थवादी के मत में लोकानुसरण नहीं हो पाता इसका उल्लेख करते हैं—एवञ्च विधिशब्दस्य आदि। आचार्य आदि प्रयोजकवृद्ध 'देवदत्तः पचेत्' 'देवदत्त गामानय' इत्यादि स्थलों में विधिप्रत्ययघटित वाक्य का उच्चारण करते हैं, प्रयोज्य वृद्ध विधिशब्द के अनुसार कार्य करते हैं। इस परिस्थिति में विचार होता है कि 'पचेत्' तथा 'आनय' ये विधिशब्द क्या स्वनिष्ठ (आचार्यनिष्ठ) व्यापार के बोधक हैं? या परनिष्ठ (शिष्यनिष्ठ) व्यापार के बोधक हैं? प्रवर्तना को विध्यर्थ माननेवालों के पक्ष में प्रवर्तना-प्रवृत्त्यनुकूल व्यापार स्वनिष्ठ-आचार्यनिष्ठ है, इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ माननेवालों के पक्ष में तो विध्यर्थ परनिष्ठ-शिष्यनिष्ठ होता है। लोक में परनिष्ठ व्यापार का बोधन अनुभवसिद्ध है, क्योंकि विधिशब्द को सुनकर पर-प्रयोज्यवृद्ध पाक या आनयन रूप धात्वर्थ में इष्टसाधनत्वबुद्धि रखकर कार्यों में प्रवृत्त होता है। प्रवर्तनावादी के मत में यह सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि वह व्यापार स्वनिष्ठ है। आचार्यगत व्यापार है यह समझ कर शिष्य कदाचित् चुप रह सकता है। आचार्य ने अपने काम को किया समझ कर उदासीन रह सकता है। इष्टसाधनवादी के पक्ष में तो यह काम मेरे इष्ट का साधक है, समझ कर उसके संपादन में प्रयोज्यवृद्ध लग जाता है। अतः मिश्रजी के मत में विधिशब्द का अन्यनिष्ठव्यापारबोधकत्व सिद्ध हो जाता है, सोमेश्वर भट्ट के मत में लोकसिद्ध पदार्थ का अनुसरण नहीं हो पाता है। यही विषय कहा गया है—**अन्यनिष्ठव्यापारबोधकत्वं लोकसिद्धं सिद्धं भवति।**

'अभिधाभावनामाहुः' इस वार्तिक प्रमाण से विध्यर्थ अभिधाभावना-शब्द भावना सिद्ध होता है तो इष्टसाधनत्व विध्यर्थ कैसे माना जाता है? इस पर कहते हैं—**किञ्च शब्दे एको व्यापारः आदि।** शब्द का व्यापार स्पन्द या प्रयत्न नहीं हो सकता है क्योंकि मीमांसक के मत में शब्द विभु-सर्वत्रव्यापी एवं अचेतन है। विभु और अचेतन का स्पन्द या यत्न व्यापार नहीं हो सकता। तदतिरिक्त व्यापार की कल्पना करनी होगी। कल्पित इस व्यापार की चाहे स्वयं प्रवृत्ति हो चाहे आचार्य आदि की प्रेरणा से उत्पन्न प्रवृत्ति हो, उसके प्रति करणत्व प्रवर्तना के रूप से क्लृप्त

प्रवृत्त्यनुकूलत्वम्, शब्दस्य च परनिष्ठव्यापारज्ञापकत्वेन क्लृप्तस्य स्वनिष्ठव्यापारबोधकत्वम्, विधेश्च प्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थे धात्वर्थस्य समीहितसाधनत्वमिति [1]कल्पनाद्वयमावश्यकस्यैव समीहितसाधनत्वस्य स्वप्रवृत्तिहेतुत्वेन क्लृप्तस्य प्रवर्तनात्वेन रूपेण विध्यर्थत्वकल्पनं लाघवात्, अन्यनिष्ठत्वाच्च।

न च विधेः प्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थे समीहितसाधनत्वकल्पनात् प्रेरणानभिधाने च विधेः प्रवर्तकत्वाभावाद्धात्वर्थस्य च समीहितसाधनत्वकल्पकमेव

नहीं है, अतः उसकी कल्पना करनी होगी। शब्द के परनिष्ठव्यापार के बोधन का स्वभाव होते हुए स्वनिष्ठव्यापार बोधन को स्वीकार करना, एवं विधि के प्रवर्तकत्व की सिद्धि के लिए इष्टसाधनत्व की कल्पना, इस प्रकार कल्पनापरंपरा को स्वीकार करने की अपेक्षा इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ माननेवालों के मत में लाघव पड़ता है। इस पक्ष में प्रवृत्ति के प्रति कारण इष्टसाधनत्वज्ञान क्लृप्त है, कल्पना नहीं करनी पड़ेगी, केवल एकमात्र की कल्पना है। वह यह है कि इष्टसाधनत्व की प्रवर्तना के रूप से विध्यर्थत्व की कल्पना। इस मत में प्रवृत्ति के प्रति कारण इष्टसाधनत्वज्ञान क्लृप्त है और अन्यनिष्ठ व्यापारबोधन भी स्वतःसिद्ध है। प्रेरणावादी के मत में प्रवृत्ति के प्रति कारण इष्टसाधनत्व ज्ञान आवश्यक है। अतः प्रवर्तना के रूप से इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ मानने में लाघव है।

समीहितसाधनत्व को विध्यर्थ माननेवालों के पक्ष में समीहितसाधन याग-होम आदि होते हैं। याग-होम आदि में इष्टसाधनत्व स्वयंसिद्ध नहीं है। किन्तु विधि का विषय बन जाने से इष्टसाधनत्व की कल्पना करनी ही होगी, क्योंकि विधि अपने में प्रवर्तकत्व की सिद्धि के लिए अपने विषय याग आदि में इष्टसाधनत्व की आक्षेप करती है। इसीलिए स्वर्गकामाधिकरण में धात्वर्थ को भाव्य मान कर स्वर्ग आदि फल को भाव्य माना है और उसी का भावना में साध्य के रूप से अन्वय करते हैं। अत एव भावार्थाधिकरणन्याय से धात्वर्थ भावना का करण बनता है। यदि प्रेरणा-प्रवर्तना विध्यर्थ न हो तो धात्वर्थ याग आदि में इष्टसाधनत्व-बुद्धि ही नहीं होती क्योंकि विध्यर्थ का प्रवर्तकत्व इष्टसाधनत्वज्ञान के बिना अनुपपन्न है, अतः अन्यथानुपपत्ति से उसकी कल्पना की जाती है। विध्यर्थ के प्रेरणा नहीं होने पर अन्यथानुपपत्ति का प्रसङ्ग ही नहीं होगा। इष्टसाधनत्व का आक्षेप करनेवाला विध्यर्थ प्रवर्तना है। जबकि वह इस पक्ष में नहीं है तब इष्टसाधनत्व का बोध कैसे होगा? इस शंका को दूर करते हैं—न च विधेः प्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थे··· इति वाच्यम् इति न च वाच्यम्। प्रेरणा विध्यर्थवादी के मत में भी पहले-पहल इष्टसाधनत्वबुद्धि होती है? विध्यर्थ तो प्रवर्तनासामान्य है। सामान्य का विशेषरूप के बिना प्रवर्तकत्व नहीं है। विशेष की जिज्ञासा होने पर प्रेरणाविशेष

---

१. कल्पनागौरवाद्व०।

नास्तीति वाच्यम् ; प्रवर्तनाभिधानेनै[1]व तन्मतेऽपि विधेः प्रवर्तकत्वात् विध्यभिहितस्य च प्रवर्तनासामान्यस्य विशेषमन्तरेणापर्यवसानात्समीहितसाधनत्वाक्षेपकत्वात् ।

न चेष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थत्वे सन्ध्योपासनं ते इष्टसाधनं तत् त्वं कुर्विति सहप्रयोगानुपपत्तिरिति वाच्यम्, इष्टसाधनत्वस्य विशेषरूपेण विधिनानभिधानात् । प्रवर्तनात्वेन रूपेणाभिधानात् । सामान्यशब्दस्य च विशेषशब्देन दृष्टः सहप्रयोगः—पाञ्चालराजो द्रुपद इत्यादौ । तस्मात् समीहितसाधनतैव प्रवर्तनात्वेन रूपेण विध्यर्थः । सैव च तेन रूपेण शब्देनैवाभिधीयत इति शाब्दी भावना ।

उक्तवार्तिकस्याप्ययमेवाभिप्रायः । अभिधीयते या साऽभिधा समीहितसाधनता सैव प्रवर्तनात्वेनाभिहिता पुरुषप्रवृत्तिं भावयतीति भावना तां

का बोध होगा । विशेष बोध होने से पूर्व उसके मत में भी जैसे इष्टसाधनत्व का आक्षेप किसी प्रकार किया जाता है वैसे ही पार्थसारथिमिश्र के मत में भी प्रवर्तनारूप इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ मानने का कोई कारण मान लिया जायगा । इस प्रकार इस मत में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता है ।

विध्यर्थ इष्टसाधनत्व के पक्ष में विधि और इष्टसाधन शब्दों के सहप्रयोग की जो अनुपपत्ति कही गई थी, उसका उत्तर देते हैं—न चेष्टसाधनत्वस्य विध्यर्थत्वे आदि । 'सन्ध्योपासन' विशेष इष्टसाधन है और 'कुरु' विध्यर्थ सामान्य इष्टसाधन है । सामान्य-विशेष का सहप्रयोग अनुपपन्न नहीं है । विधि इष्टसाधनविशेष का अभिधान नहीं करती है, किन्तु प्रवर्तनात्वरूप सामान्य का अभिधान करती है । इष्टसाधन शब्द तो सन्ध्योपासन, याग, दान आदि विशेष का वाचक है । जैसे कि 'पाञ्चालराजो द्रुपदः' आदि वाक्यों में पाञ्चालराज शब्द के सामान्य का एवं द्रुपदशब्द के विशेष का वाचक होनेपर भी दोनों का सहप्रयोग किया जाता है उसी प्रकार सामान्यविशेषभाव मान कर सहप्रयोग की उपपत्ति होती है । अतः विध्यर्थ को प्रवर्तनात्वरूप से इष्टसाधनत्व मानने में कोई दोष नहीं है । इष्टसाधनत्व ही प्रवर्तना के रूप से शब्द के द्वारा कहा जाता है, अत एव शाब्दी भावना भी उसे कहते हैं ।

'अभिधाभावनाम्' वार्तिक को अपने पक्ष में ले जाते हैं—उक्तवार्तिकस्याप्ययमेवाभिप्रायः । अभीधीयते कर्मव्युत्पत्ति है । अभिधाशब्द समीहितसाधनता-इष्टसाधनता का वाचक है । 'अभिधा च सा भावना च' इस व्युत्पत्ति से

---

१. नैतन्म०

लिङादय आहुरिति । यथाहुः—

पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात्क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः ।
प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम् ॥ इति ।89

तत्सिद्धं यजेतेत्यत्र लिङ्त्वांशेन शाब्दी भावनोच्यत इति ॥

इष्टसाधन होकर पुरुषप्रवृत्ति को सम्पादन करने वाली भावना को लिङ् आदि कहते हैं, यह वार्तिक का अर्थ है। मण्डन मिश्र के पद्य से इस मत की पुष्टि करते हैं— पुंसां इत्यादि। इष्टाभ्युपाय-इष्टसाधनत्व को छोड़कर याग-दान आदि क्रियाओं में पुरुषों का प्रवर्तक दूसरा नहीं है। जो प्रवृत्ति के प्रति हेतु है उसी को प्रवर्तना कहते हैं, यह पद्य का अर्थ है। भाव यह है कि प्रवृत्तिहेतु धर्म का इष्टसाधनत्व है, इष्ट साधन को छोड़कर दूसरा प्रवर्तक नहीं हो सकता है तो प्रवर्तना के रूप से इष्टसाधनत्व ही विध्यर्थ होता है। शाब्दीभावनाप्रकरण का उपसंहार करते हैं—तत्सिद्धं यजेतेत्यत्र। लिङ्त्वरूप धर्म से युक्त प्रत्यय शाब्दी भावना का वाचक है।

विध्यर्थ के विषय में दार्शनिकों का मतभेद सिद्धान्ततः दिखाया जा रहा है—

१–भगवान् पाणिनि के मत में विधि-निमन्त्रण-आमन्त्रण-अधीष्ट-संप्रश्न-प्रार्थना ये छः लिङर्थ हैं।

२–विधि आदि चारों में प्रवर्तनात्व तथा संप्रश्न और प्रार्थना वाक्यपदीयकार के मत में लिङर्थ हैं।

३–नवीन वैयाकरण इष्टसाधनत्व को लिङर्थ कहते हैं।

४–इष्टसाधनत्व-बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-कृतिसाध्यत्व इन तीनों को लिङर्थ मानकर विशेष्य-विशेषण भाव मानते हुए प्राचीन नैयायिक एक ही शक्ति स्वीकार करते हैं। नवीन नैयायिक लिङ् की अलग-अलग शक्ति मानते हैं।

५–रत्नकोशकार का मत है—कृतिसाध्यत्व लिङर्थ।

६–उदयनाचार्य का मत है—लिङ्घटितवाक्य के उच्चारयिता का 'मैं इसको प्रवृत्त करा रहा हूँ' यह अभिप्रायविशेष लिङर्थ है। यह अभिप्राय लोक-वेद-साधारण है।

७–वेदान्तियों में श्रीभाष्यकार एवं तदनुयायी भगवदाज्ञा को लिङर्थ मानते हैं।

८–सुरेश्वराचार्य एवं चित्सुखाचार्य इष्टसाधनत्व को ही लिङर्थ मानते हैं।

९–वाचस्पति मिश्र के मत में इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व दोनों लिङर्थ हैं।

१०–मीमांसकों में मण्डन मिश्र इष्टसाधनत्व को विध्यर्थ कहते हैं।

आख्यातत्वांशेनार्थी भावनोच्यते ।

(आर्थीभावनानिरूपणम्)

ननु-केयमार्थी भावना ?। कर्तृव्यापार इति चेत्—न; यागादेरपि

११–कतिपय भाट्ट संप्रदायवाले धात्वर्थगत कार्यत्व को लिङर्थ मानते हैं।

१२–भाट्टों में कतिपय लिङ् आदि शब्दों में अर्थप्रकाशनसमर्थ अभिधा-व्यापार को लिङर्थ मानते हैं।

१३–पार्थसारथिमिश्र प्रवर्तना के रूप से इष्टसाधनत्व को लिङर्थ कहते हैं।

१४–भट्टसोमेश्वर एवं खण्डदेव इष्टसाधनत्व आदि से अतिरिक्त प्रवर्तनानामक अलौकिक धर्मविशेष को लिङर्थ कहते हैं

१५–प्राभाकर अपूर्व-कार्य-नियोग को लिङर्थ कहते हैं।

आर्थीभावनानिरूपण

आर्थी भावना का स्थूल स्वरूप बतलाते हैं—आख्यातत्वांशेन। इस विषय में ग्रन्थ के आरंभ में विशद रूप से कहा जा चुका है। सूक्ष्म-स्वरूप के निर्णय के लिए शंका का उपस्थापन करते हैं—ननु केयमार्थी भावना। शंका करनेवाले वैयाकरणों का मत है कि 'पचति' 'पश्यति' 'यजति' आदि स्थलों में धात्वर्थ पाक आदि को छोड़कर भावना नाम का कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। 'पचति' कहने पर चूल्हे पर स्थाली को चढ़ाना, जल छोड़कर गरम करना, चावल धोकर स्थाली में डालना, आग को फूंकना, माँड़ को निकालना और स्थाली को उतारना आदि सभी धात्वर्थ हैं। तदतिरिक्त कोई व्यापार नहीं है जिसको प्रत्यय कहता हो। यदि इन व्यापारों से अतिरिक्त व्यापार शेष रहता तो वह आख्यातवाच्य अर्थ भावना के रूप में सिद्ध हो सकता है। अतः आर्थी भावना क्या है ? और उसका वाचक कौन है ? यह शंका होती है। यदि आख्यात का अर्थ कर्तृव्यापार माना जाय तो वह धात्वर्थ ही होता है, उससे अतिरिक्त नहीं है। क्योंकि अधिश्रयण से लेकर अवस्रावणपर्यन्त सभी कर्तृव्यापार ही हैं और वे धात्वर्थ हैं। यद्यपि पचति-पाकं करोति, गच्छति-गमनं करोति, यजति-यागं करोति इस प्रकार प्रायः करोति से विवरण उपलब्ध होता है। इसमें 'पाकं' इस घञन्त शब्द से अधिश्रयणप्रभृति अवस्रावणान्त व्यापारसमूह धात्वर्थ एवं 'करोति' से अलग प्रतीयमान व्यापार प्रत्यय का अर्थ अवगत होता है। यहाँ 'करोति' सकर्मक है, तत्समानार्थक है आख्यात और जो इसका कर्म है वह उत्पाद्यरूप है अर्थात् उत्पत्ति-आप्ति-विकृति-संस्कृतिरूप कर्मों में यह उत्पाद्यरूप कर्म है। एवञ्च उत्पद्यमान-उत्पन्न होने वाली वस्तु का उत्पत्त्यनुकूल-उत्पत्ति के हेतुभूत कर्ता का व्यापार प्रत्यय का अर्थ सिद्ध होता है। यही आख्यातार्थ भावना है। भावयतीति भावना। ण्यन्त भूधातु से करणार्थक ल्युट् प्रत्यय करने पर भावनाशब्द निष्पन्न होता है। अतः करोति भावयति दोनों समानार्थक हैं। यह 'पचति' में प्रत्यय का अर्थ हुआ, प्रकृति धातु का विक्लृत्ति

तद्व्यापारत्वेन भावनात्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, तस्य प्रकृत्यर्थत्वेन प्रत्ययार्थत्वाभावादिति चेत्—

अत्राहुः—[1]सत्यं न यागो भावना, किन्तु स्वर्गेच्छाजनितो यागविषयो यः प्रयत्नः स भावना। स एव चाख्यातांशेनोच्यते। यजेतेत्याख्यातश्रवणे[2] यागे यतेतेति प्रतीतेर्जायमानत्वात्।

अर्थ है। अर्थात् अधिश्रयण से लेकर अवस्रावणान्त व्यापार धात्वर्थ है। इस व्यापार के प्रयोजक देवदत्त आदि का व्यापार प्रत्ययवाच्य है। अतः विक्लृत्त्यनुकूल कर्तृव्यापार के प्रत्ययवाच्य होने से उसे ही भावना कह सकते हैं, तथापि वह धात्वर्थ ही है। विक्लृत्ति फल है। फलमात्र धात्वर्थ नहीं है, तदनुकूल व्यापार भी धात्वर्थ है। यदि फलमात्र धात्वर्थ है तो 'कृष्णलान् पचति' की उपपत्ति नहीं होगी। सुवर्णखंडों को कृष्णल कहते हैं। ये कृष्णल आयुष्कामेष्टि के द्रव्य हैं। कृष्णलों के पाक से विक्लृत्ति संभव नहीं है। अतः यहाँ पाक का अर्थ है—अग्निसंयोग कर उतारना। वही 'तण्डुलान् पचति' में भी होता है। अतः विक्लृत्ति मात्र को धात्वर्थ न कहकर अधिश्रयण से अवस्रावणान्त व्यापारकलाप को धात्वर्थ मानना होगा। ये सब कर्तृव्यापार ही है। उसी प्रकार 'यजति' में मानसिक त्याग या संकल्प यागपदार्थ है। वही धात्वर्थ है और यह कर्तृव्यापार है। इसको यदि भावना कहेंगे तो धात्वर्थ ही भावना हुआ, तदतिरिक्त भावना की सिद्धि नहीं होती है। इसी आशय का प्रतिपादक ग्रन्थ है—यागादेरपि तद्व्यापारत्वेन भावनात्वापत्तेः। तद्व्यापारत्वेन कर्तृव्यापार होने से इसको भावना नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह धात्वर्थ है, प्रत्ययार्थ नहीं है।

वैयाकरण इस शंका का न्यायसुधाकर के मत से उत्तर देते हैं—अत्राहुः। याग भावना नहीं है क्योंकि मानसिक संकल्परूप वह धात्वर्थ ही है, भावना नहीं है। परन्तु उसका भी जनक पुरुषनिष्ठ यत्न आख्यातवाच्य है और वही भावना है। स्वर्ग आदि फल की इच्छा होनेपर याग-दान-होम को विषय करनेवाला यत्न ही भावना है। आख्यात के द्वारा वही प्रतिपाद्य है। यही यत्न 'यागं करोति' 'होमंकरोति' आदि प्रयोगों में कृञ् धातु के विवरण द्वारा लभ्य है। 'यागं' से धात्वर्थ और 'करोति' से प्रत्ययार्थ का विवरण स्पष्ट अवगत होता है। 'करोति' से विवृत अर्थ यत्नरूप ही है क्योंकि 'यजेत' कहने पर 'यागे यतेत' ऐसा यत् धातु से विवरण

---

१. इदं च न्यायसुधाकृतो भट्टसोमेश्वरस्य मतम्। अग्रे च 'अन्ये त्वाहु'रित्यादिना निरूप्यमाणं पार्थसारथिमिश्रमतम्। एतच्चातिरोहितमेव मीमांसापरिशीलनवताम्। सति चैवं यदत्र "आहुरिति पार्थसारथिमिश्रादय इति शेषः' इति व्याख्यातम्। न तत्र किञ्चिदपि प्रमाणं पश्यामः। २. यागेन।

यश्च प्रयत्नपूर्वकं गमनादि करोति तस्मिन् देवदत्तो गमनं करोतीति करोतिप्रयोगदर्शनात्, वातादिना [1]स्पन्दने तु नायं करोति, किन्तु वातादिनास्य स्पन्दो जायत इति प्रयोगात् करोत्यर्थस्तावत् प्रयत्नः। करोतिसामानाधिकरण्यं चाख्याते दृश्यते—यजेत, यागेन कुर्यात्, पचति, पाकं करोति, गच्छति, गमनं करोतीति। अतश्च करोतिसामानाधिकरण्यात् प्रयत्नस्याख्यातवाच्यत्वम्। न च रथो गच्छतीति प्रयोगानुपपत्तिः, रथे यत्नाभावादिति वाच्यम्। वोढृश्वगतं प्रयत्नं रथे आरोप्य प्रयोगोपपत्तेः।

होता है। अतः यत्न ही आख्यात का अर्थ है और वही भावना इस यत्नरूप धात्वर्थ से अतिरिक्त भावना है, यह मानना होगा।

इसी का उपपादक ग्रन्थ है—यश्च प्रयत्नपूर्वकं आदि। करोति का विवरण उसी स्थल में होता है जहाँ यत्नपूर्वक गमन-पाक आदि क्रियायें होती हैं। गमने यतते-गमनं करोति, पाके यतते-पाकं करोति, यागे यतते-यागं यागेन वा करोति इस प्रकार यत् और कृञ् धातु का सामानाधिकरण्य उपलब्ध होने से करोत्यर्थ यत्न है और वही आख्यातार्थ भावना है। 'स्पन्दते' में यत्नपूर्वक क्रिया न होने से 'स्पन्दनं करोति' प्रयोग नहीं होता है, किन्तु वातरोग से स्पन्दन होता है, ऐसा प्रयोग होता है। अतः करोत्यर्थ यत्नसिद्ध हुआ। वार्तिककार भी कहते हैं—'सर्वधात्वर्थ सम्बद्धः करोत्यर्थो हि भावना, ग्रन्थकार स्वयं करोतिसामानाधिकरण्य प्रदर्शित करते हैं—यजेत-यागेन कुर्यात्, पचति-पाकं करोति, गच्छति-गमनं करोतीति। पचति में पाकं करोति, गच्छति में गमनं करोति विवरण प्रदर्शित है किन्तु 'यजेत' में 'यागेन कुर्यात्' विवरण प्रदर्शित किया गया है। इसका तात्पर्य है कि याग से फल स्वर्ग आदि पृथक् है। 'पाकं' में विक्लृत्ति एवं 'गमनं' में पूर्वदेशविभागानुकूल उत्तरदेशसंयोग ही फल है और 'पचति गच्छति' में वर्तमानकाल का निर्देश है, अतः धात्वर्थ ही भाव्यफल हो सकता है। यदि 'ओदनं पचति' प्रयोग होता है तो यहाँ पर भी 'पाके ओदनं करोति' विवरण होगा। विधिस्थल में भावार्थाधिकरणन्याय से धात्वर्थ भावना में करणत्वरूप से अन्वित होता है। इसी आशय से 'यजेत यागेन कुर्यात्' ऐसा विवरण दिखलाया।

आख्यात का यत्नार्थकत्व कहने से वह चेतनमात्रवृत्ति होगा। अचेतनस्थल जैसे 'रथो गच्छति' में आख्यातार्थ यत्न की संगति किस प्रकार होगी? यह शंका कर समाधान करते हैं—न च रथो गच्छति आदि। वोढृश्वगतं रथ में जोते हुए घोड़े के यत्न को लेकर प्रयोग की उपपत्ति हो सकती है। रथ में यत्न के बाधित होते हुए भी चेतन अश्वगत यत्न का रथ में आरोप कर प्रयोग की उपपत्ति हो सकती है। जैसे 'खट्वा' में स्त्रीत्व न रहने पर भी टाप् प्रत्यय लगता है वैसे अचेतन में

---

१. स्पन्दमाने।

यन्मतेऽप्यन्योत्पादनानुकूलं व्यापारसामान्यं भावना तन्मतेऽपि रथे गमनातिरिक्तव्यापारानुपलब्धेः रथो गच्छतीति प्रयोगस्यौपचारिकत्वमेवेति। अतश्च प्रयत्न एवार्थीभावना। यथाहुः—

प्रयत्नव्यतिरिक्तार्थी[1]भावना तु न शक्यते।
वक्तुमाख्यातवाच्येह प्रस्तुतेत्युपरस्यते॥ इति।

अन्ये त्वाहुः—भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारस्तावद्भावना। यस्मिन् व्यापारे कृते करणं फलोत्पादनाय समर्थं भवति तादृशो व्यापार इति यावत्। स एव चाख्यातार्थः। कुठारेण छिनत्तीत्याख्यातश्रवणे हि भवत्येतादृशी मतिः—कुठारेण तथा व्याप्रियेत यस्मिन् व्यापारे कृते कुठारेण छेदनं भवतीति। एवं 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यस्यायमर्थः—यागेन तथा व्याप्रियेत यस्मिन् व्यापारे कृते यागात् स्वर्गो भवतीति। स च व्यापारः क्वचिदुद्यम-

---

यत्नबाधित होने पर भी यत्नार्थक आख्यात के प्रयोग की उपपत्ति हो सकती है। अथवा अश्वगत यत्न को उपचार-गौण मानकर प्रयोग की उपपत्ति कर सकते हैं क्योंकि मुख्यार्थ उपपन्न नहीं हो पाता है।

व्यापारसामान्य को आख्यातार्थ माननेवालों के पक्ष में भी 'रथो गच्छति' का औपचारिक प्रयोग मानना होगा। यह बतलाते हैं—यन्मतेप्यन्योत्पादनानुकूलं आदि। अन्य के उत्पादन के अनुकूल व्यापार को भावना मानते हैं। पचति में धात्वर्थ पाक-विक्लृत्ति है। उसके उत्पादन के अनुकूल जितने व्यापार हैं वे सामान्य आख्यातार्थ भावना माने जाते हैं। इनके मत में भी 'रथो गच्छति' का प्रयोग औपचारिक-गौण है क्योंकि गमन का अर्थ है—पूर्वदेश का विभाग कर उत्तरदेश की प्राप्ति। इस व्यापार के अतिरिक्त व्यापार रथ में उपलब्ध नहीं है। तब 'रथो गच्छति' इस प्रयोग का उपपादन अश्व के व्यापार को आरोपित कर के ही करना होगा। अतः इस मत में भी गौण ही प्रयोग है। अतः आख्यातवाच्य यत्न को ही आर्थी भावना मानना होगा। अत एव भट्टसोमेश्वर कहते हैं—प्रयत्नव्यतिरिक्ता। यत्न से अतिरिक्त आख्यातवाच्य आर्थी भावना नहीं कही जा सकती। वही यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

पार्थसारथि मिश्र के मत के अनुसार आर्थी भावना का स्वरूप निरूपित करते हैं—अन्ये त्वाहुः आदि। भवितुः उत्पन्न होने वाले ओदन या स्वर्ग आदि फल का भवनानुकूलः उत्पत्ति के अनुकूल भावक देवदत्त आदि प्रयोज्य का व्यापारः भावना पदवाच्य है। इसी को स्पष्ट बतलाते हैं—यस्मिन् व्यापारे। जिस व्यापार के

---

१. 'थंभा'।

ननिपातनादिः, क्वचिच्चाग्न्यन्वाधानादिब्राह्मणतर्पणान्तः कथंभावाकांक्षायां विशेषरूपेण पश्चादवगम्यते ।

अयोत्पादानुकूलत्वेन सामान्यतस्त्वाख्यातादेव । रथो ग्रामं गच्छतीत्यत्रापि आख्यातेन ग्रामप्राप्त्यनुकूलो व्यापार एव प्रतीयते । रथस्तथागमनेन व्याप्रियते यस्मिन् व्यापारे कृते गमनाद्ग्रामप्राप्तिर्भवतीति प्रतीतेः । नत्वत्र गमनमात्रमाख्यातार्थः, तस्य धातुनोक्तत्वात् । तत्र कोऽसौ व्यापार इत्यपेक्षायां पूर्वोत्तरावान्तरदेशविभजनसंयोजनरूप इति पश्चादवगम्यते । पूर्वेण प्रदेशेन विभज्योत्तरेण संयुज्य रथो ग्रामं गच्छतीति प्रयोगात् । उद्यम्य

करने पर करण याग आदि फल-स्वर्ग आदि के संपादन में समर्थ बनाता है वही व्यापार भावना है। यही आख्यात का अर्थ है। लौकिक दृष्टान्त से समन्वय कर दिखाते हैं—कुठारेण छिनत्ति आदि। इस वाक्य को सुनने से यह ज्ञात होता है कि जिस व्यापार को करने से कुठार के द्वारा काष्ठच्छेदन होता हो वह व्यापार करना चाहिए। वैसे ही 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य के श्रवण से ज्ञात होता है कि याग का अनुष्ठान वैसे करना चाहिए जिन व्यापारों के करने पर याग से स्वर्ग आदि फल मिलता हो। भावार्थाधिकरण न्याय से भावना का करण धात्वर्थ याग निश्चित हुआ है। केवल याग का करणत्व नहीं हो सकता अर्थात् जबतक करण अपने उपकारक पदार्थों से समन्वित-संबद्ध नहीं हो जाता तब तक वह करण कैसे हो सकता है। क्योंकि 'व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्' यह करण का स्वरूप है। करण को बनाने के लिए व्यापार से कारण को संबद्ध कराना आवश्यक है, आख्यात इसी व्यापार को सामान्यरूप से उपस्थित करता है। इस व्यापार का विशेषरूप प्रदर्शित करते हैं—स च क्वचिदुद्यमनिपातनादिः। 'कुठारेण छिनत्ति' में उद्यमन-उठाना और निपातन-काष्ठ पर फेकना आदि विशेषव्यापार है, एवं 'यजेत स्वर्गकामः' में अग्न्यन्वाधान—'ममाग्ने वर्चो विहवेषु' इत्यादि मन्त्र से आहवनीय आदि तीनों अग्नियों में काष्ठ का निक्षेप, ब्राह्मणतर्पण—भोजन के द्वारा ऋत्विजों का प्रीतिसंपादन, ये विशेषव्यापार हैं। ये व्यापार विशेष रूप से तब अवगत होते हैं जब भावना की कथंभावाकांक्षा होती है। प्रकरणनिरूपण के अवसर पर इसकी विवेचना की जा चुकी है।

'भवितुः भवनानुकूलो भावकव्यापारः भावना' इस सामान्यरूप से व्यापार आख्यात के द्वारा प्रतिपादित है। 'रथो ग्रामं गच्छति' में भी यही सामान्यव्यापार आख्यात से प्रतिपादित होता है। रथ वैसा व्यापारवान् है जिस व्यापार को करने पर गमन द्वारा ग्रामप्राप्ति हो जाती है। 'रथो गच्छति' में धातु से गमन प्रतीत होता है और आख्यात से गमनोत्पत्त्यनुकूल व्यापार प्रतीत है। कौन है वह व्यापार ?

निपात्य कुठारेण च्छिनत्तीतिवत् । एवं देवदत्तः प्रयतत इत्यत्रापि देवदत्तस्तथा व्याप्रियते यथा प्रयत्नो भवतीति प्रयत्नानुकूलो व्यापार एवाख्यातार्थो न तु प्रयत्नः । तस्य धातुनोक्तत्वात् व्यापारविशेषापेक्षायां चेच्छादिः पश्चादवगम्यते; उद्यमननिपातनवत् ।

तथा च सर्वत्रानुगतत्वादन्योत्पादानुकूलव्यापारसामान्यमेवाख्यातार्थः, न तु प्रयत्नमात्रम् । रथो गच्छति, देवदत्तः प्रयतत इत्यादिषु तदभावात् । न चात्रौपचारिकत्वं वक्तुं युक्तम्, मुख्ये संभवति तस्यान्याय्यत्वात् । करोत्यर्थोऽप्यन्योत्पादानुकूलो व्यापार एव न प्रयत्नमात्रम्, करोतेश्चेतना-

---

यह विशेषापेक्षा होने पर कहते हैं—पूर्वपूर्वदेशविभाग और उत्तरोत्तरदेश का संयोग । अर्थात् पूर्वदेश से अलग होकर उत्तरदेश से संबद्ध होकर रथ ग्राम को प्राप्त करता है । तात्पर्य यह है कि यहाँ ग्रामप्राप्ति फल है, तज्जनकव्यापार-गमन धात्वर्थ । इस फल को प्राप्त करने में व्यापृत रथ का जो प्रकारविशेष है—पूर्वदेशविभाग और उत्तरदेशसंयोग वही सामान्यरूप से आख्यातार्थ है । 'छिनत्ति' 'यजेत' आदि चेतनकर्तृक स्थल में जैसी प्रतीति होती है वैसी ही प्रतीति 'रथो गच्छति' में भी होती है । एवञ्च 'रथो गच्छति' में औपचारिक प्रयोग इस पक्ष में सिद्ध नहीं है । यत् धातु के प्रयोगस्थल में भी यही रीति है । इसी को बतलाते हैं—एवं देवदत्तः प्रयतते आदि । देवदत्त वैसा व्यापार करता है जिससे प्रयत्न सिद्ध हो सके । इस प्रकार यहाँ पर प्रयत्न के अनुकूल व्यापार ही आख्यातार्थ है, प्रयत्न धात्वर्थ है और वही भावना का भाव्य भी है । इसका अनुकूल विशेषव्यापार ज्ञान-इच्छा आदि है । जैसे उद्यमन-निपातन आदि विशेषव्यापार पश्चात् अवगत होते हैं वैसे इच्छा आदि पश्चात् अवगत होते हैं ।

आख्यातार्थ को प्रयत्न माननेवालों के पक्ष से इस पक्ष में विद्यमान विशेषता को अवगत कराते हैं—तथा च सर्वानुगतत्वात् आदि । चेतनाचेतन कर्तृकस्थलों में सर्वत्र अन्योत्पादनानुकूलव्यापारसामान्य ही आख्यातार्थ है । प्रयत्नवादी के पक्ष में तो अचेतनकर्तृकस्थल में औपचारिक प्रयोग मानना होगा । प्रयत्नमात्र यदि आख्यातार्थ है तो 'रथो गच्छति' 'देवदत्तः प्रयतते' स्थलों में प्रयत्न आख्यातार्थ नहीं होगा । इस प्रकार उस पक्ष में अननुगम है । व्यापारसामान्य आख्यातार्थवादी के मत में 'अन्योत्पादानुकूलत्व' धर्म अनुगत है चाहे चेतनकर्तृक हो या अचेतनकर्तृक हो । मुख्यप्रयोग के संभव होनेपर औपचारिक प्रयोग का आश्रयण उचित नहीं है । यद्यपि 'पाकं करोति' 'गमनं करोति' आदि कृञ् धातु से विवरणस्थलों में प्रयत्न का भान होता है, वह व्यापारसामान्य को आख्यातार्थ माननेवालों के पक्ष में उपपन्न नहीं है तथापि इसके उत्तर में ग्रन्थ प्रस्तुत करते हैं—करोत्यर्थोपि आदि ।

चेतनकर्तृकाख्यातसामानाधिकरण्यादिति। तत्सिद्धमन्योत्पादानुकूलो व्यापारविशेष आर्थी भावनेति।

सैव चाख्यातांशेनोच्यते—भावयेदिति। तस्याश्च भाव्याकाङ्क्षायां स्वर्गादि भाव्यत्वेन सम्बध्यते। करणाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेन सम्बध्यते। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजादय इतिकर्तव्यतात्वेन संबध्यन्ते। एवञ्च यजेतेत्यादिना स्वर्गाद्युद्देशेन यागादेर्विधानात् सिद्धं यागादेर्धर्मत्वं प्रयोजनमुद्दिश्य वेदेन विहितत्वात्।

(उपसंहारः)

सोऽयं धर्मो यदुद्देशेन विहितः तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। श्रीगोविन्दार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निःश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्ध्या तदनुष्ठाने प्रमाणाभावः।

करोति का भी अन्योत्पादानुकूलव्यापार ही अर्थ है, प्रयत्नमात्र नहीं क्योंकि 'देवदत्तः पाकं करोति' जैसा प्रयोग है वैसा ही 'स्थाली पाकं करोति' प्रयोग प्रामाणिक है। चेतनाचेतनकर्तृकस्थलों में 'करोति' का सामानाधिकरण्य देखा जाता है। अतः अन्योत्पादानुकूल व्यापारविशेष ही आख्यातार्थ है और वही आर्थी भावना है। इसी का विवरण 'भावयेत्' पद से किया जाता है। इस भावना की भाव्याकांक्षा का स्वर्ग आदि फल से शमन होता है, करणाकांक्षा तत्तद्धात्वर्थ से शान्त होती है, इतिकर्तव्यताकांक्षा को प्रयाज-अनूयाज आदि अङ्गसमूह शान्त करता है। ग्रन्थ के आरंभ में 'वेदेन प्रयोजनमुद्दिश्य विधीयमानोऽर्थो धर्मः' से धर्म का लक्षण बताकर लक्ष्य याग आदि को बतलाया। उसी को स्मरण कराकर ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं—एवञ्च यजेतेत्यादिना।

उपसंहार

किसी प्रयोजन को उद्देश्य कर वेद से विहित अर्थ-याग आदि धर्म हैं तो जो फलाभिलाषुक हैं वे ही इनका अनुष्ठान करेंगे, और उन्हीं के लिए ये धर्म होंगे। जो वीतराग हैं और मुमुक्षु हैं वे इनका अनुष्ठान नहीं करेंगे और उनके लिए ये धर्म नहीं होंगे, ऐसी शंका का निराकरण करते हैं—सोऽयं धर्मो यदुद्देशेन विहितः आदि। जिस फल को उद्देश्य कर जो विहित है वह उस फल का हेतु है ही अर्थात् उस फल का संपादन करेगा ही। किन्तु भगवदर्पणबुद्धि से यदि याग आदि का अनुष्ठान हो तो निःश्रेयस-मोक्ष के प्रति याग आदि हेतु होंगे। फल की कामना नहीं होने पर भी चित्तशुद्धि के लिए वीतराग पुरुष को अनुष्ठान करना आवश्यक है। अतः केवल फलाभिलाषुक जन के लिए ये धर्म हैं मुमुक्षुओं के लिए नहीं हैं, ऐसा नहीं है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

इति स्मृतेः । अस्याश्चाष्टकादिस्मृतिवत् प्रामाण्यादित्यन्यत्र विस्तरः ॥

क्वाहं मन्दमतिः क्वेयं प्रक्रिया भाट्टसम्मता ।
तस्माद्भक्तेर्विलासोऽयं गोविन्दगुरुपादयोः ॥

इस संदर्भ में शंका होती है कि जैसे फल के उद्देश्य से अनुष्ठान करने के प्रमाण 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामः', 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' आदि हैं, वैसे मुमुक्षुओं के अनुष्ठान के लिए क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में कहते हैं—'यत्करोषि यदश्नासि' इति स्मृतेः । भगवदर्पणबुद्धि से कर्मानुष्ठान के लिए यह प्रमाण 'स्मृति' है, तत्तत्फल के उद्देश्य से कर्मानुष्ठान में प्रमाण 'श्रुति' है । विरोधाधिकरण न्याय से श्रुति से स्मृति दुर्बल प्रमाण है । अतः इस स्मृति के द्वारा भगवदर्पणबुद्धि से कर्मानुष्ठान क्यों माना जाय ? यह शंका हो सकती है । किन्तु आपदेवने वेद के अपौरुषेयत्व को सिद्ध करते हुए कहा है कि 'यः कल्पस्स कल्पपूर्वः' इति न्यायेन ईश्वरो गतकल्पीयं वेदं अस्मिन् कल्पे स्मृत्वा उपदिशति' आदि । अर्थात् वेद-ईश्वर को रचित मानने की अपेक्षा उसने उपदेश किया है, यही मानना संगत है । उसी प्रकार गीता का भी भगवन्मुखारविन्द से उपदेश हुआ है । अतः ग्रन्थकार के मत से 'वेद' एवं 'गीता' समान प्रमाण हैं । अथवा गीता की संज्ञा उपनिषद् है—'गीतासूपनिषत्सु' । उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग हैं । अतः दोनों में बराबर प्रामाण्य हैं । यद्यपि तत्तत्फल के उद्देश्य से कर्म विहित हैं, तथापि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणां विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' इस श्रुति से विविदिषा के निमित्त भी यज्ञ-दान आदि का विधान है । इसी न्याय से भगवदुक्त इस वाक्य से भगवदर्पणबुद्धि से याग आदि का अनुष्ठान उचित ही है । किन्तु 'यत्करोषि' वाक्य भगवदर्पणबुद्धि से कर्मानुष्ठान को बोधित करता है, मोक्ष के लिए नहीं कहता है तथापि 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः' आगे के इस वचन से निःश्रेयस की सिद्धि के लिए भी कर्मानुष्ठान की अवगति होती ही है । अथवा इस स्मृति का वेदमूलकप्रामाण्य स्वीकार कर प्रकृत अर्थ को प्रमाण मानने में कोई बाधा नहीं है । इसी विषय को कहते हैं—अस्याश्चाष्टकादिस्मृतिवत् प्रामाण्यमित्यन्यत्र विस्तरः ।

ग्रन्थ को समाप्त करते हुए अपनी नम्रता प्रकट करते हैं—क्वाहं मन्दमतिः आदि । भाट्टसम्मता भाट्टसम्प्रदाय के अवलम्बी पार्थसारथि आदि को यह प्रक्रिया संमत है जिसको मैंने यहाँ ग्रथित किया है । इतने कठिन एवं दुरूह प्रक्रिया को लिखने में गोविन्द भगवान् श्रीकृष्ण एवं गुरु-पिता अनन्तदेव इन दोनों के चरण कमलों में विद्यमान भक्ति ही कारण है क्योंकि मैं मन्द प्रज्ञावाला हूँ । जैसे

ग्रन्थरूपो मदीयोऽयं वाग्व्यापारः सुशोभनः ।
अनेन प्रीयतां देवो गोविन्दो भक्तवत्सलः ॥

इति (महामहोपाध्यायेन*) श्रीमदनन्तदेवसूनना आपदेवेन कृतं मीमांसान्यायप्रकाशसंज्ञकं पूर्वमीमांसाप्रकरणं समाप्तम् ॥

कर्मानुष्ठान भगवदर्पणबुद्धि से करना है उसी प्रकार अपने इस ग्रन्थ-वाग्व्यापार को भक्तवत्सल गोविन्द के लिए अर्पित करता हूँ ।

कालयुक्त्यभिधे वर्षे भाद्रे मास्यसिते दले ।
चतुर्दश्यां भृगौ वारे ग्रन्थोऽयं पूर्णतामगात् ॥

हिन्दीजगति मीमांसाप्रचिचारयिषा हि माम् ।
न्यायप्रकाशविवृतौ प्रैरयच्छुभकर्मणि ॥

पूज्यपादकृतां टीकां नाम्ना सारविवेचिनीम् ।
नावमालम्ब्य जलधिं दुस्तरं तीर्णवानहम् ॥

तेनेदं ग्रन्थकुसुमं पूज्यपादपदाम्बुजे ।
भक्त्या समर्पये नूनं गुरुः प्रीतो भवेन्मयि ॥

महामहोपाध्याय शास्त्ररत्नाकर वेदविशारद पूज्यपाद श्रीचिन्नस्वामी शास्त्रीजी के अन्तेवासी पट्टाभिरामशास्त्री की कृतियों में न्यायप्रकाश का हिन्दी विवरण समाप्त ।

---

* ( ) एतच्चिह्नान्तर्गतमधिकमुपलभ्यते कस्मिंश्चित् लिखितपुस्तके ।

न्यायप्रकाशोद्धृतानामधिकरणानाम्

अनुक्रमणिका

	अ०	पा०	अ०	पृ०
अग्निहोत्राधिकरणम्	१	४	४	२१९
अङ्गगुणविरोधाधिकरणम्	१२	२	२५	१५४
अतिदेशविचारः	७	१	१	१०९
अनारभ्याधीतानां प्रकृतिगामिताधिकरणम्	३	६	१	९६
अभिक्रमणाधिकरणम्	३	१	१०	१३१
अभ्यासाधिकरणम्	२	२	२	१६९
अर्थक्रमाधिकरणम्	५	१	२	१६५
अर्थभावनाविचारः	२	१	२	२९६
आकृत्यधिकरणम्	१	३	११	७९
आधाराग्निहोत्राधिकरणम्	२	२	५	४९
आधानाधिकरणम्	२	३	५	१८४
उत्पवनाधिकरणम्	९	१	४	१२३
उद्भिदधिकरणम्	१	४	२	२०५
उपांशुयाजाधिकरणम्	२	२	४	२२६
कण्डूयनाधिकरणम्	११	३	६	१२८
कर्त्रधिकरणम्	३	४	८	६३
क्रमाधिकरणम्	३	३	५	१४२
क्रमादीनां प्राबल्यदौर्बल्याधिकरणम्	५	१	२	१७६
गुणकामाधिकरणम्	२	२	११	३८
गृहमेधीयाधिकरणम्	१०	७	१	९७
गुणे त्वन्याय्यकल्पनेति न्यायः	९	३	५	२९
ग्रहैकत्वाधिकरणम्	३	१	७	३९
चित्राधिकरणम्	१	४	३	२१२
तद्व्यपदेशाधिकरणम्	१	४	५	२१९

	अ०	पा०	अ०	पृ०
तेषामर्थाधिकरणम्	३	१		१७४
दक्षिणादानाधिकरणम्	१०	३	१३	२२२
दर्वीहोमानामपूर्वताधिकरणम्	८	४	१	१३४
दर्शपूर्णमासाधिकरणम् (पौर्णमास्यधिकरणम्)	४	४	१	१३७
दीक्षणीयावाङ्नियमाधिकरणम्	९	१	२	१२३
दीक्षितकर्तृकदानहोमादेः विशेषनिरूपणम्	१०	७	१७	२८१
दैक्षस्य चेतरेषु	८	१	६	२१५
न चेदन्येन शिष्टाः	१	४	७	२२
न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात्	६	३	५	११६
न वा गुणशास्त्रत्वात्	१०	४	२६	१२७
नानूयाजेष्वित्यत्र पर्युदासाश्रयणम्	१०	८	१	२६५
नामधेयप्रामाण्याधिकरणम्	१	४	१	२०१
निषादस्थपत्यधिकरणम्	६	१	१२	१८९
पर्णमय्यधिकरणम्	४	३	१	९५
पशुसोमाधिकरणम्	२	२	५	२४८
पाठक्रमनिरूपणम्	५	१	१	१६५
प्रकरणाधिकरणम्	३	३	४	१०२
प्रतिपदाधिकरणम्	२	१	१	४७
प्रवृत्तिक्रमनिरूपणम्	५	१	२	१७८
प्राजापत्यव्रतेषु पर्युदासाश्रयणाधिकरणम्	४	१	२	२६०
प्राप्ताप्राप्तन्यायविचारः (बलाबलाधिकरणशेषः)	३	३	७	११९
फलदेवतयोश्च	९	१	४	१५०
बलाबलाधिकरणम्	३	३	७	८४
बृहस्पतिसवस्य वाजपेयाङ्गताधिकरणम्	४	३	१३	१६०
भावार्थाधिकरणम्	२	१	२	४८
मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात्	५	१	१६	१६८
मुख्यक्रमविचारः	५	१	२	१७३
रथकाराधिकरणम्	६	१	१२	९२
राजसूयपदस्याख्यातपरतन्त्रताधिकरणम्	४	४	१	१३६

	अ०	पा०	अ०	पृ०
रात्रिसत्राधिकरणम्	४	३	४	१०४
रेवत्यधिकरणम्	२	२	१२	४०
लिङ्गाधिकरणम्	३	२	१	८५
वषट्कर्तुः प्रथमभक्षविचारः	३	५	१३	१६३
वाजपेयाधिकरणम्	१	४	६	३७
विधित्रयनिरूपणम्	१	२	४	१९४
विश्वजिदधिकरणम्	४	३	४	१०३
वैश्वदेवाधिकरणम्	१	४	५	२४१
शब्दभावनाविचारः	१	२	१	२८५
शिष्टाकोपाधिकरणम्	१	३	३	९०
श्रुत्यधिकरणम्	३	२	५	६५
श्रुत्यधिकरणम्	५	१	१	१६३
समाख्यानिरूपणम्	३	३	६	१५०
सर्वशक्त्यधिकरणम्	६	३	१	१९०
सान्नाय्यं वा यत्प्रभवत्वात्	८	२	२	१४६
साप्तदश्याधिकरणम्	३	६	२	९८
सामर्थ्याधिकरणम्	१	४	१४	१९१
स्थाण्वाहुतेस्सन्निपत्योपकारकत्वनिरूपणम्	१०	२	२५	१५६
स्थानक्रमनिरूपणम्	५	१	२	१७१
स्वर्गकामाधिकरणम्	६	१	१	३७

मीमांसान्यायप्रकाशोद्धृतवाक्यानामाकरसूची

अगन्म सुवः	तैं० सं० १.६.६.१	१५८
अग्निर्ज्योतिः (मिश्र)	तैं० ब्रा० २.१.२.१०	२२८
अग्निर्ज्योतिः	,, ,, २.१.९.२। ऐ० ब्रा० ५.५.३१	२२६, २३०। २२९
अग्निहोत्रं जुहोति	तैं० सं० १.५.९.१ मैं० सं० १.८.७	४९,५७,५९,२१९,२३९
अग्निहोत्रं जुहुयात्		२०,२१
अग्ने पूर्वा-	तैं० ब्रा० २.१.२.१०, ऐ० ब्रा० २५.१	२३३
अङ्गगुणविरोधे	जै० सू० १२.२.२५	१५४,१५५
अतिरात्रे षोड-	मैं० सं० ४.७.६	२७८
अत्यन्तबल-	तं० वा० ३.३.७ पृ० ७६३	९१
अत्र ह्येवावपन्ति		१९८
अथातो धर्म-	जै० सू० १.१.१	२
अदन्तको	जै० सू० २.६.८.५	९२
अनन्यलभ्यः		७७
अनेकगवा-	शास्त्र० दी० १०.३.१४.६९१	२३८
अनेकपद-	तं० वा० २.२.५ पृ० ५०३	२३७
अन्तरं यादृशं	बृहट्टीका	२५८
अप्राप्ते शास्त्र०		२१९
अभिधा भावना	तं० वा० २.१.१.३४४	२८९
अष्टवर्षं ब्राह्मणं		१८५
अष्टौ हवींषि	तैं० ब्रा० १.६.३.४ मैं० सं० १.१०.८	२४५,२४८
आख्यातानामर्थं	cf शा० भा० सामर्थ्याधिकरणम्	१९०
आग्नेयं चतुर्द्धा	cf आप० श्रौ० ३.३.२	२७४
आग्नेयोष्टाकपालः	तैं० सं० २.६.३.३ मैं० सं० १.१०.१.२०	२५०
आनर्थक्यप्रति-		१४५
आमिक्षां देवता-	तं० वा० २.२.९ पृ० ५३३	२०३
आश्विनं ग्रहं	श० ब्रा० ४.२.४.१२ आप० श्रौ० १२.१८.१२	१७३
अश्विनो दशमो	काठ० सं० २७.५	१६४
इन्द्राग्नी इदं	तैं० ब्रा० ३.५.१०	१०१
इन्द्राग्नी रोचना-	मैं० सं० ४.११.१ तैं० सं० ४.२.११.१	१४३
इमामगृणन्	तैं० सं ५.१.२.१	७०
उद्भिदा यजेत	तां० ब्रा० १९.७.२.३	३४,५०,५२,५३,६२,२०१,२०५
ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां		२२२,२३८
एतया निषाद-	मैं० सं० २.२.४	१८९

एतस्यैव रेवतीषु	तां० ब्रा० १७.७.१	४०
एतानि वाव	तै० ब्रा० १.५.११.२	२४७
एतावता हैनसा		२६५
एवं च प्रकृता-	तं० वा० ३.६.२ पृ० १०७८	६६
ऐन्द्रवायवं	मै० सं० ४.५.८ आप० श्रौ० १२.१४.८	५६,२४८,२५०
ऐन्द्राग्नमेका०	,, ,, २.१.१	१४३
ऐन्द्र्या गार्ह०	,, ,, १.५.११	७१,८५
औदुम्बरो यूपो	तै० सं० २.१.१.६	११५
कृष्णसारङ्गो	श० ब्रा० ३.३.४.२३	२१६
क्रमविनियु०	तं० वा० २.२.२ पृ० ४५७	१६६
गुणानां च परा०	जै० सू० ३.१.२२	७४
गुणान्तराव-	तं० वा० १.४.११ पृ० ३०६	२४६
गुणे त्वन्याय्य-	जै० सू० ६.३.१५	२६,५४
गौश्चाश्वश्चा-	तां० ब्रा० १६.१.१०	२२३,२३७
ग्रहं सम्मार्ष्टि		३६
ग्रहैः जुहोति		२६
चित्रया यजेत	तै० सं० २.४.६.१	२१२
जातपुत्रः कृष्ण-		५४
ज्योतिष्टोमेन स्वर्गं०		३२,३४,५०,५७,२४७
तत्प्रख्यतयैव	तं० वा० १.४.१० पृ० ३४७	२४७
तत्र क्रमो	,, ,, ३.३.५ पृ० ८३२	१४२
तदधीनत्वात्	,, ,, १.४.१ पृ० २८४	२०४
तदन्यतद्धि०		२६३
तद्धितेन चतु०	तं० वा० २.२.६ पृ० ५२१	२२७
तनूनपातं यजति	तै० सं० २.६.१.१	१६७
तस्य व्रतम्		२५६,२६०
तस्यैतस्य	तै० ब्रा० २.३.६	१६१
दधि मधु०	मै० सं० २.३.६	२१२,२१८
दध्ना जुहुयात्		२१
दध्ना जुहोति		३३,३५,४७,५८,५६
दध्नेन्द्रियकाम-	तै० ब्रा० २.१.५.६	३८
दर्शपूर्णमासाभ्याम्		५१
दीक्षितो न ददाति	मै० सं० ३.६.५	२८१
दैक्षस्य चेतरेषु	जै० सू० ८.१.१.१३	२१४
द्रव्यसंस्कार-	,, ,, ४.३.१	१०६
द्व्येकयोर्द्वि-	पा० सू० १.४.२२	८३

न कलञ्जं		२५४
न चेदन्येन	जै० सू० १.४.६	२२
न देवताग्नि-	,, ,, ६.३.१८	११६
न वा गुणशास्त्र-	,, ,, १०.४.५६	१२७
न स्त्री स्वातन्त्र्य-	मनु० ६.३	१८७
न होतारं वृणीते	मैं० सं० १.१०.१८	१२०
नातिरात्रे षोड		२७८
नानूयाजेषु	आप० श्रौ० २४.१३.६	२७७
नान्तरिक्षे	तै० सं० ५.२.७.१. मैं० सं० ३.२.६	२६७
नामधात्वर्थ	श्लो० वा० अपोहवादश्लो० ३३ पृ० ५७५.	२६२
नावान्तर	तं० वा० १.४.३. पृ० २६३	३२, ११०
नेच्चेतोन्द्यन्त	मनु० ४.३७	२६१
पञ्च पञ्चनखाः	वाल्मी० रा० कि० १७.३९	१६६
पदमज्ञात	तं० वा० १.४.२. पृ० २८६	१३७
पयसा जुहोति		६०
परप्रकरण	तं० वा० ३.१.१४ पृ० ७५८	१३३
पर्यग्निकृतं	तै० सं० ६.६.६.२.	६७
पर्युदासः स		२५६
पशुना यजेत		७२
पाकं तु पचि		१४८
पाणिग्रहणात्तु	आप० ध० २.१२.१७—१८	१८८
पुंसां नेष्टा	विधिवि० पृ० २४२	२६५
पुरोडाशं चतु०		२७४
पृषदाज्येनानू०	तै० सं० ६.३.११.६	१२२
प्रकृतौ वा	जै० सू० ३.६.२	६७, २१४
प्रजापतये		२२८
प्रतितिष्ठन्ति ह वै	cf तां० ब्रा० २३.२०.४.	१०४
प्रतिषेधः स		२६०
प्रयत्नव्यति	न्यायसु० पृ० ५७६	२६६
प्रयाजादिवा	तं० वा० १.२.१. पृ० ५१	१७०
प्राकृतस्यैवा	शास्त्र० दी० १०.४.२६. पृ० ७१६	१२७
प्राचीनप्रवणे	मैं० सं० १.१०.७. आप श्रौ० ८.१.५.	२४३
प्राप्ते कर्मणि	तं० वा० २.२.३. पृ ४७६	३८
प्रायणीयनिष्कास	तै० ६.१.५.५.	१५२
फलतो गुण	पू० मी० २.२.५. पृ० १३६	४६
फलदेवत	जै० सू० ६.१.४.	१५८

फलबुद्धि	न्यायसु० १.३.७ पृ० २०१	२५८
फलमात्रेयो	जै० सू० ४.३.१८	१०५,
बर्हिर्देवसदनं	मै० सं० १.२.	८६, ८८, ९३, १११
बर्हिषि रजतं	तै० सं० १.५.१.२	२८४
बहुपु बहुवचनं	पा० सू० १.४.२७.	८३
ब्राह्मणो न हन्तव्यः		२६७
भूतं भव्यायोपदिश्यते		४८
मध्यात्पूर्वा	आप० श्रौ० २.१८.९.	६७
मन्त्रतस्तु विरोधे	जै० सू० ५.१.१६	१६८
य इष्ट्या पशुना		१५४
यजतिषु येयजामहं		२७३
यजेत स्वर्गकामः		९, ३७, १०७, १०८, १८७, १९५
यत्करोषि	भग० गी० ९.२७.	३०३
यत्सूर्याय च	मै० सं० १.८.७	२२९
यदग्नये च		२२१, २२५, २२९, २३३, २३९
यदाग्नेयोऽष्टा	तै० सं० २—६.३.३.	५१, ५२
यदाङ्क्ते चक्षुरेव	तै० सं० ६.१.१.५.	१०६
यदाहवनीये	तै० ब्रा० १.१.१२.	७२, २२०
यद्विश्वेदेवाः	तै० ब्रा० १.४.१०.५.	२४६, २५०
यस्य पर्णमयी	तै० सं० ३.५.७.२.	९५,१०६
यस्याहिताग्नेः	तै० सं० २.२.२.५	१८२
यागानुमन्त्र०	तं० वा० ३.२.१ पृ० ७६८	९३
यो वै प्रयाजानां	तै० सं० २.६.१.४.	१३२
राजसूयाय श्येना	तै० ब्रा० १.७.६.४.	१४१
राजा राजसूयेन	आप० श्रौ० १८.८.१—४	१३९, १८३
लः कर्तरि	cf पा० सू० ३.४.६९	७६, ८२
लोहितोष्णीषा	cf षड्वि० ब्रा० ३.८.	१२६
वर्म वा एतत्	तै० सं० २.६.१.५.	१०६
वर्षासु रथकारः	cf आप० श्रौ० ५.३.१९	९२,१८५
वसन्ते ब्राह्मणः	तै० ब्रा० १.१.२.६	१८५
वषट्कर्तुः	cf आप० श्रौ० १२.२४.६.	१६३, २१८, २४६
वाक्यार्थविधिः		५५
वाजपेयेनेष्ट्वा	cf० आप० श्रौ० १८.७.१७.	१६०
वायव्यं श्वेतं	तै० सं० २.१.१.	२८३
वायुर्वै क्षेपिष्ठा	तै० सं० २.१.१.	१८, २८३
विधाने वातु	तं० वा० २.४.२. पृ० २८४	३५, ४६

विधित्सित	तं० वा० १.४.४. पृ० २६६	२४०
विधिरत्यन्त	तं० वा० १.२.४. पृ० ६१.	१६४
विश्वजिता यजेत		१०३
विष्णुरुपांशु	तै० सं० २.६.६	२३३
वेदस्याध्ययनं	श्लो० वा० १.१.६.	१४
वेदो वा प्रायदर्श०	जै० सू० ३.३.२.	३०
वेदं कृत्वा वेदि		१६३
वैश्वदेवीं		१७६
वैश्वदेवेन	तै० ब्रा० १.४.१०. मै० सं० १.१०.८.	२४१,२४३,२५०,२५२
वैश्वदेव्यामिक्षा	मै० सं० १.१०.१.	२०३, २४८, २५२
वैश्वानरं द्वादश	मै० सं० २.१.२.	१४३
व्रीहिभिर्यजेत	आप० श्रौ० ६.३१. १३	६६
व्रीहीनवहन्ति	cf आप० श्रौ० १.१९.११	१६६
व्रीहीनवहन्यात्		२६६
व्रीहीन् प्रोक्षति		६८,१५५
श्येनेनाभिचरन्	आप० श्रौ० २२.४.१३	२४०
श्रुत्यैवोप०	तं० वा० २.२.६ पृ० ५३३	२०४
श्रौतव्यापार०	,, ,, २.३.३ पृ० ४७६	५३
स एव द्विदे-	तै० ब्रा० १.५.६.७	१४४
सक्तूञ्जुहोति	cf. तै० सं० ३.३.८	६४, १८६
समानयत उप०	,, ,, २.६.१.२	१३२
समिधः समिधो	तै० ब्रा० ३.५.५.१ का० हो० १.४	१६६,२४०
समिधो यजति	तै० सं० २.६.१.१	१०२,१६७,२४०
संख्यायां कारके	तं० वा० ३.४.८ पृ० १००	८३
सम्प्रदाने चतुर्थी	cf. पा० सू० २.३.१३	२२७
सर्वत्र योगिकैः	तं० वा० ३.१.६ पृ० ६७५	१४८
सर्वत्राख्यात	,, ,, १.४.३ पृ० २६०	३३
स स्वर्गः स्यात्	जै० सू० ४.३.१५	१०४
सह पशूनाल०	cf. आप० श्रौ० २२.३.१८	१७२
सान्नाय्यं वा	जै० सू० ८.२.१३	१४६
सामर्थ्यं सर्व-		८५
सामान्यविधि-	तं० वा० ३.४.१४ पृ० १०२०	१००
सायं जुहोति	मै० सं० ७.८.६	२२६
सारस्वती मेषी	मै० सं० ४.७.८	२१७
सास्य देवता	पा० सू० ४.२.२४	२०२,२२७,२४२
सूक्तहविषोः	का० वा०	२४२

सूर्यो ज्योतिः	मै० सं० १.८.१ तै० १.२.१.६.२	२३०
सोभयविशिष्टा	शास्त्र० दी० १०.३.११ पृ० ६८७	२३८
सोममभिषुणोति		१३६
सोमेन यजेत	cf. तै० सं० ३.२.२.३	२२,३२,३३,३४,३५,४७;५०,५१, ५२,२१२,२४८
सोऽरोदीत्	१.५.१.१	२८४
स्थाणौ स्थाण्वा		१५६
स्योनं ते सदनं	तै० ब्रा० ३.७.५	७१,६४
स्वाध्यायोऽध्येतव्यः	श० ब्रा० ११.५.७.२	१६
हृदयस्याग्रे	तै० सं० ६.३.१०.५	६७